ISSN : 0975-5756

कला-वैभव

KALA - VAIBHAV

(UGC CARE Listed Journal)

अंक-27 (वर्ष 2020-21)

विभागीय शोध - जर्नल (रेफरीड)

प्रधान संपादक
डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

छत्तीसगढ़ राज्यगीत

अरपा पइरी के धार महानदी हे अपार
इन्द्रावती हर पखारय तोर पइँया।
महूँ पाँव परव तोर भुइँया।
जय हो जय हो छत्तिसगढ़ मइया ।।

सोहय बिंदिया सही, घाट डोंगरी पहार
चंदा सुरुज बने तोर नैना
सोनहा धाने के संग, लुगरा के हरियर रंग
तोर बोली जइसे सुग्घर मइना।
अँचरा तोरे डोलावय पुरवइया
महूँ पाव परंव तोर भुइँया
जय हो, जय हो छत्तिसगढ़ मइँया।।

रयगढ़ हावय सुग्घर, तोरे मउरे मुकुट
सरगुजा अउ बिलासपुर हे बइहां
रायपुर कनिहा सही, घाते सुग्घर फबय
दुरुग बस्तर सोहय पैजनियाँ
नांदगांव नवा करधनियाँ
महूं पांव परव तोर भुइँया
जय हो जय हो छत्तिसगढ़ मईया

– डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा द्वारा रचित

कला–वैभव

KALA-VAIBHAV

(UGC CARE Listed Journal)

अंक 27 वर्ष 2020–21

●

संरक्षक

श्रीमती (डॉ.) मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर,

(पद्मश्री से सम्मानित),

कुलपति,

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,

खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

●

सम्पादक मण्डल

प्रोफेसर (डॉ.) मृदुला शुक्ल,

अधिष्ठाता – कला संकाय,

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,

खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

●

प्रोफेसर (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी,

कुलसचिव,

विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी–विभाग,

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,

खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।

●

पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा,

सेवानिवृत, अधीक्षण पुरातत्त्व विद् एवं पूर्व

पुरातात्त्विक सलाहकार, छ.ग. शासन, रायपुर।

●

आचार्य (डॉ.) रमेन्द्रनाथ मिश्र,

इतिहासकार, रायपुर।

●

डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी,

पूर्व विभागाध्यक्ष,

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़,

(छत्तीसगढ़)।

●

प्रोफेसर (डॉ.) शिवाकान्त द्विवेदी,

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)।

●

प्रधान सम्पादक

डॉ. मंगलानंद झा,

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

(छत्तीसगढ़)।

कला–वैभव

KALA-VAIBHAV

(UGC CARE Listed Journal)

अंक 27 वर्ष 2020–21

VOLUME-XXVII

YEAR-2020-2021

●

संरक्षक,

डॉ. मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित),
कुलपति,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)।

●

परामर्श मंडल

प्रो. (डॉ.) काशीनाथ तिवारी,
अधिष्ठाता – लोकसंगीत एवं कला संकाय।

●

प्रो. (डॉ.) नीता गहरवार,
अधिष्ठाता – नृत्य संकाय।

●

प्रो. एस.पी. चौधरी,
अधिष्ठाता – दृश्यकला संकाय।

●

प्रो. (डॉ.) हिमांशु विश्वरूप,
अधिष्ठाता – संगीत संकाय।

ISSN : 0975-5756

कला-वैभव

KALA - VAIBHAV

(UGC CARE Listed Journal)

अंक-27 (वर्ष 2020-21)

विभागीय शोध - जर्नल (रेफरीड)

प्रधान संपादक

डॉ. मंगलानंद झा

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

कला–वैभव

KALA-VAIBHAV

(UGC CARE Listed Journal)

अंक 27 वर्ष 2020–21

भारतीय कला, इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, साहित्य का वार्षिक शोध–जर्नल (रेफरीड)

(Included in UGC CARE List)

© प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

प्रकाशक : इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

ISSN : 0975.5756

मुद्रक :– सर्वप्रिय प्रकाशन, न्यू चंगोराभाठा, रायपुर (छत्तीसगढ़)

•

प्रधान संपादक : डॉ. मगलानंद झा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

•

विशिष्ट आभार :

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली।
छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर।

कला–वैभव (अंक 27) में प्रकाशित लेखों/रचनाओं में वर्णित विषय–वस्तु/तथ्यों तथा निष्कर्षों इत्यादि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सम्बन्धित लेखकों/रचनाकारों का है। संपादक अथवा प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है।

: संपर्क :

कुलसचिव – 07820 234232

डॉ. एम.एन.झा – 94241–11394

ई–मेल – kalavaiav@iksv.ac.in

आवरण चित्र :– कंठी देवल मंदिर, रतनपुर (छत्तीसगढ़)

अनुक्रमणिका

शुभकामना संदेश

डॉ. मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित)
कुलपति, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

•

प्रोफेसर (डॉ.) मृदुला शुक्ल
अधिष्ठाता, कला–संकाय

•

प्रोफेसर आई.डी. तिवारी
कुलसचिव, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

•

संपादकीय
डॉ. मंगलानंद झा
प्रधान संपादक

शोध–लेख

क्र.	विषय	लेखक	पेज क्रमांक
	प्राचीन भारतीय इतिहास, कला, संस्कृति एवं पुरातत्त्व		
1.	छत्तीसगढ़ का पुरातत्वः पद्मश्री डॉ. अरूण कुमार शर्मा का अवदान	सुधीर कुमार उपाध्याय डॉ. मंगलानंद झा	01–03
2.	चित्रकोट (बस्तर) में जैन धर्म का स्वरूप	आराधना चतुर्वेदी	04–08
3.	सांस्कृतिक समन्वय का केन्द्रः गौरेया (पैरी)	डॉ. चैन सिंह नागवंशी	09–12
4.	छत्तीसगढ़ क्षेत्र का अन्य राज्यों से संबंध (मौद्रिक साक्ष्यों के संदर्भ में)	डॉ. दिनेश नंदिनी परिहार शबीना बेगम	13–17
5.	वैष्णव प्रतिमाओं का कलात्मक विश्लेषण	प्रो. दिनेश नंदिनी परिहार, एकता ताम्रकार	18–25
6.	देवबडला (सीहोर) से प्राप्त परमारकालीन मंदिरों के ध्वंसावशेष एवं विलक्षण प्रतिमाएँ	डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन	26–31
7.	बस्तर की आदिवासी संस्कृति एवं प्रकृति के विविधि रूप	जितेन्द्र कुमार साखरे डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय	32–37

8.	तुम्बवन (तुमैन) की मूर्तिकला	डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी	38–46
9.	नव अन्वेषित पुरापाषाणिक पुरास्थल सिंगारघाट, जिला–राजनांदगांव (छ.ग.) : एक प्रारंभिक अध्ययन	ललिता लहरी हेमन्त कुमार वैष्णव	47–50
10.	खैरागढ़ क्षेत्र से प्राप्त लज्जा–गौरी की अद्‌भुत प्रतिमा	डॉ. मंगलानंद झा	51–54
11.	वर्तमान वैश्विक परिदृश्य और भारतीय साँस्कृतिक मूल्यों की प्रासंगिकता	डॉ. मीनू अग्रवाल	55–58
12.	मूर्तिशिल्प में छत्तीसगढ़ की आदिवासी संस्कृति	डॉ. मोना जैन डॉ. सुरेश कुमार साहू	59–63
13.	प्राचीन भारतीय कला एवं साहित्य में योगः एक विश्लेषण	डॉ. मोहन लाल चढ़ार	64–72
14.	छत्तीसगढ़ का प्रयाग–राजिम और पुरातत्व	मोहन कुमार साहू	73–76
15.	दण्डकारण्य में तन्त्र–परम्परा	डॉ. नवीन त्रिपाठी	77–79
16.	एरच से प्राप्त अनुपम ताम्र सिक्का	डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव	80–81
17.	गणेश प्रतिमा (ढोलकल) का अनुरक्षण	डॉ. प्रभात कुमार सिंह	82–85
18.	पक्काकोट (जनपद बलिया, उ.प्र.) के पार्श्ववर्त्ती पुरास्थलों का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण	प्रो. सीताराम दुबे	86–97
19.	मध्यकालीन राजस्थान में भोजन व्यवस्था	डॉ. सुशीला शक्तावत	98–104
20.	ग्वालियर दुर्ग की स्थापना में जल स्रोतों का महत्व	प्रो. (डॉ.) एस.के. द्विवेदी स्मृति पाठक	105–108
21.	हरदोई जनपद की ताम्र निधि संस्कृति	डॉ. श्याम प्रकाश	109–118
22.	दक्षिण कोशल में शरभचुरीय एवं पांडु वंशीय कालीन विहार व्यवस्था	डॉ. सुनीता यादव	119–123
23.	चोल साम्राज्य का कलात्मक एवं स्थापत्य पहलू एक विवेचना	वैशाली झा, प्रो. (डॉ.) शोभना झा	124–127
24.	गुप्तकालीन महिलाओं के विभिन्न पहलू	सुमिति सैनी	128–133
25.	नहुष की कोट का पुरातात्त्विक अध्ययन	सुशील राय	134–139
26.	गजकिला रतनपुर में उत्कीर्णित नायिकाएँ	सुमन साहू	140–143
27.	दमोह जिले के सर्वेक्षित शाक्त–प्रतिमाएँ	डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय	144–158
28.	औरंगाबाद (बिहार) जिले का पुरातात्त्विक अध्ययन	डॉ. विनय कुमार, बृजेश कुमार	159–163
29.	अमोघवर्ष प्रथम की दो विवादास्पद रचनाएँ	वियोग सिंह यादव	164–165
30.	अग्नि की उडान (आत्मकथा)	अरूण तिवारी	166–168
31.	HERI DUSSHERA FESTIVAL IS UNITY OF SOCIAL AND CULTURAL	Pro. (Dr.) Anand K. Bhoyar	169-170
32.	Newly Discovered Neolithic Tools from District Jashpur, Chhattisgarh	Dr. Nitesh Kumar Mishra Anshu Mala Tirkey Baleshawar Kumar Besara	171-174
33.	Concept of Capital Punishment through the Ages	Dr. Prashant Kashyap	175-178
34.	A historical study of granthalaya in India: a over view	Dr. Vaishali jha, Dr. Shobhana jha	179-181
35.	PREHISTORIC CULTURAL ACTIVITIES IN THE ONGANA AND POTIA ROCK SHELTER, DISTRICT RAIGARH, CHHATTISGARH	Dr. Shambhoo Nath Yadav Mr. Zakir Khan	182-186
36.	Rock and Wooden Art and Architecture: A Case Study of Memorial Pillars from Bastar Region of Chhattisgarh	Dr. Tirtharaj Bhoi	187-191

चित्रकला

37.	भारतीय समकालीन चित्रकला में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव	अपराजिता	192–197
38.	Modern impact in Kalighat Painting	Anupama Dey	198-201
39.	म. प्र. के झाबुआ के वनवासियों की वाचिक परम्परा का चित्रांकन (रविन्द्र बहादुर संग्रहालय खैरागढ़ के सन्दर्भ में)	डॉ. आशुतोष चौरे	202–205
40.	देश की ललित कला अकादमियों की वर्तमान प्रासंगिकता	डॉ. कृष्णा महावर	206–210
41.	'Darshan' and 'Interrention o Gaze to Devotion' in Ragmala Deccom miniature Painting	Keshawram Dhraw	211-215
42.	Interpreting Pichhvai Tradition of miniature Paintings & it Artists	Parul Sharma Prof. S.K. Dwivedi	216-224
43.	मिथिला का कोहबर–लेखन एक वैज्ञानिक एवं प्रकृति–जन्य चित्रांकन	डॉ. राखी कुमारी	225–229
44.	With Special reference to Bharat Kala Bhavan Collection	Dr. shailendra kumar	230-232
45.	SCIENTIFIC APPROACHES FOR THE CONSERVATION OF MURAL PAINTINGS AT BAGAN IN MYANMAR	Vimal Kumar Jaiswal Dr. Kyi Lin	233-239
46.	कला का – बाजारीकरण – की कला	विपिन सिंह	240–244

संस्कृत

47.	अक्षरविज्ञानम्	डॉ. पूर्णिमा केलकर	245–247
48.	भट्टिकाव्ये रूपकालंकर	डा. प्रशान्त कुमार सेठी	248–251

हिन्दी

49.	नरेश महेता के उपन्यासों में गांधीवादी विचारधारा	आशा राम साहू	252–254
50.	भूमण्डलीकरण और नये कहानीकार	अनवर खान डॉ. बी.एन. जागृत	255–257
51.	अमरकांत के 'ग्राम सेविका' उपन्यास में अभिव्यक्त प्रगतिशील चेतना	गौरव रस्तोगी	258–261
52.	मिथिलेश्वर की कहानियों में साँस्कृतिक और राजनीतिक परिदृश्य	जीतलाल	262–266
53.	छायावाद का सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी साहित्य	कुमुदरंजन मिश्र	267–271
54.	छत्तीसगढ़ काव्य में गांधी	प्रो. डॉ. राजन यादव	272–278
55.	कामायनी में प्रकृति–सौन्दर्य	डॉ. सीमा कुमारी चौधरी	279–282
56.	वैदिक संस्कृति का योगदान और भारतीय संस्कृति का विकास	उमेंद कुमार चंदेल	183–286

अंग्रेजी

57.	India, Literture, Culture with Amitav Ghosh and Rohinton Mistry	C.P. Pramod	287-289
58.	Impact of Covid 19 on Higher Education in Chhattisgarh, India	Dr. I.D. Tiwari Anita Pandey	290-294
59.	The Collector's wife: An Analysis	Dr. mukuta Borah	295-299
60.	Dr. B.R. Ambed Kak: A Great Educationist	Niresh kumar Kurre	300-302

61.	City of Djinns: A Market-Oriented Narrative of a Multilayered City	Rajarshi Kalita	303-306
62.	Derek Walcott's Treatment of Sea and Island in Omeros.	Sarika Tiwari, Dr. Kalpana Paul	307-308
63.	Anthropogenic violation of nature in margaret atwoods cli-fi maddaddam trilogy	Sindhu Nayar	309-311
	संगीत		
64.	प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती की मननशीलता : विविध परिप्रेक्ष्य	प्रो. डॉ. गुरप्रीत कौर कुलदीप कौर	312–317
65.	वैश्विक पटल पर भारतीय संगीत का स्थान	डॉ. हरिओमहरि	318–321
66.	सूफी साहित्य परम्परा में संगीत	डॉ. इभा सिरोसिया	322–325
67.	मैहर घराना : एक परिचय	रजनीश सिंह परिहार	326–329
68.	जसरंगी जुगलबंदी	स्नेहा कुमारी	330–333
69.	पदम्श्री पं. रामचतुर मल्लिक का जीवनवृत्त	डॉ. सुधा कुमारी	334–339
70.	ध्रुपद की उत्पत्ति, विकास तथा वर्तमान स्वरूप	तोपराज सिंह पटेल	340–344
71.	त्रिपुरा की साउताल जनजाति में प्रचलित गीतों का भावार्थ एवं सांगीतिक विश्लेषण	डॉ. उत्पल बिश्वास	345–348
	नृत्य		
72.	भक्तिकालीन (अष्टछापीय) काव्य एवं कथक नृत्य	अमित साखरे	349–353
73.	कथक की एक सौंदर्य पूर्ण प्रस्तुति 'गतनिकास'	डॉ. जितेश गढ़पायले	354–355
74.	रायगढ़ घराने की नायिका प्रधान रचनाओं का सौन्दर्य	डॉ. मानव महंत	356–365
75.	कथक नृत्य में ठुमरी प्रदर्शन	मंजरी बख्शी	366–369
76.	पौराणिक संदर्भों के आधार पर नृत्य की सामाजिक प्रतिष्ठा का आंकलन	प्रो. डॉ. नीता गहरवार	370–374
	लोककला		
77.	लोक–संगीत का उद्भव एवं विकास	डॉ. पूर्णचन्द्र शर्मा	375–383
78.	छत्तीसगढ़ लोकनाट्य नाचा का जनसंचार स्वरूप	रंजीत कुमार मोहने	384–386
79.	DASMAT KAINA -THE FOLK SAGA OF CHHATTISGARH: ORIGIN, EVOLUTION AND HISTORICITY	Dr. Sarita Sahu Dr. k.k. Agrawal	387-393
80.	The Myth, Belief & Raligious Practices in The Lanjia Saora Society	Sapan Kumar Dash	394-398
81.	छत्तीसगढ़ में हल्बा जनजाति की संस्कृति एवं सभ्यता– एक विश्लेषण	सुरेश कुमार डॉ. एल. आर. सिन्हा	399–403
82.	छत्तीसगढ़ बस्तर संभाग में जनजातीय हस्तशिल्प एवं जीविकोपार्जन	शिव कुमार सिंघल	404–410
83.	Bhubaneswar an Epitome of hcterogenoes Cultural Tralitions (Archaeological coultural & Folk Traditions)	Shivnarayan Bihari Umakant Mishra	411-417
	थियेटर		
84.	लोकनाट्य का सौदर्य : शिव–शक्ति	धीरज सोनी	418–422
85.	लोकनाट्य रामलीला में राम और रामकथा	डॉ. योगेन्द्र चौबे	423–427

मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर
(पद्मश्री से सम्मानित)
कुलपति
Mokshada (Mamta) Chandrakar
(Recipient of Padma Shri)
Vice Chancellor

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का
विश्वविद्यालय खैरागढ़, छत्तीसगढ़)
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग द्वारा विभागीय शोध-जर्नल कला-वैभव (UGC CARE Listed Journal) अंक 27 का प्रकाशन हो रहा है।

हमारी सांस्कृतिक धरोहर, स्थापत्य, मूर्तिशिल्प, कला, लोककला, संस्कृति एवं गौरवमयी इतिहास के ज्ञान हेतु यह शोध-जर्नल अध्येताओं, शोधार्थियों, विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

विगत एक वर्ष से कोविड-19 महामारी ने सभी को प्रभावित किया, किन्तु यह विश्वविद्यालय इस महामारी से संघर्ष करता हुआ अपने कार्यों को सुचारू रूप से संपन्न कर रहा है। इसी का प्रतिफल है कि शोध-जर्नल कला-वैभव (वार्षिक) समय पर प्रकाशित हो रहा है। स्तरीय प्रकाशन एवं निरन्तरता के लिए मेरी हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ.....

मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर
कुलपति

प्रो. मृदुला शुक्ल
अधिष्ठाता-कला संकाय

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का
विश्वविद्यालय खैरागढ़, छत्तीसगढ़)
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

संदेश

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि यू.जी.सी केयर लिस्टेड विभागीय शोध-जर्नल कला-वैभव के अंक 27, वर्ष 2020-21 का प्रकाशन हो रहा है।

छत्तीसगढ़ राज्य के साथ-साथ देश के विभिन्न क्षेत्रों की कला, संस्कृति, पुरातत्व, साहित्य, लोक-कला एवं थियेटर से संबंधित 'शोध-लेखों' के समावेश से यह शोध-पत्रिका निश्चय ही पठनीय तथा संग्रहणीय है। इसके अनवरत प्रकाशन के लिए संपादक डॉ. मंगलानंद झा बधाई के पात्र हैं।

अमित शुभकामनाओं सहित...

प्रो. मृदुला शुक्ल
अधिष्ठाता
कला-संकाय

प्रो. (डॉ.) आई.डी. तिवारी
कुलसचिव

Pro. Dr. I. D. Tiwari
Registrar

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
(संगीत एवं ललित कलाओं का
विश्वविद्यालय खैरागढ़, छत्तीसगढ़)
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya
(UNIVERSITY OF MUSIC AND FINE ARTS)
Khairagarh, Chhattisgarh

शुभकामना-संदेश

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग द्वारा प्रतिवर्षानुसार इस शैक्षणिक सत्र में भी कला-वैभव अंक 27 का प्रकाशन किया जा रहा है।

वर्तमान बदलते परिवेश एवं यू.जी.सी. के मापदण्डों पर सर्वथा सफल रही है। कला-वैभव के प्रकाशन से छत्तीसगढ़ ही नहीं, अपितु भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के अध्यापकों, शोधार्थियों, विद्यार्थियों तथा जिज्ञासुओं को लाभ प्राप्त होगा।

अस्तु विभागीय शोध-जर्नल (यू.जी.सी. लिस्टेड) के अनवरत सफलता पूर्वक प्रकाशन के लिए संपादक को कोटिशः बधाई एवं शुभकामनाएँ...

प्रो. आई.डी. तिवारी
कुलसचिव

संपादकीय

वाण्येका समलम् करोति पुरुषं या संस्कृता धारयते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततम् वाग्भूषणम भूषणम्।। नीतिशतक, 19

(समूचे ब्रह्माण्ड में वाणी ही ऐसा आभूषण है, जिससे मानव सुशोभित होता है। शारीरिक आभूषण तो धीरे-धीरे नष्ट हो जाते है, किन्तु वाणी रूपी आभूषण से मनुष्य इस धरती पर अमर हो जाता है।)

विश्व समुदाय में भारतवर्ष की सांस्कृतिक, धार्मिक, पुरातात्विक आदि के स्वरूप उच्चतम स्तर पर स्थित है। सिन्धु सभ्यता के समय से उच्च तकनीक, निर्माण कौशल, आविष्कारक क्षमता एवं प्रौद्योगिकी विकास के दिग्दर्शन होते हैं। वैदिककालीन समाज, संस्कृति एवं सभ्यता के साक्षात स्वरूप वेद एवं वैदिक ग्रंथ हैं। रामायण और महाभारत कालीन समाज आज की अपेक्षा अधिक विकसित था, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण पुष्यक विमान और युधिष्ठिर की राजसभा के विवरण है।

भारतभूमि कई महापुरुषों एवं मनीषियों की कर्मभूमि रही है, अतएव उनके संदेश एवं जीवनदर्शन यहाँ की मिट्टी में सर्वत्र रचे-बसे है। श्रीराम, श्रीकृष्ण, गौतमबुद्ध, महावीर स्वामी, तुलसीदास, गुरू नानक देव, कबीरदास, गुरु घासीदास आदि की अमृतवाणी एवं उनका जीवन दर्शन सत्य, अहिंसा, पवित्रता, क्षमा, सरलता आदि के रूप में जन-जन में विद्यमान है। पुरातत्व, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि विधाएँ इस देश की प्राचीनतम विद्याओं में सम्मिलित रही है । जिनका अध्ययन एवं मनन मानवीय दृष्टिकोण को मुखरित करता है। छत्तीसगढ़ प्रदेश स्थित इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग द्वारा विभागीय शोध-जर्नल (यू.जी.सी. केयर लिस्टेड) कला-वैभव के वार्षिक प्रकाशन का मूल उद्देश्य देश की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, सौन्दर्य, दर्शन आदि को सर्वत्र प्रसारित करना है। कला-वैभव अपनी विकास-यात्रा को बदस्तूर जारी रखते हुए आज देश के समस्त विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, तकनीकी संस्थानों आदि की मूल आवश्यकता बन गई है। विगत वर्षों के दौरान प्रकाशित उक्त शोध-जर्नल से देशभर के विश्वविद्यालयों को एक सूत्र में पिरोने में अवश्य ही सफलता प्राप्त हुई है। कला-वैभव अंक-27, 84 शोध-लेखों से अभिसिंचित है।

प्रस्तुत कला-वैभव अंक-27 के सौन्दर्यीकरण हेतु भारतवर्ष के सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों के मनीषी, विद्वानों एवं शोधार्थियों का सहयोग एवं विश्वास हासिल हुआ है। इस शोध-जर्नल के स्वरूप में निखार लाने हेतु शुभकामना संदेश, संपादकीय, अनुक्रमणिका आदि का समावेशन यथास्थान किया गया है। विषयों के अध्ययन हेतु उन्हें प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, चित्रकला, साहित्य, संगीत, नृत्य, लोककला, थियेटर आदि उपादानों से सुसज्जित किया गया है।

प्रस्तुत कला–वैभव (अंक–27) के सफलता पूर्वक प्रकाशन में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ की कुलपति सम्माननीय पद्मश्री मोक्षदा (ममता) चन्द्राकर (पद्मश्री से सम्मानित) जी का योगदान अविस्मरणीय है। माननीया विदुषी कुलपति जी का निर्देशन, प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आर्शीवाद से कला–वैभव कृतकृत्य हुआ है। हमारा मार्ग सहज एवं निष्कंटक बनाकर माननीया ने कला–वैभव की यात्रा को निरंतरता प्रदान की है। अतएव उन्हें शत शत नमन एवं हार्दिक आभार....। कला संकाय के अधिष्ठाता प्रो.(डॉ.) मुदुला शुक्ल जी ने कला–वैभव के प्रकाशन हेतु हमारा सदैव ही उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन किया है। मैं उनके प्रति भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के कुलसचिव एवं विभागाध्यक्ष, अंग्रेजी प्रो. (डॉ.) इन्द्रदेव तिवारी जी हमारे सदैव मार्गदर्शक रहे हैं। उनकी प्रेरणा तथा स्नेह हमें प्राप्त होता रहा है। जिनके सद्प्रयोग से कला–वैभव का यह अंक अपने साकार रूप में प्रस्तुत है। अतएव मैं उनके प्रति तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ।

प्रस्तुत कला–वैभव के अंग–प्रत्यंग में निखार लाने हेतु देशभर के विद्वानों, प्राध्यापकों, शोधार्थियों आदि के प्रयास अनुकरणीय है। जर्नल में प्रकाशनार्थ शोध लेख प्रस्तुत करने वाले विद्वानों एवं शोधार्थियों को साधुवाद। इसी श्रृंखला में सुधीर कुमार उपाध्याय एवं डॉ. मंगलानंद झा द्वारा लिखित ''छत्तीसगढ़ का पुरातत्व : पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा का अवदान'' अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। जिसमें छत्तीसगढ़ के पुरातात्त्विक सलाहकार एवं अनुसंधानकर्ता डॉ. शर्मा जी के राष्ट्र के प्रति योगदान को रेखांकित किया गया है। आराधना चतुर्वेदी ने अपने लेख ''चित्रकोट (बस्तर) में जैन धर्म का स्वरूप'' के माध्यम से बस्तर क्षेत्र में जैन धर्म के प्रचार–प्रसार को रेखांकित करने का प्रयास किया है, जो सराहनीय है। ''सांस्कृतिक समन्वय के केन्द्र गौरैया (पैरी)'' के अन्तर्गत डॉ. चैन सिंह नागवंशी ने धार्मिक समन्वयता के सन्दर्भ में गौरैया के योगदान को उल्लिखित किया है, जो अनुकरणीय है। डॉ. दिनेश नंदिनी परिहार एवं शबीना बेगम ने ''छत्तीसगढ़ क्षेत्र का अन्य राज्यों से सम्बन्ध (मौद्रिक साक्ष्यों के सन्दर्भ में) के अन्तर्गत राज्य में अब तक उपलब्ध मुद्राओं के माध्यम से अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को उजागर करने का प्रयास किया है जो सराहनीय है। इसी तरह प्रो. दिनेश नंदिनी परिहार एवं एकता ताम्रकार ने अपने आलेख ''वैष्णव प्रतिमाओं का कलात्मक विश्लेषण'' के माध्यम से विष्णु प्रतिमाओं का सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया है। जो प्रशंसनीय है।

डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन ने अपने लेख ''देवबड़ला (सीहोर) से प्राप्त परमार कालीन मंदिरों के ध्वंसावशेष एवं विलक्षण प्रतिमाएँ'' में सीहोर क्षेत्र से उपलब्ध परमार कालीन मंदिरों एवं प्रतिमाओं का सारतत्व प्रस्तुत किया है, जो उल्लेखनीय है। जितेन्द्र कुमार साखरे एवं डॉ अमित कुमार पाण्डेय ने ''बस्तर की आदिवासी संस्कृति एवं प्रकृति के विविध रूप'' के तहत तत्सम्बन्धी मूल्यवान तत्व प्रस्तुत किये है, जो प्रशंसनीय है। डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी ने ''तुम्बवन (तुमैन) की मूर्तिकला'' के परिप्रेक्ष्य में तुम्बवन क्षेत्र से उपलब्ध मूर्तिशिल्पों पर अनुकरणीय प्रकाश डाला है, जो स्वागत योग्य है। ललिता लहरी एवं हेमंत कुमार वैष्णव के द्वारा ''नव अन्वेषित पुरापाषाणिक पुरास्थल सिंगारघाट, जिला–राजनांदगांव (छ.ग.) : एक पुरातात्त्विक अध्ययन'' के अन्तर्गत क्षेत्रीय स्तर पर उपलब्ध पुरासम्पदा के विवरण में तथ्यात्मक जानकारी प्रस्तुत की है, जो सराहनीय है। प्राचीन भारतवर्ष में लज्जा–गौरी के रूप में मातृका पूजन की परम्परा सर्वत्र भारतवर्ष में प्रचलित थी। जिनके साक्ष्य पुरातत्त्व एवं साहित्य दोनों से उपलब्ध होते है। डॉ. मंगलानंद झा ने ''खैरागढ़ क्षेत्र से प्राप्त लज्जा–गौरी की अद्भुत प्रतिमा'' के तहत् प्राचीन भारतीय संस्कृति, धर्म एवं मान्यता का अद्भुत समन्वय प्रदर्शित करते हुए मातृका पूजन का इतिवृत प्रस्तुत किया है, जो महत्वपूर्ण है। डॉ. मीनू अग्रवाल ने ''वर्तमान वैश्विक परिदृश्य और भारतीय पौराणिक मूल्यों की प्रासंगिकता'' पर एक सार्वगर्भित विचार प्रस्तुत किये हैं जो विवेचनीय है। ''मूर्तिशिल्प में छत्तीसगढ़ की आदिवासी संस्कृति'' विषय पर डॉ. मोना जैन एवं सुरेश कुमार साहू के विचार सारगर्भित तथ्य प्रस्तुत करते है। डॉ. मोहन लाल चाढार ने ''प्राचीन भारतीय कला एवं साहित्य में योग : एक विश्लेषण'' में प्राचीन भारत में प्रचलित योग एवं उनके दैनिक जीवन में महत्व पर पूर्णरूपेण प्रकाश डालने का प्रयास किया है जो प्रशंसनीय है। मोहन कुमार साहू ने ''छत्तीसगढ़ का प्रयाग राजिम और पुरातत्त्व'' के अन्तर्गत राजिम के महत्व को प्रतिपादित किया है, जो महत्वपूर्ण है। ''दण्डकारण्य में तंत्र परम्परा'' के माध्यम से डॉ. नवीन त्रिपाठी ने ज्ञानवर्धक जानकारी दी है। डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव ने ''एरच से प्राप्त अनुपम ताम्र सिक्का'' के माध्यम से प्राचीनतम पुरातात्त्विक प्रमाण प्रस्तुत किये है, जो अध्ययन के योग्य है। ''गणेश

प्रतिमा (ढोलकल) का अनुकरण'' के तहत डॉ. प्रभात कुमार सिंह ने प्राचीन प्रतिमाओं के प्रति संरक्षण की ध्येयता एवं महत्व को प्रतिपादित किया है, जो उल्लेखनीय है।

प्रो. (डॉ.) सीताराम दुबे ने ''पक्काकोट (जनपद बलिया, उ.प्र.) के पार्श्ववर्ती पुरास्थलों का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण'' के परिप्रेक्ष्य में बलिया क्षेत्र के पुरातत्त्व सम्पदा पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है, जो निःसंदेह अत्युत्तम है। ''मध्यकालीन राजस्थान में भोजन व्यवस्था'' के संदर्भ में डॉ. सुशीला शक्तावत ने तत्कालीन युगीन पाककला के उद्धरण प्रस्तुत किये है, जो ज्ञानवर्धक और उल्लेखनीय है। डॉ. एस.के. द्विवेदी एवं स्मृति पाठक ने ''ग्वालियर दुर्ग की स्थापना में जल स्रोतों का महत्व'' के अन्तर्गत महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की है, जो अनुकरणीय है। डॉ. श्याम पाठक ने ''हरदोई जनपद की ताम्र नीधि संस्कृति'' के अन्तर्गत क्षेत्रीय पुरासम्पदा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है जो अवलोकनीय है। ''दक्षिण कोसल में शाभपुरीय एवं पांडुवंशीय कालीन विहार व्यवस्था'' के तहत डॉ. सुनीता यादव ने छत्तीसगढ़ में उपलब्ध प्राचीन बौद्ध स्थापत्य कला का महत्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। वैशाली झा एवं प्रो. (डॉ.) शोभना झा ने ''चोल साम्राज्य का कलात्मक एवं स्थापत्य पहलू: एक विवेचन'' के अन्तर्गत चोलकालीन मंदिर एवं मूर्तियों के सम्बन्ध में शोधात्मक विवरण प्रस्तुत किये है जो पठनीय है। सुमिति सैनी ने ''गुप्तकालीन महिलाओं के विभिन्न पहलू'' के आधीन गुप्तकालीन महिलाओं के साज–सौन्दर्य एवं अन्य गतिविधियों पर रोचक प्रकाश डाला है, जो विवेचनीय है।

''नहुष की कोट का पुरातात्त्विक अध्ययन'' के तहत सुशील राय ने तत्सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत की है जो प्रशंसनीय है। सुमन साहू ने ''गजकिला रतनपुर में उत्कीर्णित नायिकाएँ'' विषय पर अपने अत्युत्तम विचार प्रस्तुत किये है। ''दमोह जिले के सर्वेक्षित शाक्त प्रतिमाएँ'' के परिप्रेक्ष्य में डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय ने क्षेत्र के शाक्त प्रतिमाओं का अनुकरणीय विवेचन प्रस्तुत किया है। ''औरंगाबाद (बिहार) जिले का पुरातात्त्विक अध्ययन'' के अन्तर्गत डॉ. विनय कुमार एवं बृजेश कुमार ने ओरंगाबाद क्षेत्र के पुरासम्पदा का विस्तृत व बहुमूल्य जानकारी प्रस्तुत की है। वियोग सिंह यादव ने ''अमोघ वर्ष की दो विवादास्पद रचनाएँ'' के सम्बन्ध में ध्यानाकर्षित विवरण प्रस्तुत किये है। प्रो. (डॉ.) आनंद के. भोईर ने ''AHERI DUSSHERA FESTIVAL IS UNITY OF SOCIAL AND CULTURAL'' के अन्तर्गत तत्सम्बन्धी ज्ञानवर्द्धक एवं प्रेरणादायक विवरण प्रस्तुत किये है, जो अवलोकनीय है। डॉ. नितेश कुमार मिश्र एवं अंशुमाला तिर्की ने ''Newly Discovered Neolithic Tools from District Jashpur, Chhattisgarh'' के परिप्रेक्ष्य में शोधात्मक विवरण प्रस्तुत किये है जो काफी उपयोगी है। डॉ. प्रशांत कश्यप ने ''Concept of Capital Punishment through the Agè''के अन्तर्गत काफी महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्रस्तुत की है। डॉ. शम्भूनाथ यादव एवं जाकिर खान ने ''PREHISTORIC CULTURAL ACTIVITIES IN THE ONGANA AND POTIA ROCK SHELTER, DISTRICT RAIGARH, CHHATTISGARH'' के अन्तर्गत रायगढ़ जिले में मौजूद पुरासम्पदा के विषय में ज्ञानवर्द्धक जानकारी प्रस्तुत की है, जो विचारणीय है। डॉ. तीर्थराज भोई ने ''Rock and Wooden Art and Architecture: A Case Study of Memorial Pillars from Bastar Region of Chhattisgarh'' के परिप्रेक्ष्य में अतिमहत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये है, जो विवेचनीय है। अपराजिता ने अपने ''भारतीय समकालीन चित्रकला में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव'' के अन्तर्गत आजादी के पूर्व की व्याप्त कला पर पर्याप्त प्रकाश डालने का सराहनीय प्रयास किया है। अनुपमा डे ने ''Modern impact in Kalighat Painting'' के तहत् कालीघाट चित्रकला की खूबियों को उजागर करने का अच्छा प्रयास किया है। ''म.प्र. के झाबुआ के वनवासियों की वाचिक परम्परा का चित्रांकन (रविन्द्र बहादुर संग्रहालय खैरागढ़ के सन्दर्भ में) के अन्तर्गत महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत कर डॉ. आशुतोष चौरे ने सराहनीय प्रयास किया है। डॉ. कृष्णा महावर ने अपने लेख ''देश की ललित कला अकादमियों की वर्तमान प्रासंगिकता'' के सन्दर्भ में विवेचनीय सारगर्भित तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जो अवलोकनीय है। केशव ध्रुव ने अपने लेख ''Darshan' and 'Interrention o Gaze to Devotion' in Ragmala Deccom miniature Painting '' के तहत् तत्सम्बन्धी अपने शोध ात्मक विचार प्रस्तुत किये है, जो उल्लेखनीय है। '' Interpreting Pichhvai Tradition of miniature Paintings & it Artists'' के विषय पर पारूल शर्मा एवं प्रो. एस.के.द्विवेदी ने विषयान्तर्गत जो महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की है, वह अत्यंत ही उपयोगी है। डॉ. राखी कुमारी ने ''मिथिला का कोहवर लेखन एक वैज्ञानिक एवं प्रकृति जन्य

चित्रांकन'' के तहत उक्त विषय पर ज्ञानप्रद व रोचक विवरण प्रस्तुत किया है, जो अवलोकनीय है।^^With Special reference to Bharat Kala Bhavan Collection'' के परिप्रेक्ष्य में डॉ. शैलेन्द्र कुमार ने भारत कला भवन के कलात्मक संकलनों पर विशेष प्रस्तुतिकरण दिया है। विमल कुमार जायसवाल एवं Dr. Kyilin us ^^SCIENTIFIC AP-PROACHES FOR THE CONSERVATION OF MURAL PAINTINGS AT BAGAN IN MYANMAR'' के तहत अपने विवरण में विषयान्तर्गत उल्लेखनीय प्रस्तुति दी है जो ज्ञानवर्द्धक एवं विश्लेषात्मक है। विपिन सिंह ने ''कला के बाजारीकरण की कला'' के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक कला व्यापार को मर्मान्तक ढंग से प्रस्तुत करने का सहज प्रयास किया है जो उल्लेखनीय है।

'अक्षर विज्ञानम्' लेखन कला के स्वरूप और सिद्धांत को प्रतिपादित करने वाला शोधात्मक महत्वपूर्ण लेख है। इसके माध्यम से डॉ. पूर्णिमा केलकर प्राचीन भारतीय लेखन सभ्यता पर आधुनिकता के सन्दर्भ में रूपायन किया है, जो अवलोकनीय है। डॉ. प्रशान्त कुमार सेठी ने अपने ''भट्टिकाव्ये रूपकालंकार'' काव्यात्मक अलंकरणों की बहुआयामी प्रस्तुति प्रस्तुत की है, जो ज्ञानवर्द्धक है। आशा राम साहू ने ''नरेश मेहता के उपन्यासों में गांधीवादी विचारधारा'' के तहत तत्कालीन उपन्यासकार के बहुमुखी प्रतिभा को रेखांकित किया है। ''भूमण्डलीकरण और नए कहानीकार'' के लेखक अनवर खान ने उभरते हुए नवोदित कहानीकारों का आकलन वांछित रूप से प्रस्तुत किया है। ''अमरकांत के ग्राम सेविका' उपन्यासों में अभिव्यक्त प्रगतिशील चेतना'' के अन्तर्गत भारतीय समाज के बदलते परिवेश का अच्छा लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है। ''मिथिलेश्वर की कहानियों में सांस्कृतिक और राजनीतिक परिदृश्य'' के तारतम्य में जीतलाल ने राष्ट्रीय स्वरूप को प्रस्तुत किया है। कुमुदरंजन मिश्र ने ''छायावाद का सांस्कृतिक पुनरूत्थानवादी साहित्य'' नामक अपने लेख में छायावाद के अंतःस्वरूप को रेखांकित करने का प्रयास किया है। प्रो. (डॉ.) राजन यादव ने ''छत्तीसगढ़ी काव्य में गांधी'' के परिप्रेक्ष्य में प्रादेशिक रचनाओं में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के चित्रांकन को दिग्दर्शित किया है, जो अत्यन्त लाभकारी है। ''कामायनी में प्रकृति–सौन्दर्य'' के अन्तर्गत डॉ. सीमा कुमारी चौधरी ने प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रांकन को सूक्ष्मता से सम्मुख रखने में सफलता अर्जित की है। उमेंद्र कुमार चंदेल ने अपने लेख ''वैदिक संस्कृति का योगदान और भारतीय संस्कृति का विकास'' में प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति को बहुंत ही सुंदर ढंग रूपायित किया है। सी.पी. प्रमोद ने ''India, Literture, Culture with Amitav Ghosh and Rohinton Mistry'' के उक्त लेखकों के योगदान की विस्तृत चर्चा की है। ''Impact of Covid 19 on Higher Education in Chhattisgarh, India'' के तारतम्य में प्रो.(डॉ.) आई.डी. तिवारी और अनीता पांडे ने कोरोना महामारी प्रकोप के अनन्तर छत्तीसगढ़ सरकार के द्वारा शिक्षण व्यवस्था के प्रति लिये गये सकारात्मक कार्य को प्रतिबिम्बित किया है, जो विवेचनीय व प्रशंसात्मक है। डॉ. मुक्ता बोरह ने अपने लेख ''The Collector's wife: An Analysis'' के माध्यम से शासन के उच्च अधिकार प्राप्त आई.ए.एस. अधिकारियों की पत्नियों की मनोदशा व विवेकशीलता पर प्रकाश डाला है। निरेश कुर्रे के लेख ''Dr.B.R. Ambedkar: A Great Educationist'' के तहत् यह सिद्ध किया है कि तत्कालीन विश्व समुदाय और विशेषकर भारतवर्ष में डॉ. आम्बेडकर के कुशल शिक्षाविद् और नीतिज्ञ थे। उक्त लेख में अंग्रेजों के गुलामी से मुक्त हुए भारतवर्ष की स्थिति का अच्छा चित्रण है। राजर्षि कलिता ने अपने लेख ''City of Djinns: A Market-Oriented Narrative of a Multilayered City'' में तत्सम्बन्धी विवरणों का अच्छा और उम्दा लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है।

सारिका तिवारी और डॉ. कल्पना पौल ने ''Derek Walcott's Treatment of Sea and Island in Omeros.'' के आधीन सामुद्रिक एवं द्वीपीय स्थितियों का बहुंत ही सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है जो सराहनीय है। सिन्धु नायर द्वारा '' Anthropogenic violation of nature in margaret atwoods cli-fi maddaddam trilogy'' में विषयान्तर्गत अपने विचार तथ्यात्मक शैली में प्रस्तुत किये है, जिससे यह लेख और अधिक प्रगतिशील मंतव्यों को प्रदर्शित करने में सफल हुआ है। डॉ. हरिओमहरि ने अपने लेख ''वैश्विक पटल पर भारतीय संगीत का स्थान'' में भारतीय सांगीतिक स्थिति का वैश्विक परिदृश्य में बढ़ते प्रभाव का मनोवैज्ञानिक निरूपण प्रस्तुत किया है जो उल्लेखनीय है। ''सूफी साहित्य परम्परा में संगीत'' के तहत डॉ. इभा सिरोठिया ने सूफियाना सांगीतिक विशेषताओं पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। रजनीश सिंह परिहार ने अपने मंतव्य को ''मैहर घराना : एक परिचय'' के तहत

प्रस्तुत करने का सफलतम प्रयास किया है। ''जसरंगी जुगलबंदी'' के संदर्भ में ''स्नेहा कुमारी'' ने संगीत विद्या के उक्त स्वरूप को सफलतम ढंग से प्रस्तुत किया है जो सराहनीय है। डॉ. सुधा कुमारी ने अपने लेख ''पद्मश्री पं. रामचतुर मल्लिक का जीवनवृत्त'' के परिप्रेक्ष्य में तत्सम्बन्धी विवरण अत्यंत उल्लेखनीय है। ''ध्रुपद की उत्पत्ति, विकास तथा वर्तमान स्वरूप'' के अन्तर्गत टोपराज सिंह पटेल ने संगीत की उक्त विद्या के ऐतिहासिकता को प्रतिबिम्बित किया है।

डॉ. उत्पल बिश्वास ने अपने लेख ''त्रिपुरा की साउताल जनजाति में प्रचलित गीतों का भावार्थ एवं सांगीतिक विश्लेषण'' के परिप्रेक्ष्य में तत्सम्बन्धी विवेचनाओं का सारगर्भित रूप प्रस्तुत किया है जो सौन्दर्यात्मक व अनुशीलन के योग्य है। अमित साखरे के ''भक्तिकालीन (अष्टछापीय) काव्य एवं कथक नृत्य'' में काव्य एवं नृत्य दोनों के समन्वित स्वरूप को बड़ी ही तन्मयता पूर्वक प्रस्तुत किया गया है जो ज्ञानवर्द्धक है। ''कथक की एक सौन्दर्यपूर्ण प्रस्तुति'' गतनिकास'' के तहत डॉ. जितेश गढ़पायले ने अच्छा विश्लेषात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। डॉ. मानव महंत द्वारा लिखित ''रायगढ़ घराने की नायिका प्रधान रचनाओं का सौन्दर्य'' में सांगीतिक व नृत्य शैली में नायिकाओं के बढ़ते प्रभाव का अच्छा निरूपण प्रस्तुत किया है। मंजरी बख्शी द्वारा लिखित ''कथक नृत्य में ठुमरी प्रदर्शन'' में तत्सम्बन्धी सांगीतिक भावनाओं का अच्छा दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हुए उन्हें ज्ञानवर्द्धक सिद्ध किया है। ''पौराणिक संदर्भों के आधार पर नृत्य की सामाजिक प्रतिष्ठा का आंकलन'' के तारतम्य में प्रो. (डॉ.) नीता गहरवार ने संगीत व नृत्य के समन्वित रूप से प्राप्त भारतीय परिवेश का अच्छा आकलन प्रस्तुत किया है।

डॉ. पूर्णचन्द्र शर्मा जी ने ''लोकसंगीत का उद्भव और विकास'' के तहत हरियाणा प्रदेश में प्रचलित लोक संगीत का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जो अनुकरणीय है। ''छत्तीसगढ़ लोकनाट्य नाचा का जनसंचार स्वरूप'' के परिप्रेक्ष्य रंजीत कुमार मोहने द्वारा प्राचीन कालीन छत्तीसगढ़ की नाट्य विद्या का अच्छा मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है। ''DASMAT KAINA -THE FOLK SAGA OF CHHATTISGARH: ORIGIN, EVOLUTION AND HISTORICITY'' में डॉ. सरिता साहू ने प्राचीन कथानक को लोक नृत्य शैली में क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया है, जो सराहनीय है। सपन कुमार दास ने ''The Myth, Belief & Raligious Practices in The Lanjia Saora Society'' में विषयानुरूप अपने मनोभावों को तीव्र अभिव्यक्ति प्रदान की है, जो प्रशंसनीय है। ''छत्तीसगढ़ में हल्बा जनजाति की संस्कृति एवं सभ्यता–एक विश्लेषण'' के तारतम्य में सुरेश कुमार एवं डॉ. एल.आर. सिन्हा ने उक्त प्राचीन जनजातियों की परम्परा एवं रहन–सहन को बखूबी रेखांकित किया है। शिव कुमार सिंघल ने ''छत्तीसगढ़–बस्तर संभाग में जनजातीय हस्तशिल्प एवं जीविकोपार्जन'' विषय पर तत्सम्बन्धी विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जो उल्लेखनीय है। ''Bhubaneswar an Epitome of hcterogenoes Cultural Tralitions (Archaeological coultural & Folk Traditions)'' के परिप्रेक्ष्य में शिवनारायण बिहारी ने अपने विषय के अनुकूल तत्सम्बन्धी तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किये है जो प्रशंसनीय है। धीरज सोनी ने अपने लेख ''लोकनाट्य का सौन्दर्य : शिव–शक्ति'' के तारतम्य में तत्सम्बन्धी शोधात्मक प्रस्तुतिकरण किया है। ''लोकनाट्य रामलीला में राम और रामकथा'' के अन्तर्गत डॉ. योगेन्द्र चौबे ने अपने तथ्यात्मक विवरणों से लेख में विवेचनात्मक दृष्टिकोण को रूपायित किया है, जो उल्लेखनीय है।

कला–वैभव के प्रकाशन में प्रारंभ से लेकर पूर्णता प्राप्त होने तक सहयोगी डॉ. चैन सिंह नागवंशी जी ने पूर्ण समर्पण एवं जिम्मेदारी के साथ सहयोग प्रदान किया है। इनके सहयोग को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। अस्तु डॉ. चैन सिंह नागवंशी जी कोटिशः धन्यवाद देते हुए आभार व्यक्त करता हूँ। संस्कृत की प्रतिष्ठित विदुषी डॉ. पूर्णिमा केलकर बहन ने भाषागत त्रुटियों को दूर करने में इस शोध–जर्नल के प्रकाशन में महती सहयोग दिया हैं, अतएव आपको भी कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। अंत में इस शोध–जर्नल के प्रकाशन में जिनका भी तृण मात्र सहयोग परोक्ष और अपरोक्ष रूप प्राप्त हुआ है और मानवीय भूल वश उल्लेखित नहीं हो पाया हो उन्हें भी मैं साधुवाद देता हूँ।

शुभमस्तु

संवत् – 2078

भाद्र शुक्ल पक्ष चतुर्थी (श्रीगणेश)

(डॉ मंगलानंद झा)
प्रधान संपादक

छत्तीसगढ़ का पुरातत्त्वः पद्मश्री डॉ. अरूण कुमार शर्मा का अवदान

सुधीर कुमार उपाध्याय
डॉ. मगलानंद झा

छत्तीसगढ़ को सदियों तक जंगलों और आदिवासियों का प्रदेश माना जाता रहा है। देश के पिछड़े इलाकों में इसकी गिनती होती रही, लेकिन आज देश और दुनियां के लोग जानते हैं कि सदियों पहले यहां की नदियों के किनारे और गुफाओं में विकसित सभ्यताएं रहती थीं, जहाँ नगर बसाए गए थे। इन नगरों में बाजार था, औषधालय थे और मंदिर भी थे। अलग–अलग धर्म को मानने वाले लोग रहते थे। छत्तीसगढ़ के पुरा–वैभव को दुनियां के सामने लाने में जिन विद्वानों का योगदान है, उनमें पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा जी का नाम उल्लेखनीय है।

डॉ. शर्मा सबसे ज्यादा चर्चा में तब आए जब आपने सिरपुर की धरती में छुपे रहस्यों को बाहर निकाला। महासमुंद जिले में महानदी के तट पर स्थित सिरपुर आज प्रदेश का एक प्रमुख पुरातात्त्विक व पर्यटन स्थल है, जो धार्मिक, पुरातात्त्विक, कलात्मक आदि सभी दृष्टिकोणों से अनुपम है। आम लोगों को भी यह बात चकित करती है कि कैसे पुरातत्त्व के जानकारों ने एक पूरा नगर धरती के भीतर से खोज निकाला। जो जानकारियां सामने आई हैं, उनके मुताबिक पांचवीं से आठवीं सदी के बीच सिरपुर दक्षिण कोसल प्रदेश की राजधानी थी। सोमवंशी राजाओं के काल में इसे श्रीपुर के नाम से जाना जाता था। शोधार्थियों के लिए यह एक दुर्लभ स्थल है। वैष्णव, शैव, शाक्त बौद्ध एवं जैन धर्मावलंबी भी यहां अपनी विरासत को आत्मसात करने आते हैं। यहां ईसा से छह सौ साल पहले की पुरावशेष मिली हैं। बौद्ध विहार मिले है, बाजार मिले है। बंदरगाह होने के संकेत भी प्राप्त हुए हैं। आज सिरपुर को वर्ल्ड हेरिटेज में शामिल करने की बात हो रही है। पुरातत्त्व में अपने कैरिअर का सबसे अधिक समय डॉ. शर्मा ने सिरपुर में ही बिताया। 12 साल तक वे यहां के टीलों की खुदाई कर सिरपुर के माध्यम से छत्तीसगढ़ के इतिहास को सामने लाते रहे हैं। आप बताते हैं कि अभी भी सिरपुर में कई टीले बचे हुए हैं, जिनकी खुदाई से कई नई जानकारियां सामने आ सकती हैं। डॉ. शर्मा जी ने सिरपुर उत्खनन पर अपनी पुस्तक भी प्रकाशित की है।

इसी तरह बालोद के करकाभाट में प्राचीन कब्रगाह को उन्होंने ढूंढ निकाला। ऐसे स्थल बहुत दुर्लभ हैं। यह एक ऐसे कालखंड के अवशेष हैं, जब लोग अपने स्वजनों की समाधि पर शिलाएं लगा देते थे। ऐसी शिलाओं वाली कब्रें धमतरी से बालोद के बीच सड़क के दोनों ओर खुले में देखी जा सकती हैं। यह महापाषाण काल के अवशेषों वाले गिने चुने स्थलों में से एक है। इस स्थल के खोज से पता चला है कि छत्तीसगढ़ जंगलों, खेतों और खनिजों के मामले में ही समृद्ध नहीं थी बल्कि यहाँ ईसा पूर्व से उन्नत सभ्यताएं विकसित होती आई हैं। करकाभाट की खुदाई पर भी ''एक्सकेवैशन ऑफ करकाभाट छत्तीसगढ़'' नाम से डा. शर्मा ने पुस्तक भी प्रकाशित की है।

बिलासपुर के मदकूद्वीप में भी डा. शर्मा ने उत्खनन कार्य किया है। मदकूद्वीप शिवनाथ नदी की धारा के दो भागों मे बंटने से द्वीप के रूप में प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर प्राचीन स्थल है। यहां प्राचीन शिव मंदिर व कई स्थापत्य खंड हैं। 10वीं–11वीं शताब्दी के दो अत्यंत प्राचीन शिव मंदिर इस द्वीप पर हैं। यहां दो प्राचीन शिलालेख मिले हैं। एक शिलालेख तीसरी श.ई. के आसपास का है, जिसमें ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित है। यहां प्रागैतिहासिक काल के लघु पाषाण शिल्प भी पाए गए हैं। बिना सिर वाले पुरुष की प्रतिमा दसवीं से ग्यारहवीं सदी की बताई जाती हैं। यहां खुदाई में गुप्तकाल व कल्चुरि काल की प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कल्चुरि काल की चतुर्भुजी नृत्य गणेश की प्रतिमा भी यहां मिली है, जो ग्यारहवीं शताब्दी की मानी जाती है।

अनेक पुरातात्त्विक स्थल ऐसे हैं, जिनके महत्व को सामने लाने का श्रेय डॉ. शर्मा जी को जाता है। आप बताते हैं कि सिरपुर के अलावा बस्तर, सरगुजा, खैरागढ़ और शिवनाथ नदी के किनारे पुरातत्त्व को लेकर काफी संभावनाएं हैं। यहां महापाषाण काल के अवशेष मिलते रहते हैं।

डॉ. शर्मा जी पुरातत्त्व पर अब तक 53 किताबें लिख चुके हैं। इनमें उन्होंने छत्तीसगढ़ के साथ ही देश के कई राज्यों के पुरातात्त्विक इतिहास का वर्णन किया है। अयोध्या मामले में आर्कियोलॉजिकल एविडेंस पर लिखी गई उनकी किताब इस विषय पर महत्वपूर्ण दस्तावेजों में से एक है।

डॉ. शर्मा जी का जन्म 12 नवंबर 1933 को चंदखुरी के पास मोहदी गांव में हुआ। यह उनका ननिहाल है। उनकी स्कूली शिक्षा बिलासपुर में हुई। गवर्नमेंट नागार्जुन विज्ञान महाविद्यालय रायपुर से उन्होंने बीएससी किया। आगे पढ़ने की इच्छा थी, इसलिए सागर विश्वविद्यालय से एंथ्रोपॉलोजी में एमएससी की डिग्री हासिल की। पढ़ाई के दौरान ही उनका पुरातत्त्व से लगाव गहरा होने लगा। इसलिए वे एमएससी करके ही नहीं रुके। पुरातत्त्व के बारे में और गहराई से जानने के लिए उन्होंने आर्कियोलॉजी में पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा की पढ़ाई भी की।

एमएससी की पढ़ाई के बाद उन्हें भिलाई स्टील प्लांट में नौकरी मिली। इसके लिए रायपुर से भिलाई आना–जाना पड़ता था। तब साधन भी ज्यादा नहीं थे सो इसमें परेशानी होती थी। घर वालों के दबाव में उन्होंने वह नौकरी ही छोड़ दी। इसके बाद वे शिक्षक बन गए। दो साल तक वे बच्चों को पढ़ाते रहे। लेकिन मन पुरातत्त्व की ओर लगा रहा। तभी भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण से नौकरी के लिए एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ। डॉ. शर्मा जी ने आवेदन किया। उनका चयन तकनीकी सहायक पुरातत्व के रूप में नागपुर में हुआ। लोथल गुजरात में पहली बार वे खुदाई से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े। यहां आर्कियोलॉजी सुपरिंटेंडेंट डॉ.एस.आर.राव के नेतृत्व में उत्खनन हुआ। डॉ. शर्मा ने यहां मानव कंकाल की खुदाई की। इसके बाद वे क्रमशः इस विषय पर काम करते रहे और उनकी ख्याति का विस्तार होता रहा। डा. शर्मा जी ने छत्तीसगढ़ के अलावा जम्मू कश्मीर, उत्तरांचल, उत्तरपूर्व, मध्यप्रदेश, लक्षद्वीप, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, गोवा, हरियाणा में भी उत्खनन कार्य किये हैं। इस प्रकार आप ने कई दूरस्थ और दुर्गम स्थानों में काम किया है। आप भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के सुपरिंटेंडेंट आर्कियोलॉजी के पद से रिटायर हुए। इसके अलावा छत्तीसगढ़ शासन में पुरातात्त्विक सलाहकार के रूप में भी अपनी सेवाएं दीं।

निष्कर्षतः डॉ. शर्मा जी द्वारा किये गए उत्खनन के परिणाम स्वरूप बालेश्वर मंदिर, सुरंगटीला, तीवर देव विहार, पद्मपाणि विहार, राजमहल, बाजार, पुजारी का निवास एवं धातु प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई है। पूर्व उत्खनन कर्ताओं के द्वारा जो धातु प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थी, उसकी निर्माण शैली में भागधीय शैली का प्रभाव स्वीकार किया जाता था क्योंकि राजमाता वासटा मगध शासक सुर्यवर्मा की पुत्री थी। लेकिन डॉ. अरुण कुमार शर्मा जी के पुरातात्त्विक उत्खनन से जो धातु प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है, उसकी निर्माण शैली से यह सिद्ध हो जाता है कि दक्षिणकोसल की धातु प्रतिमाओं की निर्माण कला में यहाँ के शिल्पी पूर्ण निष्णात्र थे और कला शैली के निर्माण में उनका खुद का निजत्व समावेशित है। दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि देश में अब तक प्राप्त बौद्ध विहारों में अलंकारिक व मिथुन मूर्तियों का अभाव था किन्तु तीवर देव महाविहार में इस प्रकार की प्रतिमाओं की उपलब्धि ने एक नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ है। इस प्रकार अलंकरणात्मक शैली में निर्मित बौद्ध विहार अन्यत्र दुर्लभ है। इसी स्थल पर विदेशी महिला को आलिंगन बद्ध भी दिखाया गया है, जिससे छ.ग. का दूरस्थ विदेशों से संबंध भी प्रमाणित सिद्ध होती है।

(पद्मश्री डॉ. अरुण कुमार शर्मा से बातचीत पर आधारित)

संदर्भ :–

1. जैन, बालचँद्र, उत्कीर्ण लेख।
2. गुप्त, प्यारे लाल प्राचीन छ.ग.।
3. प्रोसीडिग्स, छ.ग. की सांस्कृतिक विरासत, इ.क.स.वि.वि. खैरागढ़, 2012।
4. झा, एम. एन., दक्षिण कोसल का कलचुरि कालीन मंदिर।
5. सिंह, प्रभात कुमार, मदकूद्वीप में उत्खनन, वर्ष 2011, कोसल अंक–4, 2011।

उत्खनन स्थल एवं डॉ. अरुण कुमार शर्मा

पद्मश्री उपाधी प्राप्त करते हुए डॉ. अरुण कुमार शर्मा

तिवरदेव विहार, सिरपुर

शोध छात्र
कुशाभाऊ ठाकरे पत्रकारिता एवं जनसंचार
विश्वविद्यालय रायपुर, छत्तीसगढ़

चित्रकोट (बस्तर) में जैनधर्म का स्वरुप

आराधना चतुर्वेदी

छत्तीसगढ़ प्रदेश के दक्षिण भाग में स्थित बस्तर संभाग ऊँचे घने वनों, विशाल पर्वत श्रेणियों, दुर्गम रास्तों से घिरा हुआ क्षेत्र है। प्राचीनकाल में इस क्षेत्र को दण्डकारण्य, कान्तार, महाकांतार, चित्रकोट, भ्रमरकोट आदि नामों से जाना जाता था। बस्तर में प्राचीनकाल से ही विभिन्न देवी–देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण होता रहा है। इस क्षेत्र से प्राप्त अनेक ब्राह्मण धर्म से सम्बंधित प्रतिमाये जैसेः– शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य आदि संप्रदायों के प्रतिमाओं की उपलब्धि से यह जानकारी मिलती है कि तत्कालीन समाज में इन सम्प्रदायों को मानने वाले लोग यहाँ रहते थे। इसी क्रम में बस्तर अंचल से बौद्ध तथा जैन धर्मो से सम्बंधित कुछ प्रतिमायें भी प्राप्त हुई है। इसके अलावा यहाँ विभिन्न राजवंशों द्वारा लिखवायें गये अभिलेखों एवं जैन मूर्तियों से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ जैन धर्म का प्रभाव था।1 हालांकि ये प्रतिमायें अत्यल्प मात्रा में ज्ञात हुई है, लेकिन इन प्रतिमाओं के इस क्षेत्र में उपलब्धि से इस बात को भी नाकारा नहीं जा सकता कि यह क्षेत्र बौद्ध एवं जैन धर्मो के प्रभाव में था।

बस्तर के आसपास ओड़िसा क्षेत्र में खारवेल के समय से ही जैन धर्म का प्रभाव स्थापित हो गया था। परन्तु बस्तर में सिर्फ नागवंशी शासक सोमेश्वरदेव ने ही जैन धर्म को संरक्षण दिया। नागवंशी शासकों के अभिलेखों में जैन साधुओं के नाम का उल्लेख मिलता है, इसके अलावा 'जिनग्राम' की चर्चा भी इनकें अभिलेखों में मिलती है। नाग शासक सोमेश्वरदेव की पत्नी धारणमहादेवी के कुरुसपाल अभिलेख में जैन साधु सोमन का नाम मिलता है। इस अभिलेख की तिथि लगभग 1069 अनुमानित है।2 इसके अलावा मधुरांतकदेव के राजपुर ताम्रपत्र3 में भी जैन साधु सहरंग का नाम मिलता है। यह अभिलेख लगभग 1065 ईसवी में उत्कीर्ण की गयी थी। वहीं सोमेश्वरदेव के पुत्र कन्हरदेव के नारायणपाल अभिलेख4 में साधु वकोमोरय और साधु श्रीधर का नाम अंकित है। यह अभिलेख लगभग 1111 ईसवी में लिखी गयी थी। इन अभिलेखों के अनुसार नाग युग में जैन साधु गण समुह बनाकर इस क्षेत्र में निवास करते थे, तथा चैत्य गुहा बनाकर साधना करते थे।

नागवंशी शासक अपने शासनकाल में शैव तथा वैष्णव देवताओं के लिए भूमिदान के अवसर पर जैन साधुओं को साक्षी के रूप में बुलावा भेजते थे, यह तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता को परिलक्षित करता है। जैन धर्म से सम्बंधित प्रतिमाएं लगभग 11वी. शती में निर्मित बस्तर क्षेत्र से यत्र–तत्र बिखरे हुए प्राप्त हुए हैं। बस्तर संभाग से लगभग 14 जैन प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। ये प्रतिमायें बस्तर क्षेत्र के गढ़बोदरा, कुरुसपाल, घोटियाद्योता, रेतावंड, बारसूर, केसरपाल, हिड़पाल, कांकेर आदि स्थानों से प्राप्त हुई है।[5]

ऋषभनाथ– बस्तर अंचल में ऋषभनाथ की प्रतिमा रेतावंड से प्राप्त हुई है, जो एक मंदिर में रखी हुई है, यह प्रतिमा द्विभुजी है। ऋषभनाथ को आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन ग्रंथो में ऋषभनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक कहा गया गया है। शास्त्रों के अनुसार उनके लांछन वृषभ के साथ उन्हें कदली वृक्ष के नीचे बैठे दर्शाने का निर्देश मिलता है। उनके साथ यक्ष गोमुख, यक्षिणी, चक्रेश्वरी, भारत और बाहुबली को भी अंकित किये जाने चाहिए । शिवपुराण में ऋषभनाथ को शिव का योगावतार बताया गया है।

रेतावंड से प्राप्त इस प्रतिमा के नेत्र अधखुली, घुंघराले केश, लम्बे कर्ण है। ध्यान मुद्रा में पद्मासित देवता के वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है। नीचे वृषभ को भी दिखाया गया है। भारत एवं बाहुबली दोनों पार्श्वो में अंकित है, नीचे दो सिंहों के बीच चक्र प्रदर्शित है। लगभग 11वीं शती. में निर्मित इस प्रतिमा के ऊपर त्रिछत्र पर गज बैठे है, जो

खंडित अवस्था में है। एक और प्रतिमा जगदलपुर के समीप राबर्टसन बिल्डिंग में निर्मित मंदिर में स्थापित है, जिसका शीर्षभाग खंडित है। उनके पार्श्व में अंजनी मुद्रा में सेवक का अंकन किया गया है, जिनका केश, कुंडल, वलय, मेखला आदि आभूषण सुशोभित है। किसी प्रकार का लांछन नहीं है, केवल आसन के नीचे दो सिंहों के मध्य धर्मचक्र का अंकन है, इसी आधार पर वी.डी.झा6 ने इस प्रतिमा को ऋषभनाथ माना है।

कुरुसपाल से प्राप्त काले पत्थर से निर्मित तीर्थंकर ऋषभनाथ पद्मासन मुद्रा में है। वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है, प्रभामंडल, कर्णचाप, कुन्तलित केश है जो कंधे तक फैले हुए है। देवता के दोनों ओर चंवर धारी परिचारक, अभिषेक करते हुए गज एवं त्रिछत्र का अंकन शोभनीय है। उनका ध्वजलांछन वृषभ एवं नीचे एक–एक जिन प्रतिमा को प्रदर्शित किया गया है विपरीत दिशा में दो सिंहों के मध्य चक्र का अंकन भी दिखलाई पड़ता है। दायीं ओर गोमुख यक्ष और बायीं ओर यक्षी चक्रेश्वरी को भी प्रदर्शित किया गया है। यह प्रतिमा लगभग 11वी.शती ईस्वी में निर्मित की गयी होगी।(चित्र क्रं.–1)

बनियागाँव से प्राप्त ऋषभनाथ की एक प्रतिमा योत्सर्गमुद्रा में अंकित है। सुसज्जित केशविन्यास, कर्णचाप एवं वक्ष स्थल पर श्रीवत्स का अंकन मधुर है। दोनों ओर एक–एक चंवरधारी परिचारक एवं मालाधारी विद्याधार दोनों पार्श्व में प्रदर्शित किये गए है। दो सिंहों के मध्य चक्र के साथ नीचे पादपीठ पर लांछन वृषभ का अंकन है। शास्त्रानुसार दायें पार्श्व में गोमुख और बाएं पार्श्व में यक्षी चक्रेश्वरी भी अंकित है। यह प्रतिमा काले पत्थर पर निर्मित है जो लगभग 12वी. शती ईसवी की है।

पार्श्वनाथ– बस्तर क्षेत्र से पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाएं गढ़बोदरा एवं बारसूर से प्राप्त हुई है तथा एक नवीन प्रतिमा हिड़पाल बारसूर से प्राप्त हुई है। पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर माने जाते है। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का वास्तविक संस्थापक भी कहा जाता है।7 इनका लांछन सर्प है, प्रतिमा में मस्तक के ऊपर तीन, सात या ग्यारह सर्प फण प्रदर्शित किया गया है, साथ ही उनका यक्ष धर्नेंद्र, यक्षिणी पद्मावती तथा चंवरधारी अतिराज को भी दर्शाया गया है।

गढ़बोदरा से मिली लगभग 11वी. शती की प्रतिमा ध्यान मुद्रा में पद्मासित है। सिर पर सप्तफण लिए नागसर्प, लम्बे कर्णचाप तथा कुन्तलित केश सज्जित है। दायें–बांये चंवर धारी धर्नेंद्र एवं अतिराज प्रदर्शित है। नीचे परिचारक और ऊपर विद्याधर है। त्रिछत्र का अंकन भी शोभनीय है।(चित्र क्रं. 2)

पार्श्वनाथ की दूसरी प्रतिमा बारसूर चंद्रादित्य मंदिर संग्रहालय में रखी हुई है। यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है, वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है। देवता के सिर पर सप्त फण लिए हुए नागमौली सुशोभित है, कुन्तलित केश, कर्णचाप, अजानबाहु का भी अंकन किया गया है। पादपीठ पर सिंहों के मध्य चक्र अंकित है। दोनों पार्श्व में दायें धर्नेंद्र और बाए अतिराज प्रदर्शित है। दांये पार्श्व में अंजली मुद्रा में हाथ जोड़े सेवक, वितान में त्रिछत्र, दुदुन्भिक माला धारी तथा दो पुष्पों का अंकन दिखलाई पड़ता है। बलुवा पत्थर पर निर्मित लगभग 11वी. शती. की इस प्रतिमा के पीछे नीचे से ऊपर तक सर्प कुण्डलियाँ सुशोभित है। (चित्र क्रं. 3)

हिड़पाल, जो कि बारसूर के निकट एक छोटा सा वन ग्राम है, से भालू नाला के पास भगवान पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा का पता चला है। यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। लम्ब कर्णचाप वाले देवता के सिर पर उनके ध्वज लांछन सप्त फण नागमौली सुशोभित है। पीछे सर्प कुण्डलियां देवता के पैरों के नीचे तक दिखलाई पड़ते है। सप्त फण के ऊपर त्रिछत्र का अंकन भी मधुर है। लगभग 11वी. शती. में इस प्रतिमा का निर्माण किया गया है। स्थानीय लोग इस प्रतिमा को विष्णु समझते है।(चित्र क्रं. 4)

नेमिनाथ– बस्तर के बनिया गाँव से प्राप्त यह प्रतिमा लगभग 12वी. शताब्दी की निर्धारित की गयी है। जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर के रूप में नेमिनाथ का नाम लिया जाता है। कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित इस प्रतिमा के कुन्तलित केश राशि, लम्बे कर्णचाप तथा वक्ष स्थल पर श्रीवत्स का अंकन मनोरम है। पादपीठ के दोनों पार्श्वो में चंवर धारी सेवक एवं नीचे नेमिनाथ का ध्वज लांछन शंख का अंकन किया गया है। वितान में मालाधारी विद्याधार,

त्रिछत्र, दुन्दभिक, ऊपर पद्मासित जिन एवं अभिषेक करते गजराज सुशोभित है। नीचे दो विपरीत दिशा में मुख किये सिंहों के मध्य चक्र प्रदर्शित है। दायें पार्श्वो में यक्ष गोमेद और बायीं ओर यक्षी अम्बिका का अंकन किया गया है। यह प्रतिमा काले पत्थर पर निर्मित है।

तीर्थंकर प्रतिमा वितान– यह प्रतिमा वितान जगदलपुर बालाजी मंदिर के प्रवेश द्वार में जोड़ा गया है। लगभग 11वी. शती ईसवी की इस प्रतिमा के मस्तक के ऊपर त्रिछत्र, गज एवं पद्मासित जिन की आ.ति उकेरी गयी है।

पद्मावती– पद्मावती, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षिणी है, जिनका सम्बन्ध सर्प से है। पद्मावती के हाथ में पद्म होने के कारण इनका नाम पद्मावती पड़ा। ग्रंथो में पद्मावती के चतुर्भुजी, षडभुजी, अष्टभुजी एवं चौबीस भुजाओं वाली प्रतिमाओं का विवरण मिलता है।

बस्तर में केसरपाल से प्राप्त पद्मावती चतुर्भुजी है, तथा द्विभंग मुद्रा में प्रदर्शित है। इनकी भुजाओं में दण्ड, पताका, पाश, दायाँ हाथ भूमि स्पर्श मुद्रा में है। चेहरे का भाव शांत है, सिर के ऊपर सर्प फणनाग मौली सुशोभित है। बलुआ पत्थर से निर्मित देवी करंड मुकुट धारण किये हुए है, साथ ही ग्रेवेयक, चक्र कुंडल, केयूर वलय, कमर में मेखला एवं पैरो में पायल पहने हुए अंकित है। उनके वक्ष स्थल तक फैली हारावली अत्यंत सुन्दर है। लगभग 12वी.–13वी. शती में निर्मित प्रतिमा के बायीं ओर उनका वाहन कुक्कुट भी दर्शनीय है। वर्तमान में यह प्रतिमा जगदलपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।[8] (चित्र क्रं. 5)

अम्बिका– बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका को कहा गया है। ब्राह्मण धर्म की अम्बिका, दुर्गा का ही एक रूप है जिसे जैन धर्म में समाहित कर लिया गया। विभिन्न जैन ग्रंथो में अम्बिका प्रतिमा के लक्षणों का वर्णन मिलता है। बस्तर संभाग में अम्बिका की 5 प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है।

मठपाल में भैरव मंदिर से अम्बिका की अपने वाहन सिंह पर बैठी हुई एक प्रतिमा प्राप्त हुई है, देवी के कानो में कुंडल, गले में हार वलय सुशोभित है। देवी दायीं ओर अपने छोटे पुत्र प्रियंकर को गोदी में लिये हुए तथा बायीं ओर बड़े पुत्र शुभंकर को खड़ा प्रदर्शित किया गया है। लगभग 11वी.–12वी. शती. में यह प्रतिमा बलुआ पत्थर पर निर्मित है।

बारसूर के संग्रहालय में रखी अम्बिका की उपरी भुजा खंडित है। ललितासन मुद्रा बैठी देवी चतुर्भुजी है,जो कि अपने हाथो में क्रमशः आम्र गुच्छ, एक प्रकार की गोल वस्तु एवं बायी ओर अपने गोद में प्रियंकर को संभाले हुए प्रदर्शित है। लगभग 11वी.–12वी. शती में निर्मित देवी तत्कालीन आभूषण जैसे चक्र कुंडल, केयूर, मेखला, वलय, ग्रेवेयक, गले में एक लड़ी वाली हार तथा पैरो में नुपुर पहने हुए है।(चित्र क्रं. 6)

बारसूर से ही प्राप्त एक और अम्बिका दो भुजाओं वाली है एक हाथ में आम्र गुच्छ तथा दूसरे हाथ में अपने पुत्र प्रियंकर को पकड़ी हुई है। प्रियंकर की प्रतिमा खंडित है, बायीं ओर शुभंकर को खड़ा किये हुए प्रदर्शित है। देवी का शीर्ष भग्न है तथा तत्कालीन आभूषणों से युक्त है। यह प्रतिमा भी लगभग 11वी.–12वी. शती में निर्मित प्रतीत होती है। (चित्र क्रं. 7)

कांकेर के राजपारा से मिली अम्बिका की प्रतिमा लगभग 10वी.–11वी. शती में निर्मित है। देवी चतुर्भुजी तथा पद्मासित है। बाएं तरफ उपरी हाथ में पाश और नीचे हाथ से प्रियंकर को संभाले हुए है, वही दायें तरफ उपरी हाथ में अंकुश तथा निचले हाथ में आम्र गुच्छ लिए हुए प्रदर्शित है। जैन ग्रन्थ नेमिनाथ चरित्र के अनुसार इस प्रतिमा का निर्माण किया गया प्रतीत होता है।

अम्बिका की एक स्थानक प्रतिमा बारसूर के चंद्रादित्य संग्रहालय में रखी हुई है। प्रतिमा समभंग मुद्रा में खड़ी हुई है। पाद पीठ पर बड़ा पुत्र शुभंकर खड़ा है। द्विभुजी देवी अपने दायीं हाथ में आमफल का गुच्छ और बायीं हाथ अपने छोटे पुत्र प्रियंकर के ऊपर रखे हुए है। लगभग 11वी.–12वी. शती में इस प्रतिमा का निर्माण किया गया है, देवी चक्र कुंडल, ग्रेवेयक वउत्तरीय धारण किये हुए प्रदर्शित है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 10वी. से 12वी. शताब्दी में इस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रभाव रहा होगा।

रायबहादुर हीरालाल शुक्ल के अनुसार अबूझमाड़ क्षेत्र में विस्तृत जैन प्रतिमाएं वहाँ जैन धर्म की प्राचीनता को स्पष्ट करता है। बाद में वहाँ के लोग तांत्रिक प्रवृत्ति के होने के कारण, उनके द्वारा जैन धर्म को शाक्त संप्रदाय में समाहित कर लिया गया।

(1) आदिनाथ (ऋषभनाथ), कुरुसपाल।

(2) पार्श्वनाथ, गढ़बोदरा।

(3) पार्श्वनाथ, बारसूर संग्रहालय।

(4) पार्श्वनाथ, हिडपाल बारसूर।

(5)पद्मावती, केसरपाल।

(6) अम्बिका, बारसूर।

(7) अम्बिका, बारसूर।

सन्दर्भग्रन्थ सूची :–

1. झा, के.के.,– बस्तर में जैन धर्म की प्राचीनता, छ.ग.का जैनशिल्प, 2001, रायपुर, पृष्ठ क्र.45 एपिग्रफिका इंडिका, 9, पृष्ठ क्र. 163।
2. एपिग्रफिका इंडिका, 23अंक, पृष्ट क्र. 174–178।
3. एपिग्रफिका इंडिका, 48अंक, पृष्ट क्र. 311–316।
4. पाठक, नरेश कुमार, बस्तर इतिहास एवं पुरातत्व, रायपुर, 1991, पृष्ठ क्र. 63–66।
5. झा, वी.डी., बस्तर का मूर्तिशिल्प, भोपाल 1989, पृष्ट क्र. 111।
6. उप्रिवत, 112।
7. उप्रिवत, 112।
8. शुक्ल, हीरालाल, आदिवासी सामंतवाद, दिल्ली, 1987, पृष्ट क्र. 127।
9. संलग्न प्रतिमाये स्थल भ्रमण से स्वयं द्वारा अवलोकित।

शोधार्थी,
प्रा.भा.इति., सं. एवं पुरातत्व विभाग,
इ.क.सं.विश्वविद्यालय खैरागढ़।

●●●

सांस्कृतिक समन्वय का केन्द्र : गौरैया (पैरी)

डॉ. चैन सिंह नागवंशी

गौरैया नामक स्थल भारतीय धार्मिक सहिष्णुता के तस्वीर मानष पटल पर प्रेषित कर पाने में पूर्णतया सक्षम है। यह स्थल छत्तीसगढ़ प्रदेश के बालोद जिले में गुण्डरदेही नगर से 11 कि.मी. की दूरी पर सड़क मार्ग में पैरी नामक ग्राम से 1 कि.मी. दक्षिण में स्थित है। गौरैया अपने नामानुकूल प्राचीनतम पुरावशेषों का संरक्षण करते हुए प्राचीन पुरातात्त्विक स्थलों के मध्य स्थित है। वैसे गौरैया, छत्तीसगढ़ के प्रिय घरेलू पक्षी का नाम भी है, जो अपनी स्वच्छंदता, चपलता एवं फुदकने की कला से सबको बरबस ही अपनी ओर आकर्षित करती है। वैसे ही पैरी गौरैया निच्छलता, सरलता एवं वात्सल्यता आदि के प्रदर्शन सर्वधर्मसमभाव के रूप में लोगों में आकर्षण के केन्द्र है। यह स्थल भारतीय संस्कृति के लचीलेपन, समरसता एवं भेदभाव विहीन अन्तर्भावना के साकार रूप को प्रकाशित कर रहा है।

गौरैया इस क्षेत्र का पवित्र स्थल भी हैं, यह तान्दुला नदी के किनारे अवस्थित है। इस स्थल के दर्शनार्थी, चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के हो, वह अपने परायेपन का भाव भूल कर यहाँ स्थल परिसर में विद्यमान सभी मूर्तियों एवं देवसदनों के आगे माथा टेकते हैं। यह संस्कृति और परम्परा उक्त स्थल के महत्व को निर्विवाद रूप से प्रस्तुत कर रहा हैं।

गौरैया की यात्रा करने वाले पर्यटक, दर्शनार्थी एवं जिज्ञासुगण यहां के परिसर के दूरस्थ दर्शन मात्र से ही हर्षातिरेक की स्थिति में भावविभोर हो उठते है। इस स्थल के स्वरूप के निर्माण करने वाले मनीषियों के मन में शायद इस तथ्य की परिकल्पना आईं होगी और उन्होंने साकार रूप देने के लिए अपने मंतव्य को कार्यरूप दिया होगा। जिससे उन्हें कई दिक्कतें आईं होगी और विरोध भी सहन करने पड़े होंगे। आलोचकों ने आलोचनाएँ भी की होगी। दरअसल किसी भी अच्छे कार्य के लिए किये जाने वाले प्रयास के रास्ते में इस तरह की बाधाएँ आना स्वाभाविक है।

गौरैया जाने वाले प्रत्येक दर्शनार्थी को सर्वप्रथम तान्दुला नदी की जलधारा में स्नान करने होते है। स्नान करना शुद्धता की पहली शर्त है, इसलिये सभी धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस निर्धारित नियम का परिपालन करते है। तदन्तर अपने धर्म और संस्कृति के अनुसार अपने–अपने देवसदनों में आराधना, पूजन, मनन आदि हेतु प्रवेश करते हैं। विभिन्न देवी–देवताओं के पूजन हेतु आवश्यक सामग्रियाँ भी परिसर क्षेत्र में व्यवस्थित दुकानों या ठेलों से उपलब्ध हो जाती है।

गौरैया नामक देव, छत्तीसगढ़ के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रमुख पूजित देवता है, जो प्राचीन समय से प्रत्येक गाँव व प्रत्येक घर में पूजित होते रहे हैं। इस देव को आमतौर पर गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि कृषक परिवारों से सम्बन्धित पालित पशुओं का स्वामी माना जाता रहा है। प्रतिवर्ष दिपावली की रात्रि को श्री लक्ष्मी माता के पूजन के पश्चात् कृषक परिवार अपने गौशाला में जाकर गौरैया देव का पूजन करता है और अपने सभी पशुओं के अच्छे स्वास्थ्य की कामना करते है। ऐसी मान्यताएँ है कि इस देव की कृपा से गौशाला में रहने वाले गाय, भैंस, बकरी आदि मादा पशु अधिक प्रजनन कर दूध प्रदान करती है। बैल, महिष, अश्व आदि पशु भी हष्ट–पुष्ट व स्वास्थ्य युक्त रहते है। इससे कृषक परिवार की सदैव उन्नति होती रहती है।

यहाँ गौरैया स्थल के नामकरण के पृष्ठ भाग में मूल भावना यह निहित है कि इसके परिसर में मौजूद सभी देवसदन और उनमें प्रतिष्ठित देवप्राण एक ही नाम के पृथक–पृथक स्वरूप है। जिस प्रकार भगवत् गीता में यह

स्वीकार किया गया है कि सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान जीवात्मा, उस अविनाशी के ही अभिन्न रूप है, जिसने इस दुनियाँ की सृष्टि की है। वैसे ही गौरेया में स्थित सभी देवस्थल और उनमें प्रतिष्ठित देवगण एक ही गौरेया देव के स्वरूप है।

पैरी–गौरैया के विस्तृत परिसर में हिन्दू देवी–देवताओं के मंदिरों के अतिरिक्त बौद्ध मंदिर, बौद्ध विहार गुरूद्वारा, गिरजाघर, मस्जिद, कबीरमंदिर, घासीदास मंदिर आदि निर्मित है। जिनके आराधक पुजारी, बौद्ध भिक्षुक, मौलवी, पादरी, महन्त आदि लोग एक ही परिसर में परस्पर सद्भावना पूर्वक रहकर अपने आराध्य की पूजन–अर्चन में संलग्न रहते है। कोई भी किसी के धार्मिक कार्यों में अड़चन या बाधा उपस्थित नहीं करता। सभी एक दूसरे के धर्म सम्प्रदाय का सम्मान करते हुए अपने कार्य में संलग्न रहते है। इस स्थल के दर्शनार्थी एवं पर्यटक ऐसे समन्वययुक्त वातावरण में स्वयं को भूल जाता है कि वह किस धर्म या सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाले व्यक्ति है। वह यहाँ के एक ही रंग में रंगकर स्वयं को खुशनसीब समझता है।

गौरैया की प्रतिस्थापना ऐसे स्थल पर की गई है जहाँ पुरातात्त्विक अवशेषों की भरमार है। यहाँ ईंट निर्मित प्राचीन टीले भी अवस्थित हैं। वहाँ एक बाउंड्रीवाल का भी पता चलता है, जिससे सम्भावित स्थापत्य घिरा हुआ था। सर्वधर्मसमभाव को मूर्त्त रूप प्रदान करता हुआ गौरेया परिसर अपने मूल मंतव्य में एक मानवता धर्म का प्रकाशन कर रहा है जो सभी के लिए अनुकरणीय हैं।

गौरैया परिसर स्थित सभी देवसदनों के शीर्ष भाग में लहराने वाले रंग–बिरंगे ध्वज उस परमात्मा के अलौकिक स्वरूप को प्रतिपादित कर रहे है, जिसका बखान भारतीय धर्म ग्रन्थों में किया गया है। आत्मा और परमात्मा के अभिन्न स्वरूप पर प्रायः सभी धर्म ग्रन्थ एक मत है। इस तथ्य पर भी हमारे धर्मशास्त्र एक ही रूप पर कायम है कि प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा के ही स्वरूप प्रतिबिम्बित होते है। गौरैया की अनुभूति में इसी तथ्य का समावेश निर्विघ्न रूप में विद्यमान है। दर्शनार्थी या पर्यटक बिना किसी भेदभाव के सभी सम्प्रदायों के देव सदनों में जाकर मत्था टेकता है और आशीष प्राप्त करता है। यहाँ की परम्परानुसार श्रद्धालुगण मनौती भी मानते है और पूर्ण हो जाने पर मनौती की सामग्रियाँ सम्बन्धित देवों के चरणों में अर्पित कर पूर्णाहुति देते है। ऐसे कार्य में हर किसी को स्वतंत्र होकर अपना साध्य साधने की अनुमति है। धर्मों में परस्पर होड़ या प्रतिस्पर्धा की नियति के लिये कोई भी जगह नहीं है। वैसे, ऐसे अप्रिय अवसर कभी आते ही नहीं, क्योंकि इस स्थल का प्रभाव ऐसा है कि यहाँ की धरती में पग रखने वाले मानव का मनोमस्तिष्क सारी कुत्सित विकारों से स्वयं को पृथक कर लेता है। यह स्थिति उस मानव मन पर अदृश्य रूप से प्रभावी रहता है।

पैरी गौरैया के परिसर के मध्य स्थल को एक लघु संग्रहालय के रूप में भी विकसित किया गया है। यहाँ स्थानीय क्षेत्रों से उपलब्ध अनेक प्रस्तर प्रतिमाएँ संग्रहीत की गई है। इन प्रतिमाओं में उमामहेश्वर, भैरव, चामुण्डा, कुबेर, महिषासुर मर्दिनी, जैन तीर्थंकर, सती स्मारक प्रतिमाएँ आदि दर्शनीय है। शिवलिंग भी यहाँ संरक्षित है, जो एक ही प्रस्तर से निर्मित है। दर्शक, पर्यटक एवं जिज्ञासुगण इन प्रतिमाओं से यह संदेश तो प्राप्त करते ही है कि गौरैया के विशाल वक्षस्थल में सभी प्रतिरूप समाहित है।

गौरैया परिसर की मुख्य विशेषता यहाँ आयोजित होने वाले सर्वधर्म समारोह एवं विवाहोत्सव है। विभिन्न धर्म व सम्प्रदाय की ओर से यहाँ धर्मोपदेश की आयोजना होती है, जिन्हें यहाँ के निवासी, पर्यटक एवं क्षेत्र के श्रद्धालु भक्तजन श्रवण–मनन कर लाभान्वित होते है। किसी भी धर्म के आयोजन में दूसरा धर्म एक सहयोगी की भूमिका का निर्वहन करते नजर आता है। हर धर्म मानव उत्थान के निमित्त जो संदेश प्रसारित करते है, उनमें विश्व कल्याण की भावनाएँ निहित होती है। समय–समय पर यहाँ विभिन्न धर्म व सम्प्रदायों से सम्बन्धित लोगों के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने वाले वर एवं वधु को गौरैया देव अपने आशीष से पूर्णतः संरक्षित कर देता है। जिससे युगल दम्पत्ति को भविष्य में कभी भी असत्य जीवन की ओर नहीं जाना पड़ता। वे सदैव सुखों से युक्त रहते हैं।

गौरैया एक साधना स्थली के रूप में भी क्षेत्र में विख्यात है। निर्विकार और साकार रूप की आराधना करने वाले

भक्तजन व साधु अक्सर यहाँ गौरैया देव की शरण में आते है। अध्ययन, मनन, एकांत चिंतन, साधना आदि अलौकिक कार्य का क्रिया विधि पूर्वक सम्पादन यहाँ की धरती में निर्विघ्न सम्पन्न होता है। साधकगणों के लिए यह अति उत्तम आश्रय स्थल है, जिसके माध्यम से सिद्धि की आयोजना फलीभूत होती है। निश्चिन्त होकर निर्धारित कार्य में प्रयुक्त होना और सम्पूर्ण क्रिया–विधि को बिना किसी विघ्न या व्यवधान के सम्पूर्ण कर लेना एक बड़ी सफलता होती है। जरा सी चूक या व्यवधान वर्षों की साधना को असफल बना सकते हैं। लेकिन यहाँ की भूमि का रहस्य यह है कि पूर्ण सफलता ही साधक को परिणाम के रूप में प्राप्त होती है।

गौरैया देव पूर्ण शरणागत् स्थल माना जाता है अर्थात उसकी शरण में जाने वाले कभी निराश नहीं लौटते, ऐसी अनुश्रुतियाँ है। उसके परिसर में सदैव चाहना या कामना करने वाले लोगों की आमद बनी रहती है। लोग अपनी परेशानियाँ लेकर आते है और अपनी कठिनाईयों से निजात पाकर प्रसन्न वदन घर लौटते है। गौरैया परिसर अपनी आध्यात्मिक, नैसर्गिक, धार्मिक और स्वर्गिक एहसास को प्रदान करने वाला सम्पूर्ण मानवीयकरण स्थल है। मनुष्य की मनुष्यता के वास्तविक गुण–दोष यहाँ उजागर होते है। पक्षियों के कलरव, वायु की सरसता, वातावरण की निर्मलता, एक दूसरे के प्रति संवेदनशीलता, मन की सरलता एवं निर्दोष कर्मों की गतिविधियों के प्रमुख स्थल के रूप में इसकी प्रसिद्धि वंदनीय है।

गौरैया परिसर में प्रवेश तान्दुला नदी को पार कर पाने के अनन्तर ही हो पाता है। बरसात के दिनों में यह नदी अत्यंत ही रूद्रवती हो जाती है। इसके वेग को सम्हाल पाना इतना आसान नहीं होता। बसंत ऋतु में इसकी जलधारा का स्वरूप सौम्य दिखलाई पड़ता है। क्षेत्रवासियों की मान्यता है कि यह पाप–विनाशनी नदी है। मात्र इस नदी की पवित्र जल के छींटे ही पाप धो डालने के लिए पर्याप्त है। लेकिन स्नान करने से समूचा मानव तन–मन पवित्र और निर्मल हो जाता है। यहाँ आने वाले दर्शनार्थियों के लिए यह नदी गंगा की भांति पाप–विनाशनी एवं मोक्षदायिनी है, जबकि स्वर्गिक सुख की आकांक्षा करने वालों के लिए बैतरिणी से कम नहीं है। जिस प्रकार पुराणों में वर्णित है कि बैतरिणी नदी को पार करके ही आगे मंजिल हासिल की जा सकती है, उसी प्रकार गौरैया देव की कृपा दृष्टि हासिल करने हेतु तान्दुला नदी पार करनी आवश्यक होती है। पुराणों का कथन है कि स्वर्ग लोक में न तो कोई जाति होती है ओर न ही सम्प्रदाय.....। बल्कि वहाँ देवगण निवास करते है, जो हर तरह के भेदभाव और ऊँच–नीच की भावना से ऊपर होते है। नारी और पुरूषों में भी कोई भेदभाव नहीं है। ठीक इसी प्रकार गौरैया परिसर में सभी मानव एक ही धर्म के माने जाते है। नारी और पुरूषों में यहाँ कोई भेद नहीं माना जाता। यहाँ आने वाले कोई भी व्यक्ति किसी को हीन दृष्टि से नहीं देखता क्योंकि यहाँ के प्रभाव से सभी मानव मात्र रह जाते है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के भेद यहाँ पहुंचने वाले के मन में स्वयंमेव नष्ट हो जाते है। यह स्थानीय अनुभूतियाँ है, लेकिन जिस प्रकार बिना वायु के प्रभाव से पत्ते भी नहीं सरकते, उसी प्रकार बिना किसी वजह से अनुभूतियाँ नहीं बनती। अवश्य ही उनमें सत्य के अंश समाहित होते है।

पैरी गैरैया के स्थल चाहे कितने भी प्राचीन हो, लेकिन वर्तमान समय में यह मानव प्रजाति के आस्था के केन्द्र के रूप में प्रख्यात है। यह एक पवित्र धार्मिक स्थल होने के साथ पर्यटकों एवं जिज्ञासुओं के लिए भी श्रद्धा के पर्याय सिद्ध हुए हैं। आज की स्थिति में जहाँ हर अविश्वसनीय घटनाएँ जनमानस में अंधविश्वास के नाम से अभिहित होती है। इस लिहाज से यह आवश्यक है कि किसी भी स्थल के ख्यातिलब्धता का मूल उद्देश्य मानव धर्म के प्रकटीकरण के आधार को यथावत् रखा जाय। मानवों के मन में मानवता का समावेश हो और हर मतभेद का दायरा नित्यप्रति संकुचित होते चला जाय। ऐसी स्थिति का समायोजन चाहे जिस भी माध्यम से हो, सदैव स्वागत योग्य एवं प्रशंसनीय ही कही जायेगी।

सहायक ग्रंथ –

1. डॉ.झा.,एम.एन. – दक्षिण कोसल का कल्चुरि कालीन मंदिर।
2. शर्मा डॉ., राजकुमार – म.प्र. के पुरातत्त्व का सन्दर्भ ग्रंथ ।
3. कनिंघम – आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट।
4. डॉ. झा, मंगलानंद सम्पादित एवं डॉ. नागवंशी, चैन सिंह लेखक – छत्तीसगढ़ के हीनयानी बौद्ध स्तूप एवं क्षेत्रीय पर्यटन स्थल।
5. डॉ. नागवंशी, चैन सिंह – छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति एवं समाज वैशिष्ट्य।
6. डॉ. नागवंशी, चैन सिंह – छत्तीसगढ़ की बौद्ध कला (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध)।

गौरैया स्थित विभिन्न देवालय।

गौरैया स्थित संग्रहालय।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र का अन्य राज्यों से संबंध (मौद्रिक साक्ष्यों के संदर्भ में)

डॉ. दिनेश नंदिनी परिहार
शबीना बेगम

भारतीय इतिहास मुद्राशास्त्र की दृष्टि से समृध्द रहा है। इतिहास के विभिन्न ज्ञात–अज्ञात पक्षों को उजागर करने में मुद्राओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारत में छठीं शताब्दी ईसा पूर्व से मुद्रा का विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। प्रारंभ में मुद्रा जारी करने का अधिकार व्यापारिक संघ ख्छनपसके, के पास था किन्तु बाद में यह अधिकार राज्य के पास संरक्षित हो गया। नंद–मौर्य युग से लेकर ऐतिहासिक काल तक विभिन्न राजवंशों ने अपने सिक्के जारी करवाये। इन मुद्राओं की प्राप्ति उनके साम्राज्य तथा प्रभाव क्षेत्र से होती हैं। ये मुद्राएं उनकी आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साम्राज्यिक और सांस्कृतिक स्थिति की परिचायक है। भारत के अन्य राज्यों के साथ–साथ ये मुद्राएं छत्तीसगढ क्षेत्र से भी प्राप्त होती हैं। छत्तीसगढ़ सामाजिक–धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है, और इसके इतिहास निर्माण में मुद्रा एक प्रमुख साधन है। इस क्षेत्र में स्थानीय मुद्राओं के साथ–साथ अन्य क्षेत्रों की मुद्राएं भी प्राप्त होती है। इनमें सातवाहन, कुषाण, यौधेय, गुप्त, कल्चुरि (त्रिपुरी), ससानियन, रोमन, चीनी आदि शासकों व राजवंशों की मुद्राएं प्रमुख हैं। संभवतः ये मुद्राएं विभिन्न राजनैतिक, व्यापारिक और धार्मिक कारणों के फलस्वरूप यहां पहुंची होंगी। इस शोध पत्र का उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों और राजवंशों (स्वदेशी–विदेशी) की मुद्राएं जो इस क्षेत्र में प्राप्त हुई है, का विवराणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना तथा उनका अन्य राज्यों के साथ संबंध स्थापित करना है।

प्राचीन काल से ही भारत का अंतर्राष्ट्रीय संबंध चीन, रोम, जावा, सुमात्रा, श्रीलंका, मध्य–एशिया से रहा है। जिनके प्रमाण हमें विभिन्न साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों से प्राप्त होते हैं। भारत का उपरोक्त देशों के साथ ये संबंध व्यापारिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि कारणों से रहे तथा इन संबंधों का प्रभाव यहां की संस्कृतियों पर भी पड़ा। इसी क्रम में छत्तीसगढ़ राज्य भी महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही इस क्षेत्र का अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अंतर्राज्यीय संबंध रहें हैं। साहित्यों से इस अंतर्राज्यीय संबंध के विषय में तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह संबंध और भी प्रमाणिक हो जाते हैं। इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों में मुद्राएं सबसे महत्वपूर्ण है। मुद्राएं किसी काल विशेष की आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, साम्राज्यिक और सांस्कृतिक स्थिति की परिचायक है। देश के विभिन्न राज्यों की मुद्राएं इस क्षेत्र से प्राप्त हुई है, जिससे यह ज्ञात होता है कि विभिन्न कालों में इस राज्य के संबंध अपने पड़ोसी राज्यों के साथ रहे हैं। इन मुद्राओं की प्राप्ति इस क्षेत्र का अन्य क्षेत्रों के साथ संबंध दर्शाने की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इन मुद्राओं के यहां पहुंचने के व्यापारिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि अनेक कारण हो सकते हैं।

छत्तीसगढ़ से प्राप्त अन्य क्षेत्रों की मुद्राएं

क्रमांक	मुद्राएं	प्राप्ति स्थान
1	आहत मुद्राएं – नंद–मौर्य युग	अकलतरा[1], ठठारी[2], बिलासपुर[3], मल्हार।
2	एरण–उज्जयिनी मुद्राएं	रायपुर[4]।
3	सातवाहन मुद्राएं	बालपुर[5], मल्हार[6], तरीघाट[7], रायपुर[8]।
4	कुषाण मुद्राएं	केंदा[9], पेण्ड्रावन[10], बिलासपुर[11] झाझापुरी[12],। मल्हार[13], रायपुर के आस–पास[14], तरीघाट[15],। जमरांव।
5	पश्चिमी क्षत्रपों की मुद्राएं	रायपुर[16]।
6	यौधेय मुद्राएं	पेण्ड्रावन[17]।
7	गुप्त मुद्राएं	बानबरद {दुर्ग}18, आरंग।
8	आदिवराह	मुद्राएं बस्तर[19]।
9	ससानी मुद्राएं	सिरसा[20], रायपुर[21]।
10	त्रिपुरी के कल्चुरियों की मुद्राएं	सोनसारी[22], टिन्गामाली {खैरागढ़}[23]।
11	देवगिरि के यादवों की मुद्राएं	परसाडीह[24], कोण्डागांव।
12	केसरी मुद्राएं	बालपुर {रायगढ़}[25]।
13	गंग मुद्राएं	रायपुर[26]।
14	चीनी मुद्राएं	बालपुर[27], सिरपुर[28], राजिम[29]।
15	रोमन मुद्राएं	बिलासपुर[30], चकरबेड़ा[31],।
16	गहड़वाल मुद्राएं	सोनसारी[32] ।

भारतीय संदर्भ में प्राप्त होने वाली प्राचीनतम मुद्रा आहत मुद्रा है। ये मुद्राएं देश के अनेक भागों से प्राप्त होते हैं। इसी कम में छत्तीसगढ़ क्षेत्र भी उल्लेखनीय रहा है। नंद–मौर्य युग में प्रचलित साम्राज्यिक स्तर की आहत मुद्रा इस क्षेत्र के अकलतरा, ठठारी, बिलासपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुए है। ये मुद्राएं मुख्य रूप से मगध अथवा उत्तर भारत क्षेत्र में प्रचलित थी। इन मुद्राओं का यहां प्राप्त होना 4थीं – 3रीं शताब्दी ईसा पूर्व में इस क्षेत्र और उत्तर भारत के संबंधों को प्रदर्शित करता है।

एरण व उज्जयिनी जनपद की मुद्राएं भी यहां से प्राप्त हुई है। चूंकि एरण व उज्जयिनी महाजनपद काल से ही व्यापार के प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात रहे हैं। अतः इन मुद्राओं की प्राप्ति इस क्षेत्र का उनके साथ व्यापारिक संबंधों को दर्शाता है।

सातवाहनों का अधिकार पश्चिमी महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के क्षेत्रों पर रहा। इन शासकों की मुद्राएं छत्तीसगढ़ तथा उसके पड़ोसी राज्य उड़ीसा, नागपुर आदि से भी प्राप्त हुए हैं। सातवाहन शासकों की मुद्राओं का इस क्षेत्र से प्राप्त होना संभवतः उनकी राजनैतिक उपलब्धियों का परिचायक है। संभवतः सातवाहनों ने पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य विस्तार हेतु इस क्षेत्र के मार्गों का प्रयोग किया होगा और तब ही यह क्षेत्र उनके प्रभाव क्षेत्र में आ गया होगा। इसके प्रमाण ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से भी प्राप्त होते हैं। जिसके अनुसार बौध्द भिक्षु नागार्जुन ने कुछ समय के लिए इस क्षेत्र में निवास किया था उस समय इस क्षेत्र में कोई सातवाहन शासक शासन कर रहा था।

कुषाणों की मुद्राएं इस क्षेत्र में प्राप्त हुई है। दोनों कुषाण शासकों का साम्राज्य पश्चितमोत्तर भारत से उत्तर भारत तक था। उनका इस क्षेत्र पर अधिकार की पुष्टि किसी भी स्रोतों से नहीं होती है। चूंकि कुषाण काल में व्यापार बहुत

विकसित था, अतः उनकी मुद्राओं के इस क्षेत्र में प्राप्त होने का एक कारण व्यापारिक हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र पर कुषाणों का प्रत्यक्ष अधिकार न रहा हो यह केवल प्रभाव क्षेत्र रहा हो।

तीसरी–छठवीं शताब्दी ई. तक उत्तर भारत में गुप्तों का शासन रहा। इन्होंने संपूर्ण भारतवर्ष में शासन किया। यह प्रदेश भी गुप्तों के अधिकार क्षेत्र में अवश्य रहा होगा, इसकी पुष्टि समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति से होती है। जिसमें उसके दक्षिणापथ के अभियान में कोसल के महेन्द्र का नाम आता है क्योंकि प्राचीन काल में यह क्षेत्र कोसल (दक्षिण) के नाम से जाना जाता था अतः प्रशस्ति में वर्णित महेन्द्र इस क्षेत्र में शासन करने वाला कोई शासक रहा होगा जिसके साथ समुद्रगुप्त ने ग्रहणमोक्षानुग्रह की नीति अपनाई थी। इसके बाद के शासकों के काल में भी इस क्षेत्र पर उनका प्रभाव रहा जिसके प्रमाण उनकी मुद्राएं है जो इस क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं।

1000 ई. के लगभग इस क्षेत्र में कल्चुरियों का आगमन हो गया था। कल्चुरियों की रतनपुर शाखा का संबंध त्रिपुरी के कल्चुरियों से किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इन दोनों शाखाओं के बीच कभी मित्रता तो कभी शत्रुता रही। संभवतः इसी कारण त्रिपुरी के शासकों (गांगेयदेव) की मुद्राएं यहां से प्राप्त हुई है। इन मुद्राओं की प्राप्ति त्रिपुरी और इस क्षेत्र के मध्य राजनैतिक संबंधों को दर्शाते हैं।

देवगिरि के यादवों की मुद्राएं पद्मटंक भी यहां से प्राप्त हुई है, जिससे इस क्षेत्र का संबंध देवगिरि से होने की जानकारी मिलती है। इनकी मुद्राएं पूर्व में परसाडीह और 2018 में कोण्डागांव में सड़क निर्माण के समय प्राप्त हुई है। यहां से एक मुद्रानिधि प्राप्त हुई जिसमें 57 स्वर्ण पद्मटंकों के साथ एक चांदी की मुद्रा और एक सोने की बाली भी प्राप्त हुई है।

इसी प्रकार उड़ीसा के गंग व केसरी वंश की मुद्राएं भी क्रमशः रायपुर तथा बिलासपुर से प्राप्त हुए हैं। प्राचीन काल से ही इस राज्य का संबंध उड़ीसा से रहा है क्योंकि उड़ीसा का पश्चिमी भाग प्राचीन काल में दक्षिण कोसल क्षेत्र के अंर्तगत आता था, इन मुद्राओं की प्राप्ति उन संबंधों को और पुख्ता करती है। ये मुद्राएं संभवतः राजनैतिक एवं धार्मिक कारणों के फलस्वरूप इस क्षेत्र में पहुंची होंगी।

चीनी मुद्राओं का यहां मिलना इस राज्य के चीन के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंध को भी दर्शाता है। इन मुद्राओं के इस क्षेत्र से प्राप्त होने का एक प्रमुख कारण धार्मिक यात्रा हो सकता है क्योंकि अब तक केवल कुछ ही (बालपुर, सिरपुर, राजिम) मुद्राओं की प्राप्ति हुई है। विद्वानों द्वारा इन मुद्राओं का काल सातवीं–आठवीं शताब्दी ईसवीं माना गया है। इस समय तक यह क्षेत्र बौध्द धर्म के केन्द्र के रूप में विकसित हो चुका था। अतः यह संभव प्रतीत होता है कि धार्मिक यात्रा के लिए आये हुए किसी तीर्थयात्री के साथ ये मुद्राएं यहां पहुंची होंगी।

इसी प्रकार रोमन सिक्के जो बिलासपुर, चकरबेड़ा व मल्हार से प्राप्त हुए हैं उनकी प्राप्ति संभवतः व्यापारिक कारणों से हो सकती है क्योंकि मल्हार उत्खनन से रोमन मृद्भाण्ड़ों की प्राप्ति हुई है। रोमन मुद्राओं के प्राप्ति भी इस क्षेत्र के आस–पास से ही हुई है तथा प्राचीन काल में मल्हार एक प्रसिध्द व्यापारिक केन्द्र भी रहा है। संभवतः व्यापारिक यात्रा के फलस्वरूप ही ये मुद्राएं व मृद्भाण्ड इस क्षेत्र तक पहुंची होंगी।

इन प्राचीन मुद्राओं के अतिरिक्त मध्यकालीन शासकों (दिल्ली सल्तनत व मुग़ल काल) की मुद्राएं भी इस क्षेत्र से, सर्वेक्षणों एवं उत्खननों में प्राप्त होते रहें हैं। जिससे यह ज्ञात होता है कि मध्यकाल में भी इस राज्य का संबंध अन्य राज्यों के साथ था।

इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के मुद्राओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि छत्तीसगढ़ राज्य प्राचीन काल से ही एक प्रमुख क्षेत्र रहा है। इस क्षेत्र का अपने पड़ोसी राज्यों तथा विभिन्न क्षेत्रों के साथ व्यापारिक, राजनैतिक एवं धार्मिक संबंध रहे हैं। जिसके फलस्वरूप ही अन्य क्षेत्रों की मुद्राएं इस क्षेत्र तक पहुंची होंगी। मौद्रिक साक्ष्यों के आधार पर ये संबंध चौथीं शताब्दी ईसा पूर्व से लगभग पंद्रहवीं शताब्दी ईसवीं तक तथा उसके बाद भी मध्यकाल तक निरंतर रहे। ये मुद्राएं इन अंतर्राज्यीय संबंधों के प्रमाणिक साक्ष्य है। इन संबंधों का प्रभाव संस्कृति पर भी पड़ा तथा क्षेत्रीय संस्कृतियों का आदान–प्रदान भी हुआ। इन संस्कृतियों का प्रभाव इस क्षेत्र में भी देखने को मिलता है जो विभिन्न

कलाओं में नज़र आता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों की मुद्राओं की प्राप्ति से विभिन्न यात्रा पथों का भी ज्ञान होता है जो तत्कालीन समय में इस क्षेत्र तक पहुंचने में प्रयुक्त रहे होंगे। अतः विभिन्न राज्यों के साथ अंतर्राज्यीय संबंधों की स्थापना में मौद्रिक साक्ष्यों का योगदान प्रमुख है।

संदर्भ

1. न्यूमिसमेटिक नोट्स एंड मोनोग्राफ्स, अंक–05, पृ.–02।
2. ऐलन, जॉन, कैटलॉग ऑफ द क्वायन्स इन द ब्रिटिश म्यूज़ियम, एन्शियन्ट इण्डिया, भूमिका ।
3. न्यूमिसमेटिक नोट्स एंड मोनोग्राफ्स, अंक–05, पृ.–04।
4. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–23, पृ.–505।
5. वही, भाग–19, 10, पृ.–225, 161।
6. मल्हार रिपोर्ट, 1974–75, पृ.–13, 34।
7. भगत, जे. आर., तरीघाट एक्सकावेशन रिपोर्ट (2012–13), संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर, छत्तीसगढ़, 2015, पृ.–93–94।
8. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–23, पृ.–505।
9. वही, भाग–17, पृ.–109।
10. वही, भाग–17, पृ.–109।
11. न्यूमिसमेटिक नोट्स एंड मोनोग्राफ्स, अंक–05, पृ.–10।
12. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–17, पृ.–109।
13. मल्हार रिपोर्ट, 1975–77, पृ.–13।
14. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–23, पृ.–505।
15. भगत, जे. आर., तरीघाट एक्सकावेशन रिपोर्ट (2012–13), संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, रायपुर, छत्तीसगढ़, 2015, पृ.–93–94।
16. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–23, पृ.–505।
17. वही , पृ.–109 ।
18. निगम, डॉ.एल. एस. , क्वायनेज ऑफ छत्तीसगढ़।
19. ट्रेज़र ट्रोव रिपोर्ट्स ऑफ मध्यप्रदेश, अंक–8, 1919–20।
20. वही, अंक–8, 1919–20।
21. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–23, पृ.–505।
22. वही, भाग–17, पृ.–54।
23. प्राच्य प्रतिभा, अंक–1, 2, जनवरी–जुलाई–1980।
24. जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग–8, पृ.–147।
25. जर्नल ऑफ आंध्र हिस्टॉरिकल रिर्सच सोसायटी, भाग–3, पृ.–181।
26. ट्रेज़र ट्रोव रिपोर्ट्स ऑफ मध्यप्रदेश, अंक–17, 1908।
27. जर्नल ऑफ आंध्र हिस्टॉरिकल रिर्सच सोसायटी, भाग–10, पृ.–161।
28. न्यूमिसमेटिक नोट्स एंड मोनोग्राफ्स, अंक–05, पृ.–21।
29. शर्मा, ए. के., फॉरदर एक्सकेवेशन एट राजिम, बी.आर. पब्लिशिंग कोर्पोरेशन, दिल्ली, 2019, पृ.–34।
30. न्यूमिसमेटिक नोट्स एंड मोनोग्राफ्स, अंक–05, पृ.–23।
31. ट्रेज़र ट्रोव रिपोर्ट्स ऑफ मध्यप्रदेश, अंक–13, 1943–44।

32. जर्नल ऑफ आंध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसायटी, भाग–3, पृ.–27।

कुषाण मुद्राएं – तरीघाट

कुषाण मुद्रा – जमरांव

रोमन मुद्रा (मल्हार)

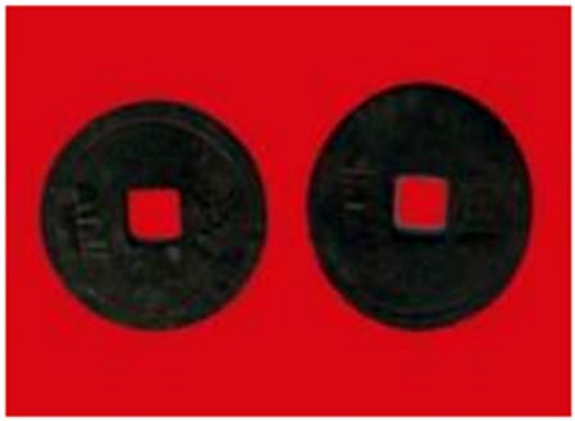

चीनी मुद्रा (राजिम)

(सौजन्य–फॉरदर एक्सकेवेषन एट राजिम, क्वायन्स ऑफ मल्हार)

(विभागाध्यक्ष)
प्रा.भा.इति.सं.एवं पुरातत्त्व,
पं. रविशंकर शुक्ल
विश्वविद्यालय,रायपुर

(शोधार्थी)
प्रा.भा.इति.सं.एवं पुरातत्त्व,
पं. रविशंकर शुक्ल
विश्वविद्यालय,रायपुर

वैष्णव प्रतिमाओं का कलात्मक विश्लेषण
(मल्हार एवं सिरपुर के विशेष संदर्भ में)

प्रो. दिनेश नंदिनी परिहार
एकता ताम्रकार

कलाकृतियाँ सदैव से ही भारतीय आध्यात्मिक चेतना एवं उनमें अंतर्निहित गूढ़ दार्शनिक भावनाओं के रहस्योद्घाटन में सहायक रहे हैं। अतः कला धर्म की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम हैं।

मानव की परोक्ष सत्ता में आस्था एवं उनसे सहायता प्राप्त कर अनुग्रहित होने की प्रवृत्ति से ईश्वरीय तत्व के अस्तित्व को बल मिला एवं अपने ईष्ट की विशेष गुणधर्मिता एवं उनके प्रति भक्ति–भावना ने विभिन्न संप्रदायों का रूप ग्रहण किया। जिनमें वैष्णव संप्रदाय या भागवत् संप्रदाय भारतीय समाज में विशेष लोकप्रिय रहा है।

वैष्णव संप्रदाय के प्रमुख देव विष्णु हैं। ऋग्वेद में उन्हें तीन पगों द्वारा पार्थिव लोकों की परिक्रमा करने वाला कहा गया है[1]। कालांतर में पुराणों में त्रिदेवों की मान्यता स्थायी हुई। जिसमें ब्रम्हा, विष्णु एवं महेश पुराणों के प्रमुख आराध्य देव माने गए। जिसमें ब्रह्मा एवं शिव को जगत् के सृजन एवं संहार से संबंधित किया गया, तथा विष्णु को जगत का पालनकर्ता बताया गया है। सृष्टि के पालन एवं रक्षण का दायित्व होने के कारण ही संभवतः विष्णु के साथ अवतारवाद की अवधारणा का विकास हुआ। जिसका श्रीमद्भगवत् गीता[2] में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सृष्टि के हित में विष्णु के विविध अवतारों की कथाएँ महाकाव्यों एवं पुराणों में भी वर्णित हैं। जिनमें विष्णु के मानवी स्वरूपों के साथ–साथ मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह (नर एवं पशु का संयुक्त रूप) आदि जीवों के रूप में भी अवतारों के उल्लेख मिलते हैं। इस प्रकार ईश्वर का मनुष्य एवं पशु रूप में अवतार संपूर्ण जीवों में एक ही दैव तत्व की भावना का बोध कराते हैं। विष्णु के मुख्य दस अवतार माने गए हैं। जिनके नाम वाराह एवं अग्नि पुराण[3] में मिलते हैं। विद्वानों ने विष्णु के इन विविध अवतारों को जैव विकास के साथ भी संबंधित किया है।[4] जीव वैज्ञानिक जल में ही सर्वप्रथम जीवन की उत्पत्ति मानते हैं। विष्णु का प्रथम अवतार भी जल में मत्स्य रूप में हुआ। उनके अगले अवतार कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं भविष्य के अवतार कल्कि मानव विकास की उत्तरोत्तर क्रमिक अवस्था को दर्शाते हैं।

इस प्रकार साहित्यिक विवरणों पश्चात् पुरातात्त्विक साक्ष्य भी विष्णु पूजन की प्राचीन परंपरा का अभिज्ञान कराते हैं। जिसका ज्ञान सर्वप्रथम अभिलेखों से होता है। जिसमें घोसुण्डी (राजस्थान, द्वितीयशती ईसा पूर्व) एवं बेसनगर (द्वितीय शती ईसा पूर्व) के अभिलेख इस कालखंड में भागवत् धर्म के प्रसार को रेखांकित करते हैं।[5]

इसी क्रम में प्रारंभिक विष्णु प्रतिमाएँ मथुरा से प्रकाश में आई हैं। जो कुषाण कालीन हैं।[6] कुषाण काल के पश्चात गुप्त शासकों के काल में भागवत धर्म को पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ। गुप्त शासक परम्भागवत् की उपाधि धारण करते थे। मंदिर स्थापत्य के प्राचीनतम् साक्ष्य भी गुप्त काल से ही प्राप्त हुए हैं। जिनमें उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले के देवगढ़ में स्थित मंदिर सर्वप्राचीन माना गया है। भगवान विष्णु को समर्पित यह मंदिर दशावतार मंदिर के नाम से विख्यात है। जिनकी भित्तियों पर विष्णु के दशावतारों के अंकन मिलते हैं।

इस प्रकार उत्तरोत्तर विभिन्न कालखंडों में शिल्प–शास्त्रीय विधानों के अनुरूप वैष्णव प्रतिमाओं का प्रचुर मात्रा में शिल्पांकन हुआ। जिनके अवशेष संपूर्ण देश से प्राप्त हुए हैं। इसी क्रम में छत्तीसगढ़ क्षेत्र में भी अनेकशः वैष्णव

प्रतिमाएँ सृजित हुईं। जिनमें मल्हार एवं सिरपुर क्षेत्र से विष्णु के विविध स्वरूपों की प्रतिमाएँ प्रकाश में आईं हैं।

मल्हार से प्राप्त वैष्णव प्रतिमाओं का कलात्मक विश्लेषण

छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले में स्थित मल्हार इस क्षेत्र की एक प्रमुख सांस्कृतिक स्थली है। पुरातात्त्विक उत्खननों से इस क्षेत्र की प्राचीनता 1000 ईसा पूर्व प्रमाणित है।7प्राचीन काल में इसे मल्लाल, मल्लालपत्तन आदि नामों से संबोधित किया जाता था। मल्लाल के साथ पत्तन जुड़ा होने से यह अनुमानित है, कि प्राचीन काल में यह क्षेत्र व्यापार, वाणिज्य का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। कौशाम्बी से निकलने वाला एक महत्वपूर्ण प्राचीन पथ इस क्षेत्र से गुजरता था।[8] संभवतः यही कारण रहा होगा कि यहाँ सभी धर्मों को पर्याप्त संरक्षण मिला एवं इनसे संबंधित बहुसंख्यक प्रतिमाओं का सृजन इस क्षेत्र में हुआ।

इस क्रम में मल्हार से छत्तीसगढ़ क्षेत्र की प्राचीनतम अभिलिखित प्रतिमा प्रकाश में आई है।[9] जिसे विद्वानों ने प्रारंभिक वैष्णव प्रतिमा के रूप में स्वीकार किया है। प्रतिमा केदारेश्वर मंदिर प्रांगण में स्थित मूर्तिशाला में सुरक्षित है। प्रतिमा चतुर्भुजी है, जिसके शीश पर किरीट मुकुट एवं कानों में कर्णाभूषण प्रदर्शित है। प्रतिमा का दक्षिण उर्ध्व कर मूसल सदृश्य गदा के शीर्ष पर स्थित है एवं वाम उर्ध्व कर में चक्र का अंकन है। प्रतिमा के सामने के दोनों हाथ जुड़े हुए हैं। जिनके बीच कोई वस्तु दबी हुई है। प्रतिमा के हाथों में मोटे कड़े द्रष्टव्य है। प्रतिमा के अधोवस्त्र की शैली आदिम प्रकार की प्रतीत हो रही है एवं गदा पर द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी में एक लेख अंकित है। जिससे प्रतिमा की तिथि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व अनुमानित है। यह कालखंड शुंग–सातवाहन शासकों रहा है। जिनके राजत्वकाल में भागवत धर्म को पर्याप्त संरक्षण मिला। मल्हार क्षेत्र से प्राप्त यह प्रारंभिक वैष्णव प्रतिमा इस क्षेत्र में भागवत धर्म के प्रसार को रेखांकित करती है। प्रतिमा के प्रारंभिक काल का होने के कारण ही संभवतः इसमें वैष्णव प्रतिमा के संपूर्ण प्रतिमान संयोजित नहीं हो पाए एवं इसके पश्चात के कालखंडों में निर्मित प्रतिमाओं में प्रतिमा–शास्त्रीय विधानों का शनैः शनैः समावेश होता दिखाई देता है।

इस क्रम में मल्हार स्थित भीमा–कीचक मंदिर (देउर मंदिर) की बाह्य भित्ति में अंकित गरूढ़ासीन विष्णु प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। गरूढ़ विष्णु का वाहन है, एवं कला में वैष्णव धर्म का प्रतीक भी गरूढ़ को माना गया है। विष्णु की गरूढ़ासीन प्रतिमाओं के संदर्भ श्रीमद्भागवत्[10] में अनेक स्थानों में प्राप्त होते हैं। विवेच्य प्रतिमा में गरूढ़ का मानवीय रूपांकन दर्शाया गया है, जो उड्डीयमान स्थिति में है। विष्णु गरूढ़ के स्कन्ध पर आसीन हैं। गरूढ़ अपने दक्षिण कर से विष्णु के दक्षिण पाद को थामे हुए हैं एवं विष्णु के वाम पाद गरूढ़ के वाम कर में स्थित है। यहाँ विष्णु चर्तुभुजी हैं। श्रीमद्भागवत्[11] में चतुर्भुजी स्वरूप में विष्णु के करों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म का होना बताया गया है। विवेच्य प्रतिमा में विष्णु के उर्ध्व करों में क्रमशः पद्म एवं शंख का अंकन है। उनका वाम अधः कर खंडित है एवं उनका दक्षिण अधः कर दक्षिण जानु पर स्थित है। जिसमें उन्होंने कुछ धारण किया है। जो क्षरण के कारण स्पष्ट नहीं है। विष्णु के शीश पर किरीट मुकुट शोभित है। जिनके पीछे ग्रीवा पर्यंत केश राशि द्रष्टव्य है एवं उनके शीश के चारों ओर प्रभामंडल का अंकन है। विष्णु ग्रैवेयक, कर्णाभूषण, बाजूबंध एवं कंकण, कटिसूत्र आदि आभूषणों से सुशोभित हैं एवं यज्ञोपवीत धारण किए हुए हैं। उनके अधोवस्त्र में धारीदार अंकन द्रष्टव्य है। गरूढ़ भी सुंदर वस्त्र अलंकरणों से सुशोभित है। गरूढ़ासीन विष्णु के दोनों ओर स्त्री आकृति का अंकन है। जिसमें दाहिनी ओर स्थित स्त्री चंवर धारण किए हुए है। प्रस्तुत विष्णु प्रतिमा की देह यष्टि एवं वस्त्र–अलंकारों में शरभपुरीय कला के साथ–साथ गुप्त कला का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

इसी क्रम में केदारेश्वर मंदिर के प्रवेश द्वार के समीप स्थित विष्णु प्रतिमा उल्लेखनीय है। विवेच्य प्रतिमा में चतुर्भुजी विष्णु समपाद स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित हैं। जिनका दक्षिण उर्ध्वकर खंडित है एवं अधः कर भी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। विष्णु अपने वाम उर्ध्व कर में चक्र एवं अधः कर में गदा धारण किए हुए हैं। विष्णु की गदा कौमोदकी12 नाम से साहित्यों में वर्णित है। विष्णु के दक्षिण अधःकर के नीचे वीरासन मुद्रा में गरूढ़ का मानवीय रूपांकन द्रष्टव्य है। विष्णुकिरीट–मुकुट, कर्णाभूषण, ग्रैवेयक, स्तनहार, मेखला, वनमाला, पादवलय, कंकण एवं भुजबंध आदि आभूषणों

से सुशोभित हैं। श्रीमद्भागवत् में विष्णु के कटि प्रदेश को सुशोभित करने वाले एक आभूषण कांच्ची[13] का भी उल्लेख मिलता है। जिसकी लटकती लड़ियों द्वारा विष्णु का श्रोणि प्रदेश शोभायमान बताया गया है। विवेच्य प्रतिमा में भी इसी प्रकार का अंकन द्रष्टव्य है। कलचुरी कला–शैली में निर्मित यह प्रतिमा कला के उत्कृष्ट स्वरूप को द्योतित करती है।

इसी प्रकार विष्णु के चतुर्व्यूह स्वरूप के आधार पर चतुर्विंशति प्रतिमाओं के उल्लेख चतुवर्गचिंतामणि,[14] देवतामूर्तिप्रकरण,[15] रूपमंडन[16] आदि शिल्पशास्त्रीय ग्रंथों में प्राप्त हैं। इन स्वरूपों को विष्णु के चौबीस भिन्न–भिन्न नामों से अभिहित किया गया है। ये सभी प्रतिमाएँ चतुर्भुजी हैं एवं सुंदर अलंकरणों से सुशोभित हैं। इन प्रतिमाओं में भिन्नता केवल उनके द्वारा धारण किए जानें वाले आयुधों के क्रम में निहित है। पौराणिक साहित्यों में इन प्रत्येक प्रतिमा की पूजा के विशिष्ट महत्व बताए गए हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण17 में धर्म की अभिलाषा हेतु अनिरूद्ध, अर्थ हेतु संकर्षण, काम हेतु प्रद्युम्न, एवं मोक्ष की अभिलाषा हेतु वासुदेव की पूजन का विधान बताया गया है।

इसी प्रकार रूपमंडन[18] में विभिन्न वर्गों हेतु विष्णु की विभिन्न प्रतिमाओं का पूजन श्रेयस्कर बताया गया है। जिसके अनुसार नारायण, केशव, माधव, और मधुसूदन की मूर्तियों का पूजन ब्राह्मणों हेतु, मधुसूदन और विष्णु पूजन क्षत्रियों के लिए एवं त्रिविक्रम तथा वामन का पूजन वैश्यों के लिए फलप्रद बताया गया है। श्रीधर की पूजा शूद्रों हेतु एवं भिल्ल, किरात, कुम्हार, बनिया, आदि वर्गों हेतु ऋषीकेश की पूजा शुभप्रद बतायी गई है।

मल्हार क्षेत्र में भी विष्णु की अनेकशः चतुर्विंशति प्रतिमाएँ सृजित हुईं। जो इन साहित्यिक विवरणों से अभिप्रेत जान पड़ती हैं। मल्हार से प्राप्त ये प्रतिमाएँ वर्तमान केदारेश्वर मंदिर प्रांगण स्थित मूर्तिशाला में सुरक्षित हैं। जिनकी आयुध क्रम में भिन्नता के साथ–साथ कलाशैली में भी भिन्न विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, में प्रदर्शित स्थानक विष्णु प्रतिमा रूपमंडन में निर्देशित आयुधों के क्रमानुसार जनार्दन19के स्वरूप को द्योतित करती है। जिसमें विष्णु कमलदल पर स्थित हैं। जिनके दक्षिण भाग में चरणों के निकट अंजली मुद्रा में गरूढ़ का अंकन है एवं वाम भाग में कमलासना देवी अंकित है। प्रतिमा के परिकर में विष्णु के दशावतारों का अंकन है।

इसी प्रकार में प्रदर्शित विष्णु प्रतिमा में आयुधों का क्रम उनके गोविन्द स्वरूप[20] को दर्शाता है। यहाँ भी उनके दक्षिण भाग में अंजली मुद्रा में गरूढ़ का अंकन है। चरणों के निकट ही चँवरधारिणी एवं कलशधारिणी का अंकन है एवं परिकर में दशावतारों का अंकन द्रष्टव्य है।

इन प्रतिमाओं के साथ–साथसनातन संस्कृति में देवों को उनकी शक्ति के साथ प्रदर्शित करने की परंपरा रही है। जो प्रकृति एवं पुरूष के एकात्म भाव एवं उनमें परस्पर प्रेम की सूचक है। जिनके तादात्म्य से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। इसी आधार पर लक्ष्मी नारायण की अनेकशः युगल प्रतिमाएँ सृजित हुईं। मल्हार क्षेत्र से भी लक्ष्मी–नारायण की युगल प्रतिमा प्रकाश में आई हैं। सुंदर वस्त्र–अलंकरणों से सुसज्जित प्रतिमा का ऊपरी अर्ध भाग ही प्राप्त है। विवेच्य प्रतिमा में विष्णु कीरिट मुकुट, कर्ण–कुंडल, ग्रैवेयक, हार, कंकण आदि धारण किए हुए प्रदर्शित हैं। प्रतिमा में उनका दक्षिण उर्ध्व हस्त ही अवशिष्ट है। जिसमें उन्होंने शंख धारण किया हुआ है। लक्ष्मी भी मुकुट, कर्ण–शोभन, ग्रैवेयक आदि आभूषणों से सुशोभित हैं।

लक्ष्मी के चारों ओर अलंकृत प्रभामंडल द्रष्टव्य है। लक्ष्मी के ऊपर की ओर मालाधारी गंधर्व का अंकन है। जो संभवतः युगल रूप में विष्णु के ऊपर भी अंकित रहे होंगे।

इसी क्रम में पुराणों में अनेक स्थलों में विष्णु के शेष–शायी स्वरूप का उल्लेख मिलता है। अपराजितपृच्छा ग्रंथ[21] में चतुर्भुजी विष्णु को आभूषणों से सुसज्जित एवं शेष नाग की शय्या पर विश्राम की मुद्रा में बताया गया है। जिनके चरणों के निकट लक्ष्मी एवं नमस्कार की मुद्रा में गरूढ़ के अंकन के निर्देश हैं। विष्णु की नाभि से उत्पन्न पद्म पर ब्रम्हा को स्थित बताया गया है।

इस प्रकार उक्त विवरणों से युक्त विष्णु की शयन प्रतिमा मल्हार क्षेत्र से भी प्रकाश में आई है। जो वर्तमान में मल्हार मूर्तिशाला में सुरक्षित है। विवेच्य प्रतिमा में विष्णु के शीश पर शेष नाग के फणों का छत्र है। विष्णु के

करों में क्रमशः पद्म एवं गदा(खंडित) अंकित है। उनका दक्षिण उर्ध्व कर खंडित है। एवं अधःकर का आयुध भी अस्पष्ट है। विष्णु का वाम पाद मुड़ा हुआ एवं दक्षिण पाद सीधा स्थित है। जिसके निकट बैठी हुई लक्ष्मी का अंकन है। लक्ष्मी अपने दोनों अधःकरों से विष्णु की चरण सेवा करते हुए प्रदर्शित हैं। विष्णु के नाभि से निकले कमल में ब्रह्मा को स्थित दिखाया गया है। विष्णु के शीश के समीप नीचे की ओर अंजली मुद्रा में गरूढ़ का अंकन है।

इसी प्रकार पुराणों में विष्णु एवं शिव की अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। जिसका मूर्तिमान स्वरूप हरिहर प्रतिमा के रूप में विख्यात है। जो शैव एवं वैष्णव धर्मों की सामंजस्यता के भी घोतक हैं। भागवत् पुराण22 के अनुसार समुद्र मंथन के समय देव एवं असुरों में अमृत वितरण हेतु विष्णु ने मोहिनी रूप धारण किया। जिस पर प्रेमवश सामिप्य की इच्छा से शिव उनसे संयुक्त हो गए। इस प्रकार उपरोक्त कथानक हरिहर प्रतिमा निर्माण का आधार बना।

मल्हार स्थित केदारेश्वर मंदिर की बाह्य भित्ति में विभिन्न प्रतिमाओं के साथ–साथ हरिहर प्रतिमा का भी अंकन मिलता है। मत्स्यपुराण[23] में हरिहर प्रतिमा का दक्षिणार्द्ध शिव रूप में एवं वामार्द्ध हरि अर्थात विष्णु रूप में प्रदर्शित करने का विधान निहित है। यहाँ शिव के एक कर में त्रिशूल एवं दूसरे कर को वरद मुद्रा में होना बताया गया है। इसी प्रकार विष्णु के करों में शंख एवं चक्र अथवा एक हस्त कटक मुद्रा में एवं दूसरे हस्त में गदा के अंकन का निर्देश है। विवेच्य प्रतिमा का भी दक्षिणार्द्ध शिव रूप में एवं वामार्द्ध विष्णु रूप में प्रदर्शित है। शिव भाग के करों में त्रिशूल एवं मातुलिंग का अंकन है। विष्णु के उर्ध्व कर का आयुध खंडित है एवं अधःकर में वे चक्र धारण किए हुए हैं।

सिरपुर से प्राप्त वैष्णव प्रतिमाओं का कलात्मक विश्लेषण –

सिरपुर वर्तमान महासमुंद जिले के अंतर्गत महानदी के पूर्वी तट पर स्थित है। महानदी से सिंचित उर्वरा भूमी ने प्राचीन काल से ही मानव बसाहट हेतु अनुकुल परिस्थितियाँ प्रदान की। जल परिवहन एवं व्यापार वाणिज्य द्वारा समृद्ध यह भू–भाग छत्तीसगढ़ के स्थानीय शासकों शरभपुरीय एवं पाण्डुवंशीय शासकों की राजधानी के रूप में विख्यात रही है। जिनके राजत्व काल में यहाँ कला को पर्याप्त संरक्षण मिला। साथ ही धर्मसहिष्णु शासकों ने यहाँ सभी धर्मों को समान संरक्षण प्रदान किया। जिनसे संबंधित प्रचुर कलाकृतियों का सृजन इसक्षेत्र में हुआ। जिनमें बहुसंख्यक वैष्णव प्रतिमाएँ भी प्रकाश में आई हैं।

इस क्रम में गंधेश्वर मंदिर परिसर में सुरक्षित विष्णु की कुछ स्थानक प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। द्वारा प्रदर्शित प्रतिमा में विष्णु चतुर्भुजी हैं। जो किरीट मुकुट, कर्ण–कुंडल, ग्रैवेयक, हार, केयूर, कंकण, कटिसूत्र, यज्ञोपवीत आदि से सुशोभित हैं। अधोवस्त्र के रूप में उन्होने धोती धारण किया है। विष्णु के उर्ध्व करों में क्रमशः चक्र एवं शंख का अंकन है। उनका दक्षिण अधः कर क्षरित है। जो वरद मुद्रा में प्रतीत हो रहा है, जिसके नीचे गरूढ़ का पूर्ण मानवीय रूपांकन द्रष्टव्य गरूढ़ के गले में सर्प लिपटा है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर–पुराण[24] में लक्ष्मी को जगत् माता एवं विष्णु पत्नी कहा गया है। साथ ही हरि के समीप स्थित होने पर उन्हें द्विभुजी बताया गया है। जो अपने हाथ में कमल पुष्प धारण किए हुए एवं सुंदर अलंकरणों से सुशोभित होती हैं। जिसका प्रतिमांकन विवेच्य प्रतिमा में द्रष्टव्य है। यहाँ विष्णु के वाम अधः कर के नीचे श्रीदेवी(लक्ष्मी) का अंकन है। वे अपने दक्षिण कर में नीलोत्पल धारण किए प्रदर्शित हैं।

इसी प्रकार का अंकन द्वारा प्रदर्शित प्रतिमा में भी दिखाई देता है। जहाँ विष्णु का दक्षिण उर्ध्व कर खंडित है। दक्षिण अधः कर में उन्होंने कुछ वस्तु धारण किया है एवं उनके दोनों अधःकरों के नीचे क्रमशः गरूढ़ की मानवाकृति एवं श्रीदेवी का अंकन है। इसी संदर्भ में द्वारा प्रदर्शित प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। जिसकी कलाशैली पूर्व प्रतिमाओं के ही समान है। विवेच्य प्रतिमा में शीश के पीछे अलंकृत प्रभामंडल दर्शनीय है। साथ ही यहाँ विष्णु का एक कर गरूढ़ के स्कन्ध पर स्थित है। जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत्[25] में मिलता है। इस प्रकार तीनों ही प्रतिमाओं की कलाशैली में समरूपता परिलक्षित होती है। जिनकी तिथि सातवीं आठवीं शताब्दी ईस्वी अनुमानित है।

स्थानक प्रतिमाओं के साथ–साथ यहाँ से विष्णु के विविध अवतार स्वरूपों की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं। जिनमें बहुसंख्यक प्रतिमाएँ काल के प्रभाव से क्षरित हो चुकी हैं। उनमें अवशिष्ट कुछ प्रतिमाओं का कलात्मक विश्लेषण समीचीन प्रतीत होता है। इस क्रम में सिरपुर के ऐतिहासिक लक्ष्मण मंदिर के गर्भ–गृह की द्वारशाखा पर उत्कीर्ण वाराह प्रतिमा उल्लेखनीय है। विष्णु के वराह स्वरूप से संबंधित उल्लेखअथर्ववेद,[26] शतपथ ब्राह्मण,[27] तैत्तिरीय संहिता,[28] आदि में प्राप्त हैं। भागवत् पुराण[29] में विष्णु के वराह अवतार का विस्तृत वर्णन मिलता है। जिसके अनुसार विष्णु ने हिरण्याक्ष नामक दैत्य का वध कर जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया।

विवेच्य प्रतिमा में मस्तक वराह का एवं शेष शरीर नर रूप में प्रदर्शित है। जो साहित्यों में नृवराह, भूवराह, आदिवराह के रूप में वर्णित हैं। मत्स्य पुराण[30] में नृवराह का एक चरण कूर्म पर एवं दूसरा आदि शेष पर स्थित बताया गया है। उनकी दाढ़ के अग्र भाग अथवा बाईं कुहनी पर भू–देवी को स्थित बताया गया है। साथ ही नृ–वराह के करों में गदा एवं पद्म होने का विधान बताया गया है। कुछ इसी प्रकार का रूपांकन प्रस्तुत प्रतिमा में भी द्रष्टव्य है। जसमें वराह का एक चरण आदि शेष पर स्थित है। उनकी कोहनी पर भू–देवी आसीन हैं। आदिवराह का मुख भू–देवी की ओर है। भू–देवी भी आदिवराह की ओर निहारते हुए प्रदर्शित हैं।

इसी प्रकार विष्णु के नृसिंह अवतार द्वारा हिरण्यकश्यपु के वध की कथा भी साहित्यों में वर्णित है। जिससे संबंधित प्रतिमाएँ भी सिरपुर क्षेत्र से प्रकाश में आई हैं। जिसमें सिरपुर संग्रहालय में सुरक्षित नृसिंह प्रतिमा उल्लेखनीय है। नृसिंह स्वरूप में विष्णु का मुख सिंह का एवं शेष शरीर मनुष्य का बताया गया है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण[31] में उन्हें सभी आभूषणों से सुशोभित, प्रभामंडल युक्त एवं आलीढ़ मुद्रा में बताया गया है। यहाँ नृसिंह द्वारा अपनी जाँघ में हिरण्यकश्यपु को लेकर तीक्ष्ण नखों द्वारा दैत्य का वक्ष स्थल विदारित करते हुए प्रदर्शित करने का विधान बताया गया है।

उक्त प्रतिमाशास्त्रीय विधानों के अनुरूपविवेच्य प्रतिमा में भी विविध आभूषणों से सुशोभित नृसिंह का अंकन है, जो हिरण्यकश्यपु को अपनी बाईं जाँघ में रख कर नखों द्वारा उसका वक्ष–स्थल विदारित करते प्रदर्शित है। यहाँ नृसिंह का वाम पाद गरूढ़ के स्कन्ध पर स्थित है।

सिरपुर के सुरंग टीला स्थित पंचायतन शिव मंदिर से नृसिंह की आसीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। जिसे साहित्यों में योग नृसिंह[32] कहा गया है। विवेच्य प्रतिमा में नृसिंह पीठिका पर अर्धपर्यंकासन में स्थित हैं। एवं चतुर्भुजी हैं। जो अपने दक्षिण उर्ध्व कर में गदा एवं वाम उर्ध्व कर में शंख धारण किए हुए हैं। उनके दक्षिण अधः कर में चक्र का अंकन है एवं वाम अधः कर वाम जानु पर स्थित है। प्रतिमा के दक्षिण में ऊपर की ओर कमलासन पर ब्रह्मा का अंकन है। जिनके तीन मुख द्रष्टव्य हैं, एवं उनका दक्षिण कर वरद् मुद्रा में प्रदर्शित है।

इसी प्रकार देव माता अदिति की तपस्या से प्रशन्न होकर विष्णु द्वारा उनके पुत्र रूप में वामन अवतार धारण करने का वर्णन श्रीमद्भागवत्[33] में मिलता है। जिन्हें यहाँ छत्र, दण्ड, एवं कमण्डलु धारण किए हुए बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[34] में वामन छोटे अवयवों एवं मोटे शरीर वाले बताए गए हैं।

उक्त साहित्यिक लक्षणों पर आधारित वामन प्रतिमा सिरपुर क्षेत्र से भी प्रकाश में आई है। प्रतिमा द्विभुजी है एवं समपादस्थानक मुद्रा में प्रदर्शित है। उनके करों में अक्षमाला एवं कमण्डलु का अंकन है। अधोवस्त्र के रूप में धोती एवं वाम स्कन्ध से उदर पर्यन्त उत्तरीय द्रष्टव्य है। शीश के पीछे अलंकृत प्रभामंडल का अंकन है। आभूषणों में कर्ण–कुंडल, एकावली एवं यज्ञोपवीत द्रष्टव्य है।

श्रीमद्भागवत् में विष्णु का वामन से विराट् रूप धारण करने की कथा भी वर्णित है। जिसके अनुसार विष्णु ने देवों के हित में बलि से तीन पग पृथ्वी की याचना की। विवेच्य कथानक का दृश्य भी लक्ष्मण मंदिर की द्वार शाखा पर उत्कीर्ण किया गया है। जिसमें राजा बलिवामन को तीन पग पृथ्वी का दान करते प्रदर्शित हैं। यहाँ वामन के वाम कर में छत्र का अंकन है। इसी क्रम में वामन के स्वरूप विस्तृत करने की कथा भी वर्णित है। जिसमें उन्होंने एक पग द्वारा पृथ्वी, दूसरे पग से स्वर्ग को नाप लिया। एवं अपने तीसरे पग को बलि के ऊपर रख कर उसे सुतल

लोक भेज दिया। हरि के इस स्वरूप को त्रिविक्रम कहा गया। जिन्हें विष्णुधर्मोत्तरपुराण35 में जल से भरे मेघ की भाँति नील वर्ण का एवं दण्ड, पाश, गदा आदि आयुधों से सुसज्जित बताया गया है। शिल्प–रत्न36 में त्रिविक्रम का एक पद पृथ्वी पर एवं दूसरा पद आकाश तक ऊपर उठाते हुए बताया गया है। उक्त दृश्य में विष्णु के त्रिविक्रम स्वरूप को दर्शाया गया है। जिसमें त्रिविक्रम का एक पग पृथ्वी पर एवं द्वितीय पग नभ के पार के लोकों को नापने हेतु उद्धत दिखाया गया है।

इसी क्रम में सिरपुर स्थित लक्ष्मण मंदिर के गर्भ–गृह में स्थित वैष्णव प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। सिरपुर के लक्ष्मण मंदिर परिसर से प्राप्त शिलालेख में महारानी वासटा द्वारा अपने स्वर्गवासी पति की स्मृति में विष्णु मंदिर निर्माण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।37 अतः मंदिर के गर्भ–गृह में स्थित यह प्रतिमा विष्णु प्रतिमा के रूप में पहचानी गई है। विवेच्य प्रतिमा में विष्णु गुम्फित सर्प पर आसीन हैं एवं द्विभुजी हैं। जिनका दक्षिण कर वरद् मुद्रा में एवं वाम कर वाम जानु पर स्थित है। विष्णु के शीश पर पंच–फण युक्त नाग छत्रावली द्रष्टव्य है। उनके केश जुड़े के रूप में बंधे हैं। जिस पर शीशपट्ट सुशोभित है। वे कर्ण–कुंडल, ग्रैवेयक, केयूर, कंकण, यज्ञोपवीत धारण किए हुए प्रदर्शित हैं।

इस प्रकार मल्हार एवं सिरपुर क्षेत्र में शास्त्रों में वर्णित विविध वैष्णव प्रतिमाओं का शिल्पांकन हुआ। जिनमें सिरपुर से प्राप्त प्रतिमाएँ शरभपुरीय–सोमवंशी कला के सुंदरतम रूप को अभिव्यक्त करती हैं। जिनमें गुप्त कला–शैली का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रकार मल्हार से प्राप्त अधिकांश वैष्णव प्रतिमाएँ कलचुरी काल में निर्मित हुईं। जिनमें पूर्व–मध्यकालीन प्रतिमालाक्षणिक विशेषताओं का समावेश दिखाई देता है।

अतः दोनों ही क्षेत्रों से प्राप्त प्रतिमाओं में देश की मुख्य कला–धारा के साथ–साथ स्थानीय प्रतिमानों का भी सुंदर समायोजन हुआ है। जो शास्त्रोक्त विधानों के अनुरूप है। साथ ही प्रतिमाओं के निर्माण में भाव–प्रवणता का भी विशेष ध्यान रखा गया है। जिससे प्रतिमाएँ जीवन्त सी प्रतीत होती हैं, एवं जीवन्तता में ही विष्णु के पालनहार स्वरूप का पूर्ण प्रकटीकरण निहित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. ऋग्वेद, 1/155/5, 7/99/2।
2. श्रीमद्भगवत् गीता, 4–7/8।
3. भण्डारकर, आर.जी., वैष्णविज्म, शैविज्म, एण्ड माइनर रेलीजियस सिस्टम्स, वाराणसी, 1965, पृ.41–42।
4. पुसालकर, ए.डी., स्टडीज इन द इपिक्स एंड पुराणास ऑफ इंडिया, बंबई, 1963, पृ.12।
5. तिवारी, दुर्गानंदन, ओसियॉ के मंदिरों की देव मूर्तियाँ, वाराणसी, 1999, पृ.32।
6. अग्रवाल, वी.एस., अहमदाबाद, 1964, पृ.59।
7. बाजपेयी. के.डी., एवं पाण्डेय एस.के., मल्हार, सागर, 1977, पृ.12।
8. उपरिवत्, पृ.8।
9. पाण्डेय, श्यामकुमार, दक्षिण कोसल छत्तीसगढ़ का इतिहास तथा वास्तु शिल्प, भोपाल, 2002, 153–154।
10. श्रीमद्भागवत्, 8/3/31, 3/21/10–12, 4/30/5–7।
11. श्रीमद्भागवत्, 8/18/1।
12. मिश्र, इंदुमती, प्रतिमा विज्ञान, भोपाल, 2000, पृ.135।
13. श्रीमद्भागवत्, 3/28/10।
14. चतुवर्गचिंतामणि, अ.1, पृ.114–115।
15. देवतामूर्तिप्रकरण, पृ.5, 8–13।
16. श्रीवास्तव बलराम, रूपमंडन, (श्रीसूत्रधारमंण्डनविरचितरूपमंडनम्), जोधपुर, 1919, पृ.135–140।

17. वि.ध.पु., 118/2–4।
18. श्रीवास्तव, बलराम, उपरिवत्, पृ.133–134।
19. श्रीवास्तव, बलराम, उपरिवत्, पृ.137, श्रीवास्तव, बृजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी, 2015, पृ.20।
20. श्रीवास्तव, बलराम, उपरिवत्, पृ.136।
21. अपराजितपृच्छा, 219/1–9।
22. भागवत्पुराण, 8/13/14–37।
23. मत्स्य पुराण, 250/21–27।
24. वि.ध.पु. 82/1, 82/3।
25. श्रीमद्भागवत् 3/15/38।
26. अथर्ववेद् 12/1/48।
27. तैत्तरीय संहिता, 6/2/4/2।
28. शतपथ ब्राम्हण, 14/1/2/11।
29. भागवत् पुराण, 2/7/1।
30. मत्स्य पुराण, 260/28–30।
31. वि.ध.पु., 78/2/1–5।
32. तिवारी, मारूतिनंदन एवं गिरि, कमल, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, वाराणसी, 1997, पृ.85।
33. श्रीमद्भागवत्, 8/18/14–17, 8/18/23।
34. वि.ध.पु., 85/54।
35. वि.ध.पु., 85/55–56।
36. शिल्परत्न, अ. 25/18।
37. परिहार, दिनेश नंदिनी, दक्षिण कोसल का इतिहास, दिल्ली, 1998, पृ.5।

चित्र क्र. 1 वैष्णव प्रतिमा, मल्हार।

चित्र क्र. 2 गरूढ़ासीन विष्णु, भीमा–कीचक मंदिर, मल्हार।

चित्र क्र. 3 स्थानक विष्णु, मल्हार

चित्र क्र. 4 स्थानक विष्णु, सिरपुर

चित्र क्र. 5 त्रिविक्रम, सिरपुर

चित्र क्र. 6 विष्णु प्रतिमा, सिरपुर

पंडित रविशंकर विश्वविद्यालय,

रायपुर

•••

देवबडला (सीहोर) से प्राप्त परमारकालीन मंदिरों के ध्वंसावशेष एवं विलक्षण प्रतिमाएँ

डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन

देवबड़ला नामक स्थल मध्यप्रदेश के सीहोर जिले की जाबर तहसील में स्थित है। भोपाल–इंदौर राजमार्ग पर आष्टा के नजदीक मेहतवाड़ा से बॉयी ओर 7 कि.मी. की दूरी पर विलपान नामक गॉव से 3 कि.मी. की दूरी पर सघन वन व पर्वतीय क्षेत्र में देवबड़ला नामक स्थल है। यहॉ 11वीं–12वीं शती ईसवी में परमार शैली में निर्मित चार मंदिरों एवं अनेक प्रतिमाओं के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। इस पहाड़ी से नीचे वन क्षेत्र में दो जैन मंदिरों के भी अवशेष हैं। मध्यप्रदेश शासन के डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर पुरातत्त्व शोध संस्थान, भोपाल में शोध अधिकारी के पद पर सेवाओं के दौरान लेखक द्वारा अधिकृत रूप से उक्त स्थल का अन्वेषण वर्ष 2015 में किया गया था जिसमें विभाग के वरिष्ठ सहयोगी डॉ. रमेश यादव का सानिध्य प्राप्त हुआ। वर्तमान में पर्वत पर मंदिरों के ध्वंसावशेषों की मलवा सफाई एवं मंदिरों के पुनःस्थापन का कार्य डॉ. रमेश यादव के ही निर्देशन में मध्यप्रदेश शासन, पुरातत्त्व विभाग द्वारा किया जा रहा है। एक मंदिर का पुनःस्थापन किया जा चुका है।

यह क्षेत्र पुरापाषाणिक काल से ही आदि मानव का निवास स्थान रहा है, यहॉ पूर्वपाषाण कालीन संस्कृति से संबंधित साक्ष्य एवं स्थल आष्टा की पार्वती नदी के तट पर प्राप्त हुए हैं। यहॉ से मद्रासी हस्तकुठार प्राप्त हुए हैं।1 साथ ही इस जिले के पीलीकरार, पनगुडरिया, धमासा, बुधनी, एवं उॅचाखेड़ा में चापर–चापिंग, हेडेक्स, स्क्रेपर, आदि निम्नपुरापाषाणिक औजार एवं माइक्रोलिथ प्राप्त हुए हैं।[2] विवेच्य स्थल के जिला स्तरीय परिक्षेत्र में पनगुडरिया आदि 20 से अधिक स्थलों पर प्रागैतिहासिक शैलचित्र प्राप्त हुए हैं।[3] इस जिले के नांदेर नामक स्थान पर सी. वी त्रिवेदी एवं रमेश यादव, प्राच्य निकेतन संस्थान, भोपाल द्वारा उत्खनन कार्य किया गया था जिसमें एन. बी. पी. संस्कृति के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं।[4]

छठी शती ईसा पूर्व में यह क्षेत्र तुमुरा जनपद के अन्तर्गत था।[5] जो संभवतः अवंति महाजनपद के अधीन ही रहा होगा। मौर्य युग में दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्र को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण भारत अशोक के अधीन था, इसमें यह क्षेत्र भी समाहित था। पनगुडरिया से दो अशोक के अभिलेख एवं स्तूप समूह प्राप्त हुए हैं। इसी स्थ्ल से एक किलोमीटर की दूरी पर तालपुर से अशोक के ही समय की ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त ईसापूर्व द्वितीय शती की ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख भी प्राप्त हुआ है[6] जो शुॅगकालीन गतिविधियों को इंगित करता है। शुॅगों के पश्चात इस क्षेत्र पर शातकर्णी का अधिकार हुआ, तदनन्तर नहपान का अधिकार हुआ, नहपान पर गौतमीपुत्र शातकर्णी ने विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार इस क्षेत्र पर सत्ता के लिए शक एवं सातवाहनों में निरंतर संघर्ष जारी रहा।[7] सीहोर क्षेत्र के मेमदाखेडी नामक स्थान से रोमन स्वर्ण सिक्का भी प्राप्त हुआ है।[8] चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के दौरान यह क्षेत्र गुप्त साम्राज्य के अधीन हुआ एवं विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी क्षेत्र से होकर गुजरात के शकों पर भी विजय प्राप्त की।[9] गुप्तवंश के बाद इस क्षेत्र पर कुछ वर्षों तक मालवा पर हूण आक्रांता तोरमाण एवं मिहिरकुल का अधिकार रहा। एरण अभिलेख से तोरमाण की विजय एवं मंदसौर अभिलेख से हूणों के पराभव के प्रमाण प्राप्त होते हैं। हूणों के बाद यह क्षेत्र उत्तरगुप्त वंश के शासकों के हॉथों में आ गया। उत्तरगुप्त वंश के शासक महासेनगुप्त ने अपना साम्राज्य मालवा तक विस्तृत कर लिया था। ईसवी सन 606 में थानेश्वर के वर्धन वंश में हर्ष सिहासनारूढ हुआ, हर्ष के साम्राज्य में उत्तर भारत में नर्मदा नदी तक का क्षेत्र

सम्मिलित था जिसमें स्वाभाविक रूप से यह क्षेत्र भी था।10 आठवी शती के प्रारम्भिक चरण में गुर्जर–प्रतिहारों ने मालवा में प्रवेश किया और अपनी मजबूत पकड़ बनाई। लेकिन 758 में इस क्षेत्र पर दक्कन के राष्ट्रकूट राजा दुन्तिदुर्ग ने कब्जा कर लिया। दुन्तिदुर्ग ने उज्जैन में हिरण्यगर्भ यज्ञ किया।11 इस प्रकार कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र पर राष्ट्रकूटों का अधिकार रहा। गुर्जर–प्रतिहारों ने भी आठवी शती में मालवा में अपना अधिकार स्थापित किया, लेकिन कुछ वर्षों के बाद ही राष्ट्रकूट ध्रुब ने पुनः अधिकार कर लिया। राष्ट्रकूटों एवं गुर्जर–प्रतिहारों में वर्चस्व के लिए संघर्ष होता रहा। राष्ट्रकूटों ने मालवा में गवर्नर के रूप में परमारों को नियुक्त किया था। मालवा में कला व संस्कृति का विकास निरंतर प्रगति पर रहा। इस क्षेत्र के भोरा नामक स्थान से आठवी शती ईसवी की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं हैं,12 लेकिन प्रतिहार शैली के मंदिर इस क्षेत्र में प्रतिवेदित नहीं हैं। दसवी शती से परमार मालवा के संप्रभु बन गए। 10वीं शताब्दी में सीयक द्वितीय द्वारा जारी किए गए सबसे पुराने परमार शिलालेख गुजरात में पाए गए हैं और यह बताते हैं कि वे मान्यखेत के राष्ट्रकूटों के जागीरदार थे। उनके उत्तराधिकारी मुंज के समय तक, मालवा मुख्य परमार क्षेत्र बन गया था, धारा (धार) परमार साम्राज्य की राजधानी के रूप में विकसित हुआ। यह राजवंश मुंज के भतीजे भोज के अधीन उसके चरमोत्कर्ष में पहुँच गया, जिसका राज्य उत्तर में चित्तौड़ से लेकर दक्षिण में कोंकण तक और पश्चिम में साबरमती नदी से पूर्व में विदिशा तक फैला हुआ था।

परमार शासक भोज कला के महान संरक्षक थे, ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने वास्तु व शिल्प के लिए भोजशाला के नाम से एक कॉलेज की स्थापना की जो अब धार में एक मस्जिद के रूप में परिवर्तित हो गई है। स्वयं राजा भोज ने वास्तुकला पर सर्वोत्कृष्ट कृति समरांगणसूत्रधार नामक ग्रंथ की रचना की थी। भोजपुर (रायसेन), ऊन (खरगोन), चौबीसा खम्बा (उज्जैन), आशापुरी (रायसेन), उदयेश्वर (उदयपुर, विदिशा), हिंगलाजगढ़ (मंदसौर), गंधर्वपुरी, नेमावर (देवास), बदनावर, ओंकारमांधाता आदि मालवा के प्रमुख स्थल परमार कला के प्रसिद्ध स्थल हैं। सम्पूर्ण मालवांचल में हिन्दू एवं जैन धर्म से संबंधित परमार कला के अवशेष प्राप्त होते हैं।

पिछले पॉच–छह वर्षों में मध्यप्रदेश पुरातत्त्व विभाग द्वारा मालवा क्षेत्र में किए गए पुरातात्त्विक सर्वेक्षण में परमारकाल से संबंधित अनेक कला केन्द्र प्रकाश में आये हैं। इनमें से हीरादेवी मंदिर हीरापुर, (खरगोन), भोजनगर में स्थित मंदिर (भोपाल), रिछावर (लेखक द्वारा प्रतिवेदित), गोरखपुर (लेखक द्वारा प्रतिवेदित), ढाबला (रायसेन) आदि मुख्य हैं। इसी अनुक्रम में सीहोर जिले में स्थित उक्त स्थल प्रकाश में आया है।

मंदिरों के ध्वंसावशेषः–

बिलपान ग्राम के समीप देवबड़ला नामक पहाड़ी पर चार मंदिरों के अवशेष हैं। मंदिर क्रमॉक एक में मंदिर संरचना के अधिकॉश अवयव शेष हैं। यह मंदिर शिव को समर्पित था। मंदिर के मलवा के समीप ही एक नवीन मंदिर का निर्माण कर दिया गया है। मलवा सफाई उपरांत इस मंदिर की अधोसंरचना के विभिन्न अवयव प्रकाश में आ सकते हैं।

मंदिर क्र. 2, मुख्य मंदिर के समक्ष निर्मित किया गया, यह मंदिर शिव को समर्पित किया गया। अब यह मंदिर मलबे के रूप में शेष है। मंदिर के गर्भगृह के ऊपर ही नवीन मंदिर का निर्माण किया जा चुका है। परमारकालीन मंदिर के सभी अवयवों के ध्वस्त अवशेष मलवा के रूप में विद्यमान हैं। मंदिर गर्भगृह, मण्डप एवं मुख मण्डप की योजना में निर्मित होने का आभास होता है। मंदिर के ऊर्ध्वविन्यास अन्तर्गन्त जगती, अधिष्ठान, जॅघा एव शिखर भागों के अवशेष दृष्टिगत हैं। यह मंदिर भूमिज शैली एवं चतुरस्र प्रकार का प्रतीत होता है। मलवा में मंदिर के अनेक स्तम्भ, जॅघा भाग के अनेक अलंकृत स्थापत्य खण्ड, शुकनासा, कूटशिखर एवं पीठिका आदि अवशेष विद्यमान हैं। मंदिर का उत्तरंग पट नवीन मंदिर के उत्तरंग पर ही लगा दिया गया है। मलवा के मध्य में ही भैरव की 100 सेमी. ऊॅची, 70 सेमी. चौड़ी एवं 30 सेमी. मोटाई की प्रतिमा उपलब्ध है। मंदिर की गजासुरसंहारक शिव की प्रतिमा भी नवीन मंदिर में स्थापित कर दी गई है, जो लगभग 70 सेमी ऊॅची है। यहॉ मलवा सफाई के उपरांत मंदिर की संरचना के कुम्भ, खुर, कपोतिका, जाड्य कुम्भ प्रकाश में आए हैं ।

मंदिर क्र. 2 के समीप ही लगभग 10 मीटर की दूरी पर मंदिर क्र. 3 स्थित है। यह भी भूमिज शैली में निर्मित प्रतीत होता है। मंदिर के द्वार स्तम्भ अभी मूल स्वरूप में विद्यमान हैं। यह मंदिर भी गर्भगृह, मण्डप एवं मुख मण्डप की योजना में निर्मित हुआ प्रतीत होता है। मंदिर के ऊर्ध्वविन्यास के अन्तर्गन्त जगती, अधिष्ठान, जॅघा, द्वार एवं शिखर भागों के अवशेष दृष्टिगत हैं। इसका निर्माण 15 वर्गमीटर में हुआ प्रतीत होता है। इस मंदिर की अनेक प्रतिमाएॅ विखरी हुई हैं। मलवा सफाई से मंदिर का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। मंदिर क्र. 3 के मलवा में अनेक प्रतिमाएॅ उपलब्ध हैं जो मंदिर के गर्भगृह, जंघा, वरंडिका एवं रथों की विभिन्न रथिकाओं में स्थापित रहीं होगी। प्रतिमाओं संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार हैः–

गजासुर संहारक शिवः– प्रतिमा 85 सेमी. ऊॅचाई, 75 सेमी. चौडाई एवं 54 सेमी. मोटाई की माप में निर्मित है। शिव आलिढ्य मुद्रा में हैं, वॉया पैर उठा हुआ है जो भग्न है, यह दैत्य गजासुर के वक्ष पर है। दस भुजी देव के दॉये ऊपरी हाथ में डमरू वॉये ऊपरी हाथ में ढाल दृष्टिगत है। शेष हाथ भग्न हैं। ऊपर गजचर्म का घटाटोप बना हुआ है एवं वॉये कोने पर सूड़ सहित गज बना हुआ है। शिव के आगे के दोनों हॉथों में त्रिशूल है जिसकी नोंक पर मानवाकार गजासुर है ।

गौरीः– स्थानक गौरी के सामने के हाथ टूटे हैं। प्रतिमा का चेहरा भग्न हो चुका है। परिकर में ऊपर त्रिदेव हैं, जिनमें मध्य में विष्णु, दॉयी ओर ब्रह्मा एवं वॉयी ओर शिव का अंकन है। नीचे अन्नपूर्णा देवी एवं सेवक.सेविकाएॅ हैं। प्रतिमा 133 सेमी. की ऊॅचाई, 70 सेमी. चौडाई एवं 26 सेमी. मोटाई की माप में निर्मित है।

पार्वतीः– प्रतिमा 131सेमी. की ऊॅचाई, 65 सेमी. चौडाई एवं 27 सेमी. मोटाई की माप में है। देवी ललितासन मुद्रा में है। उनका जटामुकुट है एवं एक हॉथ में सर्प है। परिकर चैत्य मोटिफ व अन्य पुष्पों से अलंकृत हैं। यह देवी संभवतः पार्वती हैं ।

वराह :– प्रतिमा क्षतिग्रस्त है। वराह के शरीर पर देवताओं का अंकन है। 45सेमी. की ऊॅचाई, 110 सेमी. लम्बाई एवं 36 सेमी. मोटाई की माप है ।

मंदिर क्र. 4:– यह मुख्य मंदिर है जो अन्य मंदिरों के केन्द्र में स्थित होते हुए भव्यता धारण किए हुए था। मंदिर आयताकार संरचना में गर्भगृह, अंतराल, मण्डप, एवं नागर शिखर आदि के संयोजन से निर्मित प्रतीत होता है। उक्त संरचना से संबंधित विभिन्न अवयव अवशेष के रूप में यहॉ उपलब्ध हैं । मंदिर लगभग 90 फीट लम्बाई एवं 40 फीट चौड़ाई में निर्मित प्रतीत होता है, जिसके ऊपर 10 वर्ष पूर्व ही नवीन मंदिर का निर्माण किया जा चुका है। इस मंदिर के सामने ही मंदिर क्र. 2 एवं मंदिर क्र. 3 हैं। मंदिर की दूसरी ओर मंदिर क्र. 1 स्थित है। मंदिर से सीढ़ियों द्वारा 20 फीट नीचे स्थित दो कुण्ड की ओर पहुॅचा जा सकता है । कुण्ड के ठीक पीछे मंदिर क्र. 4 स्थित है। प्रथम कुण्ड से नेमज नदी का उद्गम है। पर्वत पर स्थित होने के बाद भी इस कुण्ड से 12 माह पानी निकलता है । कुण्ड के ऊपर कुछ वर्ष पूर्व मंदिर का निर्माण कर दिया गया है जिसमें मंदिर क्र.4 की प्रतिमाओं को स्थापित कर दिया गया है।

इस मंदिर का गर्भगृह नवीन मंदिर के नीचे है। मंदिर की भव्यता का आभास उसके भव्य स्तम्भों से होता है जो 2.5 मीटर ऊॅचे एवं 50 सेमी. मोटाई में है। स्तम्भों के नीचे स्थानक समभंग मुद्रा में विष्णु उत्कीर्ण हैं। मंदिर के ऊर्ध्वविन्यास के अन्तर्गन्त जगती, अधिष्ठान, जॅघा एवं शिखर भागों के अवशेष दृष्टिगत हैं। मंदिर के सिरदल व द्वार स्तम्भों को नवीन मंदिर में लगा दिया गया है। मलबा की सफाई से मंदिर की संरचना अधिक स्पष्ट हो सकेगी। मंदिरक्र. 4 की प्रतिमाएॅ निम्नवत हैंः–

ब्रह्माः– यह प्रतिमा चतुर्भुजी ब्रह्मा की है। प्रतिमा 119 सेमी. की ऊॅचाई, 75 सेमी. चौडाई एवं 25 सेमी. मोटाई की माप में है। ब्रह्मा त्रिमुखी हैं जो स्थानक मुद्रा में हैं। उनकी दाड़ी उन्नत एवं उदर सुपष्ट है। प्रतिमा की हाथ टूट गए है। पैरों के दोनों ओर सेवक–सेविकाएॅ हैं। प्रतिमा का आधार चार प्रक्षेपण लिए हुए है।

नृवराहः– नृवराह प्रतिमा 89 सेमी. की ऊॅचाई, 52 सेमी. चौडाई एवं 30 सेमी. मोटाई में है। अदभुत शिल्पांकन

में वराहमुखी देव किरीट मुकुट धारण किए है। वह प्रत्यालीड मुद्रा में वॉयी उठा हुआ है जो भग्न हो चुका है। चतुर्भुजी नृवराह के चारों हाथ टूट चुके हैं। परिकर में वितान पर लघुकाय शिव एवं ब्रह्मा का अंकन है। देव के आयुध भी भग्न हो चुके हैं। वॉयी ओर भू–देवी का अंकन है ।

गणेशः–सिन्दूर से लेपित यह प्रतिमा गणेश की है, जो 85सेमी. की ऊॅचाई, 45 सेमी. चौडाई एवं 26 सेमी. मोटाई की माप में है। चतुर्भुजी गणेश ललितासन मुद्रा में बैठे हैं उनकी सूड वामावर्त है। प्रतिमा स्तम्भ रथिका में है। दॉयी ओर के हाथों में परशु व नाग है एवं वॉयी ओर के हाथों में गदा एव मोदक हैं।

गणेशः– यह एक अन्य प्रतिमा नृत्य गणेश की है जो स्तम्भ रथिका में है। सूड नीचे की ओर एवं उन्नत उदर है। चतुर्भुजी स्थानक मुद्रा में हैं उनके दॉये ऊपरी हाथ में परशु व वॉये ऊपरी हाथ में बका है एवं दॉय नीचे हॉथ में गदा व वॉये नीचे हाथ में नाग है। प्रतिमा को सिन्दूर से लेप कर दिया गया है।

विष्णुः– 210 सेमी. ऊॅचाई, 42 सेमी. चौड़ाई एवं 40 सेमी. मोटाई की माप के स्तम्भ आधार पर नीचे स्थानक एवं समभंग मुद्रा में विष्णु की सुन्दर प्रतिमा पद्मवल्लरी इलिका गवाक्ष में बनी है। विष्णु के दॉये ऊपरी हाथ में गदा व वॉये ऊपरी हाथ में चक्र है एवं दॉये निचला हाथ वरदमुद्रा में व वॉये नीचे हाथ में शॅख है।

लक्ष्मी–नारायणः– नारायण ललितासन मुद्रा में हैं उनकी की वॉयी जॅघा पर उनकी पत्नी लक्ष्मी बैठी हुई है। दॉया पैर नीचे लटक रहा है। वाहन के रूप में मानवाकार गरूण प्रतिमा के नीचे हैं। परिकर में नीचे दोनों ओर भक्त हैं। लक्ष्मी और नारायण समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं। प्रतिमा 116सेमी. 66 सेमी. ऊॅचाई, चौड़ाई एवं 30 सेमी. मोटाई की माप में है। प्रतिमा को रंग दिया गया है ।

हर–गौरीः– यह प्रतिमा हर–गोरी की है इसमें शिव के वॉये ओर पार्वती है, दोनों स्थानक मुद्रा में हैं। प्रतिमा में दॉयी ओर त्रिशूल एवं वॉयी ओर नाग है। शिव और पार्वती समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं। दोनों दो भुजी हैं। नीचे पैरों के दोनों ओर सेवक हैं। प्रतिमा 75 सेमी. ऊॅचाई, 46 सेमी. चौड़ाई एवं 30 सेमी. मोटाई की माप में है। प्रतिमा को रंग दिया गया है ।

विष्णुः– यह स्थानक एवं समभंग मुद्रा में विष्णु की सुन्दर प्रतिमा है। विष्णु के दॉये ऊपरी हाथ में गदा व वॉये ऊपरी हाथ में चक्र है एवं दॉये निचला हाथ में वरद मुद्रा में व वॉये नीचे हाथ में शॅख है। परिकर के वितान में गन्ध र्व व अन्य देवता हैं। नीचे सेवक हैं। प्रतिमा को रंग दिया गया है ।

शेषशायी विष्णुः– विष्णु की एक अन्य प्रतिमा शेषशायी विष्णु की है। लक्ष्मी उनके पैरों के समीप सेवा में हैं। प्रतिमा 90 सेमी. लम्बाई, 40 सेमी. ऊॅचाई, एवं 28 सेमी. मोटाई की माप में है। प्रतिमा को रंग दिया गया है।

विलक्षण प्रतिमाएॅः–

गौरीः– समभंग स्थानक चतुहस्ता गौरी के नीचे के हॉथ योगमुद्रा में हैं। सिर पर जटामुकुट है। संभवतः दीपक लिए हुए थीं जो क्षतिग्रस्त हो गए है। यह दृश्य शिव को पाने की साधना का है। परिकर पर दृश्य विलक्षण हैं, उनके वितान के दॉये कोने पर नंदी, मध्य में उमा–महेश्वर एवं वॉये कोने पर आसनस्थ युग्ल संभवतः लक्ष्मी–विष्णु हैं। देवी के सिर के दॉये ओर शिव को नंदी पर आरूण जाते हुए दिखाया गया है जो युद्ध दृश्य का अंकन हो सकता है। वॉयी ओर योगनारायण हैं। नीचे अन्य कथानक हैं। प्रतिमा लगभग 6 फीट की ऊॅची है । मालवा क्षेत्र से तपस्या करते हुए गौरी की अनेक प्रतिमाएॅ प्राप्त हुईं हैं।

आदिशक्तिः– यह एक विलक्षण प्रतिमा है ऐसी प्रतिमा संभवतः अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। प्रतिमा 152 सेमी ऊॅचाई, 78 सेमी. चौड़ाई एवं 38 सेमी.मोटाई की माप में हैं। स्थानक समभंग चतुर्भुजी देवी के वॉये हाथ में चक्र है एवं अन्य तीनों हाथ क्षतिग्रस्त हैं। देवी के वक्ष पर शिव का अंकन है। देवी के वॉयी ओर का शिल्पाकॅन विष्णु की शक्ति वैष्णवी का है एवं दॉयी ओर का भाग महेश्वर की शक्ति माहेश्वरी का है। देवी के कटिभाग से नीचे दशावतार का अंकन है–नीचे से क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि का अंकन है। नीचे के पार्श्व में गणपूजक एवं सेवक–सेविकाएॅ हैं। पादपीठ पर दॉयी ओर नंदी एवं वॉये गरूड़ का विशेष शिल्पांकन

है। इस प्रतिमा को आदिशक्ति का स्वरूप मान सकते हैं। पौराणिक मान्यता है कि आदिशक्ति सभी देवों की जननी हैं। भारतीय दर्शन में प्रकृति को आद्यशक्ति माना गया है अर्थात प्रकृति ही शक्ति है। ऋग्वेद में अदिति को प्रकृति का रूप माना गया है, सृष्टि में जो कुछ उत्पन्न हुआ है तथा उत्पन्न होगा, सब अदिति का ही रूप है।13 आदिदेवी को अथर्ववेद में विराज नाम से संबोधित किया गया है जो तीनों लोकों की माता है। उत्तरवैदिक कालीन ग्रंथों में अम्बिका, उमा, दुर्गा, काली आदि नाम प्राप्त होते हैं। महाकाव्य व पौराणिक युग में पार्वती, महिषासुरमर्दिनी, जगदम्बा आदि अनेक नामों से संबोधित किया गया। वासुदेव उपाध्याय के अनुसार गुप्त युग के पश्चात दार्शनिक विचारों में नया मोड़ आया जिसमें शक्ति को प्रमुखता प्रदान की गई। इस शाक्त धर्म के अनुसार शक्ति के सहयोग से ही देवता कुछ करने में समर्थ हो सकते हैं। पद्मपुराण के पाताल खण्ड, अध्याय 69 के अनुसार राधा आद्याशक्ति है। वह शक्तिरूपा है तथा देव त्रयी (ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव) की उत्पादिका है।14 इन्ही विचारों की अभिव्यक्ति इस प्रतिमा में की गई प्रतीत होती है। प्रतिमा लगभग 6 फीट की ऊँचाई में है।

शिव–विष्णु चतुष्किाः–

इस मंदिर में शिव–विष्णु चतुष्किा प्रतिष्ठित थी। यह भव्य चतुष्किा 152 सेमी ऊँचाई, 78 सेमी चौड़ाई एवं 30सेमी. मोटाई की माप में हैं। चारों दिशाओं में नीचे विष्णु एवं ऊपर शिव हैं। शिव के चार रूप सद्योजात, वामदेव, अघोर एवं तत्पुरूष चार दिशाओं में हैं। ऊपर का मुख ईशान का होता है जो प्रदर्शित नहीं किया जाता है। विष्णु चारों दिशाओं में चार रूपों में हैं। रूपमण्डन के अनुसार के विष्णु के इन रूपों को इस प्रकार नामांकित किया जा सकता है15– पूर्व में विष्णु के दॉये ऊपरी हाथ में शॅख व वॉये ऊपरी हाथ में पद्म है एवं दॉये निचले हाथ में चक्र व वॉये नीचे हाथ में गदा है जो मधूसूदन हैं। उत्तर दिशा में विष्णु के दॉये ऊपरी हाथ में पद्म व वॉये ऊपरी हाथ में चक है एवं दॉये निचले हाथ में शॅख व वॉये नीचे हाथ में गदा है जो पद्मनाभ हैं। पश्चिम दिशा में विष्णु के दॉये ऊपरी हाथ में पद्म व वॉये ऊपरी हाथ में शॅख है एवं दॉये निचले हाथ में गदा व वॉये नीचे हाथ में चक है जो विष्णु हैं। दक्षिण दिशा में विष्णु के दॉये ऊपरी हाथ में शॅख व वॉये ऊपरी हाथ में चक है एवं दॉये निचले हाथ में पद्म व वॉये नीचे हाथ में गदा है जो केशव हैं ।

सन्दर्भः–

1. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्यू, 1957–58, पृ. 26।
2. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्य, 1975–76, पृ. 28–30, 1976–77, पृ. 28–32।
3. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्य, 1975–76, पृ. 28–30, 1980–81, पृ. 37।
4. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्य, 1986–87, पृ. 56।
5. भोपाल–सीहोर गजेटियर, म. प्र. शासन, 1989, पृ. 31।
6. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्य, 1975–76, पृ. 68, 1976–77, पृ. 60।
7. भोपाल–सीहोर गजेटियर, म. प्र. शासन, 1989, पृ. 32।
8. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्य, 1973–74, पृ. 47।
9. बाम्बे गजेटियर, बाम्बे; 1986, पृ. 66–67।
10. मुखर्जी, आर. के. ; हर्ष, आक्सफोर्ड, 1966, पृ. 38।
11. मजूमदार, आर. सी; द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, मुम्बई, 1955, पृ. 22–23।
12. इण्डियन आर्कयोलाजी; ए रिव्यू, 1983–84, पृ. 168।
13. ऋग्वेद; 1/89।
14. उपाध्याय, वसुदेव; प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, चौखम्भा प्रकाशन, 1982, पृ. 105–106।
15. रूपमण्डन; 36/21–28।

16. रूपमण्डन; 36 / 21–28

मंदिरों के ध्वंसावशेष

मलवा सफाई उपरांत

सहायक प्राध्यापक
इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय जनजातीय
विश्वविद्यालय, अमरकंटक, म.प्र.
जिला–अनूपपुर, पिन–484887

•••

बस्तर की आदिवासी संस्कृति एवम् प्रकृति के विविध रूप

जितेन्द्र कुमार साखरे
डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय

छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र के आदिवासी प्रकृति के साथ जीवन–पर्यन्त सहचर करते है। इनकी संस्कृति में भी प्रकृति के विविध स्वरुपों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इनका धार्मिक जीवन भी प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रकृति के विविध तत्त्व उनके देवता हैं।[1] इनके, त्यौहारों, परंपराओं में भी पृथ्वी, सूर्य, वृक्ष आदि के दर्शन होते हैं। प्रतिवर्ष चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की पहली तिथि को जहॉ भारत के अन्य क्षेत्रों में हिन्दू नव वर्ष मनाया जाता है, इसी मास की पूर्णिमा को बस्तर में माटी तिहार मनाया जाता है। यह वर्ष का प्रथम त्यौहार है। यहॉ के आदिवासी धरती माता की पूजा, अराधना के लिये मिट्टी त्यौहार मनाते है। चूंकि मिट्टी भी पृथ्वी का ही अंश है। इस क्षेत्र के प्रायः सभी ग्रामों में माटी गुड़ी होती है। मिट्टी त्यौहार के साथ ही गोधन की रक्षा और सम्मान प्रकट करने हेतु अमॅूस तिहार और दियारी तिहार मनाया जाता है। अमॅूस तिहार में चरवाहा जंगल से रसना और शतावरी की जड़ियॉ विधि पूर्वक लाकर नमक के साथ पीसकर पशुओं को खिलाते है। इससे पशु स्वस्थ्य रहते है।[2]

बस्तर वनांचल का क्षेत्र, यहॉ निवासरत आदिवासियों का आश्रय स्थल रहा है। प्राचीन काल से इनकी समस्त आवश्यकताओं की वस्तुऍ वनों से ही प्राप्त होती रही है। इनके अनेक कुटुम्बों ने अपना सम्पूर्ण जीवन इन्हीं वनों के बीच व्यतीत किया है। अतः यहॉ के आदिवासियों को वन प्राणों से भी प्रिय रहे हैं। यही कारण है, कि सन् 1908 और सन् 1910 में जब बस्तर क्षेत्र में रियासत कालीन वन–नीति ने जब आदिवासियों को वनों से दूर करने का प्रयास किया तो इन्होंने आम की टहनी और लाल मिर्च बॉध कर संघर्ष किया।[3]

वैदिक काल में आर्य हिन्दुओं का आगमन हुआ, उस दौरान भी आदिवासी समाज के सदस्यों का पूर्ण अधिकार जंगल पर कायम रहा। वैदिक ऋषि–मुनियों द्वारा आदिवासियों के अधिकार छीनने की कोशिश नहीं की गई, वरन् इन्हें भी अपने साथ जोड़ने का कार्य किया गया। रामायण तथा महाभारत काल में भी आदिवासियों का पूर्ण अधिकार जंगलों पर था। चंद्रगुप्त मौर्य तथा अशोक जैसे प्रतापी सम्राटों ने भी आदिवासियों को वनों के अधिकारों से वंचित नहीं किया था। जब भारत में ब्रिटिश शासन प्रारंभ हुआ, तब ब्रिटिश सरकार का ध्यान भारत की असीमित वन संपदा की ओर गया। यहॉ की वन संपदा को यहॉ के आदिवासियों ने बचाकर रखा था। ब्रिटिश शासन जल जहाज निर्माण, भवन निर्माण, रेलवे स्लीपर, फर्नीचर निर्माण आदि के लिए वृक्षों को काटने लगे। जब उनकी दृष्टि वन उपजों से प्राप्त होने वाली आय पर पड़ी।[4]

उक्त घटनाओं के पूर्व जब बस्तर क्षेत्र में बाहरी आक्रांताओं ने यहॉ के आदिवासी संस्कृति और इनकी परम्पराओं में हस्तक्षेप किया तो इनमें असंतोष और विद्रोह हुआ। सन् 1879 से इंडियन फारेस्ट ला बस्तर में लागू हुआ। 2122 वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल पहले चरण में आरक्षित किए गए। 6400 वर्ग कि.मी. क्षेत्र को आरक्षित किए जाने की योजना बनई गई। वन क्षेत्र के गॉवों को मुआवजा देकर अन्य क्षेत्रों में बसाने की व्यवस्था की गई। जिस जमीन पर ये आदिवासी और इनके पूर्वज प्राचीन काल से निवासरत थे, वहॉ से उन्हें हटाया जाने लगा। परिणामतः विद्रोह होना स्वाभाविक था।[5]

इनकी उत्पत्ति को लेकर भी ऐसी मान्यता है, कि गोड़ जनजाति अपने लिये कोयतुर शब्द का प्रयोग करते है। पहाड़ों में रहने वाले गोड़ मेटा कोयतुर और समतल मैदानों में रहने वाले दोर कोयतुर कहलाये। कालान्तर में दोर

कोयतुर दोरला हो गए। आजीविका के साधन में कृषि, पशुपालन के साथ वनोपज का संग्रह किया जाने लगा। कृषि अर्थात् धरती से जुड़े होने के कारण इनके प्रायः सभी त्यौहारों में मिट्टी का महत्त्व होता है। प्रकृति की विविध वस्तुएँ हल्दी पानी से स्नान करना, महुआ का उपयोग, तेंदू, बॉस, पत्तें, छींद आदि सभी वस्तुओं का प्रयोग होता है।6

स्वास्थ्य के संबंध पर अध्ययन करे तो स्पष्ट होता है, कि बस्तर के आदिवासी रोगों, प्राकृतिक विपदाओं, अज्ञात शक्तियों से बचने के लिए अनेक प्रकार की धार्मिक क्रियायें और कर्मकाण्ड करते हैं। इनका समाज अनेक प्रकार की विचारधाराओं से भरा है, जिनका विशेष सामाजिक महत्त्व भी होता है। इस क्षेत्र में पूर्वजों को संतुष्ट करने उनकी कृपा प्राप्त करने तथा उनके सम्मान में कई प्रकार के स्मारकों के निर्माण की परम्परा रही है। इस परम्परा द्वारा वे अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति को भी उजागर करते है। यह कलात्मक अभिव्यक्ति उनके दैनिक क्रियाकलापों से जुड़ी रहती है।

हिन्दू धर्म में जहॉ मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा और जीवन की अवधारणा है, वैसी ही प्रथा इनके द्वारा निर्मित स्मारकों में दृष्टिगोचर होती है। बस्तर में आदिवासियों द्वारा स्मारक निर्माण की परम्परा प्राचीन है, जो मुख्यतः तीन माध्यमों से बनाये जाते है। पत्थर, लकड़ी एवम् कांकीट तथा ईंट के स्मारक। प्रायः ये स्मारक अपने निवास क्षेत्र के पास ही बनाते रहे है। इस क्षेत्र के आदिवासियों का मानना है कि मरने के पश्चात् मृतक की आत्मा हनाली, हनाल कोट (जहॉ पाषाण स्तम्भ स्थापित किया जाता है) में निवास करती है, और ग्राम के देवता से मिल जाती है। इस स्थल पर मृतकों की संतुष्टि के लिए अनाज के पात्र चढ़ाए जाते हैं। यहॉ के लोगों का मानना है कि अगर मृतकों को भली प्रकार संतुष्ट किया जाए तो वे अच्छी कृषि उत्पादन में सहायक होते हैं। साथ ही परिवार को विभिन्न प्रकार की विपदाओं से बचाते हैं।[7]

लौकिक धरातल पर देखा जाए तो लोहे के उपकरण और शिल्पकारिता आदिवासियों के जीवन के अधिक करीब है। लोहे के उपकरण और गहनों का प्रयोग आदिवासी प्राचीन समय से करते आ रहे है। बस्तर के स्थानीय शिल्पकार काष्ठ, मिट्टी, ढोकरा, लोहा आदि विविध माध्यमों में कलात्मक शिल्पों की रचना करते रहे है। सन् 1794 में इस क्षेत्र में यात्रा करने वाले ब्रिटिश सेना अधिकारी कैप्टन ब्लन्ट ने यहॉ के आदिवासियों के लोहे के ज्ञान के विषय में लिखा है। लोहे का ज्ञान बस्तर के आदिवासियों को अत्यन्त प्राचीन काल से है।[8]

बस्तर में सरगी, पलाश, सियाड़ी, आम और तेंदू के पत्ते विशेष उपयोगी होते है। जहॉ तेंदू पत्तों का व्यवसायिक उपयोग होता है, वहीं सरगी, सियाडी और पलाश के पत्तों का ग्रामीण जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आम के पत्तों का उपयोग जहॉ पूजा में होता है, सरगी, सियाड़ी और पलाश के पत्तों से पत्तलें और दोने बनाये जाते हैं। सियाड़ी के पत्तों का उपयोग छाता बनाने के लिए भी किया जाता है।[9]

प्रकृति को लेकर यहॉ के आदिवासी कितने संवदेनशील रहे है, इसका प्रमाण हमें इनकी टोटमवाद की मान्यता से स्पष्ट होता है। टोटम की एक प्रथा है, जिसमें आदिवासियों में यह विश्वास किया जाता है कि उनके आस–पास रहने वाले पेड़–पौधों, जीव–जन्तु से इनके वंश का निर्धारण हुआ है। ये आदिवासी इन पौधों जीव–जन्तु को पवित्र पूज्य मानकर इन्हें हानि नहीं पहुॅचाते।[10]

बस्तर की आदिवासी संस्कृति की कुछ प्रमख परंपराओं पर हम दृष्टिपात करे तो भी हमें प्रकृति के विविध रुप के दर्शन इसमें होते हैं। यथा :–

बस्तर की गोदना प्रथा :– लाला जगदलपुरी के अनुसार "गोदना एक ऐसी अंलकरण प्रणाली है, जिसका संबंध लोक संस्कृति से जुड़ा है। जहॉ त्वचा चित्रांकन का नाम गोदना है।" गोदना आदिवासी समाज में अपनी जड़े जमा चुका है। आदिवासी महिलाओं द्वारा गोदना बनवाने के पीछे अनेक मान्यतायें और विश्वास, परंपरायें है। गोदना स्मृति चिन्ह और मधुर संबंध के प्रतीक के रुप में गुदवाया जाता है। गोदना धार्मिक और सामाजिक क्रिया है, जिसके साथ सौन्दर्य की भावना भी जुड़ी हुई है। गोदना के संबंध में यह धारणा है, कि इससे रोग, दुःख कम होते है, शक्ति आती है। आदिवासी देव समय पर रक्षा करते है, और विपत्तियॉ नहीं आती।

लाला जगदलपुरी के अनुसार यह एक ऐसा अलंकरण है, जो शरीर के साथ जाता है। कांसा, तांबा, सोना और चांदी के जेवर तथा अन्य रत्नाभूषण साथ नहीं जाते। गोदना को कोई चुरा नहीं सकता, छीन नहीं सकता इस प्रकार यह स्थायी आभूषण है। स्त्रियां अपने शरीर पर गोत्र चिन्हों को गुदवाती है। उनकी धारणा है कि टोटम चिन्ह, गोत्र चिन्ह गुदवाने से उनके पूर्वजों की मृतक आत्मायें संकट के समय उनकी रक्षा करने में सहायक होती है।11

बस्तर का दशहरा :– बस्तर का प्रसिध्द दशहरा उत्सव, जो इस क्षेत्र के आदिवासियों में अत्यधिक प्रचलित है, इसमें भी आदिवासी संस्कृति की अनूठी झलक दृष्टिगोचर होती है। कुंवार में दशहरा के अवसर पर मॉ दंतेश्वरी की डोली दंतेवाड़ा से जगदलपुर ले जाते हैं। मूर्ति का विशेष प्रकार से प्राकृतिक वस्तुओं से श्रृंगार किया जाता है। फूल, तुलसी, पारिजात, बेल, गुलाब, चम्पा आदि फूलों से माता का श्रृंगार किया जाता है। छड़ी, चंवर, छत्र, तरास, चांद, सूरज के निशान आदि साथ में रहते हैं।[12]

बस्तर क्षेत्र में ग्रामीण अंचल के प्रमुख त्यौहार :– माटी तिहार, अमूॅस तिहार, नुआॅखानी, दियारी आदि में समस्त आदिवासी एकजुट होकर गॉव–गॉव में उत्साहपूर्वक इन त्यौहारों को मनाते हैं। चैत्र मास में माटी तिहार, हरेली अमावस्या को अमूॅस तिहार, भादो में नुआॅखानी तथा अगहन और पूस के महीनों में दियारी तिहार मनाते है। माटी–तिहार मिट्टी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने आस्था प्रकट करने तथा प्रसाद रुप में बीज प्राप्त करने का एक माध्यम है। अमूॅस और दियारी तिहार पशुधन के प्रति ग्रामीण उपासना के प्रतीक पर्व है, और नुआॅखानी देवी–देवताओं पर नई फसल चढ़ाकर प्रसाद ग्रहण करने का त्यौहार है। गोंड़ आदिवासियों में तिहार को "पण्डुम" कहते है। इनमें अलग–अलग फलों और अलग–अलग अन्नों के लिये पण्डुमों का प्रावधान है।[13]

घोटुल :– यहॉ की अनेक जनजातियों में सबसे विशिष्ट प्रचलित संस्था गॉव का युवागृह है, जिसे मुरिया में घोटुल कहा जाता है। ऐसी मान्यता है, कि घोटुल के निर्माण का विचार सर्वप्रथम लिंगो के मन में आया होगा, तब वर्तमान की जातियों की तुलना में आदिम जनजातियॉ सांस्कृतिक दृष्टि से अग्रगामी रही होगी। सामाजिक तौर पर इन घोटुलों का मौलिक महत्त्व रहा है। जबकि जाति मूलक समाज के पास इनके समतुल्य अन्य कोई संस्था नहीं थी। ये घोटुल ही थे, जहॉ आदिवासी छत्तीसगढ़ की सूक्ष्म सौंदर्य–मूलक संस्कृति का विकास हुआ था। ये आदिवासियों की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति में एक मौलिक साधन थे। यहॉ आदिवासी अपने रीति–रिवाजों का अभ्यास करते थे। अपनी परम्परा का स्मरण करते थे।[14]

इन आदिवासियों में बहुचर्चित सांस्कृतिक संस्थान घोटुल रहा है, जो समय के साथ विलुप्त हो रहे है। इस घोटुल गृह का निर्माण श्रमदान से होता था। घोटुल की एक व्यवस्थापिका समिति होती थी। उस समिति के अलग–अलग अधिकारी होते थे। जिनके उत्तरदायित्व बॅटे थे। घोटुल में ललित–कलाओं का लालित्य देखते सुनते ही बनता है। घोटुल का प्रवेश द्वार वहॉ की काष्ठ कला से साक्षात्कार कराता है। भीतरी भाग में दीवारों पर अनेक प्रकार के भित्तिचित्रों की भरमार रहती है। पशु–पक्षी, पेड़–पौधों के चित्र उनके उस वातावरण में आकर्षक लगते है।[15]

आदिवासियों में प्रकृति पूजन :– आदिवासी प्रकृति की संतानें हैं। प्रकृति की गोद ही उनकी समस्त गतिविधियों का केन्द्र है। ये पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर है। निवास करने का स्थान, अन्न, लकड़ी, आग, पानी, पहनने और बिछाने के साधन के साथ ही लोक–संगीत के साधन भी प्रकृति से प्राप्त होते है। प्रकृति के उपकारों को यहॉ के आदिवासी भूले नहीं है। परिणामस्वरुप अपने–अपने ढंग से प्रकृति की पूजा करते आ रहे हैं। पशु–पक्षियों से लेकर पेड़–पौधे तक देव–सदृश माने जाते हैं।

बस्तरांचल में महुआ, सेमल, सरगी और आम के वृक्षों के सांस्कृतिक महत्त्व है। आदिवासियों के एक वर्ग में विवाह–मंडप पर मोंगरहन खाम के नाम से महुए की टहनी स्थापित की जाती है। उस पर अक्षत, लाली, हल्दी लगाकर नया वस्त्र लपेटते हैं। सरगी के पत्तों वाली टहनियों से मण्डपाच्छादन शुभ माना जाता है। गोंड़ और भतरा आदिवासियों में सेमल पूज्य माना जाता है। ऐसी मान्यता है, कि गोंड़ों के अराध्य देव लिंगोपेन सेमल वृक्ष की छाया

में रहे थे।[16]

वृक्षों का तो विशेष महत्व है, परंतु ताड़ वृक्ष का यहॉ के घरेलू अर्थ–व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके पत्तों से घर और चटाइयॉ बनाई जाती हैं। इनका रस प्रिय और स्वास्थ्य वर्धक पेय हैं। इसके तने के अन्दर से साबूदाना निकाला जाता है, और तने से पानी की नालियॉ बनाई जाती हैं। ताड़ के वृक्ष जो गुच्छों में या समूहों में उगते हैं, इसके तने में विशेष स्थान पर चीरा लगाकर एक मीठा रस निकाला जाता है, जिसे बॉस के पात्रों में या मिट्टी के पात्रों में जो वृक्ष के तने से बॅधे रहते हैं, एकत्र किया जाता हैं। यहॉ के निवासी इस पेय को ताड़ी कहते है। 1986 के पहले इस वृक्ष पर प्रतिवृक्ष 2 आना कर लगाया जाता था।[17]

दूसरा महत्त्वपूर्ण वृक्ष सल्फी है। इस वृक्ष का मुख्य और सबसे अच्छा उत्पाद एक मीठा रस होता है, जो इसके फूल निकलने वाले स्थान पर चीरा लगाने से प्राप्त होता है। यह वृक्ष फूलना बंद कर देता है, तो इसके तने की भीतरी हिस्से से आटे के समान एक पदार्थ निकाला जाता है, जिसे लोग शौक से खाते हैं। जंगली खजूर का वृक्ष जिसे स्थानीय लोग छिन्द कहते है, बहुतायत से पाये जाते हैं। इनके फल खाये जाते हैं और पत्तों से टोकरियॉ इत्यादि बनाई जाती हैं।[18]

आदिवासी समाज के सदस्य भोजन बनाने के लिए जलावन हेतु लकड़ियॉ वनों से ही एकत्रित करते है। यह आदिवासी समाज की विशेषता ही है, कि यह लोग गर्मी के दिनों में वनों से सूखी पत्तियॉ संग्रह करते हैं। जंगल से ही सूखी लकड़ियों का संकलन भी जलाऊ लकड़ी के लिए किया जाता है। यह आदिवासी संस्कृति की विशेषता ही है कि, हरे भरे पेड़–पौधों को नुकसान नहीं पहुॅचाते। आदिवासी समाज के सदस्य वनों में पाए जाने वाले वृक्षों अथवा पौधों की जड़ें, छाल, पत्ती, फल, फूल, बीज आदि की सहायता से देशी दवाईयॉ तैयार करते हैं। इनका ध ाार्मिक जीवन, विश्वास भी जंगल में पाए जाने वाले पेड़–पौधों तथा पशु–पक्षी पर आधारित हैं। पेड़–पौधों तथा पशु–पक्षियों के साथ उनका टोटम संबंध हैं। उन्हें वे पवित्र मानते है, तथा अपने गोत्र पुरुष के रुप में पूजते हैं। जनजातीय विश्वास के अनुसार जंगल देव, जंगल देवी, पितृ–देव, पितृ–देवी, धरती देव तथा देवी, नागदेव, बाघदेव, सिहं देव बोंगा आदि सभी का निवास स्थान भी जंगल ही है। इसलिए वे पेड़–पौधों, टीलों, पेड़ की जड़ों आदि की पूजा करते हैं। उनका देवताओं का वास भी जंगल अथवा उसके पास स्थित होता है।[19]

सरई, साल का जंगल जगदलपुर, कोंड़ागॉव, अन्तागढ़ तथा दन्तेवाड़ा में विस्तृत है। इन जंगलों में अनेक प्रकार की वनौषी भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। तेलमकन्द से यहॉ के लोग एक किस्म की दवाई बनायी जाती हैं। जिससे खून की बीमारियों के जितने रोग होते है, ठीक हो जाते हैं। ब्राम्ही, सफेद व काली मुसली, कामराज, तेजराज, भोजराज, दशमूल, चिरायता, पिपरा, सेमरकन्द, करंजी, रीठा, झापड़ा, रसना आदि जड़ी–बूटियॉ पायी जाती है।20

कुछ अपवादों को छोड़ दे तो, यहॉ की आदिवासी जनसंख्या उसी प्रकार जीवन व्यतीत करती है, जैसे उनके पूर्वज करते थे। उनकी लगभग वहीं परंपराऍ है। दूर–दराज के ग्रामों के गोड़ अपने पारंपरिक देवी–देवताओं की पूजा करते हैं, और प्राचीन सामाजिक प्रथाओं का पालन करते हैं। बाल–विवाह की प्रथा इनमें नहीं है। युवा स्वयं अपना जीवन–साथी चुनते हैं। विधवा विवाह प्रचलित है। सभी सामाजिक और धार्मिक विवाद पंचायत में निपटाये जाने की प्रथा रही है। वनांचल क्षेत्रों में घर प्रायः पत्तों या घास–फूस से छाई झोपड़ियॉ होती हैं। मैदानी क्षेत्रों में पानी की पूर्ति तालाबों और कुओं से होती है, और गर्म मौसम में नदियों के रेत में गड्डे खोदकर पानी निकाला जाता है।[21]

बस्तर का आदिवासी रामायणकाल से ही प्रकृति के साथ विचरण करता आ रहा है। आदिवासियों की अर्थव्यवस्था और उनके सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन में भी जंगल की प्रमुख भूमिका रही हैं। यह आदिवाासी खाद्य–सामग्री, ईंधन, औषधि, इमारती लकड़ी, रस्सी बनाने के लिए रेशा, पशुओं के लिए चारा, घरेलू बर्तन बनाने के लिए सामग्री, पूर्वजों की स्मृति में लगाये जाने वाले स्तम्भ, कृषि के उपकरण तथा भौतिक संस्कृति से जुड़ी हुई अन्य वस्तुऍ वन से ही प्राप्त करते रहे हैं। आदिवासियों की दृष्टि में वन का आध्यात्मिक तथा धार्मिक महत्त्व भी है, क्योंकि

वन में उनके पवित्र वृक्ष, पौधे तथा अन्य धार्मिक स्थानों के अतिरिक्त उनके देवी–देवताओं का भी निवास हैं। इससे वन में होने वाली प्रत्येक घटना से आदिवासियों का जीवन प्रभावित होता है।[22]

बस्तर के आदिवासियों की यह समृध्द संस्कृति ने प्रकृति के विविध स्वरुपों को अपने में आत्मसात किया। परिणामतः यहॉ के निवासी इस संस्कृति को बचाये रखें है, लेकिन विकास कार्यों और औद्योगिक क्षेत्रों के विकास के कारण इसके स्वरुप में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अतः वर्तमान में विकास कार्यों के साथ इस संस्कृति को भी बनाये रखना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. शुक्ल, हीरालाल, आदिवासी संगीत (मुरिया संगीत शास्त्र : मानवविज्ञानाश्रित सांगीतिक भाषा विज्ञान की भूमिका), मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1986, पृ. 76 ।
2. जगदलपुरी, लाला, विश्वकर्मा, बंशीलाल, बस्तर लोक–कला संस्कृति, विश्वभारती प्रकाशन, सीताबर्डी, नागपुर, 2011, पृ. 52 ।
3. वही, पृ. 73 ।
4. उपाध्याय, विजय शंकर, पाण्डेय, गया, जनजातीय विकास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2010, पृ. 76।
5. बेहार, राम कुमार, श्रीवास्तव, नर्मदा प्रसाद, आदिवासी बस्तर इतिहास एवं परंपराए, बालाजी प्रिटिंग प्रेस, जगदलपुर, 1992, पेज 44 ।
6. वही, पृ. 67,68 ।
7. शिवशंकर, कोसल, Journal of the Directorate of Culture & Archaeology, Government of Chhattisgarh; 2011 p. 24'।
8. शिवशंकर, आदिवासी बस्तर का लौह शिल्प, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नई दिल्ली, 2017, पृ. 51, 52 ।
9. शुक्ल, हीरालाल, आदिवासी संगीत (मुरिया संगीत शास्त्र : मानवविज्ञानाश्रित सांगीतिक भाषा विज्ञान की भूमिका), मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1986, पृ. 64 ।
10. बेहार, राम कुमार, श्रीवास्तव, नर्मदा प्रसाद, आदिवासी बस्तर इतिहास एवं परंपराए, 1992, पृ.64 ।
11. वहीं, पृ. 72, 73 ।
12. ठाकुर, केदारनाथ, बस्तर भूषण, नवकार प्रकाशन, कांकेर, 2005, पृ. 91 ।
13. जगदलपुरी, लाला, बस्तर इतिहास एवं संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2016, पृ. 89, 90 ।
14. शुक्ल, हीरालाल, आदिवासी बस्तर का बृहद् इतिहास, षष्ठ खण्ड, बी.आर. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 11 ।
15. जगदलपुरी, लाला, बस्तर इतिहास एवं संस्कृति, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2016, पृ. 89, 90 ।
16. वहीं, पृ. 102, 104 ।
17. Brett, E.A., Central Provinces Gazetteers, Chhattisgarh Feudatory States, Time Press Bombay, 1909, p. 28; 29.
18. वहीं, पृ. 28, 29 ।
19. उपाध्याय, विजय शंकर, पाण्डेय, गया, जनजातीय विकास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2010, पृ. 69।
20. ठाकुर, केदारनाथ, बस्तर भूषण, नवकार प्रकाशन, कांकेर, 2005, पृ. 29 ।

21. ब्रेट पृ. 74 Brett, E.A., Central Provinces Gazetteers, Chhattisgarh Feudatory States, Time Press Bombay, 1909, p. 74.
22. शुक्ल, हीरालाल, आदिवासी बस्तर का बृहद् इतिहास, षष्ठ खण्ड, बी.आर. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, 2007।

इतिहास विभाग,
रानी रश्मि देवी शा. म.वि.खैरागढ़
शा.वि.या.ता.स्ना.स्व.महाविद्यालय, दुर्ग

●●●

तुम्बवन (तुमैन) की मूर्तिकला

डॉ. कृष्णकुमार त्रिपाठी

म.प्र. के गुना जिले में अशोक नगर (वर्तमान जिला मुख्यालय) से लगभग 10 कि.मी. दक्षिण–पूर्व तुमैन ग्राम अक्षांश 24050' उत्तर तथा 77075' पूर्व में बेतवा की सहायक 'ओर' नामक लघु नदी के तट पर स्थित है।[1] तुमैन पश्चिमी रेल्वे के बीना–कोटा लाइन पर स्थित अशोक नगर स्टेशन से कच्चे मार्ग पर पड़ता है। विदिशा तथा गुना से पक्की सड़क द्वारा अशोक नगर पहुँचा जा सकता है। वर्तमान तुमैन ग्राम प्राचीन टीलों के ऊपर बसा है, जो अपने अंतराल में इसकी अतीतकालीन सांस्कृतिक गौरव–गाथा संजोए हुए है। ये टीले लगभग 2 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में फैले हैं, जो 'ओर' तथा 'अखैबर' नदियों से आवृत्त हैं।

म.प्र. के ऐतिहासिक नगरों में 'तुम्बवन' (आधुनिक तुमैन ग्राम) का विशिष्ट स्थान है। विदिशा तथा मथुरा के बीच राजमार्ग पर स्थित होने के कारण यह नगर विशेष प्रसिद्ध हुआ। तुम्बवन से एक मार्ग कौशाम्बी (वत्स जनपद की राजधानी) को जाता था।

मौर्य सम्राट् अशोक के समय से यहॉ निर्माण–कार्य प्रारम्भ हुआ और ईस्वी 12 वीं शती तक विभिन्न रूपों में जारी रहा । गुप्तकाल में तुम्बवन को पूर्वी मालवा का एक राजनीतिक केन्द्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के समय का एक लेख यहाँ से प्राप्त हुआ है, जिससे इसकी पुष्टि होती है। उन समय से लेकर 12वीं शती के अंत तक तुम्बवन में वैदिक–पौराणिक मत का विकास हुआ। यहाँ शिव, विष्णु, देवी आदि के मन्दिरों तथा अनेक मूर्तियों का निर्माण समय–समय पर होता रहा । तुमैन में उपलब्ध बहुसंख्यक कलाकृतियाँ इसकी ज्वलंत प्रमाण हैं। तुमैन का नाम प्राचीन साहित्य तथा उपलब्ध अभिलेखों में मिलता है।[2] जैन अनुश्रुतियों में तुम्बवन को 'वज्रस्वामी' का जन्म स्थान कहा गया है।[3] वज्रस्वामी 18वें युग प्रधान, आचार्य थे। कालक्रम के अनुसार वज्रस्वामी का जन्म महावीर निर्माण सम्बत् 504 अर्थात् विक्रम सम्वत 34 में मध्यप्रदेश के तुम्बवन नामक स्थान में हुआ था, यह स्थान अब तुमैन ग्राम के रूप में प्रसिद्ध है।[4]

महाजनपद काल के पश्चात् तुमैन तथा उसके आसपास का क्षेत्र मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था। इस समय एक बड़े बौद्ध–स्तूप का निर्माण हुआ। मौर्यकाल के बाद सातवाहन–शुंग तथा कुछ समय के लिये शक–कुषाणों का इस क्षेत्र पर पर आधिपत्य था, जिन्हें गुप्त शासकों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने नाग–शासकों को पराजय का मुख देखना पड़ा और विवेच्य क्षेत्र गुप्त साम्राज्य में अन्तर्निहित हो गया। जिसकी पुष्टि गोविन्दगुप्त के अभिलेख से होती है। एरण गुप्त शासकों की छावनी का एक केन्द्र था। कालान्तर में गुर्जर–प्रतीहारों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने पतनोन्मुख गुप्त साम्राज्य के अन्तिम शासकों को झुकना पड़ा और यह क्षेत्र गुर्जर–प्रतीहारों के आधिपत्य में आ गया । गुर्जर–प्रतीहारों के पश्चात् मालवा के परमार शासक वाक्पति मुंज ने इस क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। उनके पश्चात् यह क्षेत्र परमार शासकों के अधीन रहा।[5]

विगत वर्षों (1972–74)में सागर विश्वविद्यालय द्वारा तुमैन में प्रो. के.डी.वाजपेयी के निर्देशन में उत्खनन कार्य कराया गया। इस स्थल के उत्खनन से शुंग–सातवाहन काल के अतिरिक्त गुप्तकाल तथा परवर्ती कालों के प्रचुर अवशेष मिले हैं। जिससे ज्ञात होता है कि इस काल में तुमैन नगर की प्रभूत उन्नति हुई। तत्पश्चात् ईस्वी छठीं शती से लेकर गुर्जर–प्रतीहार तथा बाद में परमार शासकों के समय में भी इस क्षेत्र को राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

वर्तमान तुमैन ग्राम के समीपवर्ती क्षेत्र में तीन बौद्ध–स्तूपों के अवशेष; पठार को काट कर बनाया गया राजमार्ग तथा पत्थर को काट कर बनायी गई गुफ़ा की खोज का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। एक बड़े बौद्ध–स्तूप के उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि इसका निर्माण मौर्यकाल में हुआ। शेष स्तूप मौर्यकाल के पश्चात् निर्मित कराये गये प्रतीत होते हैं।

उत्खनन खदान संख्या 6 से शुंग–सातवाहन कालीन भवनावशेष, मृद्भाण्डों के ठीकरे, मण्डल कूप आदि प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार खदान संख्या 5 से भी उपरोक्त अवशेष प्रकाश में लाये गये। इस काल के भवनों में पकी ईटों को कूटकर बनाया गया फर्श, पकी ईटों से निर्मित नाली, मण्डल–कूप तथा एक अण्डाकार वृत्त के अन्दर हड्डियों के अवशेष, राख, चांदी का टुकड़ा आदि मिट्टी के लघु पात्र में रखे मिले हैं।

मुद्रा–साक्ष्य के रूप में तुमैन उत्खनन से प्राप्त तांबे का एक आहत सिक्का महत्त्वपूर्ण है, जिसके ऊपर सातवाहनों के राजवंश का प्रतीक 'हाथी' तथा अन्य चिन्ह उत्कीर्ण हैं। उसके ऊपरी भाग में ब्राह्मी लिपि में 'सिरी सातस' (श्री सातकर्णि) सातवाहन शासक का नाम खुदा है। स्तरीय खोज के अनुसार इस सिक्के को ईस्वी पूर्व प्रथम शती का निरूपित किया गया है। उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर तुमैन तथा आसपास के क्षेत्र में मौर्य शासन के पश्चात् शुंग–सातवाहनों के शासन की पुष्टि होती है। उत्खनन में गुप्तकाल तथा परवर्ती कालों से संबंधित विविध भवनावशेष, कुटी ईटों से निर्मित फर्श, चूल्हे, मृद्भाण्डों के ठीकरे, जिनमें उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्डों के ठीकरे विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनके ऊपरी भाग में सुनहले तथा काले–नीले रंगों के सुन्दर चमकदार पॉलिश का लेप किया गया है। इनके अतिरिक्त विविध कालों से संबंधित मृद्भाण्ड महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें संग्राहक घड़े, लोटे, कटोरे, प्यालियाँ, तश्तरियाँ, हांडी, भोजन पकाने के अन्य पात्र सम्मिलित हैं। गुप्तकालीन पकी मिट्टी की मुहर की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है। जिसमें गुप्तकालीन ब्राह्मीलिपि में 'सिंहस्य' लिखा मिला है। गुप्तकाल में नाली व्यवस्था तथा नक्काशीदार पकी ईटें भवन निर्माण में प्रयुक्त की गयीं, जिसकी नींवें पत्थरों से भरी जाती थीं। नींव को सुदृढ़ बनाने हेतु बज़री, काली–पीली मिट्टी तथा चूने को मिश्रित करने की परम्परा थी। परवर्ती कालों में समग्र भवनों का निर्माण 'धाऊ' (चिनखारी) पत्थरों को काटकर किया गया।

उत्खनन से प्राप्त अन्य महत्त्वपूर्ण पुरावशेषों में यक्ष–यक्षी तथा गणेश की लघु पाषाण–प्रतिमाएँ; धातु निर्मित दैनिक उपयोग के घरेलू उपकरण, भोजन पकाने के मिट्टी के विविध मृद्भाण्ड, अर्ध–कीमती पत्थरों के तथा पकी मिट्टी के मनके, सौन्दर्य–प्रसाधन के लिए तांबे की अंजन शलाकायें, पत्थर की कलात्मक मंजुषाएँ, हड्डी के पिन, लोहे के बाण–फलक, पकी–मिट्टी के खिलौने, गोलियॉ, पहिये, मृण्मूर्तियाँ, शंख की चूड़ियाँ आदि के अवशेष उत्खनन में मिले हैं। तुमैन उत्खनन से 589 चांदी के हिन्द–सासानी सिक्के, तांबे के एक टोंटीदार वर्तन में रखे मिले हैं। इन सिक्कों पर विविध प्रकार के प्रतीकों का अंकन हैं। कुल संग्रह में 7 सिक्कों पर चाहमान शासक अजयदेव6 का नाम मिलता है। जिसका शासनकाल 11वीं शती का माना गया है। अन्य सिक्कों पर राजा की भद्दी आकृति तथा लक्ष्मी का अंकन है। उपरोक्त पुरावशेषों के आधार पर यहॉ के कालक्रम को पाँच सांस्कृतिक उपकालों में विभक्त किया गया है, जो क्रमशः ईस्वी पूर्व 5 वीं शती से लेकर ईस्वी 18 वीं शती तक के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं।

उपरोक्त प्राचीन अवशेषों के माध्यम से हमें यहॉ के जनजीवन, सांस्कृतिक, धार्मिक, एवं राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी मिलती हैं। परंतु विवेच्य अध्ययन तथा ज्ञान तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता, जब तक हम यहॉ के कलात्मक वैभव की जानकारी प्राप्त न कर लें। इस क्षेत्र के सांगोपांग सांस्कृतिक अध्ययन के लिए मंदिर–वास्तु तथा मूर्तिकला के अवशेषों का विश्लेषण करना नितांत आवश्यक है।

तुमैन में गुप्तकाल के पश्चात् मध्यकाल में विविध मंदिरों, कलात्मक वास्तुखण्डों तथा बहुसंख्यक वैदिक देवी–देवताओं की कलात्मक प्रतिमाओं का निर्माण कराया गया, जिनके प्रचुर अवशेष यहाँ देखने को मिलते हैं। यहाँ जैन–मंदिरों तथा तीर्थंकरों आदि की प्रतिमाओं का निर्माण बड़े परिमाण में हुआ। मध्यकाल में अथवा इससे पूर्व जिन

मंदिरों का निर्माण तुमैन में हुआ, वे आज खण्डहर के रूप में दिखायी देते हैं। मंदिरों के विविध शिल्पावशेष, अलंकृत द्वार–स्तम्भ, मंदिर द्वार–शीर्ष, कलात्मक पाषाण–फलक, आमलक तथा विविध कालों में निर्मित बहुसंख्यक कलाकृतियाँ एक दूसरे के साथ समाहित हैं। ग्रामवासियों के निजी संग्रह, विन्ध्यवासिनी देवी के मंदिर परिसर तथा वर्तमान धार्मिक स्थलों में कलाकृतियों का संग्रह देखने को मिलता है। उपरोक्त कलावशेषों के अवलोकन तथा अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यहां शैव, वैष्णव, शाक्त (देवी–योगिनी) तथा जैन–धर्म से सम्बन्धित मंदिरों तथा प्रतिमाओं का निर्माण गुप्तकाल, गुर्जर–प्रतीहार तथा परवर्ती शासकों के समय मे विशेष रूप से हुआ।

जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की आसनस्थ विशालकाय प्रतिमा आधुनिक तुमैन ग्राम के दक्षिण पूर्व बाह्य भाग में विद्यमान है। कतिपय मंदिर–स्तंभ इस प्रतिमा के समीप पड़े हैं। इस स्थान के समीप में दो स्थानक जैन–तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ तथा भवनों के अवशेष उत्खनन से मिले हैं। इसी उत्खनन खदान के पास से जैन–तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ध्यानमुद्रा में अवस्थित गजाभिषिक्त आसनस्थ प्रतिमा भी मिली है। मूर्तिकला के आधार पर इसका निर्माण काल ईस्वी 650 का माना गया है।

तुमैन से प्राप्त सबसे प्राचीन मूर्ति 'बलराम' की है। इसमें हल, मूसल–धारी बलराम स्थानक प्रदर्शित हैं। हल के ऊपर विशिष्ट प्रतीक रूप में लांगूल बना है। बलराम की विवेच्य प्रतिमा की वेशभूषा मथुरा की कुषाणकालीन प्रतिमाओं से साम्य रखती है। तुमैन में अब भी गुप्तकालीन मंदिर का प्रवेश–द्वार सुरक्षित है। इस द्वार की शाखाओं तथा सिरदल पर घट–पल्लव, मिथुन, अष्टमांगलिक चिन्ह आदि अंकित हैं। इस पर बनी हुई कतिपय पुरुष आकृतियाँ शको जैसी हैं।[7] परवर्ती कालों के मंदिर–द्वारों में गंगा–यमुना, कीर्तिमुख, विद्याधर, नागकन्या, लतावल्लरी तथा मंगलघट आदि के रोचक अंकन देखने को मिले हैं।

गुप्तकाल तथा परवर्ती कालों की अनेक पाषाण–कलाकृतियॉ तुमैन से प्राप्त हुई हैं, जो सौन्दर्य तथा मूर्ति–विज्ञान की दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं। इतनी अधिक संख्या में विविध प्रतिमाओं की उपलब्धि से इस बात की पुष्टि होती है कि तुमैन, पूर्व मध्यकाल में एक बड़े कला–केन्द्र के रूप में विख्यात था। देश के विभिन्न भागों में बनाये जाने वाले देवालयों के लिए बहुसंख्यक मूर्तियों की आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति तत्कालीन कलाकारों के विविध संगठनों द्वारा की गई। मध्यकाल में विविध धर्मों में समन्वय के प्रयास भी किये गये। विष्णु , शिव, सूर्य, देवी आदि के उपासकों की सुविधा के लिये समन्वित स्वरूप वाली कलाकृतियों का निर्माण होने लगा। सभी धर्मों के प्रति उदार भावना तथा मानव–कल्याण का विचार भारतीय मूर्तिकला में सन्निहित रहा है।

मध्यप्रदेश में प्रतीहार शैली के मंदिर अनेक स्थानों में विद्यमान हैं। बटेश्वर और अमरोल के मंदिर, महुवा का शिव मंदिर, टेहरी का मंदिर, तेली का मंदिर (ग्वालियर), इंदौर, (इन्द्रपुर, गुना) का शिव मंदिर , नचना का चतुर्मुख महादेव मंदिर, मढ़खेरा (टीकमगढ़) का सूर्य–मंदिर, पठारी (विदिशा) का कूटेश्वर मंदिर , ग्यारसपुर का मालादेवी मंदिर आदि मध्यप्रदेश की वास्तुकला के उत्कृष्ट प्रतीक है।[8]

मालवा के परमारवंशी नरेश यद्यपि शैव–धर्म के अनुयायी थे, परंतु उनके शासनकाल में वैष्णव–धर्म का भी अधिक प्रचार था। कन्नौज के गुर्जर नरेशों के काल में भी वैष्णव–धर्म का प्रसार रहा। ग्वालियर दुर्ग के निकट चतुर्भुज मंदिर में चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है। इसका निर्माण गुर्जर नरेश रामदेव के काल में सन् 875 में हुआ था।ईस्वी 1083 में कच्छपघात नरेश पद्मपाल द्वारा निर्मित पद्मनाथ का मंदिर है, जिसे अब 'सासबहू' का बड़ा मंदिर कहा जाता है। ग्वालियर में ही ईस्वी 9 वीं शती का निर्मित तैलंग मंदिर ,जिसका अपभ्रंश 'तेली का मंदिर' है, वैष्णव देवालय ही हैं। मालवा के परमार नरेशों के काल में भी शैव–धर्म एवं कला की अत्यधिक उन्नति हुई। इनके काल में निर्मित शैव देवालय उदयपुर तथा भोजपुर में विद्यमान हैं।[9]

तुमैन में गुप्तकाल के पश्चात् गुर्जर–प्रतीहार तथा परवर्ती शासकों द्वारा पूर्व निर्धारित प्रतिमा लक्षणों सहित विशिष्ट कलात्मक प्रतिमाओं का निर्माण कराया गया, जिनमें गुप्तकालीन कला की विशेषताओं का अनुकरण बहुलता से किया गया। इस प्रकार की कला का स्वरूप हमें ग्वालियर, तुमैन, बरूआ सागर, मढ़खेरा तथा कतिपय अन्य

स्थलों की कलाकृतियों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। ईस्वी छठी शती से 12वीं शती तक उत्तरी मालवा के विदिशा–ग्वालियर क्षेत्र के अन्तर्गत विविध कला–केन्द्रों, तुमैन, सुहानियॉ, पढ़ावली, इन्द्रपुर, टेहरी, ग्यारसपुर तथा बड़ोह–पठारी एवं कतिपय अन्य कलाकेन्द्रों में समन्वयात्मक स्वरूप परिलक्षित है। इस काल की शिल्पकला में अप्रतिम सौन्दर्य, शारीरिक सौष्ठव, शिल्प–संरचना तथा विकसित मूर्तिकला के लक्षणों का समावेश दिखायी देता है।

तुमैन में उपलब्ध प्रतिमाओं, कलावशेषों का समग्र रूप से विवेचन करना इस लघु लेख में सम्भव नहीं है, तथापि कतिपय महत्त्वपूर्ण एवं कलात्मक प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण देना युक्ति–संगत है। अध्ययन की दृष्टि से यहाँ की कला–राशि को निम्न भागों में विभक्त कर उन पर प्रकाश डालने का यत्किंचित प्रयास किया गया है।

(क) शैव–प्रतिमाएँ :–

1. चतुर्मुख शिवलिंग :– लिंगाकार पाषाण–खण्ड के ऊपरी भाग में चतुर्मुख शिव प्रदर्शित हैं, जिसके तीन ओर जटाजूट सहित शिव मुख तथा चौथी ओर देवी मुख है। समय, लगभग ईस्वी 8 वीं शती।

2. नटराज शिव (नटेश) :– नृत्य– मुद्रा में शिव की यह प्रतिमा छह भुजी है। मुख–मुद्रा में सौम्य भाव अंकित है। दायें ऊपर के हाथ में त्रिशूल ,मध्य का हाथ खण्डित है। नीचे के हाथ में डमरू है। बायीं ओर मध्य का हाथ नृत्य–मुद्रा में है तथा शेष हाथ खण्डित हैं। शिरोभाग के ऊपर अलंकृत केश, सज्जायुक्त जटाजूट, कर्णकुण्डल, गले में द्विलड़ी माला, बाजुओं में सर्पाभरण, कटिभाग में मेखला तथा अधोवस्त्र का कलात्मक समन्वय है। देव का दायाँ पैर ऊपर उठा हुआ खण्डित तथा बायाँ पैर नृत्य मुद्रा में थोड़ा ऊपर उठा है। नीचे दायें भाग में शिव का वाहन नन्दी बैठा प्रदर्शित है। समय, लगभग ई. द्वितीय शती है। उपरोक्त दोनों प्रतिमाएँ राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में प्रदर्शित हैं।

3. शिव :– (सं.सं. 72.45 स्थानक शिव की लघु प्रतिमा के शिरोभाग में मुक्ता गुंफित जटाजूट, कर्णकुण्डल, ग्रीवासूत्र, गैवेयक, यज्ञोपवीत, मुण्डमाल आदि दृष्टव्य हैं। मस्तक (ललाट) पर 'त्रिनेत्र' का अंकन है। इस प्रतिमा के हाथ तथा घुटनों के नीचे का भाग खण्डित है। समय लगभग ईस्वी 8 वीं शती।

4. दण्डधर शिव :– ऊपर दायें हाथ में त्रिशूल ,निचला अस्पष्ट, बायें दोनों हाथ खण्डित हैं। सिर के ऊपर अलंकृत जटामुकुट, वृत्ताकार सज्जित प्रभामण्डल, उपवीत, मेखला, सर्पाभरण आदि का रोचक समन्वय है। समय, ई. 10वीं शती माना गया है।

5. सहस्त्रमुख शिवलिंग :– लिंगाकार पाषाण–फलक पर सहस्त्र मुख–लिंग प्रदर्शित हैं। समय, ईस्वी लगभग 9वीं शती है। इसके अतिरिक्त कई अन्य शिवलिंग तुमैन के विविध स्थलों में संग्रहीत हैं।

6. गजासुर संहारक शिव :– (सं.सं.72.10) विवेच्य प्रतिमा के सभी हाथ तथा कटि से नीचे का भाग खण्डित है। मुख–मुद्रा से रौद्ररूप की अभिव्यक्ति होती है। शिरोभाग पर मणियों से गुंफित पाँच लड़ियों का जटामुकुट, त्रिनेत्र, चक्राकार तथा पुष्प–पत्र कर्णकुण्डल, उभय स्कन्धों तक लटकती जटायें, ग्रीवासूत्र, ग्रैवेयक, हाथों में सर्पाभरण, कण्ठ से उदर तक लटकती मुण्डमाल, उदर बंध आदि अलंकरणों का सुरुचिपूर्ण अंकन हैं। सामने की ओर गजमुख (असुर) दिखाया गया है। गज कर्ण तथा सूँड़ का कलात्मक प्रदर्शन है। समय, लगभग ई. 10वीं शती है। गजासुर–संहारक शिव की एक अन्य प्रतिमा यहॉ देखने को मिली है। जिसमें शिव को गजासुर का बध करते हुए संहारक मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है।

7. लकुलीश की सिरविहीन प्रतिमा :– (सं.सं. 72.25) इस प्रतिमा के हाथ खण्डित हैं। इसे सुविकसित प्रफुल्ल कमल पुष्प के ऊपर उत्कटासन में बैठे हुए दिखाया गया है। दोनों स्कन्धों के मध्य से जटायें नीचे लटकती परिलक्षित हैं। गले में दो लड़ियों की माला है। उभय चरणों के मध्य योग पट्ट तथा ऊर्ध्वाकार लिंग दृष्टव्य है। आसन के नीचे कमल पत्तों तथा पंखुड़ियों का कलात्मक समन्वय है। नीचे दोनों पार्श्वों में उपासक दिखाये गये हैं। समय, लगभग ई. 8 वीं शती है।

8. उमा–महेश्वर :– ललितासन में बैठे हुए उमा –महेश्वर की प्रतिमा में दोनों देव सुरुचिपूर्ण यथोचित

वस्त्राभरणों से सुसज्जित हैं। शिव का दायां पैर वाहन नन्दी की पीठ पर अवस्थित है। दूसरी ओर उमा का वाहन सिंह दृष्टव्य है। नीचे गणेश तथा पूजक है। समय, ई. 10वीं शती लगभग है।

9. उमा–महेश्वर :– (सं.सं. 72.17) एक अन्य उमा–महेश्वर प्रतिमा का चरण चौकी से नीचे का भाग अवशिष्ट है। चौकी के नीचे बैठे हुए नन्दी (खण्डित) को स्थूलकाय दिखाया गया है। उसके चारों पैर अन्दर की ओर मुड़े हैं। समीप ही गणेश की स्थानक लघु प्रतिमा तथा नंदी के ठीक पीछे मयूर पर आसीन कार्तिकेय दृष्टव्य हैं। इस प्रतिमा में मयूर का कलात्मक अंकन है। चरण चौकी के ऊपर देवी उमा का एक चरण अवशिष्ट हैं। समय, लगभग ई .6 शती है।

10. नृत्य गणेश :– (आर–312) नृत्य–मुद्रा में लंबोदर गणेश की सिर विहीन प्रतिमा मिली हैं। इसके हाथ खण्डित हैं। गले में चौड़ी पट्टी का ग्रैवेयक,उपवीत, वक्षबंध, मेखला तथा पैरों में नुपूर आदि हैं। समीप ही सिर पर घट रखे एक मानवाकृति आसनस्थ है। समय, लगभग ई. 7 वीं शती है।

तुमैन में नृत्य–गणेश की स्थानक मुद्रा में कई अन्य प्रतिमाएँ देखने को मिली हैं। एक प्रतिमा में एकदंत गणेश मोदक पात्र आदि लिये दृष्टव्य हैं। ये प्रतिमाऍं ई. 10–11 वीं शती की प्रतीत होती हैं।

(ख) वैष्णव–प्रतिमाएँ :

1. विश्वरूप विष्णु :– (72.8) विष्णु की आवक्ष प्रतिमा (खण्डित) के सिरेभाग के ऊपर बाह्य परिकर के मध्य योगनारायण, दशावतार तथा अन्य विविध देवताओं को वाहनों पर आरूढ़ तथा स्थानक देव प्रतिमाओं का सुरुचिपूर्ण अंकन है। विवेच्य प्रतिमा विष्णु के विराट् स्वरूप को प्रदर्शित करती है। प्रमुख देव के हाथों में चक्र, रक्षा–ढाल आदि आयुध अवशिष्ट हैं। शेष हाथ तथा मुख खण्डित हैं। समय, ई. 8 वीं शती हैं। (संप्रति यह प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय ,नई दिल्ली में है)।

2. योग–नारायण :– पुष्पित कमलासन पर ध्यान में निमग्न आसनस्थ चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा के ऊपर के दोनों हाथों में अस्पष्ट आयुध, कमल तथा चक्र हैं। नीचे का दाहिना हाथ वरद्मुद्रा में तथा बायें हाथ (खण्डित) में अक्षमाल है। कानों में कुण्डल, कण्ठ से घुटनों के मध्य लटकती हुई वनमाला आसन पर अवस्थित है। समय, लगभग 10वीं शती है।

3. दशावतार :– (आर–409) विष्णु प्रतिमा के ऊपरी परिकर में दशावतार, जिसमें कच्छप, मत्स्य, वराह, नृसिंह आदि का अंकन है। इसी प्रकार एक अन्य पाषाण फलक (विष्णु प्रतिमा के बाहरी परिकर) में मत्स्यावतार, वराह, गवाक्ष–पुरुष, विद्याधर युगल तथा अन्य सुरुचिपूर्ण कलात्मक अंकन है।

4. नृ–वराह :– (72.55) नृ–वराह की चतुर्भुजी लघु प्रतिमा आलीढ्य मुद्रा में है। दाहिने ऊपर के हाथ में गदा, नीचे का भाग कटि भाग पर अवस्थित, बायी ओर के ऊपर का हाथ (खण्डित) में चक्र तथा नीचे का हाथ खण्डित है। समय, ई.11 वीं शती है।

5. चतुर्भुज विष्णु :– स्थानक विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा की मुख–मुद्रा में सौम्य–भाव अंकित है। सिर पर किरीट मुकुट, कर्ण कुण्डल, वनमाला तथा विविध वस्त्रालंकरणों से युक्त दिखाया गया है। ऊपर के दोनों हाथों में क्रमशः गदा तथा चक्र है। नीचे का दाहिना हाथ वरद् मुद्रा में तथा बायें हाथ में शंख अस्पष्ट हैं। नीचे दोनों पार्श्वों में परिचारक तथा परिचारिका दृष्टव्य हैं। विवेच्य प्रतिमा का समग्र अलंकरण प्रभावोत्पादक है। ऊपरी भाग के दोनों पार्श्वों में आसनस्थ दो लघु–प्रतिमाऍं दृष्टव्य हैं। समय, ई.लगभग 10वीं शती है।

विष्णु की एक अन्य स्थानक प्रतिमा के शिरोभाग के पीछे अण्डाकार सादा प्रभा–मण्डल है। अन्य अलंकरण उपरोक्त प्रकार का है। समय, लगभग ईस्वी 11वीं शती है।

6. गरुड़ासीन विष्णु :– विवेच्य प्रतिमा चतुर्भुजी है। ऊपर के दोनों हाथों में क्रमशः शंख तथा चक्र है। नीचे का दायां हाथ वरद् मुद्रा में तथा बायाँ हाथ खण्डित है। नीचे वाहन गरुड़ का मानवाकार अंकन है। विवेच्य प्रतिमा यथोचित वस्त्रालंकरणों से सुसज्जित है। समय, ई. 10वीं शती है।

7. बलराम :– (72.16) तुमैन से प्राप्त बलराम की विवेच्य प्रतिमा विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस स्थल से प्राप्त यह सबसे प्राचीन मूर्ति है। इसमें हल–मूसलधारी बलराम को स्थानक प्रदर्शित किया है। बाह्य पार्श्वों में सर्पाकार अंकन है। बलराम की विवेच्य प्रतिमा की वेशभूषा मथुरा की कुषाण कालीन प्रतिमाओं से साम्य रखती है। समय, ई.पू. प्रथम शती है।

बलराम की एक अन्य प्रतिमा तुमैन ग्राम के पश्चिम में नदी तट पर एक ऊँचे चबूतरे के मध्य स्थापित है। हल मूसलधारी बलराम की विवेच्य प्रतिमा स्थानक है। निर्माणकला के आधार पर इसे ई. प्रथम शती के लगभग का माना जा सकता है।

8. त्रिदेव :– एक पाषाण फलक पर स्थानक मुद्रा में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को एक साथ दिखाया गया है। नीचे सम्बन्धित देवों के वाहन दृष्टव्य हैं। समय, 11वीं शती ई. है।

(ग) देवी प्रतिमाएँ

1. सप्तमा तृका :– (आर. 366) एक शिलापट्ट पर सप्तमातृकाओं का सुरुचिपूर्ण अंकन है। सम्बन्धित मातृकाओं के वाहन नीचे दृष्टव्य है। समय ई. चौथी शती लगभग है।

2. पार्वती :– चतुर्भुजी देवी पार्वती की स्थानक प्रतिमा है। ऊपर के दोनों हाथों में क्रमशः शिव–लिंग तथा गणेश दृष्टव्य हैं। पीछे अलंकृत प्रभामण्डल है। जटा–मुकुट, कर्ण–कुण्डल, त्रिवली, केयूर, कंकण नूपुर आदि आभरणों का सुरुचिपूर्ण अंकन है। नीचे दोनों पार्श्वों में क्रमशः नन्दी तथा देवी का वाहन सिंह तथा परिचारिकाएँ हैं। देवी के नीचे के दोनों हाथ परिचारिकाओं के ऊपर अवस्थित हैं। समय, लगभग ई. 10वीं शती है।

पार्वती की एक अन्य आवक्ष प्रतिमा विशेष महत्त्वपूर्ण एवं कलात्मक है। सिर पर जटायुक्त अलंकृत केश–विन्यास, सौम्य मुख–मुद्रा तथा केश राशि दोनों स्कन्धों के ऊपर लटकती दृष्टव्य है। ग्रीवासूत्र, स्तनसूत्र आदि आभूषण कलात्मक ढंग से दिखलाये गये हैं। देवी के हाथ खण्डित हैं। समय, लगभग ई. 9वीं शती है।

3. माहेश्वरी :– प्रस्तर खण्ड के एक भाग में ललितासन में बैठी हुई, चतुर्भुजी देवी प्रतिमा, जिसमें सिरोभाग के ऊपर ऊर्ध्वाकार जटामुकुट, सौम्य मुख–मुद्रा, कर्ण कुण्डल ग्रैवेयक, स्तनहार, कंकण, केयूर, नुपूर, कटिमेखला, उरुद्दाम आदि का रोचक अंकन है। ऊपर के दोनों हाथों में कमल–कलिका, नीचे दाये हाथ में बीजपूरक तथा बायें हाथ में घट है। आसन–चौकी के नीचे सिंह मुखाकृति दृष्टव्य है। देवी का दाहिना पैर कमल–पुष्प पर अवस्थित है। फलक के ऊपरी भाग में एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है। समय, ईस्वी 10वीं–11वीं शती लगभग है।

4. कौमारी :– कार्तिकेय की शक्ति कौमारी की एक द्विभुजी प्रतिमा उल्लेखनीय है। देवी के शिरोभाग के पीछे सादा प्रभामण्डल है। घिसावट के कारण मुखमुद्रा अस्पष्ट, अपितु सौम्यभाव परिलक्षित है। सिर पर जटा–मुकुट, गोलाकार बड़े कर्ण कुण्डल, एकावली तथा उन्नत उरोजों का प्रदर्शन हैं। दाहिने हाथ में अस्पष्ट आयुध तथा बायाँ हाथ पैर के घुटने पर अवस्थित है, जिससे वाहन मयूर के मुख को पकड़े हैं। पैरों में नूपुर तथा कड़े अंकित हैं। देवी के वाहन मयूर का स्पष्ट अंकन है। समय ई. छठी शती है।

5. गंगा–यमुना :– मंदिर द्वारा–स्तम्भों पर अंकित सरिता देवी गंगा तथा यमुना की अनेक प्रतिमाएँ हाथों में मंगलघट लिये सम्बन्धित वाहनों, मकर तथा कच्छप पर आरूढ़ दिखाई गई हैं। इनके साथ छत्रवाहिका का कलात्मक अंकन देखने को मिलता है। इस क्षेत्र में गंगा–युमना की द्विभंग–मुद्रा में कई अन्य प्रतिमाएँ देखने को मिली हैं, जो गुप्तकाल तथा परवर्ती कालों से सम्बन्धित हैं।

6. योगिनी :– योगिनियों की दो प्रतिमाओं के अधोभाग मिले हैं। एक प्रतिमा के बायें हाथ में कटार है तथा नीचे दाहिनी ओर वाहन (पशु) दृष्टव्य है। समय, ई. 11वीं शती लगभग है।

7. चामुण्डा :– (कंकाली) हाथों में कटार, प्रज्ज्वलित अग्निपात्र, कटा हुआ नरमुण्ड आदि लिये चामुण्डा देवी की प्रतिमा महत्त्वपूर्ण है। उनकी मुखमुद्रा से भयावह (क्रूर) स्वरूप का बोध होता है। सिर के ऊपर केश–सज्जा के साथ नरमुण्ड गुम्फित है। शिरोभाग के पीछे कमल पंखुड़ियों से आवृत्त अलंकृत प्रभामण्डल है। कण्ठ से घुटनों

तक लटकती हुई नरमुण्डों की माला तथा दोनों पैर नृत्यमुद्रा में ऊपर उठे हुए हैं। शारीरिक संरचना को अस्थिपंजर आरेखन द्वारा उकेर कर अंकित किया गया है। समय, लगभग ई. 11वीं शती है।

8. महिषासुर मर्दिनी :– (72,24) विवेच्य प्रतिमा का अधोभाग अवशिष्ट है। देवी का दाहिना पैर महिष (राक्षस) की पीठ पर अवस्थित है तथा बायां पैर नीचे चौकी पर समभंग स्थित है। महिष के पीछे के भाग में देवी का वाहन सिंह मुख से प्रहार करते हुए दिखाया गया है। कटा हुआ महिष का सिर नीचे मध्य भाग में पड़ा है। महिष की पीठ पर देवी त्रिशूल से प्रहार कर रही हैं। देवी का अवशिष्ट अधोभाग अलंकृत है। महिष का अगला पैर (बांया) देवी के बायें पैर से दबा है। महिषासुर वध कथानक को कला के माध्यम से रूपायित करने का यह सफल प्रयास है। समय, ई.10वीं शती लगभग है।

(घ) अन्य प्रतिमाएँ:–

1. इन्द्र–इन्द्राणी :– स्थानक मुद्रा में द्विभंग इन्द्र तथा इन्द्राणी को विविध वस्त्रालंकरणों से सुसज्जित दिखाया गया है। नीचे दायें भाग में वाहन हाथी (गज) का अंकन है। समय ई. 10वीं शती है।

2. सूर्य :– दोनों हाथों में कमल पुष्प लिये हुये सूर्य की स्थानक प्रतिमा है। शिरोभाग के पीछे सादा (खण्डित) प्रभामण्डल है। गले से नीचे तक लटकती पुष्प–माला तथा अन्य अलंकरण कलात्मक है, समय, ईस्वी 11 वीं शती लगभग है।

3. सर्वतोभद्र :– एक पाषाण फलक पर तीन ओर देव–प्रतिमाएँ तथा चौथी ओर देवी–प्रतिमा है, जो स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित है। समय, ई. 8वीं शती का आरम्भ है।

4. नाग–प्रतिमा :– (72.7) स्थानक द्विभुजी नाग प्रतिमा के शिरोभाग के ऊपर पंचफणयुक्त सर्प छत्र है। विवेच्य प्रतिमा को मुकुट, कुण्डल, एकावली, केयूर, हस्तवलय आदि आभूषणों से सुसज्जित दिखाया गया है। मुखमुद्रा में सौम्य भाव परिलक्षित है। उसके दाहिने हाथ में प्याला है, जो वक्ष के ऊपर अवस्थित है तथा बायाँ हाथ खण्डित है। दोनों बाह्य पार्श्वों में सर्पाकार अंकन है। समय ई. 10वीं शती है।

5. नाग–नागी :– (72.18) एक पाषाण फलक पर स्थानक मुद्रा में नाग–नागी युगल का रोचक अंकन है। दोनों यथोचित वस्त्रालंकरणों से सुसज्जित दिखाये गये हैं। नागराज का दाहिना हाथ खण्डित तथा बायें हाथ में सुरापात्र है। नागी का दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ है जिसमें सनाल कमल है तथा बायें हाथ से उत्तरीय संभाले हैं। समय, लगभग ई. 10वीं शती है।

6. कुबेर :– अलंकृत सज्जा–पट्टिका के मध्य भाग में प्रफुल्ल कमल पुष्प के ऊपर ललितासन में आसीन ध ान देवता कुबेर की विवेच्य प्रतिमा कलात्मक है। उनकी मुखमुद्रा में शांत भाव अंकित है। अलंकृत केश–विन्यास, कर्ण–कुण्डल, गले में एकावली है। उनके दाहिने हाथ में प्याला तथा बायें हाथ में धन की थैली है। सज्जा–पट्टिका के बाह्य मध्य भाग में सुविकसित कमल पुष्पों का अंकन है। समय, ई. छठीं शती लगभग है।

उपरोक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त तुमैन ग्राम में रेवन्त, सकटोद्धार दृश्य, द्वादशादित्य, दिक्पाल, नवग्रह, नागी, मातृका, मिथुन–युगल, विद्याधर, सुरसुन्दरियाँ, परिचारिकायें, शैवोपासक, आचार्य, भारवाहक, गजशार्दूल तथा अन्य देवी–देवताओं की प्रतिमाएँ एवं कलावशेष संग्रहीत हैं, जो मूर्तिकला की दृष्टि से अनुपम कृतियाँ कही जा सकती है।

(च) वास्तु कलावशेष

वैदिक देवी–देवताओं की विविध प्रतिमाओं के अतिरिक्त तुमैन में वास्तु–कलावशेषों का बाहुल्य है, जिससे इस कथन की पुष्टि होती है कि यहाँ विविध कालों में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। इन कलावशेषों में कतिपय महत्त्वपूर्ण हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

1. मंदिर में प्रयुक्त गवाक्ष, जिसके मध्य भाग में गवाक्ष पुरुष (मैडालियन), पुष्प–पत्तियों का अलंकरण तथा क्रास बने हैं।

2. एक कलात्मक स्तम्भ के मध्य भाग में पद्मासन में आसीन लक्ष्मी का अंकन है। विवेच्य प्रतिमा का अभिषेक करते हुए, घट लिये दो गजों का अंकन है। इसी फलक में पूजक–युगल, नृत्यांगनायें, वादकगण, नागकन्या, कीर्तिमुख आदि का कलात्मक समन्वय है।

3. मंगलघट, कीर्तिमुख, लतावल्लरी, शिखर आदि के अंकनों सहित कलात्मक स्तम्भों के विविध अवशेष हैं।

4. पाषाण–सज्जा पट्टिका, जिसके मध्य भाग में दो मयूरों का अंकन है। एक मयूर को मुख से मुक्ता विसर्जित करते हुये तथा दूसरे को चुगते हुए अधोमुख दिखाया गया है। दोनों बाह्य पाश्वों में चैत्याकार अंकन है।

5. मंदिर द्वार–स्तम्भ का नीचे का भाग, जिसमें आकर्षक भाव–भंगिमाओं सहित द्विभंग मुद्रा में गंगा की प्रतिमा है, जिसके दायें पार्श्व में परिचारिका दृष्टव्य है। नीचे वाहन 'मकर', कल्पवल्ली, नागकन्या आदि विविध दृश्यों का कलात्मक अंकन है। इसी प्रकार अन्य पाषाण फलकों पर यमुना का समान अंकन है। उन्हें कच्छप पर आरूढ़ दिखाया गया है। फलक के ऊपरी भाग में मंगलघट, कल्पवल्ली, कीर्तिमुख, नागकन्या आदि का अंकन है। कतिपय अन्य द्वार–स्तम्भों पर मिथुन युगल, मंगलघट, पुष्प–पत्रावली, कीर्तिमुख तथा मयूर पंख के समान लतावल्लरी का अंकन देखने को मिलता है। इस प्रकार के कलात्मक वास्तु–खण्डों का उपयोग मंदिर–सज्जा में किया गया है। ये सभी अवशेष गुप्तकाल से लेकर ई. 12वीं शती तक के हैं।

(छ) जैन तीर्थंकर प्रतिमाएँ :–

तुमैन ग्राम के आसपास के क्षेत्र से जैन तीर्थंकरों की कई कलात्मक प्रतिमाएँ आसनस्थ, स्थानक तथा कायोत्सर्ग मुद्रा में देखने को मिली हैं। कतिपय तीर्थंकर प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है।

1. पार्श्वनाथ : (72.1) पद्मासन में बैठे हुये ध्यानस्थ जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर पर कुंचित केश हैं। सिरोभाग के पीछे सप्तफणयुक्त छत्र दृष्टव्य है। सौम्यमुख मुद्रा, लम्बवत् कर्ण तथा वक्षः स्थल के मध्य में 'श्रीवत्स' का अंकन है। मध्य भाग के दोनों पार्श्वो में सनाल कमल–पुष्प सूंढ़ से दबाये गजों का अंकन है। देव के उभय–चरणों के मध्य में 'पद्म' उत्कीर्ण है। ऊपरी भाग के दायें ओर का गज खण्डित तथा बायें भाग में गज का स्पष्ट अंकन है। विवेच्य प्रतिमा का शारीरिक सौष्ठव तथा समग्र कलात्मक अंकन प्रभावोत्पादक है। चरण चौकी के मध्य भाग में 'चक्र' प्रदर्शित है। नीचे दोनों पाश्वों में सिंह आकृतियाँ हैं। समय, ई. 650 लगभग है।

2. जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ : (72.2) पार्श्वनाथ प्रतिमा का ऊपरी भाग अवशिष्ट है। सिरोभाग के ऊपर दस पंक्तियों वाला मणिवृत्त युक्त कुंचित केश, लंबवत्कर्ण तथा सिर के ऊपर सर्प छत्र है। छत्र के ऊपर दुंदुभिक का अंकन है। दोनों पार्श्वो में हाथों में माला लिये विद्याधर युगल, अन्य कलात्मक अलंकरण तथा गजों का अंकन है। मध्य भाग के दोनों पाश्वों में परिचारिकाओं सहित ध्यानस्थ अन्य तीर्थंकर दृष्टव्य हैं।

3. जैन तीर्थंकर : कायोत्सर्ग मुद्रा, 6 पक्तियों से गुंफित केश, सौम्य मुख–मुद्रा, लंबवत्कर्ण पीछे अण्डाकार सादा प्रभामण्डल, ऊपर त्रिछत्र, दुंदुभिक, गजाभिषेक, विद्याधर युगल, श्रीवत्स चिन्ह हैं। प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित हैं। दोनों पार्श्वो में स्थानक एवं ध्यानस्थ अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएँ, बाह्य परिकर में दृष्टव्य हैं, जिसे 'चौबीसी जैन तीर्थंकर पट्ट' कहा गया है। मध्य के दोनों पार्श्वो में सौधर्मेन्द्र तथा धरणीधर परिचारक रूप में चंवरी लिये हुए स्थानक दृष्टव्य हैं। मुख्य प्रतिमा का उभय चरणों से नीचे का भाग खण्डित हैं। समय ई. 10वीं शती लगभग है।

4. जैन–तीर्थंकर की आसन पीठिका : (72:81) जिसके मध्य में चक्र तथा दोनों पार्श्वो में बैठे हुये हरिण। उभय बाह्य पार्श्वों में एक–एक सिंह आकृतियाँ हैं। आसन चौकी के ऊपर तथा नीचे का भाग कमल पंखुड़ियों तथा लताबल्लरी से अलंकृत है। समय, ई. 12वीं शती है।

5. जैन–तीर्थंकर महावीर : महावीर स्वामी जैन–धर्म के 24वें तीर्थंकर हैं। महावीर की एक आसनस्थ प्रतिमा तुमैन में देखने को मिली है, जो विशालकाय है। प्रतिमा के शिरोभाग के ऊपर कुंचित केश, लम्बवत् कर्ण, श्रीवत्स चिन्ह आदि का अंकन है। चरण चौकी से नीचे का भाग खडित है। 'बैठादेव' स्थानीय नाम से अभिहित विवेच्य प्रतिमा के आसपास जैन मन्दिर के अवशेष पड़े हैं। समय, ई.10वीं शती लगभग है।

उपरोक्त समग्र विवरण से ज्ञात होता है कि तुमैन नगर तथा उसके समीपवर्ती विविध स्थलों के प्राचीन स्मारकों, मंदिरों, शिल्पावशेषों तथा संग्रहीत विविध कलाकृतियों की कलागत विशेषताओं, लक्षणों सहित सांगोपांग अध्ययन तथा विवेचन नितान्त आवश्यक है। तुमैन ग्राम के विविध स्थलों में गुप्तकाल तथा परवर्ती कालों से सम्बन्धित शैव, वैष्णव, शाक्त तथा जैन–धर्मों से सम्बन्धित पाषाण कलाकृतियों तथा मंदिर अवशेषों का प्रचुर संग्रह है, जिन पर तत्कालीन कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव जगत की सौन्दर्य राशि का रोचक चित्रण प्रस्तुत किया है। कतिपय पाषाण–स्तम्भों पर लता–पुष्प तथा श्रृंगार एवं सौन्दर्य का सजीव कलात्मक अंकन मिलता है। उपरोक्त कलावशेष धार्मिक इतिहास के साथ–साथ क्षेत्रीय लाक्षणिक विशेषताओं तथा ललित कला के बहुविध अंकनों सहित धार्मिक तथा लौकिक तत्त्वों से अभिभूत है। जिनका समन्वयात्मक विकास मध्यकालीन कला के उन्नयन में विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ के शिल्प–विधान में गुप्त, प्रतिहार तथा परवर्ती कला–शैलियों का सुविकसित स्वरूप देखने को मिलता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विवेच्य क्षेत्र अपने वैभवकाल में निःसन्देह सांस्कृतिक परम्परा एवं राजनीतिक गतिविधियों का उल्लेखनीय केन्द्र रहा है।

संदर्भ सूची

1 'ओर' का प्राचीन नाम 'उर्वशी' है और उसके कांठे के क्षेत्र को 'तुम्बवन' कहा जाता था। द्विवेदी, हरिहर निवास (सम्पादक) : ग्वालियर–दर्शन, ग्वालियर।

2 वाजपेयी, कृष्णदत्त : ऐतिहासिक नगर तुमैन (1972–74), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय ,पृ. 1–4;।

2 (अ) द्विवेदी, हरिहर निवास (प्रधान सम्पादक): ग्वालियर दर्शन (मनीषा), जीवाजी वि.वि. ग्वालियर, (शोध–संस्थान), 1980।

2 (ब) वाजपेयी, के.डी. तथा पाण्डेय, एस.के. :एक्सकेवेशंस एट तुमैन, भोपाल, 1985।

3. वाजपेयी, कृष्णदत्त :म.प्र. का प्राचीन नगर तुमैन, म.प्र. संदेश, 15 जून, 1974 ,पृ. 11–14।

4. नाहटा, अगरचन्द : म.प्र. के महान जैनाचार्य वज्रस्वामी, म.प्र संदेश 1 एवं 8 फरवरी, 1975,पृ. 11–12।

5. पाण्डेय, एस.के. : द परमार आर्ट एण्ड तुमैन, आर्ट ऑफ परमाराज आफ़ मालवा (सम्पादक : प्रो. आर.के. शर्मा) आगम प्रकाशन, दिल्ली, 1978।

6. यह सिक्के चाह्मान अजयदेव के न होकर अजयदेव कच्छपघात या प्रतीहार के हैं, जिसके लेख गंगोलाताल में मिले हैं। द्विवेदी, हरिहर निवास (सम्पादक) : ग्वालियर–दर्शन, ग्वालियर।

7. यह मन्दिर शकों ने ही बनवाया था। द्विवेदी, हरिहर निवास (सम्पादक) : ग्वालियर–दर्शन, ग्वालियर।

(डॉ. कृष्ण कुमार त्रिपाठी)
से.नि. रीडर एवं विभागाध्यक्ष, प्रा.भा.इ.सं.एवं पुरातत्त्व
इं.क.सं.वि.वि. खैरागढ़ (छ.ग.)

●●●

नवअन्वेषित पुरापाषाणिक पुरास्थल सिंगारघाट, : एक प्रारंभिक अध्ययन

ललिता लहरी

हेमन्त कुमार वैष्णव (छ.ग.)

यह शोधपत्र नव अन्वेषित पुरापाषाणिक स्थल सिंगारघाट (जिला–राजनांदगांव) के प्रारंभिक अवलोकन पर आधारित है। सिंगारघाट पुरास्थल, सिंगारघाट–आमदानी सड़क मार्ग के दाई ओर एवं देवरी नाला के दक्षिण में स्थिल है। कई छोटी–छोटी बरसाती नालियाँ इस पुरास्थल को काट रही है, देवरी नाला आगे जाकर मुस्का नाला में समाहित होती है। मुस्का नाला, आमनेर नदी की सहायक नदी है जो शिवनाथ नदी के पश्चिमी भूभाग में प्रवाहित होती है। सिंगारघाट से प्रारंभिक अश्युलिन एवं उत्तर अश्युलिन संस्कृति के उपकरणों की प्राप्ति हो रही है। हैण्डएक्स, क्लीवर, मिनी हैंडएक्स, स्क्रैपर, बोरर, पॉइंट एवं पुनर्गढ़ित फ्लेक आदि उपकरण अलग–अलग प्रकार के भूक्षेत्र से प्राप्त हो रहे हैं जिनके आधार पर पुरास्थ्ल को तीन अवस्थितियों में विभाजित किया गया है। पुरापाषाणिक स्थल सिंगारघाट पर प्रारंभिक विवरण प्रस्तुत करना इस शोधपत्र का उद्देश्य है।

आदिकाल से मानव पाषाण का उपयोग उपकरण के रूप में करते आ रहे हैं। पाषाण पिंडों पर गढ़न करने उन्हें उपकरण का स्वरूप देना मानव ने सीख लिया था। पाषाण उपकरण उनकी दिनचर्या का महत्वपूर्ण अंग बन गया। शिकार, भोजन संग्रहण करने में वह इन पाषाण उपकरणों का बहुलता से उपयोग करने लगा। पाषाण पिंडों को और अधिक घातक एवं तीक्ष्ण बनाने के लिए उसने पाषाण उपकरण निर्माण तकनीकी का आविष्कार किया। पाषाण उपकरण निर्माण पद्धति के द्वारा आदिमानव विभिन्न आकार–प्रकार के उपकरणों का निर्माण करने लगा। प्रागैतिहासिक पाषाण उपकरणों को उनके आकार–प्रकार एवं निर्माण तकनीकी विशेषताओं के आधार पर विभिन्न तकनीकी परंपराओं में विभाजित किया है जैसे : अश्युलिन, बोरर–स्क्रेपर, ब्लेड–ब्यूरिन, माइक्रोलिथ एवं पॉलिशदार आदि उपकरण परंपरा। अश्युलिन उपकरणों को तकनीकी विषमताओं एवं कालक्रम के आधार पर प्रारंभिक एवं उत्तर अश्युलिन संस्कृति में विभाजित किया गया है। प्रारंभिक अश्युलिन उपकरणों का निर्माण कोर पर किया जाता था एवं उनके निर्माण में बड़े फ्लैक निकाले जाते थे, किंतु उत्तर अश्युलिन उपकरणों का निर्माण फ्लैक पर किया जाता था तथा फ्लैक आकार भी प्रारंभिक अश्युलिन उपकरणों की तुलना में आकार में छोटे होते थे।[1] भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वप्रथम पाषाण उपकरण की खोज सन् 1863 ईस्वी में रॉबर्ड ब्रुसफुट द्वारा पल्लवरम में की गई थी। इसके उपरांत भारतीय उपमहाद्वीप में प्रागैहासिक पुरास्थलों का अन्वेषण प्रारंभ हो गया। छत्तीसगढ़ भी इससे अछूता न रह सका, विद्वानों एवं शोधार्थियों द्वारा पुरापाषाणिक साक्ष्य छत्तीसगढ़ के विभिन्न पुरास्थलो से उपकरणों के रूप में प्राप्त होते रहे हैं। श्री ए. पी. शर्मा[2], श्री आर. वी. जोशी, जी. एल. बादाम एवं आर. पी. पांडेय[3], पी. बी. सेंगर, ए. के. शर्मा[4], वी. एन. मिश्रा एवं एम. लेइ[5], आर. पी. पांडेय[6], वी. डी. झा एवं के. के. त्रिपाठी[7], ए. के. शर्मा[8], एल. एस. राव[9], भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग, रायपुर मण्डल[10], अतुल कुमार प्रधान एवं शंभूनाथ यादव[11] के द्वारा किये गये अन्वेषण कार्यों के फलस्वरूप छत्तीसगढ़ में बस्तर, सरगुजा, रायगढ़, बलौदाबाजार आदि स्थानों एवं उत्तर महानदी, शिवनाथ, इंद्रावती एवं सहायक नदियों के अन्वेषणो से निम्न पुरापाषाण काल, मध्यपुरापाषाण एवं उच्च पुरापाषाण स्थल प्रकाश में आये हैं।

भू–संरचना एवं भू–आकृति :

सिंगारघाट की भू–स्थिति 21026'51.00''छ; 80053'35.00''म, समुद्र तल से ऊँचाई 388–348 मी. एवं भारतीय सर्वेक्षण विभाग के टोपोशीट क्र. 64ब/15 के अन्तर्गत आता है। यह पुरास्थल छोटी झाड़ियों के समूहों से घिरा हुआ है। पुरास्थल के पूर्वी भाग में छोटी–छोटी बरसाती नालियाँ बहती है, जिनके द्वारा सतह को काटकर सेक्शन का निर्माण हो रहा है। इन्हीं सेक्शन से पाषाण उपकरण फंसे मिल रहे हैं। यह छोटी जलधाराएँ आगे जाकर देवरी नाला में मिल जाती है, देवरी नाला का उद्‌गम मेकल श्रेणी की पहाड़ियों से हुआ है, देवरी नाला मुस्का में जाकर अपना जल उढ़ेल देती है। मुस्का नाला आमनेर नदी की सहायक नदी है। आमनेर नदी शिवनाथ की मुख्य सहायक नदी में एक है, जो शिवनाथ बेसिन के पश्चिमी भाग तक विस्तृत हैं। सिंगारघाट पुरास्थल नदी पश्चिम की ओर 06 कि. मी. की दूरी पर छोटी–छोटी पहाड़ी श्रृंखलाएँ स्थित है, जो मेकल श्रेणी के दक्षिणी भाग का हिस्सा है। पुरास्थल के पूर्वी भाग पर कृषि कार्य किया जा रहा है तथा कुछ भाग वन विभाग द्वारा संरक्षित है। यह क्षेत्र डोंगरगढ़ सुपरग्रुप्स चट्टानों के अंतर्गत आता है, जिनमें मुख्य रूप से खैरागढ़ ग्रुप, चिल्पी ग्रुप एवं नांदगांव ग्रुप शामिल हैं। इस क्षेत्र में लाल मिट्टी का जमाव है, कहीं–कहीं सतह पर मूल चट्टानें दृष्टव्य है। क्षेत्र में मुख्यतः ग्रेनाइट, क्वार्ट्ज, क्वार्ट्जाइट, शेल, एण्डेसाइट व रायोलाइट आदि प्रकार के रॉ मटेरियल उपलब्ध हैं, जिन पर प्रागैतिहासिक काल के उपकरणों का निर्माण किया जाता था।

सिंगारघाट पुरास्थल :

यह पुरास्थल सिंगारघाट–आमदानी सड़क मार्ग के दाईं ओर स्थित है। पुरास्थल सिंगारघाट खैरागढ़ तहसील, (जिला–राजनांदगांव) के अंतर्गत आता है, जिला मुख्यालय से इसकी दूरी 51 कि.मी. है। इस पुरास्थल से अश्युलिन परंपरा के उपकरणों की प्राप्ति हो रही है, जो अलग–अलग स्तरित जमाव से उजागर हो रही है। बरसाती नालों के सेक्शन में पाषाण अवशेष फंसे हुए मिल रहे हैं। कुछ उपकरण सतह पर एवं कुछ जलधाराओं के किनारों पर बिखरे हुए हैं। इन्हीं भू–विविधता एवं उपकरणों की प्राप्ति के आधार पर पुरास्थल को तीन अवस्थितियों (स्वबंसपजपमे) में विभाजित किया गया है, जो इस आधार इस प्रकार है–

Localities 1 कैल्क्रीट युक्त लाल कंकड़ीली मिट्टी से आच्छादित है। बारिश के कारण सतह पर अपरदन हो रहा है। इस स्थल से मुख्यतः मध्य पुरापाषाणिक उपकरण बोरर, स्क्रेपर के साथ छोटे आकार के हैण्डएक्स मिले हैं। लगभग सभी उपकरण फ्लैक पर निर्मित है।

Localities 2 बरसाती जलधाराओं पर कोबल–पेबल का जमाव है, इन्हीं छोटे नालियों के किनारों पर हमें मिश्रित पुरापाषाणिक संस्कृति के उपकरण प्राप्त हो रहे हैं, जिनमें हैडएक्स, क्लीवर, फ्लेक एवं स्टोन हैमर उपकरण प्राप्त हुए हैं जो फ्लैक एवं कोर दोनों पर निर्मित है।

Localities 3 छोटी झाड़ियों के नीचे लाल–पीली मिट्टी की सतह से पुरापाषाणिक उपकरणों का संकलन किया गया है। इस क्षेत्र से भी मिश्रित संस्कृति के उपकरणों की प्राप्ति हो रहे हैं, जिनमें मुख्य रूप से बड़े आकार के हैंडएक्स, सामान्य आकार के हैडएक्स, क्लीवर, अर्धनिर्मित हैंडेक्स एवं पुनर्गढ़ित फ्लेक आदि उपकरणों की प्राप्ति हुई है।

उपकरण संग्रहण :

पुरास्थल सिंगारघाट से प्राप्त पुरापाषाणिक उपकरण लाल कंकड़ीली मिट्टी, कैलक्रीट युक्त लाल मिट्टी के साथ एवं बरसाती नालों के सेक्शन के किनारों पर बिखरे हुए मिले रहे हैं। सिंगारघाट से कुल 63 पुरापाषाणिक उपकरणों का संकलन शोध कार्य के लिए किया गया है, इनमें कुल 23 हैंडएक्स, 5 क्लीवर, 5 स्क्रेपर (4 राउंड एवं 1 इंड स्क्रैपर), 1 बोरर, 5 कोर, 19 फ्लेक (4 पुनर्गढ़ित, 1 नोच्ड एवं 14 अनगढ़ित), 1 राउंड स्टोन हैमर, 1 पॉइंट्स एवं 2 छतिग्रस्त उपकरण मिले हैं, जिनका केवल बट का भाग ही सुरक्षित है, जिनकी पहचान कर पाना कठिन है। प्रारंभिक अवलोकन एवं संकलित उपकरणों के आंकड़ों से यह स्पष्ट हो रहा है कि सिंगारघाट में मुख्य रूप से

अश्युलिन परंपरा के उपकरणों की अधिकता है। ये उपकरण कोर तथा फ्लैक दोनों पर निर्मित है, इन उपकरणों में विविधता देखी जा सकती है। सबसे बड़े हैंडएक्स की अधिकतम लंबाई 231 से.मी. एवं सबसे छोटे आकार के हैंडएक्स की लंबाई न्यूनतम 97 से.मी. है तथा इनका आकार बादाम एवं नाशपति जैसा है। अश्युलियन उपकरणों के साथ बोरर–स्क्रेपर परंपरा के उपकरण भी सिंगारघाट से ज्ञात हुए है। विविधता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिंगारघाट में अश्युलियन, बोरर–स्क्रेपर एवं इन दोनों कालक्रम के मध्य एक संक्रमण काल स्थित रहा होगा।

अवलोकन :

यह पेपर प्राथमिक अवलोकन की दृष्टि से तैयार किया गया है, जिसका ध्येय सिंगारघाट के पुरास्थल का प्रारंभिक अवलोकन करना है। उपकरणों के संकलन से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सिंगारघाट पुरामानवों की शरणस्थली रही होगी। इस पुरास्थल से अश्युलियन, बोरर–स्क्रेपर, पुनर्गढ़ित फ्लेक आदि उपकरणों की विविधता के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिंगारघाट एक से अधिक संस्कृति के पुरामानवों का विचरण क्षेत्र रहा होगा। यह आदिम पुरावशेषों से संपन्न है अतः इस क्षेत्र में गहन सर्वेक्षण एवं शोध की आवश्यकता है।

संदर्भ :

1. भट्टाचार्य, डी,के, भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा, वीरेन्द्र पाण्डेय (अनुवादक), मानवषास्त्र विभाग, दिल्ली विष्वविद्यालय, 2011, पृ.53 ।
2. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1976–77, 1980, पृ. 76 ।
3. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1977–78, 1980, पृ. 31 ।
4. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1979–80, 1983, पृ. 36–39 ।
5. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1982–83, 1985, पृ. 36 ।
6. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1982–83, 1985, पृ. 37–38 ।
7. इंडियन आर्कियोलाजी–ए रिव्यू, 1984–85, 1987, पृ. 39–40 ।
8. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1992–93, 1997, पृ. 53–54 ।
9. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 1992–93, 1997, पृ. 55 ।
10. इंडियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यू, 2012–13, 2015, पृ. 20–24 ।
11. प्रधान, अतुल कुमार एवं यादव, शंभूनाथ 'छत्तीसगढ़ का प्रागैतिहासिक अध्ययन–एक पुनरावलोकन', कोसल, अंक–6 (2013), संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर, पृ. 35–37।

Locality 1 का सामान्य दृश्य

Locality 1 से ज्ञात हैण्डएक्स

Locality 2 से ज्ञात उत्तर अश्युलियन हैण्डएक्स

सिंगारघाट से ज्ञात अश्युलियन उपकरण

शोध छात्र,
प्रा.भा.इ., सं एवं पुरातत्व अध्ययन शाला
इं.गाँ. रा. जनजातीय वि.वि. अमरकंटक

•••

खैरागढ़ क्षेत्र से प्राप्त लज्जा–गौरी की अद्‌भुत प्रतिमा

डॉ. मंगलानंद झा

खैरागढ़ राज से लज्जा–गौरी की अद्‌भुत प्रतिमा प्राप्त हुई है, जो कलात्मक एवं प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। खैरागढ़, राजनांदगॉव से 40 कि.मी., डोगरगढ़ रेल्वे स्टेशन से 42 कि.मी. तथा कवर्धा जिले (कबीरधाम) से 72 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। खैरागढ़ पहले रियासत था, जहाँ मराठों के पश्चात् नागवंश के राजाओं ने शासन किया। वर्त्तमान में इस नगर को तहसील का दर्जा प्राप्त है।

खैरागढ़ क्षेत्र से प्राप्त लज्जा–गौरी।

सामरिक दृष्टिकोण से खैरागढ़ सुरक्षित और अभेद्य था, क्योंकि यह स्थान तीन ओर नदी से घिरा हुआ है, जिसका नाम आमनेर, पिपरिया और मुसका है। खैरागढ़ ज्ञात राजवंशों के समय से शक्ति प्रधान केन्द्र रहा है। आज भी यहाँ देवी को समर्पित माँ दन्तेश्वरी मंदिर, शीतला मंदिर और महामाया मंदिर विद्यमान है। उल्लेखनीय है कि देवी भक्तिपरक गीत छत्तीसगढ़ अंचल में जस–पचरा के नाम से लोकप्रिय है। इसकी रचना और प्रारंभ खैरागढ़ के नरेश राजा कमलनारायण सिंह ने किया था। इसी राजा के समय से छत्तीसगढ़ में जस–पचरा गीत और बासंती एवं शारदीय नवरात्रि में जवांरा बोने की परंपरा सार्वजनिक रूप से प्रचलित हुआ। निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि खैरागढ़ में शक्ति उपासना अनवरत जारी है। शक्ति पूजा के अन्तर्गत महत्वपूर्ण है मातृत्व उपासना, जो सृष्टि के नियंता एवं पोषक हैं। इसकी प्राचीनता हमें सिन्धु सभ्यता से देखने को मिलता है, जहाँ नारी को जननी के रूप में रुपायित किया गया है। सिन्धु सभ्यता से प्राप्त एक मुद्रा पर नारी के जननांग से पल्लवधारी एक पादप को निकलते (जन्म लेते) दिखाया गया है।

खैरागढ़ से लगभग 2 कि.मी. की दूरी पर पिपरिया नामक ग्राम है। यह पहले ग्राम पंचायत था किन्तु वर्त्तमान में नगर पालिका परिषद् खैरागढ़ का एक वार्ड है। इस ग्रम से लज्जा–गौरी की अद्‌भुत प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रतिमा की लंबाई एवं चौड़ाई 10 से.मी. है, जो उत्तानपाद (प्रसविनी) मुद्रा में बैठी बनायी गयी है। प्रतिमा का शीश नहीं है और शीश के स्थान पर पद्‌म का अंकन है। प्रतिमा का उन्नत उरोज और उभरा हुआ योनी प्रसव अर्थात मातृत्व के भाव को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रतिमा का उल्लेखनीय तथ्य यह है कि दोनों पार्श्व में लघु आकृति निर्मित है। दाँयीं ओर लघु शिवलिंग है जिसमें नीचे रुद्राक्ष की माला है, वहीं पहचान हेतु तीन खड़ी रेखाओं के माध्यम से त्रिनेत्र

का आभास शिल्पी द्वारा कराया गया है।

बाँयी ओर की आकृति अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसमें गौ–वत्स को प्रदर्शित किया गया है। शिल्पकार ने सामान्य जन को मातृत्व का बोध कराने के लिए ऐसा प्रयोग किया है, जो कला जगत् में इस प्रकार की प्रतिमाओं में नहीं के बराबर है। शिल्पी ने माता लज्जा–गौरी और गौ–माता जो अपने बछड़े के साथ अंकित हैं, दोनों में भेद न करते हुए शीश के स्थान पर कमल अथवा कमल पंखुड़ी की आकृति निर्मित की है। प्रतिमा में अदभुत सांमजस्य स्थापित करते हुए सहजता के साथ शिल्पकार ने मातृत्व–बोध कराया है, जो अतुलनीय है। बाँयी ओर की आकृति में वात्सल्य का स्वाभाविक भाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अंकित बछड़ा सिन्धुघाटी की सभ्यता से प्राप्त लंबे और नुकीले सींग वाले वृषभ का आभास कराता है।

इस प्रकार की प्रतिमाओं का पद्ममुख और प्रसवा आसन के साथ उभरा हुआ स्पष्ट योनी (प्रसव की अवस्था) उल्लेखनीय है। विवेच्य प्रतिमाओं का वर्णन किसी भी शिल्प–ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। किन्तु तन्त्र साधना में किन्हीं–किन्हीं देवियों को योनी माला धारण करने वाली अवश्य बतलाया गया है। नग्न अंग और उत्तानपाद मुद्रा के कारण इस आकृति की पहचान सामान्य रूप से जन्मदात्री माता के रूप में की जाती है। ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार की प्रतिमा का आराधना करने से निःसन्तान दम्पत्ति को संतान की प्राप्ति होती है। खैरागढ़ अंचल के कुछ क्षेत्रों में आज भी इस प्रकार की प्रतिमा का आराधना किया जाता है। अंचल के कतिपय बैगाओं से चर्चा के दौरान (नाम का उल्लेख नहीं करने की शर्त पर) बताया गया कि यह आराधना गुप्तरूप से रात्रि में किया जाता है, तथा दीपावली की रात को विशेष माना गया है। वर्तमान में असम स्थित कामाख्या मंदिर में भी योनी पीठ की पूजा होती है, जो शक्ति पीठ के नाम से विख्यात है। 64 योगिनियों की सूची में कामेश्वरी और रति सुन्दरी योगिनी के नाम प्राप्त होते हैं। जिनसे भी इन्हें जोड़कर देखा जाता है। यह भी माना जाता हैं कि सम्मोहन शक्ति प्राप्त करने की लिए भी इस प्रकार की प्रतिमाओं की आराधना की जाती रही है। जहाँ तक लज्जा–गौरी के साथ गौ–वत्स के दृश्य रूपायित करने का प्रश्न है तो मातृत्व का बोध कराने वाली गोवत्स से अधिक महत्वपूर्ण और कोई प्रतीक नहीं हो सकता था। धार्मिक परम्परानुसार संतान की प्राप्ति एवं सुरक्षा हेतु कहीं–कहीं पर भाद्र मास के कृष्ण पक्ष द्वादशी को (गोवत्स द्वादशी में) यथार्थ गाय बछड़े की पूजा की जाती है। छत्तीसगढ़ अंचल में परम्परानुसार कार्तिक माह में कृष्णपक्ष द्वादशी को वास्तविक गाय बछड़े की पूजा की जाती है। गोवर्धन पूजा के दिन भी गाय बछड़े की पूजा की जाती है। अर्थात प्रतिमा में अंकित दोनों ही प्रतिबिम्ब मातृत्व का बोध कराते हैं।

लज्जागौरी की प्रतिमा भारतीय कला में तीन रूपों में प्राप्त होती है–

1. शीश विहीन – शीश के स्थान पर पद्म का अकंन
2. शीश विहीन किन्तु पद्म के स्थान पर पट्टिका
3. शीश युक्त किन्तु दोनों हाथों में पद्म।

शीशयुक्त प्रकार की प्रतिमाओं की संख्या अपेक्षाकृत कम है। भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त लज्जा–गौरी की प्रतिमाओं में भिन्नता शीश में दर्शित किया गया है।

लज्जा गौरी नाम कैसे प्राप्त हुआ ? इस संबंध में स्पष्टता कोई एक मत नहीं मिलता।

लज्जा गौरी स्वरूप के सम्बन्ध में एक विवरण (स्कंद पुराण में) यह मिलता है कि भगवान शिव के द्वारा प्रदत्त वरदान के कारण दैत्य तारकासुर अत्यंत शक्तिशाली होकर देवताओं और ऋषियों पर अत्याचार करने लगा। वरदान के अनुसार तारकासुर का वध केवल शिव–पुत्र ही कर सकता था। इस दैत्य के कृत्यों से दुखी होकर सारे देवता भगवान विष्णु के पास पहुँचे। भगवान विष्णु ने उन्हें सुझाव दिया कि – वे कैलाश जाकर भगवान शिव से पुत्र उत्पन्न करने की विनती करें। विष्णु की बात सुनकर समस्त देवगण जब कैलाश पहुँचे तब उन्हें पता चला कि शिव जी और माता पार्वती विवाह के पश्चात से ही देवदारू वन में एकान्तवास के लिए जा चुके हैं। विवश व निराश होकर जब देवगण देवदारू वन पहुँचे तो उन्हें पता चला कि शिव जी एवं माता पार्वती वन में एक गुफा में निवास कर रहे हैं।

देवताओं ने शिवजी से सहयोग के लिए प्रार्थना की किन्तु कोई प्रतिफल नहीं मिला। शिव और पार्वती काम पाश में बँधकर मैथुन क्रिया में रत थे। उनको जागृत करने के लिए अग्निदेव ने उनकी कामक्रीड़ा में विघ्न उत्पन्न करने के बारे में सोचा। अग्निदेव जब गुफा के द्वार तक पहुँचे तब उन्होंने देखा कि शिव–शक्ति सहवास में लिप्त थे। किन्तु अग्निदेव के आने की आहट से परपुरुष को समीप पाकर देवी पार्वती ने लज्जा से अपना सुंदर मुख कमल पुष्प से ढँक लिया। देवी का वह रूप लज्जा गौरी के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

लज्जा गौरी नामध्येय के सम्बन्ध में प्रभु देसाई कृत ''आदिशक्ति चे विश्वरूप'' नामक देवीकोश (मराठी) में दी गई एक लोककथा से होता है। एक बार महाकूट शिव और पार्वती प्रेम क्रीड़ा में निमग्न थे कि अचानक अनजाने में एक भक्त वहाँ आ पहुँचा। अप्रत्याशित रूप से आये हुए भक्त को देखकर शिव और पार्वती दोनों लज्जित हो गये। शिव भागकर शिवालय में छिप गये और पार्वती समीपस्थ सरोवर में छिप गईं। इसी स्थिति के कारण शिव को लज्जेश और पार्वती को लज्जा–गौरी नाम दिया गया।

स्कंदपुराण के उपरोक्त कथानुसार शिव और पार्वती लज्जित हुए और उनके वीर्य से कार्तिकेय का जन्म हुआ। संभवतः इसी कारण लज्जा–गौरी की उपासना जन्मदात्री माता के रूप में की जाती है।

(डॉ. मंगलानंद झा)
सहायक प्राध्यापक

संदर्भ ग्रंथ :–

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला।
2. जोशी, नीलकंठ पुरुषोत्तम– प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान।
3. जोशी, माधव पुरुषोत्तम – सम्मोहन शास्त्र।
4. कल्याण, गो सेवा अंक (अंक 69,1995) गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. कल्याण, शक्ति अंक (नवें वर्ष का विशेषांक, संवत–2073) गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. अमरेन्द्रनाथ, लज्जा गौरी एण्ड हर पॉसिबल जेनेसिस, ललित कला, 25,1990,।
7. कला वैभव, अंक–12 (2002–03, विभागीय शोध जर्नल प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़।)
8. google search -lajja gauri (wikipedia).

लज्जा–गौरी पट्टिकायुक्त (en.wikipedia.org)

शीशयुक्त लज्जा–गौरी (en.wikipedia.org)

पद्मयुक्त लज्जा–गौरी (arjuna.vallabha.tumblr.com)

पट्टिकायुक्त लज्जा–गौरी, खैरागढ़

•••

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य और भारतीय साांस्कृतिक मूल्यों की प्रासंगिकता

डॉ मीनू अग्रवाल

विश्व ने बीते कुछ वर्षों में 'स्पेनिश फलू', एच आई वी एडस और प्लेग जैसी महामारियों के आपदा का सामना किया है। 14 वीं सदी में 'द ब्लैक डेथ' महामारी से यूरोप में ही केवल दो करोड मोतें हुई थी। वर्तमान परिदृश्य में कोविड 19 महामारी से पूरा विश्व त्रस्त है। कहा जा रहा है कि जानवरों से यह वायरस मानवों में आया या कृत्रिम रूप से इसे प्रयोगशाला में बनाया गया। वैज्ञानिकों के अनुसार यह वायरस चमगादडों में पाया जाता है यदि ऐसा है तो कह सकतें है कि कोविड 19 के रूप में यह आपदा मानव जाति को एहसास दिलाने के लिए पर्याप्त है कि प्रकृति, मानव, जीव, सभी अपने अपने नियमों से नियन्त्रित है। उन नियमों का अतिक्रमण का प्रतिफल प्रकृति के विपरीत परिणाम देने वाला होता है। आज कोविड 19 से त्रस्त भारत के समक्ष जो चुनौतियाँ हैं उनमें कुछ इस प्रकार है–

- शिक्षा ओर कौशल विकास के क्षेत्र में
- स्वास्थ्य सम्बन्धी
- स्वच्छता सम्बन्धी
- रोजगार सृजन और कामगारों को काम उपलबध कराते हुए जीविका के लिए आवश्यक संसाधनों की आपूर्ति सुनिश्चित करना।
- महामारी के फैलाव को रोकना, स्वस्थ जीवनशैली को अपनाने के लिए प्रेरणा, प्रशिक्षण, जागरूकता पेदा करना।

इतिहास मानव द्वारा प्रकृति पर विजय पाने की लालसा का इतिहास रहा है। जिस प्रकृति ने मानव को पोषित किया उसी मानव जाति ने प्रकृति का मनमाना अतिदोहन किया। कोविड 19 प्रकृति द्वारा मानों मानव से उसी कुकृत्य का बदला है, मानव प्रकृति की इस अज्ञात आपदा के आगे विवश है। प्रकृति का ताण्डव कोविड 19 के रूप में मानव जाति को यह एहसास दिलाने के लिए मानों पर्याप्त है कि प्रकृति, मानव, जीव, सभी अपने अपने नियमों से नियन्त्रित है। जब जब होय धरम की हानि, तब तब आपदाओं के झंझावात सिर पर बोले हैं। तब तब अवतार के रूप में आपदा नियन्त्रण के लिए नियमों के पालन सुनिश्चित हुए हैं।

अतीत में 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भारतीय अवधारणा पूरे विश्व को एक मानवीय और भावनात्मक सम्बन्ध जोडने वाली कडी की भावना थी, बीसवीं सदी के ग्लोबलाइजेशन के दौर में वह आर्थिक उन्नति देने वाली वैश्विक भावना बन गई, पर हमारी कल्पना में उस ग्लोबल अवधारणा का यह रूप तो कभी भी कल्पित नहीं था। ग्लोबलाइजेशन ने आज कोविड 19 के महासंकट काल से उपजे लॉकडाउन के रूप में 'हमें हम तक ही सीमित' रहने को मजबूर कर दिया।

पूरा विश्व अभी पर्यावरण संकट के आगत अनागत भय से त्रस्त हो, उसे दूर करने का जतन ही कर रहा था, कि कोरोना संकट काल में लॉकडाउन होने से कारखानों की चिमनियों से उठता धुआँ, पेट्रोल गाडियों से उगलता प्रदूषण, मिलों से निकलता और नदियों में समाता जहरीला पानी, अब पर्यावरणीय घटको को प्रदूषित नहीं कर पाया। काश इस दिशा में बिना संकट या महामारी के ही कुछ अच्छा कर पातें। यह बात अलग है कि महामारी से उपजी वैश्विक युद्ध की आशंकाओं में विकसित देशों के परमाणु प्रसार कार्यक्रमों, जलपनडुब्बियों, सामरिक पोतों के बढतें आवागमन तथा स्वास्थ्य सेवाओं में उपचार के बाद निकलतें दूषित अपार कचरों के निस्तारण से पर्यावरण प्रदूषण

में क्या परिणाम होगें, इस पर अभी कोई अध्ययन नहीं किया गया है।

''यूनान मिश्र रोमाँ सब मिट गए। कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।'' जी हाँ भारत के पास सांस्कृतिक जीवन परम्परा में योग, आयुर्वेद, प्रकृति के घटकों के साथ साहचर्य, समन्वय, धर्म, अध्यात्म, मूल्यों, जीवन दर्शन का अथाह और शाश्वत घट है, जिसके आचरण रूपी घटपल्लव आज मूरझा गए है, घट में निहित अमृतमय वारि सदृश्य संस्कृति आज निरापद हो रही थी, पाश्चात्य परम्पराओं और समृद्धि की लोलुप आचरण में कोविड जैसी महामारियों के जाल में जकड गए जगत में उस संस्कृति रूपी घट पल्लव को पुनर्जीवन की आस बंधानी होगी, जीवनमल्यों के रस से उस घट को फिर से सिंचित करना होगा। यही समय की मांग है। क्योकि वैज्ञानिकों को दावा है कि अभी कोविड नहीं जाने वाला, मानव को उसी के संग जीने की राह तलाशनी होगी। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के सुदृढीकरण के लिए, तनाव को कम करने में, स्वस्थ जीवन शैली के लिए योग पूरी दुनिया में स्वीकारा जा रहा है। 'योगश्चितत्तवृत्तिनिरोधः'' योग और आसन की क्रियाओं के द्वारा इस वैश्विक महामारी से उपजी संकटपूर्ण परिस्थितियों में शारीरिक और मानसिक स्तर पर स्वस्थ बनाकर तनाव को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्''अर्थात् स्किल डेवेलप करके कामगारों को कुशल प्रशिक्षण के द्वारा रोजगार सृजन के उपयुक्त बनाकर भारत को आत्मनिर्भर बनाने की चुनौति इस समय बलवती है।

भारत की जीवन शैली परम्परा, जीवन मूल्य, सांस्कृतिक आचारगत नियम, जिसके साए में रहने वाले भारतीय न केवल सार्वभौम राष्ट्र की संकल्पना को साकार कर पाए, अपितु तत्कालीन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में एक उन्नत और सफल राष्ट्र की स्थापना कर पाए। वर्तमान कोविड 19 के आसन्न संकटकाल में अतीत की कुछ भारतीय परम्पराएँ आज भी प्रासंगिक लगती हैं। इस सन्दर्भ में यहाँ दो अभिलेखीय उद्धरणों के प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं–

1. सोहगोरा अभिलेख
2. जूनागढ अभिलेख

दोनों ही लेखों में संकट काल में राज्य की ओर से किए गए प्रयासों का उल्लेख है। एक में दुर्भिक्ष या अकाल पडने पर तथा दूसरे लेख में अति वृष्टि से बाँध टूटने पर उत्पन्न संकटावस्था में राज्य की ओर से किए जाने वाले प्रबन्ध का वर्णन है। इनसे पता चलता है कि राज्यसंकट या आपदा के समय प्रजा के कल्याण के लिए जनहित के अनेक उपाय करती थी।

सोहगोरा अभिलेख– आपतकाल के लिए कोश्ठागारों की स्थापना (1)

सोहगोरा ताम्रपत्र लेख

आपतकाल में चाहे वह अकाल, सूखा, महामारी या प्राकृतिक विपदा के रूप में हो, राजा का राजधर्म प्रजा का पोषण है। लगभग सभी राज व्यवस्थाकारों ने इस पर अपने मत दिए हैं। आपतकाल में भोजन व्यवस्था का निर्देश भारत की पुरानी परम्परा रही है। प्राचीन राजव्यवस्था का यह एक अंग प्रतीत होती है। भारत के प्राचीन अभिलेख में इस प्रकार की व्यवस्थाओं के प्रमाण संरक्षित है। जैसे सोहगोरा ताम्रपत्र लेख[2] जो संयोग ही है कि उ.प्र. के गोरखपुर जिले के बाँसगाँव तहसील के सोहगोरा नामक स्थल से मिला है। सम्प्रति कलकत्ता के एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित है। इस के ऊपरी भाग में सात आकृतियाँ खुदी है उसके नीचे चार पंक्तियों में लेख अंकित है। अनुमान लगाया जाता है कि प्रतीकांकन की दो भवन की आकृतियाँ दो कोष्ठागारों की सूचक हैं। अभिलेख में श्रावस्ती के महामात्र के शासन का उल्लेख है इस आधार पर लेख को चौथी शती ई पू. का माना जाता है। ब्राहमी लिपि और प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण लेख में राज्य की ओर से स्थापित दो कोष्ठागारों और उनके प्रयोग के निर्देश का उल्लेख है। उस समय राजा और उनके जन अधिकारी जनहित की दृष्टि से कार्य करतें थे। राज्य की ओर से अन्नागार

की व्यवस्था की गई थी। जिसका प्रयोग केवल अकाल आदि आपतकाल के निवारण के लिए किए जाने का निर्देष है। यह एक प्रशासनिक अभिलेख ज्ञात होता है जिसका उददेश्य अन्नागारों की व्यवस्था पर आदेश को सुरक्षित करना था। लेख में सावधान किया है कि साधारण दिनों में इस संग्रह का उपयोग नहीं किया जाएगा। इसमें न किसी शासक का नाम है न किसी व्यक्ति का नाम है। ये काष्ठागार चौराहों पर स्थापित किए गए थे। ज्ञातव्य हो कि चौराहो बडे बडे व्यापारिक केन्द्रों से जुडते थे और व्यापारियों के आवागमन के विश्राम स्थल भी होते थे। ऐसे चौराहों पर आपातकाल के लिए कोष्ठागारों की स्थापना किए जाने की व्यवस्था तत्कालीन श्रावस्ती के महामात्र द्वारा उदघाटित की गई थी।

निस्सन्देह इस प्रकार के अन्नागारों की व्यवस्था के राजकीय प्रयास प्राचीन भारत के सिन्धु घाटी के समय से ही देखतें हैं। हडप्पा में दुर्ग क्षेत्र के बाहर उत्तर में कई कक्षों वाले विशाल अन्नागार, श्रमिक भवन श्रमिक चबूतरों के साक्ष्य मिले हैं।

जूनागढ अभिलेख [3] –जलाशयों के निर्माण एवं नहर आदि के टूट जाने के संकट काल में जीर्णोद्धार के राजकीय प्रयास

गुजरात में काठियावाड में सुदर्शन तालाब का वहाँ के जनजीवन में विशेष महत्व रहा होगा। विभिन्न आपदाओं एवं परिस्थितियों के कारण समय समय पर उसकी स्थिति बिगडी रही। जूनागढ लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में सौराष्ट्र प्रान्त में उसके गर्वनर पुष्यगुप्त ने काठियावाड के जूनागढ क्षेत्र में गिरनार नामक पर्वत के पास सुदर्शन तालाब का निर्माण कराया था। इसका रखरखाव अशोक के काल में वहॉ के गवर्नर तुषाष्फ ने किया। रुद्रदामन के काल में सुदर्शन दुर्दशन बन गया था, इस तालाब पर निर्मित बाँध टूट गया था जिसकी मरम्मत सुविशाख की देखरेख में कराई गई थी। रूद्रदामन ने अपने सभासदों के विरोध करने पर भी जन कल्याण के लिए अपने संचित कोश से (''धर्म्मकीर्तिवृद्धयर्थं च अपीडयित्वा कर विष्टिप्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात्कोशान्महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन''[4] इस तालाब पर धनखर्च कर जन हित का यह कार्य किया था। महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके लिए प्रजा से कोई अतिरिक्त, अनुचित या अनियमित कर नहीं लिया गया था। जीर्णोद्धार का यह कार्य मार्गषीर्श कृष्णपक्ष के प्रथम दिवस 72वें वर्ष में कराया गया था और तो और इसे तीन गुना अधिक मजबूत बना दिया गया था। राज्य की ओर से प्रजा के कल्याण के लिए संकट के समय किए गए कार्य का अनुपम उदाहरण है।

पुनश्च गुप्त संवत 136 अर्थात् 455 ई में ग्रीष्म काल में लम्बी अवधि तक घनघोर वर्षा के कारण (''अथ क्रमेणाम्बुदकाल आगते निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः । ववर्ष तोयं बहु सततं चिरं सुदर्शनं येन विभेद चात्वरात्'')[5] इस तालाब का बाँध टूट गया था, गिरनार पहाडी से निकलने वाली नदियों का प्रवाह बढ गया था सुदर्शन तालाब की दुर्दशा से सब परेशान थे।(''विषाद्यमानाः खलु सर्वतोजनाः'')[6] रात भर नींद नहीं आई थी, 456 ई में राजकीय प्रयास से धन व्यय करके दो मास तक अनवरत कार्य से उसकी न केवल मरम्मत कराई गई बल्कि बाँध को सुदृढ ओर सुन्दर भी बनाया गया। अभिलेख में यह भी कहा गया है कि कि इस प्रकार की व्यवस्था से बाँध के कारण सैकडों वर्ष तक सूखा और अकाल नहीं पडेगा। (''शतमपि च समानामीति दुर्भिक्षमुक्तं''[7])

आपातकालीन प्रबन्धन की प्रक्रिया के चार चरण होतें हैं– न्यूनीकरण, तत्परता, प्रतिक्रिया, और उबरना।

उक्त लेख के विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जलाशय के बाँध टूट जाने पर आपत्तिकाल में राजा ने अपने मंत्रियों से सलाह ली जो न्यूनीकरण की दिशा में एक कदम था। तत्परता दिखाते हुए राजा ने मंत्रियों के विरोध के बावजूद प्रजा हित में बाँध के जीर्णोद्धार का काम शुरू किया। प्रतिक्रिया में उसने प्रजा पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया अपितु सारा व्यय राजकीय कोश से ही किया। परिणाम में प्रजा को उस संकट से मूक्ति मिली और वह तडाग पहले से अधिक मजबूत और सुन्दर बना दिया गया। आपतकाल के राजकीय प्रबन्धन का यह अतीत काल का उत्कृष्ट उदाहरण है।

कलचुरिकालीन खरोद अभिलेख–

कलचुरिकालीन शासक रतनदेव तृतीय के खरोद अभिलेख के आधार कहा जा सकता है कि उस समय दुर्भिक्ष जैसे आपतकाल का सामना करना पडा था और संकट निवारण हेतु उसके मंत्री ने प्रबन्धन कार्य सम्हाला थां अभिलेख में कहा गया है कि 'जब कोश क्षीण हो गया, गजसेना कमजोर हो गई, अकालादि से राज्य की स्थिति खराब हो गई तब उसके मंत्री गंगाधर ने अपनी नीतियों के बल पर सुधार करके राजा के सप्तांग शासन को सुदृढ किया था।

''कोशे नाशमुपागते गजबले क्षीणेऽतिरीणेजने। दुर्भिक्षोपहतिं गते जनपदे दीनां दशामाश्रिते। येनोच्चैः पदमापदां गतमपि श्रीरत्नदेवप्रभो। राज्यं मंत्रबलादनीयत पुनः सप्तांगसम्पूर्ण्णताम्।।''[9]

सन्दर्भ–

1. बरुआ, बी.एम., 'दि सोहगोरा कापर प्लेट इंसकृप्शन', एनाल्स ऑफ दि भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, वॉ. 1, न. 1, 1930, पृष्ठ 32 से 48, तथा सरकार, डी.सी, सेलेक्ट इंसकृप्शन्स, वॉ 1, 1942।
2. https://youtu.be/T-BM1lXkIYw and https://youtu.be/p0oarEbdY0w.
3. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृ. 157।
4. सहाय, शिवस्वरूप, भारतीय पुरालेखों का अध्ययन, जूनागढ अभिलेख का श्लोक 15–16, पृष्ठ 212।
5. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, श्लोक 26, पृ. 157।
6. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, श्लोक 30, पृ. 157।
7. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख,श्लोक 39, पृ. 158।
9. कार्पस इंस्कृप्शनम इंडिकेरम, भाग 4, पृष्ठ 538।

प्राचीन इतिहास विभाग,संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

एस.एस.खन्ना महिला महाविद्यालय,

संघटक महाविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज,211003

●●●

मूर्तिशिल्प में छत्तीसगढ़ की आदिवासी संस्कृति

डॉ. मोना जैन
डॉ. सुरेश कुमार साहू

छत्तीसगढ़ का भू–भाग पुरातात्त्विक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं। यहाँ के आदिवासी पारम्परिक वस्त्र और आभूषण धारण कर उत्सवों में थिरकते हैं। छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक विशेषता का सौन्दर्य यहाँ के आभूषणों में निहित है। आभूषणों के रूप में सौन्दर्य की कलात्मक चेतना का एक आयाम पुरातन काल से आज पर्यन्त है। पुराकाल से मानव पेड़–पौधों, वनस्पतियों के समीप रहने के कारण श्रृंगार प्रसाधन के लिए विविध पुष्पों का प्रयोग करता था। मानव पुष्प और लता–पत्रों का हार बना कर श्रृंगार करता था। विभिन्न ऋतुओं में अनेक प्रकार के पुष्पों को कान के ऊपर खोंस लेता था। पुष्प के अलावा दावना और दूब आदि को कान में खोंसता था।[1] वर्षा ऋतु में नारियाँ नये खिले कदम्ब फूल को कोनों में खोसती है।[2] उसी प्रकार वसंत ऋतु में नारियाँ नये खिले लाल कनेर के गुच्छे को कर्ण में लगाती है।[3] पुष्प और लता–पत्रों के साथ ही साथ लाख से बनी चूड़ियाँ, मिट्टी के बने मनके, पक्षियों के पंख, लकड़ी व बाँस से बने आभूषण और कौड़ियों से श्रृंगार करता, जो सहज उपलब्ध होता था। मानव श्रृंगार की अभिलाषा होने के कारण आभूषण बनाने लगा। वानस्पतिक संसाधनों के साथ–साथ मणि–मोतियों का प्रयोग भी होने लगा। कुछ ऐसे आभूषण भी थे, जिसे नर और नारी दोनों धारण करते थे। तत्कालीन समाज में वस्त्र, आभूषण और केशविन्यास की जानकारी हमें मूर्ति–शिल्प से मिलती हैं। देवरानी–जेठानी मंदिर ताला[4] जिला– बिलासपुर, जिला पुरातत्त्व संग्रहालय बिलासपुर, सिसदेवरी[5] जिला– बलौदाबाजार, पिपरौद[6] जिला– रायपुर, राजीवलोचन मंदिर राजिम[7], जिला– गरियाबंद और विष्णुसिंह ठाकुर[8] की राजिम नामक पुस्तक में मूर्तिकला का वर्णन मिलता है। इन मूर्तियों में छत्तीसगढ़ की संस्कृति को रेखांकित किया गया है।

नर मूर्तियों में छत्तीसगढ़ की संस्कृति

ताला स्थित जेठानी मंदिर से प्राप्त शरभपुरीय पुरूष (भारवाहक) की मूर्ति9 में भारवाहक कण्ठ में सुता, बघनखा, कानों में खिनवा (कुण्डल) तथा हाथों में चुरवा (कड़ा) पहने है। सिर के केश घुँघराले मुद्रिकाकार में है। कमर में धोती धारण किए है, जो घुटने तक है। (छा.चि.1/रे.चि.1)

ताला स्थित देवरानी मंदिर से प्राप्त शरभपुरीय पुरूष की मूर्ति[10] में पुरूष कानों में ढार (चक्राकार खिनवा), जिसका नीचे का भाग खण्डित है और कण्ठ में साधारण माला (गुरिया) पहने है। केश घूँघरदार है। कमर से घुटनों तक सादगीपूर्ण एक छोटी धोती (सूती वस्त्र) धारण किए है और ऊपर अवसन है।(छा.चि.2,3/रे.चि.2,3)

सिसदेवरी से प्राप्त शरभपुरीय पुरूष (भारवाहक गण[11]) कानों में लटकते हुए कुण्डल और कण्ठ में मृण्मय गुरिया पहने है। कमर से जंघा तक सामान्य धोती के टुकड़े को पहने है। केश घूँघरदार है। कमर में धोती की गाँठ दिखाई देती है।(छा.चि.4/रे.चि.4)

पिपरौद से प्राप्त पाण्डुवशीय उपासक की मूर्ति [12] में उपासक कमर से घुटने तक धोती धारण किए है। सामने चुन्नट हवा में उडते हुए है। स्कंध में पटुका रखे है। सिर पर पगड़ी धारण किए है। उपासक सिर पर पगड़ी धारण किए है, जिसके कारण केश छुप गये है। उपासक कान में झुमकी, धारण किए है, जिसमें घुँघरू लगे है। गले में हार और कमर में करधन धारण किए है। (छा.चि.5/रे.चि.5)

राजीवलोचन मंदिर से प्राप्त पाण्डुवंशीय नायक की मूर्ति[13] में नायक गले में मोतियों की माला, भुजा में पहुंचा

(बाजूबंद), कानों में बाला, हाथ में मोती जड़ित कंकण तथा कमर में करधन पहने है। कमर से घुटने तक धाती पहने है व कमर में अलग से साफी लपेट कर बाँधे है और गले में गमछा डाले है। वनप्रांतर के आदिवासी आज भी इसी तरह के वस्त्र पहनते हैं। केश लम्बे हैं, जो पीछे मुड़े हुए हैं। वर्तमान में आदिवासियों के केश संरचना इसी तरह के हैं। (छा.चि.6/रे.चि.6)

नारी मूर्तियों में छत्तीसगढ की संस्कृति

ताला स्थित जेठानी मंदिर प्राप्त और जिला पुरातत्त्व संग्रहालय बिलासपुर में सुरक्षित शरभपुरीय शालभंजिका नायिका की मूर्ति[14] में नायिका के गले में मुक्ताहार, जिसके मध्य में सामने रत्न जड़ित है। दायें भुजा में ग्रास मुख अंगद और कमर में मेखला पहने है, मेखला संभवतः सोने या चाँदी के तार से मोती व रत्न गुम्फित है और रेशम धागा नीचे लटकते हुए प्रदर्शित है। नायिका ने सीमन्त निकाल कर एक वेणी बनाई है, जिसे मोड़कर शिखा के समीप बाँधा है वह वेणी बायें पार्श्व में है। चम्पा, चमेली और अन्य पुष्पों की माला से वेणी को अलंकृत किया है।[15] इस प्रकार की वेणी को मालामिश्रावेणी कहा गया है।[16] नायिका उत्तरीय अंगिया और अंतरीय शतिका कमर से लेकर टखनों तक धारण की है।(छा.चि.7/रे.चि.7)

ताला से प्राप्त शरभपुरीय नारी की मूर्ति[17] में नारी कण्ठ में औरी दाना के हार (गुरिया), कान में करनफूल के खिनवा, हाथ में ऐठी, चूरी, पटा, ककनी, बनुरिया (ऐंठी, चूड़ी, पाटला, कंकण, भुजबंद) और पैर सांटी (पादवलय) धारण की है। गुरिया को धागे से पिरोयी गई है। केश में पिन लगाई है और पुष्पों से सजाई है। नारी ब्लाउज (पोलखा) और शतिका (लुगरा) कमर से लेकर घुटने तक पहनी है, जो वनप्रांतर एवं ग्रामीण नारियाँ धारण करती है। नारी के केश मधुमक्खी के छत्ते के आकार है, जो घुँघराले है। केश को पुष्पों से सजाया गया है, पिन भी लगाया गया है, जिसमें अलंकरण है। मस्तक पर कौड़ियों की माला से श्रृंगार किया है।(रे.चि.8) जनजाति नारियाँ आज भी खोपा बाँधती हैं। खोपा याने जूड़ा। खोपा झोरी झारि जो बारा, सरग पताल होय अंधियारा कहकर जाएसी ने रानी पद्मावती के नखशिख का वर्णन किया है, उसका प्रतिरूप छत्तीसगढ़ की आदिवासी नारियाँ ही हो जैसे। नारियाँ खोपा में एक ककई खोंसे रहती हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह आधुनिकाएँ हेयर पिन लगाती हैं या हेयर कांब से बालों को विन्यास रखती हैं।[18] ताला से प्राप्त शरभपुरीय दूसरी साधारण नारी की मूर्ति[19] में नारी कानों में वृहद आकार का गोलाकार खिनवा, कण्ठ में मृण्मय गुरिया और हाथ में ऐंठी, पटा, ककनी, चूड़ी पहने है। केश बिखरे हुए है। नारी सूती के मोटी शतिका धारण किए है, जो कमर से लेकर घुटने तक है।(रे.चि.9)

पिपरौद से प्राप्त पाण्डुवंशीय उपासिका की मूर्ति[20] में उपासिका नितम्बों पर कुसुम्भ रंग के शतिका धारण की है, जिसकी चुन्नटें हवा में उड़ते हुए प्रदर्शित है और उत्तरीय चुस्त अंगिया पहने है। मूर्ति में उपासिका सीमन्त निकाल कर केशों को बायें तरफ जूड़ा बनाया गया है। आज भी गाँव की महिलाओं को इस प्रकार वस्त्र पहने देखा जा सकता है। उपासिका कानों में बाला, कण्ठ में कण्ठहार, हाथ में ककनी (कंकण) और कमर में करधन पहने है।(रे. चि.10)

राजीवलोचन से प्राप्त पाण्डुवंशीय चॉवरधारिणी की मूर्ति[21] में चॉवरधारिणी सिर पर मोती जड़ित भालपट्ट, जिसके मध्य में सामने रत्नजड़ित पुष्पीय संरचना में कण्ठ में मुक्ताहार, कानों में मोतीकुण्डल, बाँहों में मोती जड़ित पुष्पीय संरचना में बाजूबंद, हाथ में कंकण, कमर में एक लड़ वाली करधन जिसके मध्य में सामने बड़ा मोती लगा है व मुक्तादाम से सुसज्जित है उरूदाम में मोती जड़ित है और पैरों में पादवलय धारण की है। कमर से लेकर ऐड़ी तक शतिका (साड़ी) धारण की है। शतिका अलंकरण विहीन है। आँचल से दायें स्कंध को ढ़के हुए है। ग्रामीण महिलाओं की शतिका का आँचल दायें स्कंध की ओर होता है। चॉवरधारिणी अर्धबाँहों वाली अंगिया धारण की है।(रे. चि.11)

निष्कर्ष

मानव के मुख्यतः दो प्रकार के वस्त्र अंतरीय और उत्तरीय होते थे। नर अंतरीय और उत्तरीय वस्त्र धारण करते

थे। पगड़ी का उपयोग भी करते थे। नर मूर्तियों में उत्तरीय का अभाव मिलता है। ऊपर में कहीं–कहीं पटुका धारण किये हैं। पुरूष मूर्तियों में प्रमुख वस्त्र धोती ही है। नारी मुख्यतः दो प्रकार के वस्त्र अंतरीय और उत्तरीय धारण करती थी। नारी शतिका कमर से लेकर घुटनों और टखनों तक धारण करती थी। नारी उत्तरीय, अंगिया और दुपट्टा भी धारण करती थी। पुराकाल में एक वस्त्र कमर से ऐड़ी तक और दूसरा उतना ही बड़ा वस्त्र ऊपर के अंग पर ओढ़ लेना ही पर्याप्त समझा जाता था। गृहस्थ–विरक्त उतने ही वस्त्र धारण करते जितने सदाचार और शील–संरक्षण के लिए आवश्यक होते थे।[22] धोती–कुर्ता एवं साड़ी–चोली तथा वैकक्ष्य परम्परागत होने के साथ–साथ सादगी, स्वच्छता और सुलभता की दृष्टि से गरिमामय परिधान की श्रेणी में गिने जाते। प्राचीन काल से ही मानव ऋतु, जलवायु, आर्थिक स्थिति और रूचि अनुसार वस्त्र धारण करता था।

नर कण्ठ में सुता, बघनखा, हँसुली, गुरिया और हाथों में चुरवा (कड़ा) पहनते थे। कान में बाली, और झुमकी पहनते थे। नारी कानों में कुण्डल, बाली, झुमका, खिनवा, ढार, हाथों में ऐठी, चूरी, पटा, ककनी, बनुरिया (भुजबंद) गले में मृण्मय गुरिया, एकावली, सुता, स्वर्ण निर्मित हार, कमर में अर्धमेखला, जिसमें मोतियों के झालर और पैरों में घुँघरू लगे पादजालक और बिना घुँघरू वाले सामान्य पायजेब होते थे।

नारी नर की तुलना में अधिक श्रृंगारप्रिय होने के कारण अधिक आभूषण धारण करती थी, उनकी तुलना में पुरूष कम श्रृंगार प्रिय होते थे, अतः वे आभूषण भी कम धारण करते थे। नर ताबीज के रूप में बघनखा भी धारण करते थे।

नर और नारी के केश में लगभग समानता थी। नरों के केशविन्यास मुख्य रूप से घूँघरदार शैली में है। नारियों के केशविन्यास में विभिन्नता दिखाई देती है। नारी के केश चूड़ापाश घूँघर के रूप में है। शालभंजिका की वेणी में एक सीमन्त है और वेणी को मोड़कर शिखा के समीप बाँधा है। यह वेणी बायें पार्श्व में है। वेणी चम्पा, चमेली और अन्य पुष्पों की माला से अलंकृत है। दूसरी नारी के सिर पर केशरचना चूड़ापाश शैली में है।

प्राचीन काल से ही मानव द्वारा केश सँवारने की परम्परा रही है, जो सामाजिक और कलात्मक पहलू है। स्वास्थ्य, सुन्दरता और सुरक्षा की दृष्टि से प्राचीन काल में स्त्री और पुरूष दोनों ही लम्बे केश रखते थे। केश की सुन्दरता बढ़ाने के लिए उन्हें काले रंग से रंगा भी जाता था। कभी–कभी केशों को एकत्रित कर सिर के पीछे कलात्मक ढ़ंग से जूड़ा भी बनाया जाता था, जो अनेक शैलियों का होता था। वेणी को पुष्पों से सजाया जाता। मस्तक पर कौड़ियों की माला से श्रृंगार किया जाता। ग्रामीण आदिवासी नारियाँ केश को विभिन्न प्रकार के पुष्पों से सजाने के साथ उसमें पंख, बाँस के टुकड़ें, कंघी और दर्पण आदि से श्रृंगार भी किया करती।

रे..चि. 1

रे..चि. 2

रे..चि. 3

रे..चि. 4

रे..चि. 5

रे..चि. 6

रे..चि. 7

रे..चि. 8

रे..चि. 9

रे..चि. 10

रे..चि. 11

सन्दर्भ :–

1. साहू, सुरेश कुमार, करनफूल के खिनवा, रायपुर 2015, पृ. 31।
2. विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं बधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः। (ऋतुसंहारम् 2/24)।
3. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारम्। (ऋतुसंहारम् 6/5)।
4. निगम, एल, एस.(संपा) रिडिल ऑफ इण्डियन आइकनोग्राफी,(जेटेटिक ऑन रेयर आइकान फ्राम ताला), शारदा पब्लिशिंग, दिल्ली, 2000; पाण्डेय, श्याम कुमार दक्षिण कोसल छत्तीसगढ का इतिहास तथा वास्तु–शिल्प, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2002; रायकवार, जी. एल., ताला का पुरा–वैभव, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2015।
5. रायकवार, जी. एल., सिसदेवरी उत्खनन, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2013,।
6. साहू, सुरेश कुमार, करनफूल के खिनवा, रायपुर 2015, पृ. 25।
7. कनिंघम, ए. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, वाल्यूम गअपप, दिल्ली, पुर्नमुद्रित 2000, पृ. 6–19।
8. ठाकुर, विष्णुसिंह, राजिम, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 112।
9. रायकवार, जी. एल., ताला का पुरा–वैभव, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 30।
10. वही, पृ. 19।
11. रायकवार, जी. एल., सिसदेवरी उत्खनन, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 25।
12. साहू, सुरेश कुमार, करनफूल के खिनवा, रायपुर 2015, पृ. 31।
13. ठाकुर, विष्णुसिंह, राजिम, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 112।
14. रायकवार, जी. एल., ताला का पुरा–वैभव, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 19।
15. वही, पृ. 19।
16. गुप्त, शालिग्राम, श्रृंगार परम्परा और कला उपासना, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2002, पृ. 68।
17. रायकवार, जी. एल., ताला का पुरा–वैभव, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 30।
18. जैन, कान्ति कुमार, बैकुंठपुर में बचपन, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, पृ. 48।
19. रायकवार, जी. एल., ताला का पुरा–वैभव, संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, रायपुर, छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2015, पृ. 30।
20. साहू, सुरेश कुमार, करनफूल के खिनवा, रायपुर 2015, पृ. 25।
21. ठाकुर, विष्णुसिंह, राजिम, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974, पृ. 113।
22. शर्मा, श्रीराम, वेशभूषा शलीन ही रखिए, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, मथुरा–3ए 2010, पृ.25।

सहा. प्राध्यापक,

शास. जे.यो. छत्तीसगढ़ महाविद्यालय, रायपुर

संकाय सदस्य, जनपद पंचायत संसाधन केन्द्र, मैनपुर,(गरियाबंद)

●●●

प्राचीन भारतीय कला एवं साहित्य में योग : एक विश्लेषण

डॉ. मोहन लाल चढ़ार

प्राचीन काल से योग परम्परा भारतीय समाज, धर्म, कला, संस्कृति एवं साहित्य में देखने को मिलती है। लोक परंपराओं, सिंधु घाटी सभ्यता, वैदिक संस्कृति एवं उपनिषद काल की विरासत, बौद्ध एवं जैन परंपराओं, दर्शनों, महाभारत एवं रामायण नामक महाकाव्यों, पुराणों, शैवों, वैष्णवों की आस्तिक परंपराओं एवं तांत्रिक परंपराओं में योग के अनेक प्रमाण मिलते है। ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों के अनुसार योग से सम्बधित प्राचीनतम् प्रमाण हड़प्पा सभ्यता से मिले है। हड़प्पा सभ्यता के प्रमुख पुरास्थलों में हड़प्पा, कालीबंगा, लोथल, धौलाबीरा एवं मोहेनजोदाडों नामक पुरास्थलों से योग मुद्राओं से युक्त पाषाण मूर्तियॉ व मृण्मूर्तियॉ प्रकाश में आई है।[1] हड़प्पा उत्खनन से प्राप्त मूर्तियों से विविध योग आसनों की जानकारी मिलती है। हड़प्पा सभ्यता के महत्वपूर्ण पुरास्थल मोहेनजोदड़ों के उत्खनन से प्राप्त एक योगी की पद्मासन एवं ध्यान मुद्रा में एक स्टेटाइट पर सुन्दर आकृति उत्कीर्ण की गई है। इसको विद्वानों ने योगी पशुपति शिव स्वीकार किया है। इस सील में एक योगी बैठा हुआ है, उसके तीन सिर है। तीन सींग वाला मुकुट पहने है एवं उसके आस–पास प्रमुख जानवरों में गैडा, भैसा, बाघ, हाथी एवं हरिण बनाये गये है। सील को नई दिल्ली में भारत के राष्ट्रीय संग्रहालय में रखा गया है। यह प्रतिमा योग मुद्रा में बनाई गई है। (चित्र क्र.–1) हडप्पा सभ्यता से योग मुद्राओं से सम्बधित अनेक मृण्मूर्तियॉ प्रकाश में आई है, जिनके माध्यम से प्राचीन भारत में योग आसनों के माध्यम से योग की जानकारी मिलती है। (चित्र क्र.–2) हड़प्पा सभ्यता से मोहेनजोदारो के समान ही हड़प्पा, कालीबंगन एवं कोटदीजी से भी कुछ योग मुद्रा युक्त मृण्मूर्तियॉ एवं मोहरे प्राप्त हुए है। जिनसे स्पष्ट संकेत मिलते है कि हड़प्पा संस्कृति में योग का प्रारम्भ हो चुका था। (चित्र क्र.–3) इन अवशेषों के माध्यम से भारत में लगभग पॉच हजार बर्ष पूर्व योग विद्या से सम्बधित अनेक प्रमाणों की जानकारी देशी व विदेशी विद्वानों ने प्रदान की है। सम्पूर्ण संसार के विद्वानों ने इस तथ्य को एक मत से स्वीकार किया कि भारत योग विद्या का जनक है।[2] वैदिक कालीन महाऋषियों ने योग ध्यान के माध्यम से ही अनेक महत्वपूर्ण मंत्रों व ऋचाओं की रचना की तथा इन्ही ऋचाओं का संग्रह ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद उपनिषदों, आरण्यकों, वेदांगों षड्दर्शनों में मिलता है। वैदिक ऋषियों में महर्षि वामदेव, महर्षि अगस्त, महर्षि कण्व, महर्षि विश्वामित्र, महर्षि वशिष्ठ, महर्षि भृगु, महर्षि अत्रि, महर्षि भारद्वाज, महर्षि कश्यप, महर्षि मनु, महर्षि अगिरा, महर्षि शतातप, महर्षि पराशर, महर्षि आपस्तम्ब, महर्षि शुक्राचार्य, महर्षि कात्यायन, महर्षि शंख, महर्षि ऋष्यश्रृंग, महर्षि गर्ग, महर्षि शौनक, महर्षि व्यास, महर्षि उद्दालक, महर्षि शुक, महर्षि नारद, महर्षि दुर्वासा, महर्षि जाबालि, महर्षि मुद्गल, महर्षि विश्वामित्र, महर्षि शतानन्द व महर्षि बालखिल्य एवं विदुषी स्त्रियों में अपाला, घोषा एवं लोपामुद्रा इत्यादि ने वनाच्छादित क्षेत्रों में योग व ध्यान की अनुसंधान शालाऍ बनाकर अनेक महत्वपूर्ण योग विद्याओं, मंत्रों व दर्शनों का ज्ञान प्राप्त किया था।[3]

वैदिक कालीन समाज में यज्ञ और योग विधियों का बहुत अधिक महत्व था। इसके लिए वैदिक ऋषियों ने चार आश्रमों की व्यवस्था निर्मित की थी। ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदों की शिक्षा के साथ ही शास्त्र और योग की शिक्षा भी दी जाती थी। ऋग्वेद को 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू. के बीच लिखा गया माना जाता है। इससे पूर्व वेदों को कंठस्थ कराकर हजारों वर्षों तक स्मृति के आधार पर संरक्षित रखा गया। भारतीय दर्शन के मान्यता के अनुसार वेदों को अपौरुषेय माना गया है अर्थात वेद को परमात्मा की वाणी माना गया हैं।[4] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में

वेदों की ऋचाओं एवं सूक्तों की खोज योगाचार्यो ने ध्यान अवस्था में ही की थी। छठवी शताब्दी ईसापूर्व से लेकर 200 ई.पू. योग के तीन अंग तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान का प्रचलन था। इसे प्राचीन साहित्य में क्रिया योग कहा गया है।[5]

उपनिषदों, वेदांगों, स्मृतियों एवं अरण्य ग्रन्थों में योग के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। अमृत बिन्दुपनिषद, तोजोबिन्दुपनिषद, ध्यानबिन्दुपनिषद, नादबिन्दुपनिषद, ब्रह्मविद्योंपनिषद, कठोपनिषद, हंसोपनिषद्, योगतत्वोपनिषद, छान्दोंग्योपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद, ईशावास्योपनिषद्, प्रश्नोपनिषद इत्यादि में योग की प्राचीनता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अमृतानादोपनिषद में प्रत्याहार, ध्यान, प्रणायाम, धारणा, तर्क और समाधि का उल्लेख मिलता है। त्रिषिखब्रह्मणोपनिषद् में यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का सपष्ट उल्लेख मिलता है। नाडियों एवं चक्रों का उपनिषदों में सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।[6] कठोपनिषद में योग के लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है, ''श्तां योगमित्तिमन्यन्ते स्थिरोमिन्द्रिय धारणम्''। प्राचीन भारतीय साहित्य में उल्लेख मिलता है कि 'योग' शब्द 'युज समाधौ' आत्मनेपदी दिवादिगणीय धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'योग' शब्द का अर्थ है समाधि अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध माना जाता है। विद्वानों के अनुसार 'योग' शब्द युज धातु से भी निष्पन्न होता है, किन्तु तब इस स्थिति में योग शब्द का अर्थ क्रमशः योगफल, जोड़ तथा नियमन माना जाता है। प्राचीन योग साधकों ने आत्मा और परमात्मा के मिलन को योग कहा है। पंतजलि के योगदर्शन में उल्लेख मिलता है कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं, चित्तवृत्तियों के निरोध की अवस्था का नाम योग है या इस अवस्था को लाने के उपाय को योग कहा जा सकता हैं।[7] सांख्य दर्शन में कपिल महार्षि ने 'पुरुषप्र.त्योर्वियोगेपि योगइत्यमिधीयते' अर्थात् पुरुष एवं प्र.ति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरुष का स्व स्वरूप में अवस्थित होना ही योग कहा है।

विष्णुपुराण में उल्लेख मिलता है कि ''योगः संयोग इत्युक्तः जीवात्म परमात्मने'' अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतया मिलन ही योग है।[8] भगवद्गीता में उल्लेख मिलता है कि ''सिद्धासिद्धयो समोभूत्वा समत्वं योग उच्चते'' अर्थात् दुःख–सुख, लाभ–अलाभ, शत्रु–मित्र, शीत और उष्ण आदि द्वन्दों में सर्वत्र समभाव रखना ही योग है। भगवद्गीता के अनुसार ''तस्माद्ययोगाययुज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्'' अर्थात् कर्तव्य कर्म बन्धक न हो, इसलिए निष्काम भावना से अनुप्रेरित होकर कर्तव्य करने का कौशल योग है। भगवतगीता में योग शब्द का 48 बार प्रयोग हुआ है एवं 27 बार योगों शब्द का उल्लेख हुआ है।[9] बौद्ध साहित्य में उल्लेख मिलता है कि ''कुशल चितैकग्गता योगः'' अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही योग है।[10]

छठवी शती ईसा पूर्व में महत्वपूर्ण धार्मिक क्रान्तियॉ हुई इसके जनक योग साधना के पूर्ण साधक एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध एवं जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी थे। महात्मा बुद्ध ने विपस्सना ध्यान एवं महावीर स्वामी ने प्रेक्षा ध्यान की पद्धति को जन्म दिया था। यह दोनों विधियॉ प्राण अर्थात मानव स्वास पर आधारित थी। जैन और बौद्ध जागरण काल एवं उत्थान काल के दौर में यम और नियम के अंगों पर जोर दिया जाने लगा था। यम और नियम अर्थात अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय का प्रचलन भी इस समय हो रहा था। महावीर स्वामी द्वारा दिये गये पांच महान व्रतों में पंच महाव्रत एवं बुद्ध द्वारा अष्ठ मग्गा या आठ पथ की संकल्पना को योग साधना की महत्वपूर्ण प्रकृति के रूप में माना जा सकता है।[11] पॉचवी शती ईसा पूर्व में रचित पाणिनी के अष्टाध्यायी में योग विद्या के प्रमाण मिलते है। सिकन्दर के आक्रमण के समय चौथी शती ईसा पूर्व में संसार के ख्याति प्राप्त तक्षशिला विश्वविद्यालय में योग शास्त्र की उत्तम शिक्षा प्रदान की जाती थी। साहित्य में उल्लेख मिलता है कि सिकन्दर ने भारतीय योग गुरुओं से भेटवर्ता की थी। विशाल मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला विश्वविद्यालय के अपने योग गुरुओं के सानिध्य में योग की उत्तम शिक्षा प्राप्त की थी। तत्कालीन समय में चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु विष्णुगुप्त योग विद्या के साथ–साथ अनेक विद्याओं के विशेषज्ञ थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने जीवन में योग साधना को काफी महत्व दिया था। इसी कारण चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन

के अन्तिम चरण में जैन योग गुरु उपगुप्त के साथ दक्षिण भारत जाकर कर्नाटक प्रान्त में स्थित श्रवणवेलगोला में योग साधना के माध्यम से समाधि प्राप्त की थी। बौद्ध धर्म के योग साधना के मर्म को मौर्य शासक अशोक महान ने सूक्ष्मता से समझा और बौद्ध धर्म की योग साधना पिपासना ध्यान के माध्यम से अशोक के विचारों में काफी बदलाव आया और उसने कलिंग युद्ध के बाद भेरीघोष अर्थात युद्ध नीति को त्यागकर धम्म नीति को अपनाया था। अभिलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि अशोक ने पूर्ण रुप से बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया था।[12]

प्राचीन साहित्य के अनुसार भगवान शिव एवं हिरण्यगर्भ योग के जनक माने जाते है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार योग की उत्पत्ति हडप्पा सभ्यता में हुई थी, योग की प्राचीनता की सबसे आश्चर्यजनक खोज 1920–21 ईस्वी में हुई थी। 1921 ईस्वी में दयाराम साहनी एवं माधौस्वरुप वत्स ने हड़प्पा नामक पुरास्थल एवं 1922 ईस्वी में राखलदास बनर्जी ने मोहेनजोदाड़ों की खोज की थी। इन दोनों पुरास्थलों से भारत की प्राचीन हिंदू धर्म संस्कृति और योग की प्राचीनता के अनेक प्रमाण प्राप्त हुए थे। सिंधु घाटी सभ्यता का कालक्रम 4500 ईसा पूर्व से लेकर 1500 ईसा पूर्व के मध्य माना जाता है। योगाभ्यास का प्रामाणिक चित्रण लगभग 3000 ई.पू. सिन्धु घाटी सभ्यता के समय की मोहरों और मूर्तियों में मिलता है। योग करते हुए सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त मृण्मूर्तियॉ एवं मुहरों पर किये गये अंकन भारत में योग की प्राचीनता के संकेत देते हैं। देवी की मूर्तियों की प्राप्ति एवं योनि एवं लिंग आकार के पाषाणखण्ड हडप्पा सभ्यता में लैंगिक प्रतीक एवं तंत्र योग की जानकारी देते हैं, कालान्तर में गुरु–शिष्य परम्परा के द्वारा योग का ज्ञान परम्परागत तौर पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलता रहा।[13] प्राचीन साहित्य में योग की दो शाखाएं मिलती है। एक ब्रह्मयोग और दूसरी कर्मयोग के नाम से उल्लेखित है। ब्रह्मयोग की परम्परा सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल और पच्चंशिख नारद–शुकादिकों ने शुरू की थी। यह ब्रह्मयोग लोगों के बीच में ज्ञान, अध यात्म और सांख्य योग नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरी कर्मयोग की परम्परा विवस्वान की है। विवस्वान अर्थात सूर्य ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु ने राजर्षियों एवं आम जन को योग का उपदेश दिया था। अनेक महार्षियों के साथ साथ राम, कृष्ण, हनुमान, बुद्ध, महावीर व पंतजलि ने योग प्रविधियों का विस्तार किया था। रामायण में राम भक्त हनुमान के लिए अष्ट सिद्धि एवं नौ निधियों के जानकार बताया गया है। प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है कि योग के क्षेत्र में सिद्धपंथ, शैवपंथ, नाथपंथ वैष्णव और शाक्त पंथियों, हठयोगियों ने अपनी विभिन्न योग साधनाओं एवं योग प्रविधियों के माध्यम से योग के क्षेत्र में अनेक नवीन अनुसंधान किये थे। दूसरी शती ईसापूर्व में रचित महाभारत, रामायण, पुराण साहित्य में सूर्य उपासना व योग, ध्यान, प्रणायाम, अष्टाग योग, अष्टसिद्धि योग, भक्तियोग, मंत्रयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, राजयोग व क्रियायोग इत्यादि के अनेक उदाहरण मिलते है। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में महाऋषि पंतजलि ने योग के महत्वपूर्ण ग्रन्थ योग सूत्र की रचना की इस ग्रन्थ में योग के व्यवहारिक पक्षों के साथ साथ यम, नियम आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा एवं समाधि का सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया है। प्राचीन योग ग्रन्थों में वेद, उपनिषद्, भगवद गीता, अष्टबक्र गीता, हठ योग प्रदीपिका, शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, विशैषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, गोरक्षशतक, योग वशिष्ठ इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ माने जाते है।[13]

भारतीय पुरातत्त्व में योग साधना, प्रणायाम, ध्यान मुद्राओं एवं आसनों का बडे ही प्रामाणिक रुप से अंकन शिल्पकला में मूर्तियों के रुप में किया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य से ज्ञात होता है कि योग शास्त्र में जितनी भी आसनें ग्रहण की गई है। वह सभी जीव जन्तुओं व पेड पौधों से ग्रहण की गई है। जैसे मकर आसन मगर से कूर्म आसन कछुआ से, काक आसन कौवे से, मयूर आसन से मोर से, कुकुट आसन मुर्गा से, भुजंग आसन नाग से, गरुड आसन गरुड पक्षी से, पद्मासन कमल से, मत्स्यासन मछली से, मण्डूक आसन मेढक से, गौमूख आसन गाय से, पशुविश्रामासन पशुओं से, शवासन मानव शव से, सिहांसन सिंह से मर्जारी आसन बिल्ली से, वृश्रिक आसन विच्छू से, बकासान बगुला से एवं वृक्षासन पेड से, ताडासन ताड नामक पेड से, पर्वतासन पर्वत से सम्बधित मानी जाती है।[14]

योग विद्या को प्राचीन भारत में अनेक महाऋषियों ने अपने अपने अनुभवों से सिद्ध कर प्रमाणित किया है। वैदिक कालीन साधकों व ऋषियों ने ध्यान, प्रणायाम, के माध्यम से अनेक महत्वपूर्ण मंत्रों की खोज की थी। इन सभी योगी जनों ने सघन वनों में योग साधना के माध्यम से अनुसंधान शालाएँ बनाकर अनेक महत्वपूर्ण गुप्त विद्याओं, मंत्रों व दर्शनों की रचना की थी। उक्त साधकों ने अपने अनुभवों को तत्कालीन समाज के सामने प्रस्तुत किया था। भगवान विष्णु के वामन अवतार के समय राजा बलि से दान में तीन पग धरती ग्रहण की थी और अपनी योग माया के माध्यम से एक पग में पृथ्वी दूसरे पग में सम्पूर्ण पृथ्वी नाप ली थी। इसकी प्रामाणिक जानकारी हमें वामन पुराण में मिलती है।[15] प्राचीन भारतीय दर्शन ज्ञान परम्परा में योग अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द के रुप में प्रयुक्त हुआ है। पंतजलि के योग सूत्र में योग का अर्थ मानव की चित्त वृत्ति के निरोध से माना गया है। योग के महानतम साधक वेदव्यास समाधि को ही योग मानते है। पाणिनी अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में योग को ''युजसमाधौ'' उल्लेख करते है। सार रुप में कहा जा सकता है कि आत्मा का संसार की परम सत्ता व प्रकृति से मिलन ही योग है। योग के रुप में गीता का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। भगवान कृष्ण समस्त मानव के भावों को आत्मा में स्थिर रखने को योग मानते है। जैन धर्म में आत्म सिद्धि व मोक्ष की प्राप्ति को योग माना गया है। प्राचीनकालीन साहित्य बौद्ध धर्म के सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक, जातक कथाओं, जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र व आगम ग्रन्थों, महाभारत, रामायण, पुराण, स्मृतियों एवं ग्रह्यसूत्र साहित्य में सूर्य उपासना, योग, ध्यान, प्रणायाम, अष्टाग योग, अष्टसिद्धि योग, भक्तियोग, मंत्रयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, राजयोग व क्रियायोग इत्यादि के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। द्वितीय शती ईसा पूर्व में महान योगी पंतजलि ने योग के ग्रन्थ महाभाष्य की रचना की थी। वेद, उपनिषद्, भगवद गीता, हठ योग प्रदीपिका, पंतजली का महाभाष्य योगसूत्र, शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, सांख्य दर्शन, गोरक्षशतक, योग वशिष्ठ इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ माने जाते है। पुरातत्त्व में जितनी भी देव मूर्तियों का निर्माण किया गया, सभी मूर्तियों को योग आसनों में व मुद्राओं में निर्मित की गई है। वैष्णव मूर्तियों में, शैव मूर्तियों में, शाक्त मूर्तियों में, जैन मूर्तियों में एवं बौद्ध मूर्तियों में अनेंक योग मुद्राएँ व योग से सम्बधित आसन जैसे अभय मुद्रा, अंजलि मुद्रा, कायोत्सर्ग मुद्रा, वृद्धाश्रमन मुद्रा, भू–मुद्रा, भूमिस्पर्श मुद्रा, धर्मचक्र मुद्रा, गजहस्तमुद्रा एवं दण्डहस्त मुद्रा, ज्ञान मुद्रा, हरिण मुद्रा, ध्यान व योग मुद्रा,कर्ण मुद्रा,कटियालम्विता मुद्रा, करतारीहस्त मुद्रा, कटक हस्त मुद्रा, नमस्कारा मुद्रा, अन्नतशायी मुद्रा, गरुण मुद्रा, तरजनी मुद्रा, केशपना मुद्रा, शुची हस्त मुद्रा, उत्तराबोधी मुद्रा, वरद मुद्रा, वज्रहुमकारा मुद्रा, वितर्क मुद्रा, विमाया मुद्रा, अक्षमाला मुद्रा, अग्नि मुद्रा, वायु मुद्रा, स्थानक मुद्रा, पदमासन मुद्रा, शंख मुद्रा, नटराज आसन, ध्यानासन, योगासन इत्यादि प्रमुख है।[16] उक्त मुद्राएँ व योग आसनों में लगभग सभी देवी–देवताओं की मूर्तियों को पत्थर पर उत्कीर्ण किया गया है। भगवान विष्णु, शिव व ब्रह्मा, अग्नि, कुबेर, सूर्य एवं सप्तमातृकाओं इत्यादि को योगासनों के साथ बनाया गया है, अर्थात हमारे प्रमुख देवी एवं देवताओं को प्रमुखता से योग साधना करते हुए दिखाया गया है। इसकें प्रमाण हमें महाकाव्यों, पुराणों, स्मृतियों, उपनिषदों के साथ साथ प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में मिलते है। भगवान शिव को अनेक विद्वान योग का जनक एवं अनेक योग प्रविधियों के जनक मानते है। भगवान शिव की प्राचीन भारतीय प्रतिमा शास्त्र के अनुसार मूर्ति हमेंशा ध्यान मुद्रा में बनाई जाती थी। दक्षिण भारत में योंग की एक मुद्रा नटराज मुद्रा में शिव को उत्कीर्ण किया गया है। भगवान शिव योग के उत्कृष्ट साधक एवं महायोगी माने जाते है। साहित्य के अनुसार भगवान शिव ने माता पार्वती को गूढ और गुप्त योग की शिक्षा दी थी, जो शिव संहिता, शिवपुराण, शिव स्वरोदय इत्यादि में वर्णित है।[17]

भगवान विष्णु को योग के महान साधक के रुप में प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान के जानकारों एवं वास्तुशिल्पकारों ने बड़ी भव्यता से उत्कीर्ण किया है। भगवान विष्णु को क्षीरसागर अर्थात समुद्र में नाग कुण्डली के ऊपर अन्नतशायी मुद्रा में निर्मित किया गया है, जो योग साधना की एक उत्तम मुद्रा है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भगवान विष्णु सर्वोच्च देव पद स्थापित थे। प्राचीन समय में योग साधना के आधार पर योग्यता को निर्धारित किया जाता था। विष्णु की प्रतिमाएँ आसन मुद्रा, शयन मुद्रा व स्थानक मुद्रा में निर्मित की जाती है। उक्त मूर्तियॉ विभिन्न

योग मुद्राएँ व योग आसनों में उत्कीर्ण की गई है। भगवान विष्णु के दशावातार प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में निर्मित किये गये है। दशावतारों में से कृष्ण अवतार व बुद्ध अवतार की प्रतिमाओं को ध्यान अवस्था में निर्मित की जाती है।[18] उल्लेखनीय है कि भगवान कृष्ण ने गीता में कर्म योग, राजयोग, भक्तियोग, ध्यान योग, सन्यास योग का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। रामायण में उल्लेख मिलता है कि भगवान राम को उनके गुरु वशिष्ठ ने योग की उत्कृष्ट शिक्षा दी थी। रामायण में भक्तियोग के अनेक महत्वपूर्ण उदाहरण मिलते है। विष्णु की प्रतिमाएँ अन्नतशायी विष्णु, शेषशायी विष्णु एवं पद्भनाभ के रुप में निर्मित की गई है। इस रुप में विष्णु को ध्यान मुद्रा में शयन करते हुए दिखाया गया है। योगमय अन्नतशायी विष्णु की गुप्तकालीन कला में सुन्दर प्रतिमा देवगढ जिला ललितपुर उत्तरप्रदेश से प्राप्त हुई है। (चित्र क्र.–4) यहॉ से गुप्तकालीन कला में निर्मित योगी मुद्रा में नर नारायण की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा गुप्तकालीन कला में योग परम्परा की उत्तम उदाहरण है। (चित्र क्र.–5) इसमें विष्णु को ध्यान मुद्रा में शेषनाग की कुण्डली पर शयन मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। उनके आयुद्धों को प्रतिमा के नीचे ध्यानमुद्रा में मानवाकार रुप में स्थानक मुद्रा में बनाया गया है। ब्रह्मा को विष्णु की नाभि से निकलते हुए एक कमल पर ध्यान मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। इस प्रतिमा में गरुड को विष्णु के पैरों के समीप ध्यान मुद्रा में बनाया गया है। एरण की गुप्तकालीन कला में विष्णु को गरुडासीन मुद्रा व समभग मुद्रा एवं स्थानक मुद्रा में निर्मित किया गया है। उक्त दोनों प्रतिमाओं में भगवान विष्णु को योगियों की भॉति अर्धोन्मीलित अवस्था में उत्कीर्ण किया गया है।[19]

मध्यभारत के महत्वपूर्ण पुरास्थल एरण की गुप्तकालीन कला में निर्मित भगवान विष्णु का तीसरा अवतार पशुवराह प्रतिमा का विशालकाय स्वरुप दिखाया गया है। भगवान वराह के शरीर पर हजारों की संख्या में योगियों की लघु मूतियॉ निर्मित की गई है। ये सभी मूतियॉ ध्यान अवस्था में निर्मित की गई है। इस प्रकार गुप्तकाल से लेकर पूर्वमध्यकाल एवं उत्तरमध्यकाल में अनेक वराह की प्रतिमाए निर्मित की गई। उन सभी प्रतिमाओं में वराह के शरीर पर योगियों की लघु मूर्तियों को निर्मित किया गया है। जिनसे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में योग का काफी विकास हो चुका था।[20] मध्यभारत में गुप्तकालीन कला में भगवान विष्णु के नौवे अवतार माने जाने वाले भगवान बुद्ध को वल्कल वस्त्रधारी योग की मुद्रा पदमासन में ध्यान मुद्रा में वरद मुद्रा के साथ बनाया गया है। एरण में एक बुद्ध का मस्तक मिला है जो योग मुद्रा में निर्मित है। कुषाण काल एवं गुप्त काल में बुद्ध की सभी प्रतिमाएँ मथुरा कला शैली व गंधार कला शैली में ध्यान मुद्रा में निर्मित की गयी है। (चित्र क्र.–6) प्राचीन भारतीय कला शैलियों में भगवान बुद्ध को पदमासन, ध्यान मुद्रा व वरद मुद्रा में निर्मित किया गया है। जैन तीर्थकरों की प्रतिमाएँ योग मुद्रा, पदमासन मुद्रा व वरद मुद्रा में निर्मित की हुई मिली है।21 (चित्र क्र.–7) मध्यभारत उत्तर भारत व दक्षिण भारत में भगवान शिव की प्रतिमाएँ बडी संख्या में मिली है। शिव को योगी मुद्रा में, ध्यान मुद्रा में, पदमासन मुद्रा में निर्मित किया गया है। (चित्र क्र.–8) उल्लेखनीय है कि शिव योग के जनक व योग के महान साधक माने जाते है। देवी पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती व अन्य देवीयों को योग मुद्रा, पद्मासन एवं वरद मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। प्राचीन भारतीय कला में गणेश एवं कार्तिकेय को भी योग की विभिन्न मुद्राओं में उत्कीर्ण किया गया है। (चित्र क्र.–9) गौण देवी देवताओं में कुबेर, हनुमान, सूर्य, अष्टदिग्पाल, नाग, गन्धर्व इत्यादि को भी योग की ध्यान मुद्रा में निर्मित किया गया है।[22]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में योग की परम्परा कला, संस्कृति एवं पुरातत्त्व के साथ साथ साहित्य में भी दिखाई देती है। वैदिक कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में योग की शि़क्षा ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरू के मार्गदर्शन में ही दी जाती थी। प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज, संस्कृति एवं परम्परा में योग के आध्यात्मिक मूल्य को विशेष महत्व दिया जाता था। योग धर्म उपासना का महत्वपूर्ण अंग होने के साथ साथ तथा मानव जीवन के संस्कारों में रचा–बसा था। हड़प्पा संभ्यता एवं वैदिक काल के दौरान सूर्य को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिए योग परम्परा में सूर्य नमस्कार को प्राचीन काल से वर्तमान काल तक

महत्वपूर्ण माना गया है। प्राचीनकाल से ही ध्यान, प्राणायाम एवं योग दैनिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण होने के साथ यह पूर्ण समर्पण के साथ किया जाता था।

भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व में योग परम्परा हमें हड़प्पा सभ्यता से लेकर ग्रामीण ताम्रपाषाण कालीन संस्कृतियों, महाजनपदकाल, बौद्ध एवं जैन काल, मौर्य काल, शुंग काल, कुषाण काल, सातवाहन काल, वाकाटक काल, गुप्त काल, पूर्व–मध्यकाल एवं उत्तर–मध्यकाल की मूर्तिकला, इतिहास व साहित्य में पूर्ण रुप से देखने को मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास व पुरातत्त्व में योग साधना के अनेक प्रामाणिक उदाहरण दिखाई देता है। प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक उदाहरण मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि जिस व्यक्ति ने भी योग किया है उसने अपना नाम महान व्यक्तियों में स्थापित किया है, चाहे वह महाऋषि हो, विदुषी स्त्रियॉ हो, राजा हो, या आम व्यक्ति हो। योग से सम्बधित नामों में परशुराम, राम, कृष्ण, बलराम, वामदेव ऋषि, अगस्त ऋषि, कण्व ऋषि, विश्वामित्र ऋषि, वशिष्ठ ऋषि, भृगु ऋषि, अत्रि ऋषि, भारद्वाज ऋषि, संदीपनी ऋषि, पाणिनी, विदुषी स्त्रियों में अपाला, घोषा एवं लोपामुद्रा, उज्जैन के राजा भर्हतरी, राजा जनक, राजा कर्ण, बुद्ध, महावीर व जैनों के 23 तीर्थकंर, ऋषभनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान, पंतंजलि, वाल्मीकि, वेदव्यास, कौटिल्य या विष्णुगुप्त, चरक, सुश्रुत, धन्वतंरि, बाग्भट, कालीदास, आर्यभटट, समुद्रगुप्त, वराहमिहिर, वाणभटट, राजा हर्ष, राजशेखर, कल्हण, कबीर, रहीम, तुलसीदास, शंकराचार्य, महावतार बाबाजी के नाम उल्लेखनीय है। उक्त महाविभूतियों ने योग साधना के माध्यम से अपना नाम इतिहास व भारतीय संस्कृति में हमेशा हमेशा को अंकित करवा दिया। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्मांड की हर चीज उसी परिमाण नभ की अभिव्यक्ति मात्र है, जो भी अस्तित्व की इस एकता को महसूस कर लेता है उसे योग में स्थित कहा जा सकता है और उसे योगी के रूप में पुकारा जाता है जिसने मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली है जिसे मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष कहा जाता है। इस प्रकार, योग का लक्ष्य आत्म–अनुभूति, सभी प्रकार के कष्टों से निजात पाना है जिससे मोक्ष की अवस्था या कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है। योग का अभिप्राय एक आंतरिक विज्ञान से भी है जिसमें कई तरह की विधियां शामिल होती हैं जिनके माध्यम से मानव अपनी नियति को अपने वश में कर सकता है। योग के माध्यम से यह प्रामाणित हुआ है कि यह मानवता के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों तरह के उत्थान को संभव बनाता है। बुनियादी मानवीय मूल्य योग साधना की पहचान हैं। ऐसा माना जाता है कि जब से सभ्यता शुरू हुई है, तभी से योग किया जा रहा है। योग के विज्ञान की उत्पत्ति धर्म एवं आस्था के जन्म से भी काफी पहले हुई थी। योग विद्या में शिव को पहले योगी या आदि योगी तथा पहले गुरू या आदि गुरू के रूप में माना जाता है। सप्त ऋषियों ने योग के इस ताकतवर विज्ञान को एशिया महाद्वीप, उत्तरी अफ्रीका एवं दक्षिण अमरीका सहित विश्व के भिन्न–भिन्न भागों में पहुंचाया। महर्षि अगस्त ने पूरे भारतीय उप महाद्वीप के साथ–साथ विश्व का दौरा किया था, उन्होंने भारतीय योग संस्कृति को सम्पूर्ण संसार में फैलाने का कार्य भी किया था। भागवद्गीता में योग का स्पष्ट रुप से प्रमाण प्राप्त होते है जिसमें ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग की संकल्पना को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। तीन प्रकार के ये ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग आज भी मानव की बुद्धिमत्ता के सर्वोच्च उदाहरण हैं तथा आज भी गीता में प्रदर्शित विधियों का अनुसरण करके लागों को शांति मिलती है। पतंजलि के योग सूत्र में न केवल योग के विभिन्न घटक हैं, अपितु मुख्य रूप से इसकी पहचान योग के आठ मार्गों से होती है। प्राचीन भारत में योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। उपनिषद काल में मन को काफी अधिक महत्व दिया गया तथा योग साधना के माध्यम से स्पष्ट रुप से बताया गया कि समभाव का अनुभव करने के लिए मन एवं शरीर दोनों को नियंत्रित किया जा सकता है। आठवी शती ईस्वी से लेकर उन्नीसवीं शती ईसवी के बीच की अवधि को योग साधना की अवधि के रूप में माना जा सकता है। इस दौरान योग के महत्वपूर्ण आचार्यों में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और माधवाचाय रमन महर्षि, रामकृष्ण परमहंस, परमहंस योगानंद, विवेकानंद, सुदर्शन, तुलसी दास, पुरंदर दास, मीराबाई, श्री अरविंदो, महर्षि महेश योगी, आचार्य रजनीश, बी के एस आयंगर, स्वामी योगानन्द आदि ने योग के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी

अविधि के दौरान हठयोग परंपरा के नाथ योगी जैसे कि मत्स्येंद्र नाथ, गोरख नाथ, गौरांगी नाथ, स्वात्माराम सूरी, घेरांड, श्रीनिवास भट्ट इत्यादि ने भी हठ योग की परंपरा को लोकप्रिय बनाया था। आज वर्तमान समय में इन्हीं योग के साधकों के उपदेशों माध्यम से योग सम्पूर्ण दुनिया में फैल चुका है।

सन्दर्भः–

1. सिंह, भगवान : हड़प्पा सभ्यता और वैदिक इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ, 5।
2. चढ़ार, मोहन लाल एवं अन्य : योग विज्ञान के मूलतत्व, एस. के. बुक एजेन्सी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 171।
3. स्कन्दपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1951, पृ. 749।
4. झा, डी.एन. एवं श्रीमाली कृष्ण मोहन : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली, 2016, पृष्ठ, 138।
5. चढ़ार, मोहन लाल एवं अन्य : योग विज्ञान के मूलतत्व, एस. के. बुक एजेन्सी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 10।
6. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद : भारतीय दर्शन की रुपरेखा, वाराणसी, 1995, पृ. 67।
7. पंतजलि योग प्रदीप, गीता प्रेस गाोरखपुर, 2013, पृ. 92।
8. चढ़ार, मोहन लाल एवं अन्य : योग विज्ञान के मूलतत्व, एस. के. बुक एजेन्सी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 192।
9. सरस्वती निरन्जनानंद स्वामी : गीता दर्शन, मुगेर बिहार, 2012, पृ. 11।
10. पाण्डेय, गोविन्दचन्द, बौद्ध–धर्म के इतिहास का विकास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1963, पृ. 29।
11. पाण्डेय, गोविन्दचन्द, बौद्ध–धर्म के इतिहास का विकास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1963, पृ. 255–261।
12. वाजपेयी, .ष्णदत्त तथा अन्य :ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, जयपुर, 1972, पृ. 78।
13. चढ़ार, मोहन लाल एवं अन्य : योग विज्ञान के मूलतत्व, एस. के. बुक एजेन्सी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 11।
14. चढ़ार, मोहन लाल एवं अन्य : योग विज्ञान के मूलतत्व, एस. के. बुक एजेन्सी, नई दिल्ली, 2018, पृ. 192।
15. वामनपुराण,गीता प्रेस, गोरखपुर, 2018, पृ.137–138।
16. शुक्ल, द्विजेन्द्र नारायण :प्रतिमा विज्ञान, शुक्ला प्रिंट्रिग प्रेस, लखनऊ, 1956, पृ. 229।
17. स्वामी सत्यानंन्द सरस्वतीः स्वर योग, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुगेर, बिहार, 1994, पृ. 8।
18. श्रीवास्तव, बृजभूषण : प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी, 2010, पृ. 17।
19. च़ढ़ार, मोहन लाल, एरण : एक सांस्कृतिक धरोहर, नई दिल्ली, 2016, पृ. 78।
20. गुप्त, आर, एस. : आइकोनोग्राफी ऑफ द हिन्दुस, बुद्धिस्ट एण्ड जैनस, बाम्बे, 1972, पृ., 28–35।
21. गुप्त, आर, एस. : आइकोनोग्राफी ऑफ द हिन्दुस, बुद्धिस्ट एण्ड जैनस, बाम्बे, 1972, पृ., 10।
22. गुप्त, आर, एस. : आइकोनोग्राफी ऑफ द हिन्दुस, बुद्धिस्ट एण्ड जैनस, बाम्बे, 1972, पृ., 49–52।

सहायक प्रोफेसर,
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति
तथा पुरातत्व विभाग,
इंदिरा गॉधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकटंक, मध्यप्रदेश, 484887

चित्र क्र.–1, मोहेनजोदारों से प्राप्त
योगी पशुपति शिव उत्कीर्ण सील

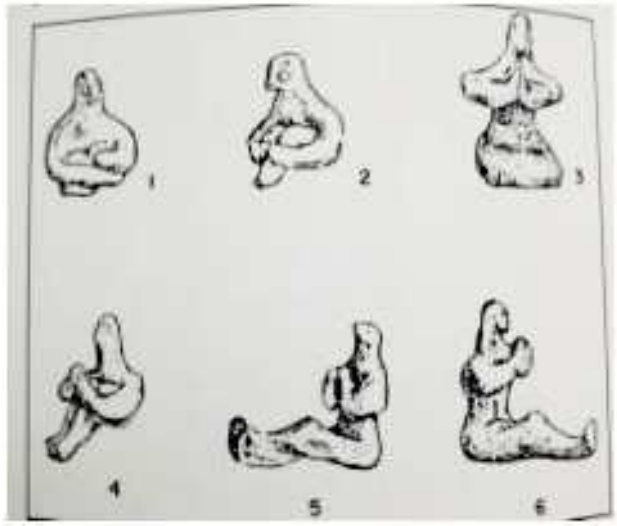

चित्र क्र. –2, मोहेनजोदारों एवं हड़प्पा
से प्राप्त योग मुद्रा में निर्मित मृण्मूर्तियॉ

चित्र क्र. –3, मोहेनजोदारों एवं हड़प्पा से प्राप्त योग मुद्रा में निर्मित मृण्मूर्तियॉ

चित्र क्र. –4, योग मुद्रा अन्नतशायी विष्णु,
देवगढ, उत्तरप्रदेश

चित्र क्र.–5, योग मुद्रा नर–नारायण
देवगढ़, उत्तरप्रदेश

चित्र क्र.–7, ध्यान मुद्रा, ऋषभनाथ प्रतिमा,
देवगढ़, उत्तरप्रदेश

चित्र क्र.–7, ध्यान मुद्रा, ऋषभनाथ प्रतिमा,
देवगढ़, उत्तरप्रदेश

चित्र क्र.–8, ध्यान मुद्रा,सदाशिव प्रतिमा,
नीलकण्टेश्वर, ललितपुर, उत्तरप्रदेश

चित्र क्र.–9 ध्यान मुद्रा पंचमुखी गणेश प्रतिमा,
भोपाल राज्य संग्रहालय, मध्यप्रदेश

•••

छत्तीसगढ़ का प्रयाग–राजिम और पुरातत्त्व

मोहन कुमार साहू

पैरी–महानदी संगम के पूर्व में बसा राजिम अत्यन्त प्राचीन समय से छत्तीसगढ़ का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। राजिम कला संस्कृति एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह छत्तीसगढ़ प्रदेश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीर्थ स्थल है।[1] यहाँ के धार्मिक जीवन में पैरी–महानदी संगम को पवित्रतम स्थान प्राप्त है। श्राद्ध, तर्पण, पर्वस्नान, दान आदि धार्मिक कृत्यों के लिए इसकी सार्वजनीन महत्ता आंचलिक लोगों की परम्परागत आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास की स्वाभाविक परिणति के रूप में सद्यः प्रवाहमान है। क्षेत्रीय लोग इस संगम को प्रयाग संगम के समान ही पवित्र मानते है। उनका विश्वास है कि यहाँ स्नान करने मात्र से मनुष्य के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं तथा मृत्युपरान्त वह विष्णुलोक प्राप्त करता है। छत्तीसगढ़ प्रदेश में महानदी का वही स्थान है जो भारत में गंगा है। यहाँ का सबसे बड़ा पर्व महाशिवरात्रि है। पर्वायोजन माघ मास की पूर्णिमा से प्रारंभ होकर फाल्गुन मास की महाशिवरात्रि (कृष्ण पक्ष–त्रयोदशी) तक चलता है। इस अवसर पर छत्तीसगढ़ के कोने–कोने से सहस्त्रों यात्री संगम–स्नान करने तथा भगवान राजीवलोचन एवं कुलेश्वर महादेव के दर्शन करने आते हैं।

राजिम से प्राप्त पांडुवंशी नरेश तीवरदेव का ताम्रपत्र भी उसके पांडुवंश कालीन स्थिति का प्रमाण है। सिरपुर की ही भाँति पांडुवंशी काल के पश्चात् सभी कालों की कला छाप के उदाहरण राजिम में प्राप्त होते है।

राजिम स्थित राजीवलोचन मंदिर की योजना सिरपुर के लक्ष्मण मंदिर के ही समान है। मंदिर के महामण्डप के स्तंभ जो कि निचले भाग में सादे एवं शीर्ष भाग में अत्यन्त ही अलंकृत है, गुप्तोत्तर कालीन कला के प्रतीक है। कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि सिरपुर के लक्ष्मण मंदिर के महामण्डप के स्तंभ नाव द्वारा राजिम लाये गये थे। मंदिर के अर्द्धस्तंभ एवं उन पर उत्कीर्ण देवताओं एवं परिचारिकाओं की मूर्तियाँ पाण्डुवंशी कला का प्रदर्शन करती है। इसी प्रकार राजिव लोचन मंदिर के दक्षिण पूर्वी देव मंदिर में वामन की प्रतिमा शरभपुरीय कला का उत्कृष्ट नमूना है। इसी प्रकार राजिम में स्थित रामचँद्र मंदिर पांडुवंश कालीन व कलचुरि कालीन कला के उदाहरण प्रस्तुत करता है। राजिम की यह शिल्प एवं स्थापत्य कला सिरपुर की कला का अनुवर्तन है और इस बात का प्रमाण है कि सिरपुर में जिस कला का जन्म एवं विकास हुआ उसका एक केन्द्र महानदी के तटपर स्थित राजिम भी था।

राजीव लोचन मंदिर की वास्तु संरचना :–

धार्मिक तीर्थ स्थल राजिम रायपुर से 45 कि.मी. दक्षिण में महानदी के दक्षिण तट पर स्थित जहाँ पैरी एवं सोढूंर नदी का महानदी में संगम होता है। इसका प्राचीन नाम 'कमल क्षेत्र' एवं 'पद्मपुर' था।[2] इसे छत्तीसगढ़ का 'प्रयाग' कहा जाता 3 है। राजिम में राजीव लोचन देवालय में विष्णु भगवान की पूजा होती है, राजेश्वर, दानेश्वर एवं रामचँद्र मंदिर इस समूह के अन्य महत्वपूर्ण मंदिर है। यहाँ कुलेश्वर महादेव का भी मंदिर है जो ऊँची जगती पर निर्मित है। इस मंदिर के तल विन्यास में गर्भगृह, अंतराल एवं मण्डप कुल तीन अंग है। मण्डप की भित्ति में कलचुरि शासक जगपालदेव अथवा जगतदेव का प्रस्तर अभिलेख जुड़ा हुआ है। यह स्मारक क्षेत्रीयकला एवं स्थापत्य का सुंदर नमूना है।

अपनी वास्तु संरचना में छत्तीसगढ़ के अन्य इष्टिका मंदिरों से भिन्न होने के कारण यहाँ इसका विवरण अपेक्षित है। राजीव लोचन मंदिर पंचायतन शैली 4 में बना है। इसके चारों कोनों पर चार छोटे–छोटे मंदिर है बीच में बड़ा मंदिर है। पश्चिमी भाग पर गोपुरम की व्यवस्था की गई है जो दक्षिण वास्तु कला का प्रतीक है। इस मंदिर को ऊँचे

मंच पर बनाया गया है। इसमें गर्भगृह, अंतराल तथा मंडप का समावेश है तथा अपनी मूल अवस्था में है। शिखर और मण्डप में अनेक परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

गर्भगृह का तल छंद, कुम्भ, कलश तथा अशोक की पत्तियों से युक्त है। प्रवेश के लिए उत्तर–दक्षिण दो सोपानों का प्रबंध है। प्रवेश द्वार के शाखा पर अनेक कला कृत्तियाँ उकेरी गई है। जिसमें लता–पुष्प, क्रिड़ारत नटयक्षों का सुन्दर अंलकरण प्राप्त है। इस मंदिर के गोपुरम में सिरदल पर सिरपुर के समान शेषशायी विष्णु का अंकन किया गया है। इस मंदिर का निर्माण संभवतः ईसा की 5वीं शती के अंतिम चरण में हुई होगी। इस मंदिर में लगे अभिलेख के अनुसार नलशासक विलासतुंग लगभग 600 ई. में इस मंदिर का निर्माण किया होगा।

राजिम की मूर्तिकला :– प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का सीधा संबंध लोगों की भावना और आस्था से रहा है। भौतिक जगत और आध्यात्मिक दोनों ही स्तरों पर रस प्राप्त होता है5। संपूर्ण ललित कलाएँ मूर्तिकला पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मूर्तिकला अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने का सशक्त माध्यम है। जिसमें अपने आंतरिक भाव एवं बाह्य भाव को प्रदर्शित किया जा सकता है। आध्यात्मिक संस्कृति में मूर्तिकला का सृजन, संरक्षण और संवर्धन होता रहा है।

राजिम में विकसित मूर्तिकला तथा इसकी वर्तमान में उपलब्ध अनेकानेक कृतियों के संबंध में भी उक्त बातें यथावत रूप में चरितार्थ होता है। राजिम से प्राप्त कला की इन महानतम कृत्तियों का निर्माण मात्र से दर्शाता है। मूर्तिकला के सफल रूपायन में शिल्पकारों की सफलता के लिए राजनीतिक स्थिरता, प्रशासनिक प्रश्रय, शांति और सुव्यवस्था आदि का प्रत्यक्ष योगदान होना स्वतः प्रमाणित होता है।

राजिम की मूर्तिकला में शिल्पकारों के द्वारा परम्परागत शिल्प शास्त्रों का पालन किया गया है। यहाँ की मूर्तियों में मानवीय, अर्ध दैवीय अथवा दैवीय प्रतिमाओं में अंग–विन्यास, रूपमण्डन, भाव–भंगिमा निर्देशन, संबंधी तकनीक एवं शैली आदि में अतिशय एकरूपता दिखाई पड़ता है।

अन्य स्थानों में मल्लार, सिरपुर, रतनपुर अथवा जाँजगीर आदि से प्राप्त कतिपय अपवादों को छोड़कर शेष मूर्तियों की निर्माण शैली तथा भावाभिव्यंजना में सर्वत्र समरूपता दिखायी देती है।

राजिम की मूर्तिकला की विशेषताएँ –

राजिम में निर्मित की गई मूर्तियों में अधिकतर त्रिभंग मुद्रा में बनी है। लयात्मकता, कोमलता और रसात्मकता आदि सौंदर्य प्रदान करने में सक्षम है। शिल्पी के द्वारा शिल्पशास्त्र का ध्यान रखा गया जिसमें प्रतिमा लक्षण, भावभंगिमायें, शाररिक भाषाएँ प्रमुख है। मूर्तियों में मौलिकता एवं सजीवता का प्रमाण दिखता है। शिल्पकारों ने आक्रमक शैली भाव का चयन किया गया। यहाँ की प्रतिमाओं में श्रृंगारिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वित रूप देखने को मिलता है। मूर्ति में रसों को दिखाने का प्रयास किया गया है। नारी प्रतिमाओं में कटि से लेकर ऊपर के अंगों को ढंका गया है। वस्त्र के किनारे में लहरदार लाइनें है। जो कलात्मकता की ओर संकेत करता है। वस्त्रों के चुन्नटों को कलात्मक रूप प्रदान किया गया है। अनेक प्रकार की अलंकरणों से सजाने का प्रयास किया गया है। पुरूष मूर्तियों में यज्ञोपवीत धारण किया गया है। जिसमें यज्ञोपवीत को पुष्प–गुण्ठित लड़ी के रूप में दिखाया गया है। सभी मूर्तियों में केश–विन्यास एक समान दिखाई देता है। नारी मूर्तियों में छोटी भिदुर मुद्रिकाओं में मुड़ी हुई ललित–ललाम केश की आकर्षक अभिव्यक्ति है। पुरूष मूर्तियों में केश–विन्यास बलयित कुन्तल या स्कन्ध पर्यन्त लटकते हुए दिखाए गये हैं। पुरूष मूर्तियों के सिर के ऊपर गुम्फित जुड़े का आकार दे दिया गया है। देखने से यह बुद्ध कालीन प्रतिमा लक्षण की याद दिलाता है। इस प्रकार से राजीम की मूर्तिकला सजाया व संवारा गया है।

राजिम के प्रमुख राजवंश – महानदी और पैरी नदी के संगम पर लोमस ऋषि का आश्रम था। राजिम की एकांत भूमि ऋषि–मुनियों की तपो भूमि रही होगी। प्राचीन समय में राजिम के उत्कर्ष में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक वातावरण की अनुकुलता सर्वाधिक महत्व रही है। दक्षिण कोसल की धार्मिक उन्नति यहाँ की वनोंपज और खानों का भी विशेष योगदान रहा है। यहाँ हीरा मिलता है जिसका रंग शिवरी के फूल जैसा है। आज भी महानदी की

रेत पर भी देखे जा सकते हैं। दक्षिण कोसल पर शासन करने वाले शरभपुरीय शासक परम वैष्णव थे। अतएव उनके राजत्व काल में वैष्णव तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध राजिम का सर्वांगीण विकास होना स्वाभाविक जान पड़ता है। उत्खनन से डॉ.एम.जी.दीक्षित को राजिम से वैष्णव प्रतिमाओं में नारायण तपश्चर्या मूर्ति, वामन की मूर्ति, त्रिविक्रम मूर्ति, नृसिंह की मूर्ति प्राप्त हुआ। दक्षिण कोसल पर सोमवंशी शासकों का अधिपत्य रहा जिसे पांडुवंश या पाण्डव वंश के नाम से भी जाना जाता है।

सोमवंशी राजत्व काल के जो शिलालेख, ताम्रपत्र तथा अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई है। इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है, यह वंश अपनी उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, विद्यानुरागी, कला प्रेमी एवं निर्माण कार्यों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इनके कार्यकाल में दक्षिण कोसल का बहुमुखी उन्नति हुई है यही कारण है कि इसके शासन काल को दक्षिण कोसल का स्वर्ण युग कहा जाता है। इनकी राजधानी श्रीपुर थी और कला केन्द्र मल्लार था। इनके समय की दो मूर्ति राजिम से प्राप्त हुई और इस वंश के महाशिव तीवरदेव का ताम्रपत्र प्राप्त हुआ जो सिद्ध करता है राजिम में इस वंश के शासकों का कार्य क्षेत्र रहा होगा। सोमवंशियों को अपदस्थ करने का श्रेय नल–वंश के प्रतापी शासक विलासतुंग को जाता है। इसका एक मात्र प्रमाण शिलालेख राजिम के राजीवलोचन मंदिर में है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है। महाराज विलासतुंग द्वारा भगवान विष्णु के भव्य मंदिर का निर्माण किया है। नलवंश के पश्चात् दक्षिण कोसल पर कलचुरियों का शासन स्थापित हुआ। कलचुरि सामंत जगपाल देव ने यहाँ भगवान रामचँद्र का मंदिर बनवाया, इस बात का साक्ष्य राजीवलोचन मंदिर में उत्कीर्ण शिलालेख से है।

राजिम की पुरावशेषों का महत्व – सागर वि.वि. के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष प्रो.के.डी. वाजपेयी।[5] के निर्देशन में गत दो वर्ष उत्खनन हुआ। प्रो. झा के अनुसार राजिम संस्कृति का आरम्भ चालकोलिथिक युग में हुआ। और इस संस्कृति से सम्बंद्ध प्रस्तर औजार (माइक्रोलिथ्स), ताम्र औजार तथा मृत्पात्र के अवशेष भी प्राप्त हुए है। समाज में रहने वाले लोग अपने हिसाब से अपनी आवश्यकता को पुरा करता है। उत्खनन से उन्हें समाज से जुड़ी वस्तुओं एवं कलावशेषों का अध्ययन किया जाता है। इन पुरा सामाग्रिओं का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व है। कुछ मृत्पात्र के अवशेष वर्तमान पितईबंद नामक ग्राम से मिले हैं। पितईबंद से लेकर वर्तमान सोमेंश्वर महादेव के मंदिर तक प्राप्त होता है। पैरी नदी के पश्चिम में नवागाँव से महानदी की सहायक सोंढूल के प्रवाह क्षेत्र से भी मृत्पात्र प्राप्त हुए हैं। इससे यही कहा जा सकता है कि प्राचीन नगरों का बसाहट नदियों के किनारें में बस्ती है जिससे पीने के लिए साफ पानी वर्ष भर मिलता रहे और भोजन के लिए कृषि कार्य को पर्याप्त पानी मिल सके। रामगढ़ (सरगुजा) की पहाड़ी पर स्थित जोगी मारा तथा सीता बेंगरा गुफाओं के समीप स्थलों से एन.बी.पी. के अवशेष प्राप्त हुए हैं और राजिम के एन.बी.पी. के समकक्षीय जान पड़ते हैं। राजिम से काजित भाण्डों के अवशेषों की प्राप्ती विशेष उल्लेखनीय है। भारतीय पुराविदों की धारणा है की इस प्रकार की मृत्पात्र कला का भारत में आगमन रोम–संस्कृति से संपर्क–सम्बन्ध के साथ हुआ। ऐसा ही प्रमाण अहिच्छत्र के उत्खनन से मिला है। छत्तीसगढ़ से रोम सिक्कों का प्राप्त होना सिद्ध करता है कि दूसरी शताब्दी ई.स. में इस क्षेत्र का व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बंध रोम से था। यही वजह है कि छत्तीसगढ़ में काचित भाण्डों का मिलना रोम संस्कृति की देन है।

स्मारकों के अवशेष :– सोमेंश्वर महादेव मंदिर के सामने एक स्मारक का अवशेष विद्यमान है। रामचँद मंदिर के प्रवेश द्वार पर गंगा–यमुना नदि–देवियों की मूर्तियों से अलंकृत पाख (शाखा) वाले है। कुछ मंदिर के पास खुदाई से प्राचीन भवनों के चिन्ह दिवारों के अवशेष प्राप्त हुए है। सर्वे करने पर पता चला कि दीवारों का निर्माण पक्की ईटों से की गई। इन स्मारकों और भवनों का निरीक्षण करने पर हमें ज्ञात होता है कि यहाँ के मंदिर का निर्माण 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य बने हुए है।

राजिम की प्राचीन अभिलेख – पितई बंद नामक ग्राम से महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य के सिक्के प्राप्त हुए है। महाशिव तीवरदेव का राजिम से ताम्रपत्र प्राप्त हुए है। राजीवलोचन मंदिर से विलासतुंग का शिलालेख उत्कीर्ण

है। राजिम के स्तंभी पर उत्त्कीर्ण यात्री लेख है। कुलेश्वर महादेव मंदिर के मंडप में संरक्षित शिला लेख जगपालदेव का राजीवलोचन मंदिर में शिलालेख उत्त्कीर्ण है। इन पुरातात्विक साक्ष्य से राजिम की सांस्कृतिक, राजनीतिक, ध ार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। ऐतिहासिक दृष्टि महत्वपूर्ण पुरावशेष है। और राजवंशों के द्वारा द्वारा बनाए गए मंदिरों के बारे में जानकारी प्राप्त होता है।

निष्कर्ष :– राजिम को मोक्षधाम कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। राजिम की संगम स्थली में स्नान करने मात्र से पाप धुल जाते हैं। छत्तीसगढ़ में राजिम एक ऐसा पवित्र स्थल है जो धार्मिक महत्व के साथ पुरातात्त्विक महत्व का भी विशेष स्थान है। उत्खनन से प्राप्त पुरावशेष व कला–कृतियाँ यह दर्शाता है कि तत्कालीन राजवंशों का झुकाव कला–संस्कृति एवं मंदिर निर्माण के प्रति था। इनके राज दरबार में शिल्पाचार्यों का उच्च स्थान था जिनकी बदौलत अलंकृत मंदिरों का निर्माण संभव हुआ। जिनकी कला– कृतियों को आज भी देखा जा सकता है।

संदर्भः–

1. देशमुख, डी.पी. , कला परम्परा, नीता देशमुख, पृ. 9–10, 145–46, 162।
2. पाण्डे, श्यामकुमार, दक्षिण कोसल .पृ.क्र. 140–42।
3. धरोहार , संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग रायपुर, छत्तीसगढ़ शासन ।
4. ठाकुर, विष्णु सिंह, राजिम, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, संस्करण 1972, पृ.क्र. 106–30।
5. वही, .20–45।

शोधार्थी

प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरा. विभाग

इंदिरा कला संगीत वि.वि. खैरागढ़, छत्तीसगढ़

●●●

दण्डकारण्य में तन्त्र–परम्परा

डॉ. नवीन त्रिपाठी

तन्त्र, भारत की प्राचीनतम् मूल संस्कृति रही है और आज भी विश्व संस्कृति के रूप में अपनी पहचान बनाए हुए है। तन्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसमें मानव के व्यक्तित्त्व एवं उसकी निम्न चेतना को विश्वव्यापी, ब्रह्माण्डीय, असीमित व उच्चतम चेतना में परिवर्तित करने की असंख्य प्रक्रियाएं बतलायी गई है। इन्हीं तान्त्रिक प्रक्रियाओं को जाने–अनजाने में आंशिक रूपों से विश्व के प्रायः सभी क्षेत्रों में व्यवहृत किया जाता है, चाहें वे प्रक्रियाएं शारीरिक शुद्धि अथवा मानसिक सन्तुलन के लिए हो; सामाजिक प्रथा शादी–विवाह, जन्म–मरण की रीति–रिवाज के लिए हो; ओझा या डायन की झाड़–फूंक, जादू–मन्तर या टोना–टोटका के लिए हो; दैनिक आचार–व्यवहार, अनुशासन व शिष्टाचार के लिए हो अथवा उनका पूजा–अनुष्ठान की आध्यात्मिक साधना के रूपों में प्रचलन हो। चाहे ये साधना प्रणालियां बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम अथवा हिन्दू दर्शन के हों, हर हालत में वे तन्त्र के सूक्ष्म तात्त्विक अर्थों एवं रहस्यों को ही अनेक रूपों में उदघाटित करते हैं।

यदि हम तन्त्र के शाब्दिक अर्थों का विश्लेषण करें तो इसके विशाल उद्देश्य और प्रक्रियाओं को सही–सही समझ सकते हैं। तन्त्र दो शब्दों के मेल से बना है–'तनोति' और 'त्रायति'। 'तनोति' का अर्थ है– तानना, विस्तार करना और 'त्रायति'– का अर्थ है अलग करना अथवा मुक्त करना। आशय यह है कि मन की शक्ति एवं चेतना का विस्तार करना एवं स्थूल पदार्थ और इन्द्रियगत सीमित अनुभवों से मुक्त करना तथा सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय एवं असीमित विश्वव्यापी रूपों में परिणित करना। मानव के आन्तरिक व्यक्तित्त्व को उजागर करने की जितनी प्रक्रियाएं हुई, वे सभी तन्त्र महाविज्ञान को ही पूर्णरूप से पुष्ट करती है।

वर्तमान में तन्त्र की साधना सीमित रूप में ही की जाती है। यह देखा गया है कि इस विद्या को जानने वाले अपनी शिक्षा–दीक्षा एवं साधना को गुप्त ही रखते हैं। वर्तमान में इस साधना का विकृत रूप ही हमें देखने को मिलता है।

तन्त्रवाद उद्भव एवं विकासः–

छठवीं शताब्दी ईसापूर्व का यह समय ना केवल भारत में नए युग का सूत्रपात किया वरन् वैश्विक स्तर में भी नई सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण का साक्षी रहा है। भारतीय समाज में प्रचलित परम्परागत वैदिक धर्म में व्याप्त कुरीतियों, पाखण्ड, कुप्रथाओं, छुआछुत, ऊंच–नीच आदि को चुनौती देते हुए समाज में व्याप्त धर्म के प्रति असंतोष के चरम परिणति में, छठवीं शताब्दी ईसापूर्व में गौतम बुद्ध ने बौद्धधर्म की स्थापना की थी। गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्मों की पुनर्व्याख्या करते हुए वैदिक धर्म के नैतिक पक्ष की ओर बल दिया है। बौद्धदर्शन का अवलम्बन भी वैदिक धर्म पर ही था। कालान्तर में बौद्धधर्म में भी कई उपसम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ। महज पांच सौ सालों के अन्तराल में ही बौद्धधर्म में नैतिकता का स्थान तन्त्र–मन्त्र ने ग्रहण कर लिया। अब बौद्धधर्म के भिक्षु एवं तथाकथित आचार्यों ने तान्त्रिक साधनाओं के द्वारा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे। तान्त्रिक भिक्षुओं का यह उपसम्प्रदाय वज्रयान के रूप में प्रचलित हुआ। नौवीं शताब्दी ईस्वी से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक के काल में भारत में यह सम्प्रदाय अपने चरमावस्था पर थी। इस समय नालन्दा तन्त्र साधना के प्रमुख पीठ के रूप में उभरकर अवतरित होता है। तान्त्रिक साधना को मानने वाले तारादेवी की पूजा किया करते थे।

दण्डकारण्य में तन्त्रवादः–

ईसापूर्व छठवीं शताब्दी से प्राप्त साक्ष्यों के अनुरूप दण्डकारण्य का धर्म शेष भारत में पाए जाने वाले वैदिक ध र्म के समान था। जिसमें वैदिक क्रियाकलापों की प्रधानता थी। समयान्तर में वैदिक धर्म की जटिलताओं के विरूद्ध जैनधर्म एवं बौद्धधर्म जैसे सुधारवादी धर्मों के आविर्भाव का प्रभाव दण्डकारण्य में भी दिखता है। मौर्ययुग के पश्चात दण्डकारण्य प्रदेश में जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा। दण्डकारण्य में शासन करने वाले प्रारम्भिक नल शासक पृथ्वीव्याघ्र के द्वारा अश्वमेघ यज्ञ करने के साक्ष्य उदयेन्दिरम–दानपत्र[1] में मिलता है। मध्ययुगीन दण्डकारण्य का प्रमुख धर्म शैवधर्म था एवं यहां की जनजाति शिव के विभिन्न रूपों की पूजा करती थी। छिन्दक नागकुल के शासकों ने इस क्षेत्र में शिव मन्दिरों का निर्माण करवाया एवं स्वयं को परममाहेश्वर कहा। शैवमत में विभिन्न स्वरूप यथा कापालिक, कौल, शाक्त थे, जिसमें शिव की आराधना अनेक रूपों यथा रूद्रेश्वर, कामेश्वर, मदनेश्वर, महाभैरव, कालभैरव, लिंगरूप में होती थी। प्राचीन अभिलेखों, साहित्य साक्ष्यों, पुरातात्त्विक सामग्रियों के अनुशीलन से हमें दण्डकारण्य क्षेत्र में जन–सामान्य के बीच शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन एवं हिन्दू धार्मिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त बौद्धधर्म के वाममार्गी उपसम्प्रदाय के रूप में कापालिकों का वर्णन मिलता है। दण्डकारण्य में तन्त्र साधना का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। यहां शासन करने वाले छिन्दक नागवंशी शासकों के अभिलेखों से कापालिक सम्प्रदाय के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। चक्रकोट में शासन करने वाले छिन्दक कुल के शासक सोमेश्वरदेव के कुरूसपाल अभिलेख[2] में में एक ग्राम का नामोल्लेख 'कापालिक' के रूप में मिलता है। यथा

.....पूर्व्वस्यां दिशि आरंगा दक्षिणस्यामिंदनदी प्रतीच्च्यं कापालिक.....[3]

सम्भवतः इस ग्राम में कापालिक धर्म को मानने वाले अनुयायिओं का निवास रहा होगा। वर्तमान में इस स्थान के समीप ही 'कपारी' नामक नाला प्रवाहित होता है। ऐसा अनुमानत लगाया जा सकता है कि कपारी का यह नाम कापालिक से ही पड़ा होगा। दण्डकारण्य में मध्यकाल में तन्त्र साधना का प्रादुर्भाव हुआ। इस क्षेत्र में निवास करने वाली सामान्य जनजाति ने तन्त्रसाधना को गुप्तस्वरूप प्रदान किया। तन्त्रसाधना के सिद्धहस्त को तान्त्रिक कहा जाता था। तन्त्रसाधना का क्षेत्र पंचमकार क्षेत्र कहलाता था। इस साधना में चक्रपूजा अथवा चक्रसाधना का उल्लेख मिलता है। चक्र, नारीत्व का प्रतीक है मूलरूप में चक्रसाधना, योनिसाधना का ही एक रूप है जिसे शक्ति का स्रोत कहा जाता है। इस साधना में तान्त्रिक के संरक्षण में शक्तिपूजा की जाती थी। इसमें पंचमकार नियम (मद्य, मास, मत्स्य, मैथुन, मुद्रा) पूर्ण कर भोग एवं नरबलि का आयोजन किया जाता था। पंचमकार नियम को कुलाचार एवं इस विधि से पूजा करने वाले साधक को कौल कहा जाता था। यह साधना समूह में की जाती थी इसलिए इसे चक्रकोट कहा जाता था। तन्त्रसाधना में माणिक्येश्वरी देवी की स्तुति की जाती थी। महान् शासक सोमेश्वरदेव के समकालीन एवं प्रतिद्वंदी शासक मधुरान्तकदेव भी कुछ समय तक सामान्तर शासन करते रहे। मधुरान्तकदेव के राजपुर ताम्रपत्र[4] में तन्त्र साधना में योगिनी का विवरण इस प्रकार मिलता है–

.....कुलाधिनी योगिनी आचार्यस्याह स्थलम नास्ति.....

बस्तर में भ्रमरकोट मण्डल से शासन करने वाले सोमेश्वरदेव के समकालीन मधुरान्तकदेव के राजपुर ताम्रपत्र[5] में नरबलि दिए जाने का विवरण मिलता है, जिसमें नरबलि की व्यवस्था करने वाले के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। बस्तर में शासन करने वाले काकतीय नृपति दिक्पालदेव के दन्तेवाड़ा से प्राप्त अभिलेख[6] में मां दन्तेश्वरी की आराधना में सैकड़ों भैंसों एवं बकरियों की बलि देने के प्रमाण मिलते हैं, जिससे शंखिनी नदी का पानी पांच दिनों तक लाल रहा। काकतीय शासक जब वारंगल से बस्तर क्षेत्र में आए तब उनकी आराध्य देवी माणिक्येश्वरी ही दन्तेश्वरी देवी के रूप में विख्यात हुईं। आज भी डंकिनी एवं शंखिनी नदियों के संगम पर मां दन्तेश्वरी देवी पीठ स्थापित है। बस्तर का मूर्तिशिल्प[7] में डॉ. विवेक दत्त झा ने अपना अभिमत कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है– "बस्तर में दैवी उपासना यद्यपि प्रागैतिहासिक युग से प्रचलित रही है, तथापि इसके ठोस प्रमाण शिल्प एवं अभिलेखों के रूप में आठवीं शताब्दी ईस्वी से उपलब्ध होते हैं। बस्तर में संपृक्त उड़ीसा राज्य का जयपुर(वज्रक्षेत्र) प्रमुख तान्त्रिक पीठ

रहा है। प्रतीत होता है कि मध्यकाल में जयपुर से शक्ति उपासना बस्तर आई।"

बस्तर का इतिहास लिखने वाले इस क्षेत्र के विद्वान श्री केदारनाथ ठाकुर ने अपने ग्रन्थ बस्तर–भूषण में यह विवरण दिया है कि गढ़बोदरा जो कि पूर्व काल में छिन्दक नागों की राजधानी थी, के समीप ही कापालिक नामक गांव था। यहां कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा तन्त्र साधना की जाती थी। बस्तर के आदिम प्रजातियों में जादू–टोने की परिपाटी प्रचलित थी। बस्तर क्षेत्र में तन्त्र साधना का प्रसार उड़ीसा के जयपुर एवं आन्ध्रप्रदेश के श्रीपर्वत क्षेत्र से हुआ होगा। उड़ीसा में जयपुर अथवा जैपुर(वज्रक्षेत्र) तथा श्रीपर्वत का प्रदेश तान्त्रिक पीठ के रूप में प्रसिद्ध था। भवभूति कृत मालतीमाधव में सौदामिनी नामक बौद्ध भिक्षुणी के द्वारा आन्ध्रप्रदेश के श्रीपर्वत क्षेत्र में प्रवास कर उसके द्वारा तन्त्र साधना करने का विवरण मिलता है।

कापालिकों की गणना बौद्धधर्म योगी के रूप में की जाती है। वामनपुराण में पाशुपत की कालामुख एवं कपाली जाति का उल्लेख मिलता है। दसवीं शताब्दी के जैन विद्वान पुष्यदत्त ने भी कापालिकों एवं कोलाचार्यों का विवरण दिया है। ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्ण मिश्र रचित प्रबोधचन्द्रोदय में भी कापालिकों का वर्णन मिलता है। स्त्रियों के साथ विहार करना एवं मद्यपान करना कापालिकों की मुख्य पहचान थी। मध्यकाल के राजशेखर द्वारा विरचित कर्पूरमंजरी में कापालिकों के द्वारा सुरा एवं सुन्दरी के सेवन का विवरण मिलता है।

कालान्तर में इसी तन्त्रवाद को बस्तर में शासन करने वाले चालुक्य शासकों ने राजधर्म के रूप में स्वीकार किया था। चालुक्य नृपति दन्तेश्वरी देवी के उपासक थे, और उनके अधीनस्थ जमीनदार एवं जागीरदार इस धर्म को मानते थे।

वर्तमान में आज भी बस्तर के स्थानीय निवासियों का विश्वास इस तन्त्र साधना पर है। शत्रु अथवा विरोधी का नाश करने लिए भी इसका भ्रामक प्रयोग किया जाता है।

सन्दर्भः–

1. इंडियन एण्टीक्वेरी, भाग,पृ. 273.।
2. एपीग्राफियॉ इंडिका, भाग–10, पृ. 30.।
3. डी.लिट् शोध–प्रबन्ध, झा, के.के. चक्रकोट के छिन्दक नागवंश के महान् नृपति सोमेश्वरदेव और उसका राज्यकाल, पृ. 290।
4. एपीग्राफियॉ इंडिका, भाग–09, पृ. 179,180।
5. एपीग्राफियॉ इंडिका, भाग–09, पृ. 174।
6. एपीग्राफियॉ इंडिका, भाग–09, पृ. 165।
7. झा, वी.डी. डी.लिट् शोध–प्रबन्ध, पृ. 89।
8. शुक्ल,हीरालाल, आदिवासी अस्तर का वृहद इतिहास, खण्ड 3 बी.आर.पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।
9. शुक्ल, हीरालाल, आदिवासी अस्तर का वृहद इतिहास, खण्ड 4 बी.आर.पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, नई दिल्ली।

●●●

एरच से प्राप्त अनुपम ताम्र सिक्का

– डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव

एरच उत्तरप्रदेश में झाँसी जिला के अन्तर्गत गरौठा तहसील में बेतवा (वेत्रवती) नदी के दायें तट पर स्थित है। परम्परानुसार एरच को हिरण्यकश्यपु की राजधानी बताया जाता है। एरच का प्राचीन नाम 'एरकछ' था जो यहाँ के 'नगर–सिक्कों' और 'नगर–मुद्राओं' पर प्राप्त होता है। बौद्ध ग्रंथ 'पेतवत्थु' में इसे 'एरकच्छ' कहा गया है।[1] मदन वर्मा के विक्रम संवत् 1192 के ताम्रपत्रलेख[2] में भी 'एरकचछ' वर्णित है, किन्तु परमर्दिदेव के विक्रम संवत् 1230 के महोबा ताम्रपत्रलेख[3] में 'एरछ' कहा गया है। एरच के नृसिंह मंदिर में प्राप्त निधानगिरि की पाण्डुलिपि 'भक्तिमनोहर' में 'ऐरछ' वर्णित है। वर्तमान में इस नगर को 'एरछ' अथवा 'एरच' कहा जाता है।

एरच एक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक स्थल है, जहाँ से पाषाणकालीन अवशेषों के अतिरिक्त प्राचीन मृद्भाण्ड, अभिलेख, सिक्के, मुद्रा, मुद्रांक, मनके, प्रस्तर एवं मृण्मूर्तियाँ पायी गयी हैं, जिनसे इस क्षेत्र एवं विशेषरूप से प्राचीन भारतीय इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है। नवीन राजवंशों तथा विभिन्न शासकों एवं अधिकारियों की जानकारी के साथ महाकवि कालिदास का समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तथा पुष्यमित्र का राजवंश 'बैम्बिक' प्रामाणित होता है।[4]

माप : 24X24 मि.मी. ;
भार : 7.5 ग्राम

इसी क्रम में एरच से प्राप्त एक अनुपम ताम्र सिक्का का विवेचन प्रस्तुत है–

पुरोभागः आहत तकनीक से निर्मित इस सिक्के पर लगभग ईसापूर्व तीसरी–दूसरी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में लेख 'बवना' उत्कीर्ण है। लेख के नीचे आठ पंखुड़ियों वाला कमल अंकित है। वेदिका में नन्दीपद युक्त इन्द्रध्वज बना है। कमल के नीचे नदी में जलचरों का अंकन है। सिक्के का चौथाई भाग खण्डित है।

पृष्ठभागः सादा।

प्रारम्भ में मुझे बताया गया था कि यह सिक्का उत्तर प्रदेश के 'बाँदा' नामक स्थान में मिला था। अतः सिक्के पर उत्कीर्ण लेख 'बवना' अर्थात वामन अवतार, उनके द्वारा बलि को बाँधे जाने वाली पुराकथा एवं भाषाई परिवर्तन 'बाँधा' से 'बाँदा' के आधार पर मैने इस सिक्के को उसके प्राप्ति–स्थल 'बाँदा' से सम्बन्धित बताया था।[5]

बाद में मुझे पता चला कि यह सिक्का वास्तव में एरच से ही प्राप्त हुआ था। इस सिक्के पर उत्कीर्ण लेख 'बवना' अत्यन्त संक्षिप्त है। अतः यह स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं हो पाता कि यह सिक्का किसी शासक का है अथवा 'नगर–सिक्का' है।[6] उल्लेखनीय है कि 'बवना' लेखयुक्त अभी तक मात्र यही एक सिक्का प्राप्त हुआ है। अतः इसके बारे में विस्तृत जानकारी हेतु भविष्य में प्राप्त होने वाले अन्य प्रमाणों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है।

संदर्भ :–

1 नगर अत्थि दसण्णानं एरकच्छं ति विस्तुते। पेतवत्थु पृष्ठ. 16 ।

2 एरकच्छ पत्तलायां अष्टषाल ग्रामं। इपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द 32, पृष्ठ 122 ।

3 एरछ विषयान्तः पातिघनौर ग्रामे। इपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द 16, पृष्ठ 12 ।

4 विस्तृत जानकारी हेतु द्रष्टव्य :

Srivastava, om prakash Lal : Archeology of Erach: Discovery of, New Dynasties, sulate Prakashan Varanasi, 1991: एरच के अभिलेख एवं सिक्के, व्रज संस्कृति शोध संस्थान, वृन्दावन (मथुरा) 2019 A

Erach Rediscovered: coins, inscriptions, seals and sealings, Rajgor's Heritage Hub, Mumbai, 2020.

5 srivastava] om prakash lal: An unique coin from banda, J N S I vol 59 (1997) , p 30.

6 Gupta] chandrashekhar: A king or city state I.C.Newsletter no. 35, January-March 2005, p 6-9.

12/1 ए, मोतीलाल नेहरू मार्ग

बेलवीडियर प्रेस कम्पाउण्ड,

प्रयागराज–21002 (उ.प्र.)

●●●

गणेश प्रतिमा (ढोलकल) का अनुरक्षण

डॉ. प्रभात कुमार सिंह

छत्तीसगढ़ प्रदेश के बस्तर संभागान्तर्गत दक्षिण बस्तर दन्तेवाड़ा जिले में स्थित ढोलकल गहन वनाच्छादित, प्राकृतिक सुषमा एवं खनिज सम्पदा से परिपूर्ण दुर्गम पहाड़ है, जो बैलाडीला पर्वत श्रृंखला का अभिन्न अंग है। इसके बीहड़ों में वनवासी समुदाय के लोक देवी–देवताओं के पूजित धार्मिक स्थल तथा ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक महत्व के प्राचीन अवशेष विद्यमान हैं, ढोलकल भी उन्हीं में से एक है। इस स्थान के नामकरण के संबंध में दो स्थानीय मान्यताएं प्रचलित हैं, जो अत्यंत रोचक हैं। पहली मान्यता यह है कि पहाड़ी का आकार ढोलक के समान होने के कारण इसका नाम 'ढोलकल' पड़ा। दूसरी अवधारणा यह भी है कि यहाँ के चट्टानों में थाप देने से 'ढोल' के समान 'कल' अर्थात् ध्वनि निःसृत होती है। धरातल से इसकी ऊँचाई लगभग ढ़ाई हजार फीट है। ढोलकल, जिला मुख्यालय से 30 किमी. और निकटस्थ ग्राम फरसपाल से 8 किमी. दूर है।

फरसपाल के संबंध में किंवदन्ति है कि यहां पर दो देवताओं परशुराम और गणेश के मध्य युद्ध हुआ था और यहीं पर परशुराम ने अपने परशु (फरसा) से गणेश का एक दाँत विच्छिन्न कर दिया। ढोलकल की प्रसिद्धि का मुख्य कारण इसके शिखर पर स्थापित गणेश की एकाकी प्राचीन मूर्ति है। पत्थर से निर्मित यह मूर्ति लगभग हजार साल पुरानी छिंदकनागयुगीन (लगभग 11वीं–12वीं सदी ईसवी) मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण मानी जाती है। फरसपाल से संबंधित उपरोक्त किंवदन्ति ढोलकल पहाड़ पर विराजमान गणेश प्रतिमा से बड़ी आसानी से सम्पृक्त हो जाती है क्योंकि प्रतिमालक्षण में गणेश एकदन्त हैं और कटा हुआ दूसरा दाँत उनकी हथेली में 'स्वदन्त' आयुध के रूप में विद्यमान है। गणेशकी इस मूर्ति की विद्यमानता से यह स्थल स्थानीय जनमानस के आस्था का प्रधान केन्द्र और क्षेत्रीय पर्यटन का मुख्य आकर्षण भी है।

27 जनवरी 2017 को ढोलकल की गणेश मूर्ति के क्षतिग्रस्त हो जाने की सूचना पर छत्तीसगढ़ शासन के संचालनालय, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन संचालक श्री आशुतोष मिश्र (स्वर्गीय), उप संचालक श्री जे. आर. भगत और वरिष्ठ पुरातत्त्ववेत्ता पद्मश्री ए.के. शर्मा द्वारा घटना के विभिन्न पहलुओं की जांच और प्रतिमा के अनुरक्षण संबंधी कार्यवाही की गई। प्राथमिक जांच के दौरान यह ज्ञात हुआ कि 26 जनवरी को फरसपाल के कुछ ग्रामीण ढोलकल गणेश के दर्शन करने गये थे, लेकिन प्रतिमा अपने स्थान पर विद्यमान नहीं थी। ग्रामीणों ने इसकी जानकारी फरसपाल थाने में दी। ग्रामीणों के बयान के आधार पर स्थानीय पुलिस ने जांच एवं परीक्षण उपरांत अज्ञात सशस्त्र माओवादियों के विरूद्ध भारतीय दण्ड विधान 25 आर्म्स एक्ट की धारा–147, 148, 149 और 295 के तहत प्राथमिकी दर्ज कर विवेचन में ले लिया।

तदुपरांत कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक दन्तेवाड़ा के निर्देशन और फरसपाल थाना प्रभारी के नेतृत्व में जिला रिजर्व गार्ड (डीआरजी), केन्द्रीय सशस्त्र बल (सीएएफ) और केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल (सीआरपीएफ) ने ढोलकल के समीपवर्ती क्षेत्र में गहन खोज अभियान चलाया। खोजकार्य के दौरान ढोलकल पहाड़ी के पश्चिमी ढ़ाल में 100 मी. नीचे गणेश मूर्ति के 58 टुकड़े खोज निकाले, जिन्हें फरसपाल थाने में लाकर रखा गया।

संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अधिकारियों द्वारा फरसपाल थाने में रखी मूर्ति के खण्डित अवशेषों के पुनर्संयोजन की संभावना का पूर्वेक्षण कर आगामी कार्यवाही की रूपरेखा तय करने का निर्णय लिया गया। फरसपाल थाने में रखे मूर्ति के 58 टुकड़ों में से 18 बड़े और शेष 40 छोटे टुकड़े थे। मूर्ति के ग्रीवाभाग से संबंधित टुकड़े पर कुल्हाड़ी जैसी धारदार हथियार से कई बार वार किये जाने के तिरछे और गहरे कटाव चिन्ह मौजूद थे, जो प्रथम दृष्टया यह संकेत दे रहे थे कि प्रतिमा को पहले तोड़ने का प्रयास किया गया और सफलता न मिलने पर उसे पीछे खाई में गिरा दिया गया। गणेश की मूर्ति ढोलकल शिखर के समतल सतह पर ही रखी हुई थी, इसलिए उसे दो या तीन लोगों द्वारा धक्का देकर नीचे गिरा दिया जाना असंभव नहीं था। ऊँचाई से गिरने के कारण ही प्रतिमा

के इतने अधिक टुकड़े हो गए थे।

बड़े टुकड़ों में गणेश प्रतिमा के विभिन्न अंग–पादपीठ, पैर, उदर, सिर, कटिभाग, वक्षस्थल और आयुध पकड़े हुए हाथ को आसानी से पहचाना जा सकता था। इसलिए उपलब्ध टुकड़ों में से आपस में जुड़ने वाले मूर्तिखण्डों को बिना किसी प्रलेप के पास–पास रखकर प्रायोगिक तौर पर प्रतिमा के जुड़ने की संभावना को जानने का प्रयास किया गया। इस हेतु पहले समतल जमीन पर रेत की एक परत बिछाई गई ताकि मूर्ति के टुकड़ों को आपस में मिलाने की प्रक्रिया में उन्हें उठाने, रखने या सरकाने के दौरान किसी प्रकार की क्षति या क्षरण न हो।

मूर्ति के मूषक वाहन युक्त पादपीठ से आरंभ कर पादभाग (अर्धपर्यंकासीन मुद्रा), सर्प यज्ञोपवीत अंकन युक्त उदरभाग, वक्षाभूषण अलंकृत वक्षस्थल और फिर जटामुकुट प्रदर्शित सिर को एक के बाद एक समीप रखते हुए मूर्ति के अंग–प्रत्यंगों की लम्बवत् संरचना को स्पष्ट किया गया। तत्पश्चात चतुर्भुजी मूर्ति के हाथों को उनकी वास्तविक स्थिति अनुसार (दाहिने एवं बायें मुख्य एवं अतिरिक्त हाथों में क्रमशः–अक्षसूत्र, परशु, मोदक और स्वदन्त) व्यवस्थित करने, मूर्ति के खण्डित होने के पूर्व के छायाचित्र की सहायता से, उपलब्ध आयुध युक्त खण्ड़ों को पहचानते हुए यथास्थान रखा गया। इस प्राथमिक कार्य से यह स्पष्टतः हो गया कि मूर्ति के लगभग 90 प्रतिशत अंग–अवयव उपलब्ध हैं, जिन्हें आपस में जोड़कर उसे मूल स्वरूप में आकारित किया जा सकता है। केवल पादपीठ का दाहिना हिस्सा (मूर्ति की पादांगुलियों सहित), मूषक का सिर, गणेश के शुण्ड का अग्रभाग तथा बायां कान और जटामुकुट का कुछ हिस्सा उपलब्ध नहीं था। साथ ही मूर्ति का दाहिना घुटना और बायें हाथ में धारित मोदक भी क्षतिग्रस्त था।

इस अस्थाई संयोजन के उत्साहजनक परिणाम से संतुष्ट होकर संचालक, संस्कृति एवं पुरातत्त्व ने पुरातत्त्वविद् श्री ए.के. शर्मा के मार्गदर्शन में गणेश प्रतिमा को उसके मूलस्थान (ढोलकल पर्वत के शिखर) पर जोड़कर पुनःस्थापित करने का निर्णय लिया। अतः मूर्ति के टुकड़ों को उठाने के पहले छायांकन और आवश्यक प्रलेख तैयार कर, मूर्ति के संयुग्मित होने वाले खण्डों पर मार्कर की सहायता से रोमन अक्षर एवं अंकों में संक्षिप्त संकेतक (उदाहरण के लिए पादपीठ के तीन दाहिना, बायां और बीच के टुकड़ों के लिए च्त्.च्मकमेजंस त्पहीज, च्स्.च्मकमेजंस स्मजि और च्ड.च्मकमेजंस डपककसमए इसी तरह चार खण्डों में प्राप्त मुख्य दाहिने हाथ के टुकड़ों के लिए क्रमशः RH-1, RH-2, RH-3 और RH-4 जिसमें RH का मतलब Right Hand है) अंकित कर दिया गया, जिससे स्थायी रूप से जोड़ने के समय मूर्तिखण्डों का पुनः मिलान करने में अतिरिक्त समय व्यय न हो। मूर्ति को जोड़कर पुनः स्थापित करने के बाद घटना की पुनरावृत्ति न हो इसलिए उसकी स्थिरता अथवा जड़ता का उपाय भी सोचा गया। चट्टान के पृष्ठ पर जहाँ मूर्ति स्थापित थी, वहाँ उसके पादपीठ के परिमाप का एक इंच गहरा खांचा स्टोन कटर से काटकर उसमें मूर्ति को जड़ने का निर्णय लिया गया, जिससे उसे मूल स्थान से खिसकाया न जा सके।

कार्य की रूपरेखा बनने के बाद तदनुसार टीम बनाकर आवश्यक तैयारियाँ सुनिश्चित कर ली गईं और 29 जनवरी 2017 को पुरातत्त्व विभाग, जिला प्रशासन और पुलिस विभाग के अधिकारी, कर्मचारी और जवानों की संयुक्त टीम स्थानीय ग्रामीणों के साथ फरसपाल थाने से गणेश प्रतिमा के टुकड़ों और उसे जोड़ने के लिए आवश्यक सामग्री, जेनरेटर और रसद पानी आदि लेकर ढोलकल रवाना हुए। फरसपाल के मांझीपारा से ढोलकल पहाड़ी की कुल दूरी 8 किमी. है, जिसमें से 3 किमी. तक दुपहिया अथवा चारपहिया वाहन से जाया जा सकता है और शेष 5 किमी. का पहाड़ी रास्ता घनी झाड़ियों और झुरमुटों से होकर गुजरते पगडंडी के सहारे पैदल ट्रैकिंग करते ही तय किया जा सकता है। विषम चढ़ाई और अगल–बगल खाई होने के कारण आखिरी आधे किमी. की यात्रा खतरनाक और रोमांचक हो जाती है। 5 किमी. की चढ़ाई तय करने में लगभग डेढ़ घंटे लगे।

ढोलकल शिखर की समतल चोटी, जहाँ गणेश मूर्ति स्थापित थी, का परिमाप केवल 2X2 मी. है जो नीचे की ओर क्रमशः चौड़ा होता जाता है। शिखर पर पहुँचने के लिए कोई सोपान नहीं है। पूर्व दिशा में कुछ तराशे हुए पत्थरों को एक पर एक रखकर चढ़ने की वैकल्पिक व्यवस्था है, जिससे शारीरिक संतुलन और मानसिक एकाग्रता के सहारे चढ़ा जा सकता है। पहले मूर्ति जहाँ स्थापित थी, उस स्थान में बिखरे नारियल के बूच, मिट्टी के दिये और ध्वज

को हटाकर, स्थल की पहले झाड़ू फिर नायलॉन ब्रश से सफाई की गई। सफाई के दौरान देखा गया कि 2 वर्गमीटर परिमाप के उस प्रस्तर पृष्ठाधार पर छोटी–बड़ी अनेक दरारें हैं, जिनमें अक्षत (चावल के दाने) भरे हुए थे। मूर्ति के मूल स्थान को चिन्हांकित कर स्केल की सहायता से धरातल पर उसके पादपीठ के परिमाप (48X22 सेमी.) का विन्यास, खांचा बनाने के लिए तैयार किया गया। दंतेवाड़ा लाईवलीहुड कॉलेज के विद्युतकार व्यवसाय के प्रशिक्षुओं ने जेनरेटर और स्टोन कटर की सहायता से खांचा बनाने का कार्य किया। लौह अयस्क युक्त कठोर पत्थर पर एक इंच गहरा खांचा बनाने में कुल 10 घंटे लगे। 30 जनवरी को दोपहर 2 बजे खांचा पूरी तरह बनकर तैयार हो गया। इस दौरान मूर्ति के पादपीठ के तीनों टुकड़ों को आपस में जोड़ कर पूर्व तैयारी कर ली गई।

खांचे की सतह पर कटर के ब्लेड से निर्मित कटावों में धूल के बारीक कण जमा हो गए थे जिसे ब्रश और ब्लोअर से साफ किया गया क्योंकि मूर्ति के पादपीठ को खांचे में जड़ करने की प्रक्रिया में उसके निम्नतल और खांचे के सतह के बीच धूलकण की उपस्थिति से जोड़ दुर्बल होने की संभावना रहती है। दृढ़ स्थिरता के लिए पादपीठ के तलभाग और खांचे के सतह में एराल्डाईट (एपॉक्सि रेजिन) का प्रलेप कर उसे खांचे में बिठा दिया गया ताकि दोनों के मध्य प्रत्यक्ष संपर्क बना रहे। अपेक्षित मजबूती के लिए एराल्डाईट का सेट होना (सूखना) जरूरी है जिससे मूर्ति उपरी हिस्से जोड़े जा सकें। इसे ठीक तरह सूखने में कम से कम 6 घंटे लगते हैं।

31 जनवरी को मूर्ति के उपरी हिस्सों को जोड़ने का काम किया गया। क्रमशः पैर, उदर, वक्ष और सिर को जोड़ते हुए प्रतिमा के उर्ध्वाधर स्वरूप को पूरा किया गया। फिर हाथों को जोड़ने के क्रम में पहले प्रत्येक हाथ के अलग–अलग खण्डों को आपस में जोड़कर फिर उन्हें कंधे से संयुक्त कर दिया गया। अर्धपर्यंकासीन मुद्रा में स्थित गणेश मूर्ति के मुख्य दाहिने हाथ की कोहनी जंघा को स्पर्श करने के कारण इसे तलाधार प्राप्त था किंतु बायें हाथों को यह सुविधा प्राप्त न थी। इसलिए इसे कंधे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रखने के लिए लकड़ी के फट्टों को बायीं जंघा और हाथ के मध्य रिक्त स्थान में उपयोग कर तलाधार तैयार किया गया और अंगों का क्षैतिज विस्थापन न हो इसलिए लकड़ी के फट्टों को मूर्ति के समानान्तर लम्बवत् खड़ा कर सूतली की सहायता से बांध दिया गया।

मूर्तिखण्डों के आपस में जुड़ने वाले हिस्सों में उपस्थित धूल कणों को साट ब्रश से हटाकर उनके खण्डित सतह पर एराल्डाईट का लेपन किया गया और आपस में इस प्रकार जोड़ा गया कि उनके मध्य रिक्तता न रहे अन्यथा जोड़ में मजबूती नहीं आयेगी। जिन मूर्तिखण्डों के सतह परस्पर पूरी तरह नहीं जुड़ते और रिक्ति बनती होती तो वहाँ पर एराल्डाईट के साथ उसी पत्थर के चूर्ण (ग्रेनाईट पत्थर का चूर्ण खनिज अधिकारी श्री पी. के. नायक द्वारा उपलब्ध कराया गया था) को मिलाकर तैयार किये गये लुगदी (पेस्ट) को भर दिया जाता था। जिससे रिक्त स्थान भर जाए और जुड़ने वाले टुकड़े एक–दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में बने रहें। इस विधि से गणेश मूर्ति को जोड़ने का कार्य पूरा करने के बाद 1 फरवरी 2017 को उसमें स्थान–स्थान पर पड़े चोट और घिसाव के निशान, जटामुकुट, यज्ञोपवीत, आभूषणों के अंकन, दाहिने पैर की उंगलियों और मूषक के सिर को हुई क्षति को दुरूस्त किया गया। उपलब्ध मूर्तिखण्डों के अनुरक्षण द्वारा ढोलकल गणेश की मूर्ति को यथासंभव पूर्व स्वरूप में लाने का प्रयास विभाग के द्वारा किया गया। गणेश के शूण्ड का अग्रभाग प्राप्त न होने के कारण उसे जोड़ा न जा सका और मूर्ति की यह अपूर्णता उसके साथ घटित घटना का साक्ष्य है। गणेश मूर्ति जहाँ स्थापित थी, उसके इर्द–गिर्द और शिखर के नीचे तराशे हुए आयताकार सादे स्थापत्य खण्ड इस प्रतिमा से संबद्ध मंदिर के हो सकते हैं जो कालान्तर में नष्ट हो गया। उपलब्ध स्थापत्य खण्डों से पूर्वानुसार प्रतिमा के तीन ओर भित्ति जैसी संरचना बना दी गई। ऐसा करने से प्रतिमा को अतिरिक्त सुरक्षा प्राप्त हो गई। पृष्ठाधार में विद्यमान दरारों को एराल्डाईट मिश्रित पत्थर चूर्ण से भर दिया गया है जिससे बारिश के पानी को इनमें प्रवेश करने से रोका जा सके। ढोलकल गणेश प्रतिमा अब पहले से भी अधिक पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

ढोलकल–घटना के पहले और बाद का दृश्य

मूर्ति का प्राथमिक संयोजन

संयोजन के बाद मूर्ति का परिष्करण

घटना के पूर्व और पश्चात् गणेश प्रतिमा

संदर्भ :–

1. जैन, बालचंद्र, परिवर्धन जी.एल. रायकवार एवं राहुल सिंह, उत्कीर्ण लेख, संस्कृति विभाग, रायपुर, 2005।
2. बिस्वास, एस.एस. प्रोटेक्टिंग द कहचरल हेरिटेज, आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1999।
3. सरकारः एच. म्युजियम्स एण्ड प्रोटेक्शन ऑफ मान्युमेंट्स एण्ड एन्टीक्वीटीस इन इझिडया, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1981।

पर्यवेक्षक

संचालनालय संस्कृति एवं पुरातत्त्व,
रायपुर, छत्तीसगढ़

पक्काकोट (जनपद बलिया, उ. प्र.) के पार्श्ववर्त्ती पुरास्थलों का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण

प्रो. सीताराम दुबे

पक्काकोट पुरास्थल (25046'15'' अक्षांश उत्तर 8400'29'' देशान्तर पूर्व) मऊ–बलिया राजमार्ग पर, बलिया जनपद मुख्यालय से 17 किमी0 पश्चिम में स्थित सिंहाचँवर से लगभग तीन किमी0 दक्षिण विद्यमान है। लगभग एक किमी0 दक्षिण छोटी सरयू (तमसा/टौंस) तथा उत्तर में एक फर्लांग दूरी से पूरब होकर बहती बूढ़ी नदी (लकड़ा नाला), जो 2 किमी0 दूर जाकर दक्षिण से बहने वाली छोटी सरयू नदी में मिल जाती है, जैसी दो नदियों से उत्तर, पूरब एवं दक्षिण से घिरा यह पुरास्थल लगभग 5 किमी0 तक विस्तृत है। इस पुरास्थल को चार टीलों में बाँटकर 2010–11 से 2016–17 के मध्य 5 सत्रों में सम्पन्न पुरातात्त्विक उत्खननों से निम्नलिखित 6 सांस्कृतिक कालों का प्रतिनिधित्व मिलता है –

1. उत्तराश्म (लगभग ई0पू0 5000 से लगभग ई0पू0 1500 तक),
2. ताम्राश्म (लगभग ई0पू0 1500 से लगभग ई0पू0 900 तक),
3. उत्तरी कृष्ण परिमार्जित मृदभाण्ड परम्परा (लगभग ई0पू0 900 से लगभग ई0पू0 200 तक),
4. शुंग–कुषाण (लगभग ई0पू0 200 से लगभग 300 ई0 सन् तक),
5. गुप्त–गुप्तोत्तर (लगभग 300 ई0 सन् से लगभग 700 ई0 सन् तक),
6. पूर्व मध्य एवं मध्य (लगभग 700 ई0 सन् से लगभग 1500 ई0 सन् तक)–

इस प्रकार उत्तराश्म काल से मध्य–काल तक मानव–बस्ती के सातत्य और कतिपय अवरोधों के होते हुए निरन्तर प्रगति के सोपान चढ़ते जाने से यह स्थल न केवल मध्य गंगा–घाटी, वरन् समस्त भारत के एक विशिष्ट पुरास्थल के रूप में उभरकर सामने आता है। दुर्गीकृत क्षेत्र के अधिकांश भाग पर बसी आज की मानव बस्ती यहाँ की उत्तराश्म युग से अद्यावधि सांस्कृतिक जीवन्तता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। उपलब्ध पुरावस्तुओं से सुविदित है कि यहाँ के आकर्षक पर्यावरण और अनुकूल भौगोलिक परिवेश से आकृष्ट हो, पुरामानव ने न केवल उत्तराश्म युग में यहाँ पदार्पण किया, वरन् कृषि–कर्म भी प्रारम्भ किया तथा स्थायित्व की अभिलाषा में उसके द्वारा यहाँ आवास का भी निर्माण किया गया। जीवन को उन्नत बनाता ताम्राश्म युग में उसने प्रगति के अनेक प्रतिमान गढ़े। उत्पादन के साथ बसाहट में क्रमशः सघनता आती गयी। उत्तरी कृष्ण परिमार्जित मृदभाण्ड काल में तो यह नगरोन्मुख हो गया। शिल्प एवं व्यवसाय में विविधता आई। मुद्रा, विशेषकर आहत सिक्कों से लोग परिचित हुए। अर्द्ध शतमान सिक्कों के साथ रजतपत्र की 10.75 सेमी0 ऊँची निर्मित मूर्ति से मौर्य पूर्व युग में ही इस क्षेत्र की समृद्ध वैभवपूर्ण स्थिति का सहज ही अनुमान हो उठता है। यद्यपि इसी काल में छोटी सरयू में आयी कई बार की बाढ़ की विभीषिका से त्रस्त मानव–समुदाय ने अपेक्षाकृत अधिक ऊँचे स्थान का चयन किया और समय के साथ उसको सुरक्षात्मक दृष्टि से समृद्ध बना दिया। मौर्यकाल में न केवल परिखा और प्राकार के निर्माण का प्रारम्भ हुआ, वरन् अपने समय के प्रसिद्ध व्यापारिक स्थलों से वाणिज्य–व्यवसाय की सुविधा की दृष्टि से दुर्गीकृत नगर के उत्तरी प्रवेश द्वार पर बूढ़ी नदी से नाला निकाल, जो यद्यपि प्रारम्भ में तो नगर की सुरक्षा की दृष्टि से निर्मित परिखा में पानी के भराव के लिये बना था, नौकाघाट का निर्माण किया गया। इससे यह नगर सुरक्षित हो शीघ्र ही आर्थिक दृष्टि से और अधिक सम्पन्न और वाणिज्य–व्यवसाय के केन्द्र के रूप में परिणत हो गया। सुरक्षा की दृष्टि से तीन चहारदीवारियों

का निर्माण किया गया।

शुंग–कुषाण काल में तो आर्थिक समृद्धि और नागर–प्रतिमान की दृष्टि से यह क्षेत्र उत्कर्ष को प्राप्त कर गया। प्रवेश द्वार पर नौका घाट के बन जाने के कारण जल–मार्ग से व्यापार सरल संभव हो गया। सुदूर क्षेत्रों के व्यावसायिक नगरों से सम्पर्क के कारण वाणिज्य–व्यवसाय को न केवल प्रोत्साहन मिला और बहुविध विस्तार हुआ, वरन् बाहर से आने और प्रवेश द्वार पर प्रतीक्षा करने वाले नाविकों और श्रमिकों आदि के लिए सामुदायिक भोजनालय तक का निर्माण किया गया। यहाँ के उत्खनन से उपलब्ध वृहदाकार सुदृढ़ पात्रों को इसके प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ आने–जाने वालों की वैधता–अवैधता के निर्धारण के लिए मुहर–मुद्रांक का बहुतायत में प्रचलन हुआ।

क्रमशः शुंग–कुषाण काल तक दुर्गीकृत क्षेत्र के परिखा–प्राकार को और अधिक दृढ़ किया गया। यही वह युग था जब जनसंख्या–विस्फोट के कारण दुर्ग के बाहर पास–पड़ोस के स्थलों पर जाकर लोगों ने बस्ती बसायी। ध ार्मिक क्षेत्र में वैष्णव–शैव धर्म का प्रचलन बढ़ा। गुप्त–काल में तो नालन्दा के समान यहाँ भी बौद्ध–बिहार की स्थापना की गयी और क्रमशः चैत्य और चैत्य–बिहार प्रचलन में आया। गुप्त शासक कुमारगुप्त की धनुर्धारी प्रकार की स्वर्ण मुद्रा की प्राप्ति इस दृष्टि से महत्त्व की कही जा सकती है। पूर्वमध्यकालीन 'माटिभाराधिकरणस्य' मुद्रा की प्राप्ति से तो स्पष्ट है कि गुप्तोत्तर काल तक यह क्षेत्र एक प्रशासनिक इकाई बन गया। आर्थिक समृद्धि, धार्मिक केन्द्र के साथ, प्रशासनिक इकाई बन जाने से इस स्थल का और अधिक महत्त्ववर्धन हुआ। न्यूनाधिक उतार–चढ़ाव के साथ इसका पूर्व–मध्यकाल तक सातत्य बना रहा। इतने बड़े बौद्ध–विहारों के निर्माण से ऐसा अनुमान होता है कि पूर्व–मध्यकाल में इस क्षेत्र के आस–पास सघन बस्तियाँ बनी रहीं। ये बस्तियाँ ही इन बिहारों में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं के भरण–पोषण का साधन रही होंगी और वहाँ बौद्ध भिक्षु नित्य–प्रति चारिका करते रहे होंगे।

10–11वीं शती तक बौद्ध धर्म पतनोन्मुख हो गया और शैव धर्मावलम्बियों का वर्चस्व बढ़ा। कदाचित् यह बौद्ध–विहार भी इन शैव साधकों द्वारा अधिग्रहीत कर लिया गया। 2016–17 के उत्खनन से प्रकाश में आये इस नागर पुरास्थल का दुर्गीकृत क्षेत्र परिखा के साथ तीन प्राकारों से घिरा प्राप्त हुआ है। ऐसा लगता है कि एक साथ तीन चहारदिवारियों के निर्माण का प्रारम्भ तो शुंग कुषाण काल में ही हो गया था; किन्तु परवर्ती कालों में भी उसका दृढ़ीकरण किया जाता रहा। अपने इन तीन सुरक्षा–प्राकारों वाले दुर्ग के कारण निश्चय ही यह पुरास्थल अपने समय के विलक्षण पुरास्थल के रूप में उभरकर सामने आता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इस पुरास्थल के क्रमिक विकास के लिये कौन से उत्तरदायी कारक थे? उत्तर में इसके तीन ओर से नदियों से घिरे होने और वाणिज्य–व्यवसाय के मार्ग पर अवस्थित होने को सर्वाधिक उत्तरदायी घटक के रूप में लिया जा सकता है। नौकाघाट के निर्माण से वाणिज्य–व्यवसाय की दृष्टि से यह स्थल और अधि ाक सुविधाजनक हो गया। पास–पड़ोस के अनेक स्थलों पर नगरोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन और खाद्यान्न से भरण–पोषण के कारण भी इस नगर का बहुविध संवर्द्धन हुआ। यद्यपि आज, इस दुर्गीकृत क्षेत्र के आस–पास चारों दिशाओं में समतल कृषि भूमि अथवा बस्ती तो बसी ही है; स्वयं दुर्गीकृत क्षेत्र के उपर भी लोग बसे हैं और वे उस पर भी खेती करते हैं। उत्खनन से उपलब्ध पुरावस्तुओं से प्रामाणित इसकी बहुविध समृद्धि को देखते हुये यह कौतूहल स्वाभाविक है कि क्या उतराश्मयुगीन मानव ने इस स्थल का चयन कर यहाँ अपना निवास बनाया और पुनः विविध युगों में विकास के साथ मध्यकाल तक उसका सातत्य बना रहा, तो क्या यहीं तक सीमित रहा अथवा पास–पड़ोस के अन्य क्षेत्रों में भी अपना विस्तार किया? इसी प्रकार ताम्राश्म और उत्तरी कृष्ण परिमार्जित मृदभाण्ड काल में इनकी क्या प्रगति हुई? शुंग कुषाण काल में जनसंख्या–विस्फोट के परिणामस्वरूप कितने दूर के किन–किन क्षेत्रों में इनका प्रसार हुआ? यह भी कि नागर केन्द्र के रूप में महत्त्वप्राप्त इस क्षेत्र के संवर्द्धन और भोजन–वस्त्र आदि की प्रतिपूर्ति में किन–किन क्षेत्रों का सहयोग था? पास–पड़ोस की बस्तियों से इस नगर का क्या सम्बन्ध था? उनके विकास, कस्बा और नगर बनने में इस पक्काकोट का क्या योगदान था? इत्यादि।

नृतत्त्वीय अध्ययन से पुराकालीन मानव का जीवन–निर्वाह आवास और भोजन–जल की उपलब्धता पर निर्भर था। शिकारी और भोजन–संग्राहक के लिये तो बिना अपना शिविर बदले 10 किमी0 से ऊपर भोजन–संग्रहण एवं शिकार कठिन था। उत्तराश्म और ताम्राश्म युग के कृषि–कर्म और स्थायी बस्ती के अस्तित्व के साथ लगभग 1–2 किमी0 (12–24 मिनट) तक की दूरी उपयुक्त थी। हाँ! अस्थाई शिविर के निर्माण की स्थिति में यह दूरी अधिक भी हो सकती थी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये उपर्युक्त बिन्दुओं के समाधान के लिये 10–11 किमी0 की अधिकतम दूरी निर्धारित करते हुये पक्काकोट से 10–11 किमी की परिधि मान सघन पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया।

यद्यपि आज दर्जनों ईंट–भट्ठों के बनने, बन्द होने और पुनः दूसरे स्थल पर खुलने के कारण पुरास्थलों के अधिकांश भाग नष्ट हो समतल कृषि भूमि बन चुके हैं अथवा उनपर मानव बस्ती बस गई है। पक्काकोट के दक्षिण और दक्षिण–पूर्व तीन–चार किलोमीटर का क्षेत्र छोड़ शेष भाग आज डूब में आ चुका है। इन सबके होते हुए भी इस 10–11 किमी0 की परिधि में निम्नलिखित 2 दर्जन पुरास्थल प्रकाश में आये।

उत्तमथूभ–(25050'28'' अक्षांश उत्तर तथा 8403'4'' देशान्तर पूर्व)

उत्तमथूभ अर्थात् श्रेष्ठ स्तूप। बलिया–गड़वार मार्ग पर गड़वार से तीन किमी तथा पक्काकोट नामक पुरास्थल से लगभग 9 किमी उत्तर–पूर्व स्थित यह पुरास्थल सड़क के दोनों ओर लगभग 2–2) किमी तक विस्तृत है। टोपोसीट में स्थान के दिये नाम के आधार ही पर इसके पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की रुचि बनी। वैसे तो यह टीला आज लगभग पूरा नष्ट हो, या तो कृषि–क्षेत्र में परिणत हो गया है अथवा उस पर बस्ती बस गयी है, किंतु उपलब्ध पुरावस्तुओं से यह पुराकालीन समृद्ध पुरातात्त्विक स्थल के रूप में उभरकर सामने आता है।

यहाँ से उपलब्ध कृष्णलोहित, कृष्ण धूसर तथा लाल रंग के मृदभाण्डों के आधार पर इसकी प्राचीनता बुद्ध–पूर्व ताम्राश्म युग तक जाती है। तदनन्तर गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक यहाँ मानव बस्ती का सातत्य बना रहा। यहाँ गाँव में एक स्थान पर तो कुषाणकालीन ईंटों से निर्मित एक दीवाल झाँकती मिलती है। वस्तुतः ई0पू0 छठीं शती से तीसरी शती तक यह स्थान अत्यन्त समृद्ध अवस्था में विद्यमान था। सम्भव है कभी बुद्ध यहाँ आये हों, कालान्तर में उनके स्मरण में यहाँ महास्तूप का निर्माण किया गया हो, और इस स्थल के उत्तमथूभ नामकरण का भी यही कारण हो। उल्लेखनीय है कि आज भी इस पुरास्थल के तालाबों में आधुनिक ही सही, अशोक–स्तम्भ की प्रतिकृति प्राप्त होती है। यह सम्भवतः जाने–अनजाने बुद्ध परम्परा की स्मृति का स्मरण कराता है। वैसे इस प्रकार के अभिमत की पुष्टि के लिये इस पुरास्थल के सघन उत्खनन की आवश्यकता है।

श्रोणिपुर (सिंहपुर)– (45046'10'' अक्षांश उत्तर तथा 84013'15'' देशान्तर पूर्व)

बलिया जिला मुख्यालय से 17 किमी पश्चिम बलिया–रसड़ा मार्ग (वाया–फेफना) पर स्थित यह पुरास्थल पक्काकोट से लगा बूढ़ी नदी (लकड़ा नाला) के उस पार स्थित है। वस्तुत; यह स्थल बहुत कुछ पक्काकोट का ही विस्तार है। लगभग 1) किमी0 पर्यन्त विस्तृत इस पुरास्थल से उत्तरी कृष्ण परिमार्जित और धूसर मृदभाण्ड खण्डों से लेकर लाल और लाल रंग लेपित परम्परा के पात्र खण्ड बहुतायत में मिलते हैं। इससे ऐसा अनुमान होता है कि ई0पू0 छठीं शती से लेकर गुप्त–गुप्तोत्तर, पूर्व–मध्यकाल तक यहाँ बस्ती का सातत्य बना रहा।

ऐसा लगता है कि बूढ़ी नदी के दक्षिण और पश्चिम स्थित पक्काकोट में गुप्त–गुप्तोत्तर काल में जब बौद्ध–विहारों का निर्माण हो रहा था, तब सिंहपुर अत्यन्त समृद्ध था। यहाँ के कतिपय आधुनिक मंदिरों में देवी–देवताओं की पूर्वमध्यकालीन खण्डित, परन्तु अत्यन्त प्रभविष्णु मूर्तियाँ रखी मिलती हैं।

सुजायत (25044'25'' अक्षांश उत्तर तथा 83059'30'' देशान्तर पूर्व)

यह पुरास्थल बलिया–गाजीपुर राजमार्ग पर, जनपद मुख्यालय से लगभग 21 किमी पश्चिम तथा पक्काकोट पुरास्थल से 5 किमी दक्षिण, विद्यमान है। गाँव वालों ने इस पुरास्थल से जुड़ी न केवल अनेक अनुश्रुतियाँ बतायीं, बल्कि यह भी कहा कि अभी हाल के वर्षों में यहाँ 5–6 एकड़ में फैला 5–7 मीटर ऊँचा टीला हुआ करता था, किन्तु आज यह बहुत कुछ नष्ट हो कृषि–क्षेत्र अथवा बस्ती में परिणत हो गया है।

यहाँ से उपलब्ध उत्तरी कृष्ण परिमार्जित मृदभाण्ड परम्परा से सम्बद्ध कृष्ण लेपित, कृष्ण एवं लाल रंग के मृदभाण्ड खण्ड, इसकी अतीतकालीन समृद्धि की पुष्टि करते हैं। ऐसा लगता है कि इस स्थान पर ई0पू0 7वीं–छठीं शती से लेकर गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक मानव बस्ती का सातत्य बना रहा। इस टीले पर यत्र–तत्र पकी मिट्टी की गेंदें भी बिखरी मिलती हैं। यहाँ के गाँववासियों ने कुषाणकालीन एक आकर्षक परई भी देखने को दी।

बाणागढ़ की कोट (25047'10'' अक्षांश उत्तर तथा 8400'23'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग पर स्थित सिंहाचँवर से दक्षिण, बहादुर पुर की ओर 1 किमी0 दक्षिण जाने पर 1 किलोमीटर पश्चिम और उत्तर दिशा में बूढ़ी नदी (लकड़ा नाला) से घिरा 8 मीटर ऊँचा, बाणागढ़ नामक पुरास्थल विद्यमान है। पक्काकोट से लगभग 4 किमी0 दूर स्थित 7 मी0 ऊँचे इस टीले को स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार बाणासुर के किले के रूप में देखा जाता है। गाँववासियों के अनुसार तो उनके पूर्वज इस टीले से पक्काकोट पर जलते दीप स्तम्भ को देखने की बात कहा करते थे। यहाँ के सर्वेक्षण से मात्र लाल रंग के पात्र खण्ड ही उपलब्ध हुए हैं। इन सबके आधार पर इसको पूर्व–मध्यकाल या मध्यकाल का माना जा सकता है; किन्तु टीले के स्वरूप को देखते हुए इसे गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक प्राचीन होने की सम्भावना की जा सकती है। सम्भव है पक्काकोट की सुरक्षा की दृष्टि से देख–भाल के लिये यहाँ सैनिक–पहरुओं को नियुक्त किया जाता रहा हो।

हजौली/नारापार (25051'50'' अक्षांश उत्तर तथा 83055'40'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग पर चिलकहर से पाँच किमी0 उत्तर (चिलकहर–चोगड़ा मार्ग पर) बूढ़ी नदी (लकड़ा नाला) के किनारे स्थित यह पुरास्थल आज सघन आबादी वाला एक समृद्ध ग्राम है। एक नाले द्वारा दो भागों में विभक्त इन्हें 'हजौली' और 'हजौली नारापार' नाम से जानते हैं। पक्काकोट से लगभग 10.5 किमी0 पश्चिम स्थित इस हजौली के दोनों गाँव किसी प्राचीन बस्ती के विशाल टीले पर बसे हैं। हजौली में भी लालरंग के यत्र–तत्र अनेकत्र मृदभाण्ड–खण्ड प्राप्त हो जाते हैं। नाले के पार स्थित हजौली नारापार अपेक्षाकृत अधिक, 6 मी0 ऊँचे टीले पर बूढ़ी नदी (लकड़ा, नाला) के पूर्वी तट पर बसा है। यद्यपि यहाँ भी लाल रंग के पात्र–खण्डों की ही अधिकता है और इससे ऐसा लगता है कि यह पूर्व–मध्यकाल अथवा मध्यकाल में बसी बस्ती है।

यहाँ विद्यमान एक शिवमंदिर लाखौरी ईटों से निर्मित है। यहाँ के कई कूँए भी लाखौरी ईटों से बने हैं। लाखौरी ईटों से निर्मित भवन के दीवाल की संरचना और उसके मेहराबनुमा द्वार, एवं लाखौरी ईंटों से निर्मित कई कुओं से ऐसा लगता है कि मध्यकाल में ही यह अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध हुआ।

यहाँ बलुआ प्रस्तर पर चिनाईकृत एक मंदिर भी निर्मित है। इस मंदिर के ललाट बिम्ब पर गणेश के होने से इसे शैव मंदिर के रूप में ही समीकृत करना अधिक उपयुक्त होगा। मण्डप के बाह्य पार्श्वों और स्तम्भों पर उकेरी गयी पशु–पक्षी आकृति एवं वानस्पतिक अंकन से इसकी प्रभविष्णुता और अधिक बढ़ गई है। गर्भगृह के दोनों पार्श्वों और बाह्य दीवालों पर भी आकर्षक नक्काशी है।

वैना (25045'35'' उत्तर तथा 8405'10'' देशान्तर पूर्व)

जनपद मुख्यालय बलिया से लगभग 8 किमी पश्चिम, बलिया–गाजीपुर राजमार्ग पर, 15 एकड़ में फैला यह पुरास्थल अनुमानतः 2–2) दशक पूर्व लगभग 8 मीटर ऊँचा टीला था, किन्तु आज प्रायः पूरा क्षेत्र समतल कृषि–भूमि में परिणत हो चुका है। मध्य में 2) दशक पूर्व का निर्मित एक दुर्गा मन्दिर विद्यमान है। गाँववासियों की दृष्टि में यह 18वीं सदी के राजा भुवालदेव द्वारा बनवाये गये दुर्ग का भग्नावशेष है, जबकि फ्यूहरर महोदय ने अपने सर्वेक्षण के आधार पर इसे पूर्वमध्यकालीन सातवीं–सदी के आस–पास का बना माना है।

1970–80 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग द्वारा उत्खनन के आधार पर यह ताम्राश्म युग से लेकर गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक के सातत्य वाले पुरास्थल के रूप में उभर कर सामने आया। उत्खाता प्रो0 पुरुषोत्तम सिंह की दृष्टि में तो यह ताम्राश्म युग से भी पूर्व की सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ आज भी पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से उत्तरी कृष्ण परिमार्जित, कृष्ण लेपित, धूसर और लाल

रंग के मृदभाण्ड खण्ड सतह पर उपलब्ध हो जाते हैं।

पक्काकोट पुरास्थल से 8 किमी पूर्व स्थित यह पुरास्थल अपनी प्राचीनता की दृष्टि से प्रायः पक्काकोट के ही समान है। मात्र आठ किमी के मध्य ही दो उत्तराश्म युग की बस्तियों का होना निश्चय ही अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। यह बात अलग है कि पक्काकोट की अपेक्षा वैना में उत्तराश्म युग का जमाव अत्यन्त न्यून और अपेक्षाकृत परवर्ती है। संभव है गंगा एवं छोटी सरयू के संगम पर नदियों द्वारा लाकर जमा की गई उपजाऊ भूमि से आकृष्ट होकर पक्काकोट के उत्तराश्म युग के लोगों ने ही यहाँ अपनी अस्थाई बस्ती बसाई हो। परवर्त्ती काल–खण्डों में पक्काकोट और वैना की पुरावस्तुओं की समानता से तो इन दोनों स्थलों के वासियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध है। अतः पक्काकोट की बहुविध समृद्धि और वाणिज्य–व्यवसाय के उत्कर्ष में वैना की भूमिका सहज अनुमन्य है। यही बात वैना के उत्कर्ष में पक्काकोट के योगदान के संदर्भ में भी की जा सकती है।

कुरेजी (23052′400′′ अक्षांश उत्तर तथा 8400′0′′ देशान्तर पूर्व)

बलिया–नगरा मार्ग पर, गड़वार से 5 किमी पश्चिम और पक्काकोट पुरास्थल से 10 किमी लगभग उत्तर, यह पुरास्थल विद्यमान है। लगभग 1 किमी पर्यन्त विस्तृत यह पुरास्थल दो भागों में विभक्त है। सड़क से लगभग लगा पुरास्थल कुरेजी और उसके पीछे का बुढ़ऊ कुरेजी के नाम से जाना जाता है। कुरेजी में सड़क से लगा लगभग 6 मीटर ऊँचा टीला विद्यमान है।

इस टीले से जगह–जगह कुषाण एवं गुप्त–कालीन ईटों से निर्मित दीवालें झाँकती दिखाई देती हैं। गाँव की तरफ टीले के कटे हुए भाग से संस्कृति के अनेक स्तरों का अनुमान होता है। यद्यपि आज टीले के अधिकांश भाग को काटकर कृषि–क्षेत्र बना लिया गया है अथवा उसपर गाँव बस गया है। यहाँ कृष्ण लेपित, धूसर एवं लाल रंग के मृद्भाण्डों के टुकड़े यत्र–तत्र बिखरे पड़े मिलते हैं।

बुढ़ऊ कुरेजी (23052′40′′ अक्षांश उत्तर तथा 8400′0′′ देशान्तर पूर्व)

कुरेजी से थोड़ा दूर लकड़ा नाला के तट पर स्थित बुढ़ऊ कुरेजी के टीले पर भी लगभग इसी तरह के मृद्भाण्ड–खण्डों की उपलब्धि होती है। यह टीला विशाल है, लेकिन इसका बहुत बड़ा हिस्सा आज समतल कृषि–क्षेत्र बन गया है और टीले की ऊँचाई पर बस्ती बसी हुई है। यहाँ लखौरी ईटों से निर्मित एक विशालकाय तालाब भी है। इससे ऐसा लगता है कि ईसा–पूर्व सातवीं–छठीं सदी में यहाँ मानव–बस्ती का प्रारम्भ हुआ और मध्यकाल तक बसाहट का यह क्रम अवनरत चलता रहा।

सागरपाली (25045′20′′ अक्षांश उत्तर तथा 8406′22′′ देशान्तर पूर्व)

बलिया–गाजीपुर मार्ग पर बलिया जनपद मुख्यालय से पश्चिम तथा पक्काकोट से लगभग 9.7 किमी पूर्व में विद्यमान 5 मीटर ऊँचे इस पुरास्थल पर आज तो लगभग पूरा गाँव बसा हुआ है, इसका टीले पर बसा होना पीछे की ओर की ढलान से भी स्पष्ट है। झील (खाई) के किनारे बसे इस पुरास्थल को देखकर ऐसा लगता है कि झील एक तरफ से इसकी सुरक्षा का काम करती थी। टीले पर गाँव बसे होने के कारण मृद्भाण्ड खण्ड आदि की तो अल्पता है, लेकिन यत्र–तत्र उपलब्ध कृष्ण एवं लाल रंग के पात्र खण्डों के साथ–साथ कुषाण एवं गुप्तयुगीन ईंटों से बनी हुई दीवाल एवं लाखौरी ईंटों से निर्मित वृह्दाकार कूप दिखाई देता है। इन सबके आधार पर इस पुरास्थल पर मानव के कुषाण–गुप्त काल से मध्ययुग तक रहने की सम्भावना सहज ही की जा सकती है।

परसियाँ (25053′32′′ अक्षांश उत्तर तथा 83058′3′′ देशान्त पूर्व)

सागरपाली से उत्तर और पक्काकोट से 7.5 किमी उत्तर–पूर्व अवस्थित परसियाँ नामक यह पुरास्थल अपने यहाँ उपलब्ध धूसर एवं लाल रंग के मृदभाण्ड–खण्डों से शुंग–कुषाण काल से गुप्त–काल तक की बसाहट का प्रतिनिधित्व करता है।

टीकादेवरी (25046′50′′ अक्षांश उत्तर तथा 83053′38′′ देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग पर जाकर रसड़ा से लगभग 9 किमी दक्षिण तथा पक्काकोट पुरास्थल से लगभग 11 किमी

पश्चिम–उत्तर स्थित यह स्थल छोटी सरयू नदी के किनारे बसा हुआ है। छोटी–सरयू नदी के किनारे बसा होना ही इसकी विशिष्टता का कारण है। एक किमी क्षेत्र पर्यन्त विस्तृत यह पुरास्थल लगभग 4 मीटर ऊँचाई वाले एक एकड़ क्षेत्र को छोड़, प्रायः समतल कृषि भूमि बन गया है अथवा उस पर आधुनिक बस्ती बस गई है।

यद्यपि पूर्व के सर्वेक्षण के द्वारा कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड खण्ड भी प्रतिवेदित हैं, किन्तु सर्वेक्षण से यहाँ बसाहट का बिखराव दृष्टिगत होता है। यहाँ किसी एक ही स्थान पर समस्त सांस्कृतिक अनुक्रम संक्रेन्द्रित नहीं मिलते। यहाँ से उपलब्ध उत्तरी कृष्ण परिमार्जित, कृष्ण लेपित तथा लाल रंग के मृद्भाण्ड खण्डों की उपलब्धि होती है।

यह स्थल ईसा पूर्व 7वीं–6वीं शती के गुप्त–गुप्तोत्तर काल का प्रतिनिधित्व करता, अपने समय के एक महत्त्वपूर्ण नागर–केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आता है। वैसे पूर्व के सर्वेक्षण से प्रतिवेदित कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड खण्ड के प्रकाश में यहाँ ताम्रश्मकालीन बस्ती का होना सहज अनुमन्य है। सम्भव है यहाँ की उर्वर भूमि से आकृष्ट हो पक्काकोट के ताम्राश्मकालीन मानव ने यहाँ भी अपनी अस्थाई बस्ती बसाई हो।

एकवारी/चनहट (25047'48'' अक्षांश उत्तर तथा 8404'5'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–गड़वार मार्ग पर जनपद मुख्यालय से लगभग 8 किमी पश्चिम, मार्ग के किनारे तथा पक्काकोट से लगभग 7.5 किमी उत्तर–पूर्व विद्यमान यह पुरास्थल लगभग 10 एकड़ क्षेत्रफल में फैला है। लगभग 20ग्30 मीटर क्षेत्र पर्यन्त 3 मीटर ऊँचे टीले को छोड़ पुरास्थल का शेष भाग आज कृषि–क्षेत्र बन चुका है, किन्तु अवशिष्ट टीले पर धूसर, कृष्ण लेपित, लाल रंग के मृद्भाण्ड–खण्डों की उपलब्धि होती है। इनसे ईसा–पूर्व 5वीं–चौथी सदी से लेकर गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक की यहाँ एक समृद्ध बस्ती होने का अनुमान होता है। यहाँ यत्र–तत्र मिट्टी के मनके, खण्डित पशु मृण्मूर्ति आदि पुरावस्तुएँ भी दिखाई देती हैं।

उचेड़ा (25051'1'' अक्षांश उत्तर तथा 83058'10'' देशान्तर पूर्व)

यह पुरास्थल बलिया–रसड़ा मार्ग पर अवस्थित सँवरा से 4 किमी दक्षिण–पूर्व तथा पक्काकोट नामक पुरास्थल से लगभग 8 किमी पश्चिम–उत्तर स्थित है। गाँव में प्रवेश करते ही लगभग 7–8 फीट ऊँचाई पर बना एक भव्य दुर्गा–मन्दिर है। इसी से लगा बसा एक बड़ा गाँव है। अपने अन्तिम छोर तक यह नीचे ढलुवा होता गया है। गाँव के अन्त में लगभग 10 एकड़ में फैला कृषि–क्षेत्र है। इस टीले से कृष्ण लेपित तथा लाल रंग के मृद्भाण्ड खण्ड तो बहुतायत में मिलते ही हैं। लाखौरी ईटों से बने एकाधिक कुएँ भी दिखाई देते हैं, इससे ऐसा अनुमान होता है कि ईसा–पूर्व सातवीं–छठीं शती में यहाँ मानव–बस्ती का प्रारम्भ हुआ और क्रमशः न्यूनाधिक उतार–चढ़ाव के साथ मध्यकाल तक उसका सातत्य बना रहा।

सँवराडीह (25050'0'' अक्षांश उत्तर तथा 83056'30'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग एवं रेलवे लाइन के मध्य बूढ़ी नदी (लकड़ा नाला) के तट पर विद्यमान यह पुरास्थल पक्काकोट से लगभग 11 किमी पश्चिम विद्यमान है। वैसे लगभग 7–8 एकड़ तक विस्तृत इस पुरास्थल का अधिकांश भाग आज समतल हो कृषि–क्षेत्र के रूप में परिणत हो चुका है; किन्तु यहाँ से कृष्ण लेपित, धूसर तथा लाल रंग के बहुतायत में उपलब्ध मृद्भाण्ड–खण्ड इसके ईसा पूर्व सातवीं–छठीं शती से लेकर गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक के सातत्य वाले एक समृद्ध पुरास्थल होने का अनुमान कराते हैं।

जगदीशपुर (25046'55'' उत्तर तथा 83058'40'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग पर पियरिया से लगभग 5 किमी दक्षिण तथा पक्काकोट पुरास्थल से 3 किमी पश्चिम विद्यमान यह पुरास्थल छोटी सरयू नदी से थोड़ी ही दूरी पर अवस्थित है। लगभग 10 एकड़ क्षेत्र में फैले इस पुरास्थल के कुछ हिस्से पर गाँव बस गया है और शेष कृषि–भूमि में परिणत हो गया है। यहाँ उपलब्ध होने वाले कुषाण–गुप्तकालीन ईंटों के टुकड़ों के साथ धूसर एवं लाल रंग के मृदभाण्ड खण्ड उपलब्ध होते हैं। उक्त प्रमाणों से ऐसा लगता है कि इस पुरास्थल पर ई0 पू0 7वीं शती से लेकर गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक बसाहट रही।

मटिही (25047'20'' अक्षांश उत्तर तथा 83056'53'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग पर स्थित चिलकहर से टीकादेवरी मार्ग पर 5 किमी दक्षिण और पक्काकोट से लगभग 6 किमी पश्चिम–उत्तर छोटी सरयू नदी के किनारे स्थित यह पुरास्थल कृष्ण लेपित, धूसर तथा लाल रंग के मृद्भाण्ड खण्डों के माध्यम से 6वीं–5वीं शती ईसा–पूर्व से गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक का प्रतिनिधित्व करता है।

लगभग 5 मीटर ऊँचाई वाले इस पुरास्थल पर एक प्राचीन मन्दिर है, जिसमें गुफानुमा तलघर बना हुआ है। इसके पूर्वमध्यकाल में तंत्र से सम्बद्ध होने का अनुमान किया जा सकता है। पक्काकोट की पुरावस्तुओं, विशेषकर 'माटिभाराधिकरणस्य' लेखयुक्त मृण्मुद्रांक और बौद्ध विहारों के प्रकाश में ऐसा लगता है कि पक्काकोट ही माटिभाराधिकरण था और उसका विस्तार इस मटिही तक था। वैसे ही जैसे आज काशी का नाम काशी रेलवे स्टेशन में सिमटकर रह गया है, ठीक उसी तरह पक्काकोट नाम तो उसे मध्यकाल में पकी ईंटों के दुर्ग के कारण मिला, अन्यथा बुद्धकालीन यह मातुला ग्राम था, जो 7वीं–8वीं शती तक माटिभाराधिकरण हो गया और अन्ततः माटिभाराधिकरण का ही अपभ्रंश 'मटिही' हो गया।

नफरेपुर (कलना) (25046'55'' अक्षांश उत्तर तथा 83054'23'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–रसड़ा मार्ग पर स्थित चिलकहर से टीकादेवरी मार्ग पर 4 किमी दक्षिण एवं पक्काकोट से लगभग 10 किमी पश्चिम अवस्थित है। 7 एकड़ पर्यन्त विस्तृत यह पुरास्थल आज 4 मीटर ऊँचे मात्र 10ग्5 मीटर क्षेत्र को छोड़ पूरा का पूरा कृषि क्षेत्र बन चुका है। यहाँ के सर्वेक्षण से उपलब्ध होने वाले धूसर, लाल रंग के मृद्भाण्ड–खण्डों के प्रकाश में इसके शुंग–कुषाण युग से गुप्त–गुप्तोत्तर काल तक की एक समृद्ध बस्ती होने का अनुमान किया जा सकता है।

पक्काकोट नामक पुरास्थल से चौथी–शती की ब्राह्मी में अभिलिखित 'कलन' नामक मृण्मृद्रांक की प्राप्ति से इस स्थल का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है; क्योंकि यह नफरेपुर स्वयं कलन नाम से जाना जाता है। यहाँ की पुरावस्तुओं से प्रतीत होता है कि यह कलन ही अभिलिखित कलन है। इससे ऐसा लगता है कि गुप्तकाल में यह एक महत्त्वपूर्ण बस्ती बन चुका था। यहाँ से उपलब्ध एक प्रस्तर–गोलक को प्रस्तर बटखरे के उदाहरण के रूप में समीकृत किया जा सकता है।

कोदई (25050'2'' अक्षांश उत्तर तथा 8404'5'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–गडवार मार्ग पर गड़वार से 4 किमी पूर्व तथा पक्काकोट से लगभग 10 किमी उत्तर पूर्व स्थित यह पुरास्थल 4 एकड़ में विस्तृत है। वैसे आज लगभग समस्त पुरास्थल कृषि क्षेत्र में परिणत हो चुका है। यहाँ से प्रायः लाल रंग के मृदभाण्ड खण्ड उपलब्ध हैं, जिस आधार पर इसे पूर्व मध्य युग से सम्बद्ध किया जा सकता है।

मठिया (25049'18'' अक्षांश उत्तर तथा 8405'8'' देशान्तर पूर्व)

बलिया गड़वार मार्ग पर कोदई से लगभग 2.5 किमी दक्षिण पूर्व तथा पक्काकोट से लगभग 9.5 किमी उत्तर पूर्व स्थित मठिया पुरास्थल आज लगभग पूरा का पूरा कृषि क्षेत्र में परिणत हो चुका है। एक बने हुये आधुनिक मठ के आस–पास कुषाणकालीन झाँकती दिवाल दिख जाती हैं। इससे यहाँ कुषाणकालीन बस्ती होने का अनुमान किया जा सकता है। उपलब्ध अत्यंत खण्डित अवठविहीन पात्रखण्डों से पात्रों के आकार–प्रकार का अनुमान कठिन है।

तरवाडीह (25044'5'' अक्षांश उत्तर तथा 83056'30'' देशान्तर पूर्व)

बलिया–गाजीपुर मार्ग पर स्थित सुजायत से 4 किमी पश्चिम और पक्काकोट से लगभग 7.5 किमी पश्चिम–दक्षिण विद्यमान यह पुरास्थल लगभग 7 एकड़ क्षेत्र पर्यन्त विस्तृत 4 मीटर ऊँचा टीला है। इस पुरास्थल का कुछ भाग समतल कृषि क्षेत्र बन चुका है। यहाँ कृष्ण लेपित एवं लाल रंग के मृद्भाण्ड खण्ड तो उपलब्ध होते ही हैं, कुछ पूर्वमध्यकालीन खण्डित आकर्षक मूर्तियाँ और नागरी लिपि में अंकित एक प्रस्तर–अभिलेख भी है। इन सबसे ऐसा लगता है कि इस समृद्ध पुरास्थल पर ई0 पू0 7वीं 6वीं शती से पूर्व मध्यकाल तक मानव बस्ती का सातत्य बना रहा।

कारों (25043′15′′ अक्षांश उत्तर तथा 83057′38′′ देशान्तर पूर्व)

बलिया–गाजीपुर राजमार्ग से 21 किमी पश्चिम स्थित सुजायत से लगभग 3 और पक्काकोट से 7.5 किमी पश्चिम–दक्षिण अवस्थित 7 हेक्टेयर पर्यन्त विस्तृत इस पुरास्थल का यत्र–तत्र अधिकांश भाग या तो कृषि क्षेत्र में परिणत हो चुका है अथवा उसपर बस्ती बस गयी है। हाँ! गाँव के बीच में लगभग 7 मीटर ऊँचा तथा इसी प्रकार के कुछ अल्प छोटे–बड़े अन्य टीले अवश्य मिल जाते हैं। इनमें गाँव के मध्य स्थित सबसे ऊँचे वाले टीले को भी प्रस्तर पट्टिका से ढक दिया गया है। इन सबके होते हुए यत्र–तत्र उत्तरी कृष्ण परिमार्जित, धूसर तथा लाल रंग के मृदभाण्ड खण्ड उपलब्ध हो जाते हैं, परन्तु प्रायः सभी की अवठ घिसी होने के कारण पात्रों के आकार–प्रकार का अनुमान कठिन है। गाँव में प्रवेश के पूर्व बाई ओर निर्मित भव्य शिव–मंदिर में 9–10वीं शती की खण्डित–अखण्डित अनेक आकर्षक प्रस्तर–मूर्तियाँ रखी पड़ी मिलती हैं। निर्मित मन्दिर समूह में से कुछ मन्दिर भी अपनी पूर्वमध्ययुगीन पृष्ठभूमि रखते दिखाई देते हैं। इस प्रकार यह पुरास्थल ईसा–पूर्व सातवीं–छठीं शती से पूर्वमध्यकालीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है।

बजहाँ (25047′7′′ उत्तर तथा 8404′50′′)

बलिया–गाजीपुर मार्ग पर स्थित वैना से लगभग 2.5 किमी उत्तर–पश्चिम तथा पक्काकोट पुरास्थल से लगभग 7 किमी उत्तर–पूर्व यह पुरास्थल लगभग 4 एकड़ पर्यन्त क्षेत्र में विद्यमान है। यद्यपि यह आज लगभग समतल कृषि क्षेत्र बन चुका है। तथापि उपलब्ध लाल रंग के मृदभाण्ड–खण्डों के आधार पर यह पूर्वमध्यकालीन पुरास्थल के रूप में उभरकर सामने आता है। यद्यपि अतिशय खण्डित अवठविहीन होने के कारण पात्रों के आकार–प्रकार का अनुमान कठिन है।

बघेवाँ (25050′2′′ अक्षांश उत्तर तथा 8405′11′′ देशान्तर पूर्व)

बलिया गड़वार मार्ग पर कोदई से लगभग 1 किमी दक्षिण पूर्व तथा पक्काकोट नामक पुरास्थल से लगभग 10 किमी उत्तर–पूर्व 3 एकड़ क्षेत्र में यह पुरास्थल विद्यमान है। यहाँ से प्रायः लाल–रंग के मृद्भाण्ड खण्ड उपलब्ध होते हैं।

चितबड़ागाँव (26045′10′′ अक्षांश उत्तर तथा 8400′38′′ देशान्तर पूर्व)

बलिया–गाजीपुर मार्ग पर, जनपद मुख्यालय से लगभग 19 किमी पश्चिम तथा पक्काकोट से लगभग 2.5 किमी दक्षिण स्थित चितबड़ा गाँव बाजार से लगभग आधा किमी उत्तर दिशा में यह पुरास्थल छोटी सरयू नदी के दाहिने तट पर अवस्थित है। स्थानीय लोगों में इसकी डीह के रूप में मान्यता है। 6 एकड़ क्षेत्र पर्यन्त विस्तृत यह पुरास्थल चार मीटर ऊँचा है। यद्यपि इसका बड़ा भाग आज समतल कृषि भूमि बन चुका है। यहाँ से लाल–रंग के मृद्भाण्ड–खण्डों उपलब्धि के आधार पर इसके मध्यकालीन होने की संभावना की जा सकती है।

समयान्तराल और जाने अनजाने अनेक विध्वंसक गतिविधियों के चलते अनेक पुरास्थलों के विलोपन के होते हुये भी 10–11 किमी की परिधि में अवशिष्ट दो दर्जन पुरास्थलों के प्रकाश में; किसी काल विशेष में सघन बस्ती का होना स्वतः सिद्ध है और इसके लिये इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी, भौगोलिक परिवेश और उर्वर भूमि को उत्तरदायी माना जा सकता है। इन पुरास्थलों से उपलब्ध पुरावशेषों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि इन पुरास्थलों में से छोटी सरयू और बूढ़ी नदी (लकड़ा नाला) से उत्तर–दक्षिण और पूर्व से घिरे पक्काकोट से आकृष्ट हो उत्तराश्मयुगीन मानव ने यहाँ की अनुकूल उर्वर भूमि में खेती करना प्रारम्भ किया, और शीघ्र ही इसे अपनी बस्ती बना लिया। अपने विस्तार क्रम में उसने यहाँ से लगभग 8 किमी0 पूर्व छोटी सरयू नदी के तट पर स्थित वैना, जहाँ से छोटी सरयू और गंगा–संगम भी सन्निकट ही था, नामक स्थान पर भी खेती करना प्रारम्भ किया और समय के साथ वहाँ भी बस्ती का निर्माण किया। इन दोनो स्थलों पर हाथ अथवा धीमी गति के चाक पर बने पात्रों का उन्होंने उपयोग प्रारम्भ किया। दोनों स्थलों से उपलब्ध पुरावशेषों से विदित होता है कि जनसंख्या–वृद्धि के साथ ताम्राश्म युग में इनमें बहुविध समृद्धि आई, मानव की जीवन–शैली में सुधार हुआ। यही नहीं इस काल में पक्काकोट से

लगभग 11 किमी पश्चिम छोटी सरयू नदी तट पर स्थित टीकादेवरी तथा लगभग 9 किमी उत्तर पश्चिम स्थित उत्तमथूभ में भी मानव बस्ती अस्तित्व में आ चुकी थी। इस प्रकार पक्काकोट से 10–11 किमी की परिधि में पूरब–पश्चिम और उत्तर–पश्चिम दिशा में चार ताम्राश्मयुगीन बस्तियों का होना निश्चय ही सुखद आश्चर्य है और इन सबके मूल में स्वयं पक्काकोट का होना सहज अनुमन्य है। इन चारों स्थलों से उपलब्ध समृद्ध कृष्ण लेपित मृदभाण्ड परम्परा तथा पक्काकोट एवं वैना के उत्खनन से उपलब्ध मिट्टी, हड्डी एवं प्रस्तर–निर्मित मनकों से यहाँ के लोगों की कृषि एवं विविध शिल्प–कलाओं में दक्षता का अनुमान होता है। इस प्रकार ताम्राश्म युग तक ये चारों पुरास्थल सुरुचि सम्पन्न गाँव बन चुके थे।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि ताम्राश्मयुगीन पृष्ठभूमि की ग्रामीण सभ्यता क्रमशः विकसित होती बुद्ध युग तक भौतिक संस्कृति की दृष्टि से विस्तार कर नगरीकरण की ओर उन्मुख थी तथा नगरीय जीवन का विविध रूपों में संवर्द्धन हो रहा था। इस युग में कृषि का अभूतपूर्व विकास हुआ जनसंख्या वृद्धि की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। तैत्तिरीय संहिता में न केवल, 'अन्नं बहुकुर्वीत तद्व्रतं, जैसा उद्घोष मिलता है; वरन् बौद्ध साहित्य में खेत में 500 जोड़ी बैलों के माध्यम से हम कृषि कर्म होता पाते हैं।

समृद्ध व्यापार तथा उद्योगप्रवण संस्कृति की आवश्यक प्रतिपूर्ति हेतु सिक्कों का प्रादुर्भाव हो चुका था। निरुद्देश्य इतस्ततः स्वतन्त्र विचरण के प्रति अप्रशंसा भाव वाले इस युग, जिसमें दुश्शील व्यक्ति का निठल्ला होकर राष्ट्रपिण्ड पर निर्भर रहना दण्डनीय पापाचार था तथा कर्मनिष्ठ हो नैतिक क्रियाकलापों का संपादन प्रशसंसनीय था, में भौतिक संस्कृति का सर्वांगीण विकास सहज स्वाभाविक था। इस युग में दर्जनों शिल्प–व्यवसायों, औद्योगिक क्रियाकलापों का प्रचलन होता है और अनेक औद्योगिक ग्राम अपनी निर्मित वस्तुओं की लोकप्रियता, माँग और खपत के आधार पर, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो, ग्रामीण चरित्र छोड़कर कस्बे तथा कस्बे से नगर में परिणत होते दिखाई देते हैं। ऐसे ही परिवेश में पक्काकोट का भी सर्वतोमुखी विकास हुआ और अपने समय का यह महत्त्वपूर्ण आर्थिक एवं वाणिज्यिक केन्द्र बन गया। इसके आस–पास के, छोटी सरयू एवं बूढ़ी नदी के मध्यवर्ती क्षेत्र–जगदीशपुर, मटिही, उचेड़ा, सँवराडीह आदि समृद्ध बस्ती के रूप में उदित होते दिखाई देते है। वस्तुतः पक्काकोट की नागर आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति में लगे इन क्षेत्रों के कामगर किसान, कला–शिल्पी आदि के माध्यम से ये क्षेत्र भी समृद्ध हो गये। इसी प्रकार पक्काकोट के दक्षिण, दक्षिण–पश्चिम में सुजायत, कारो तरवाडीह में उपलब्ध टीलों पर प्राचीनकालीन समृद्ध बस्ती के अवशेष मिलते हैं। यही बात पूर्व, पूर्वोत्तर क्षेत्र के क्रमशः श्रोणिपुर, एकवारी (चनहट) के बारे में भी कही जा सकती है। उत्तरी कृष्ण परिमार्जित मृदभाण्ड काल के उत्तरवर्ती चरण, अर्थात् मौर्यकाल में तो द्रोणिमुख पक्काकोट एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक नगर बन गया और इसके प्रभाव में आस–पास के उपर्युक्त प्रायः सभी क्षेत्र कस्बे के रूप में परिणत होते दिखाई देते हैं। यही नहीं बाणागढ़ की कोट, मटिही, जगदीशपुर, बहादुरपुर, श्रोणिपुर न्यूनाधिक अन्तर के साथ सब मिलकर एक हो पक्काकोट नगर के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अंग बन गये से प्रतीत होते हैं।

मौर्योत्तर शुंग कुषाण काल में, कला–शिल्प में आश्चर्यजनक प्रगति, भारत के महत्त्वपूर्ण स्थल जलमार्गों से जुड़ाव, रेशम मार्ग पर नियंत्रण आदि के कारण, नगरीकरण की प्रक्रिया को प्रगति का पंख लग गये। नगरों की सांख्यिक–आर्थिक समृद्धि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस प्रसंग में महावस्तु में उल्लिखित राजगृह के 3 दर्जन शिल्प–व्यवसायों का तो उद्धरण दिया ही जा सकता है, स्वयं मिलिन्दपन्हों में 75 व्यवसायों, जिनमें 60 तो विभिन्न प्रकार के शिल्प ही हैं, का सन्दर्भ मिलता है। इस प्रकार की औद्योगिक समृद्धि ने न केवल पूर्व अस्तित्वमान नगरों की आर्थिक समृद्धि को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया, वरन् अन्य अनेक कस्बों के उदय और नगर बनने का भी मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसका स्वयं पक्काकोट महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, जो अपने समय के समृद्ध आर्थिक नगरों से, जलमार्ग से, जुड़कर न केवल स्वयं आर्थिक समृद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, वरन् उसके आस–पास के सागरपाली, परसियाँ, नफरेपुर–कलन जैसे स्थलों को भी कस्बों के रूप में महत्त्व मिला।

गुप्त–गुप्तोत्तर काल की यद्यपि नगरों के ह्रास के रूप में परिकल्पना है, किन्तु पक्काकोट पुरास्थल के उत्खनन से उपलब्ध पुरावस्तुओं के प्रकाश में इस प्रकार के अभिमत को समर्थन नहीं मिलता। स्वयं इसी काल में इस स्थान पर बौद्ध बिहारों का निर्माण और पुनर्निर्माण होता है और दुर्गीकृत क्षेत्र में भी समृद्ध बस्ती बने रहने का प्रमाण मिलता है। मेरी दृष्टि में इस प्रकार के भ्रम के पीछे पुरास्थलों के ऊपरी सतह का प्रायः विनष्ट हो जाना है। स्वयं नफरेपुर–कलन को भी इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। पक्काकोट से उपलब्ध 'कलन' नामांकित गुप्तकालीन मृण्मुद्रांक इस प्रकार के मन्तव्य का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है।

उपर्युक्त सर्वेक्षित स्थलों में बाणागढ़ कोट, हजौली–नारापार, कुरेजी, बुढऊ कुरेजी, बजहा, बघेवाँ, चितबड़ागाँव, कोदई, हजौली जैसे पुरास्थलों का तो पूर्व मध्यकाल में उदय होता है। इन सभी सर्वेक्षित पुरास्थलों का पक्काकोट के प्रकाश में अध्ययन से यह सुविदित है कि इन सबका पक्काकोट से घनिष्ट सम्बन्ध था और प्रायः ये सभी अपने उदय और विकास के लिये पक्काकोट पर निर्भर थे। हाँ पक्काकोट के चहुँमुखी विकास में इनका भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान था।

फलक सं. 01, उत्तमथूम पुरास्थल

फलक सं. 02, श्रोणिपुर पुरास्थल

फलक सं. 01, बाणागढ़ की कोट

फलक सं. 06, हजौली/नारापार

फलक सं. 08, वैना पुरास्थल

फलक सं. 09, कुरेजी पुरास्थल

फलक सं.10, बुढ़ऊ कुरेजी

फलक सं. 11, सागरपाली पुरास्थल

फलक सं. 12, परसियाँ पुरास्थल

फलक सं. 13, टीकादेवरी पुरास्थल

फलक सं. 16, एकवारी/चनहट

फलक सं. 15, उचेड़ा पुरास्थल

फलक सं. 16, जगदीशपुर पुरास्थल

फलक सं. 17, मटिही पुरास्थल

फलक सं. 18, नफरेपुर (कलना)

फलक सं. 20, तरवाडीह पुरास्थल

फलक सं. 21, तरवाडीह पुरास्थल पर बिखरे देव विग्रह

फलक सं. 22, कारों पुरास्थल का दृश्य

संदर्भ सूची :–

1. पप्पू, आर0 एस0, अपेण्डिक्स, साइट कैचमेण्ट एनेलिसिस, अर्ली फार्मिंग कम्युनिटीज आफ द कैमूर, एक्सकेवेशन ऐट सेनुवार (लेखक–बी0पी0 सिंह), पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0 405, 409, 414 आदि।
2. संयुक्त निकाय एवं सुत्त निपात का कसि भारद्वाज सुत्त।
3. दुबे, सीताराम, बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास, 2016, ल्यूमिनस बुक, वाराणसी, पृ0 12
4. धम्मपद, निरयवग्ग, गाथा सं0 307–308
5. ठाकुर, विजय कुमार, अरबनाइजेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, अभिनव प्रकाशन, 12981, पृ0 68
6. टेकनर, मिलिन्दपन्हो, 1928, पृ0 331
7. ठाकुर, विजय कुमार, वही, पृ0 81–83 और तन्निहित पादटिप्पणियाँ।

प्रा. भा. इ., संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

●●●

मध्यकालीन राजस्थान में भोजन व्यवस्था का अध्ययन – साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर

डॉ. सुशीला शक्तावत

अत्यन्त प्राचीनकाल से मानव में खान–पान के प्रति अभिरूचि के दर्शन होते है। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है– पुरातन प्रस्तर युग में भी मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में निरतंर आगे बढ़ रहा था। प्राचीनकाल में अग्नि चकमक पत्थरों द्वारा उत्पन्न की जाती थी और प्राचीन मानव पशुओं के मांस को भूनने में इसका उपयोग करता था।[1] कालांतर में मानव ने ऐसी लकड़ियों की खोज की, जिनके आपस में रगड़ने से आग उत्पन्न हो जाती थी। ये लकड़िया अरणि कहलाती थी।[2] धीरे–धीरे वह समय आ गया, जबकि वह न केवल पशुओं का शिकार करता था अपितु उन्हें पालता भी था। उसे यह अधिक उपयोगी प्रतीत होता था कि वह घोड़ा, हिरण, भेड़ आदि पशुओं को अपने पास पालकर रखें, ताकि आवश्यकता पड़ने पर जहां उनका मांस भोजन के लिए उपलब्ध हों वहां साथ ही वह उनके दूध, ऊन आदि का भी उपयोग कर सकें।[3] वैदिक काल में दूध से बने पदार्थों का उल्लेख मिलते है। धीरे–धीरे कृषि का उदय हुआ, इसके साथ ही विविध भोज्य सामग्री, खान–पान का प्रचलन हुआ। डॉ. रामेश्वर गुप्त ने लिखा है– आरंभिक काल में मानव फल–फूल बीनकर या शिकार करके अपना पेट भरता था, किन्तु धीरे–धीरे पहले पशुपालन प्रारंभ किया और वह गाय, बैल, भेड़, बकरी, घोड़ा, कुत्ता आदि पालने लगा। तदुपरान्त जंगल में उत्पन्न धान, गेहूं, जौ, मक्का आदि के बीजों को बीनकर और उन्हें बोकर वह खेती करने लगा। इसका प्रार्दुभाव नवपाषाण युग में हुआ था।[4]

मध्यकालीन राजस्थान की भोजन व्यवस्था का वर्णन कान्हडदे प्रबन्ध में कवि पद्मनाथ के द्वारा भी किया गया है। कवि पद्मनाथ ने खाद्य सामग्री का वर्णन तीन बार किया है। एक तो उलूगखान द्वारा पाटनजीत के बाद सैनिक टुकड़ियों के धरती के उत्पादों और मुड़ने के अवसर पर किया है। कवि ने लिखा हैं कि वहां गुजरात में प्रचुर मात्रा में आहार था। सूखे कच्चे खजूर, द्राक्ष, कच्चे नारियल, सुपारी, खजूर, गन्ना और वनफल आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते थे। अन्यत्र कवि ने जंगली फलों का नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि वहां बेल, बोर, कैर, इंगोरा आदि थे।[5]

दूसरा भोजन प्रसंग का वर्णन है जब अलाउद्दीन खिलजी की पुत्री राजकुमारी खुंजा लाडण अतिथि के रूप में जालौर आती है। रावल के महल में राजकुमारी को परोसे जाने वाले व्यंजनों जिसमें शाकाहारी भोजन का ही वर्णन मिलता हैं– कवि ने लिखा है कि भोजन के समय त्राट लगाये जाते है जब वीर भोजन करते हैं तो चारण और भाट उनकी कीर्ति गाते है और जो व्यंजन परोसे जाते हैं– सेब, सुहाली, लड्डु, मांडा, तले हुए पापड़, विभिन्न प्रकार की मिठाइयां, सूखी सब्जियां–बड़ी चावल, कपूर, तली हुई पापड़ी, पंचधार मिठाई, लापसी, कंसार, कई प्रकार के चावलों के व्यंजन और उज्जवल अति गाढ़ा मलाईदार दही इसी तरह के व्यंजन रावल के महल में परोसे जाते है। भोजन के बाद सेवक पान परोसते हैं और अपने हाथों में लाई गई कचोली से इत्र लगाते है।[6]

तीसरी बार कवि ने अलाउद्दीन के जालौर सैन्य अभियान के अवसर पर बताया है कि प्रति लाख सैनिकों के लिए दस हजार रसद की दुकानों की व्यवस्था की गई जहां कोई भी चवला, मूंग, नमक, आटा, गुड़ और घी प्रचुर मात्रा में प्राप्त कर सकता था। इसके अलावा बेसन, वीराहली, सभी कुछ वास्तव में वहां उपलब्ध था। वहां नये तिल, विहरी, काचरी, अदरक, जमीकंद, केले, बिजौरा, अनार, नींबू, विंड खजूर, सूखै अंगूर (द्राक्ष), असीमित नारियल, साबू,

रीज और आंवला सभी चीजें उपलब्ध थी और दुकानदारों के द्वारा पूरी ईमानदारी से तौली जाती थी। गंधी की दुकान पर कोई भी दवाई की पुड़िया ले सकता था, वे दवाईयां इतनी प्रभावशाली थी कि बीमारी एक घड़ी में ही चली जाती थी।[7]

तत्पश्चात् कवि ने लिखा अनाजों के व्यापारी फड़िया रामशाह के पास प्रचुर मात्रा में अन्न के भण्डार थे जो मूंग, जौ और पके हुए चमकीले गेहुंओं से भरे हुए थे।[8]

पशुओं के विभिन्न खाद्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहां किले में सूखी घास, चने और कोराड़ि के गट्ठर, ज्वार के सूखे डंठलों (कडब) के ढेर लगे हुए थे।

भोजन सम्बन्धी विवरण हमें कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलते है। राजस्थान के कवि समय सुन्दर द्वारा 'भोजन विच्छति नामक ग्रंथ लिखा गया उसमें 'कल्प–सूत्र' की टीका के आधार पर महावीर के जन्म के पश्चात् कुटुम्बीजनों को जो भोजन कराया गया, उसका वर्णन बड़ी छटापूर्ण भाषा में किया गया है। खाद्य पदार्थों का इतना सुन्दर वर्णन पढ कर पाठकों को भी भोजन करने की इच्छा जाग उठेगी। परोसने वाली स्त्री का वर्णन करके खाद्य पदार्थों का वर्णन किया गया है–[9]

''मांडयउ उत्तंग तोरण मांडवउ, तुरत नवउ। बेसवानउ आंगणउ, तेतउ नील रतन तणउ। सखरा मांडया आसण, बैसतां किसी विभासण प्रीसणहारी पइठी। ते केहवी? सोल श्रृंगार सज्या, बीजा काम त्यज्या। हाथनी रूड़ी, बिहुं बॉहे खलकइ चूड़ी। लघ लाघवी कला, मन कीधा मोकला। चितनी उदार, अति घणी दातार। दउलती हाथ, परमेसर देजे तेहनो साथ। धसमसती आवी, सगलांरइ मन भावी।

''हिव पकवान आणइ, केहवा वखाणइ–सत्तपुड़ा खाजा, तुरतना ताजा, सदला नइ साजा, मोटा जाणे प्रासादना छाजा। पछे प्रीस्या लाडू, जाणे नान्हा गाडू। कुण कुण ते नाम, जीमतां मन रहे ठाम। मोतीया लाडू, दालिआ लाडू, सेविया लाडू, कीटीरा लाडू, नांदउलिरा लाडू, तिलना लाडू, मगरिया लाडू, भूगरिया लाडू, सिंह केसरिया लाडू।''10

मध्यकाल में भारत में प्रचलित भोजन व्यवस्था का दिग्दर्शन मलिक मुहम्मद जायसी के द्वारा पदमावत में किया गया है। उसमें भोजन के दो प्रसंग है। प्रथम प्रसंग जब रतन सैन का पदिमिनी से विवाह हुआ और सिंहल दीप में बारात का (जेवनार) हुआ और दूसरा जब चित्तौड़ में अलाउद्दीन खिलजी को दावत दी गई।

जेंवनार के लिये रसोई की सामग्री होने लगी। सोने के पत्तों की पत्तलें फैलाई गई। उनके ऊपर माणिक्य से जड़े हुए सोने के थाल राजा और रंक सबके आगे रखे गए। रत्नों से जड़े हुए कटोरे कटोरी एक–एक जने के आगे सौ–सौ जोड़ी रखे गए। लोटों में हीरे रत्न लगे थे। भाग्यवान पुरूष भी उन्हें देखकर मोहित होते थे। उस ज्योंनार में मानों नक्षत्र स्वयं उजाला कर रहे थे, जिससे दीपक और मशालें भी छिप गई। चाँद और सूर्य की कला जैसे मिल जाय, कुछ वैसा निर्मल प्रकाश वहाँ हो गया। जिस मनुष्य के पास (आँखों) की ज्योति न हो उसे भी उस ज्योति के दर्शन से ज्योति प्राप्त हो सकती थी। सब लोग पंक्तियों में बैठ गए और सामने भाँति भाँति की ज्योंनार आने लगी। शरीर के अधोभाग में वे कनक पत्र की धोती पहने हुए थे और उनके सामने जीमने के लिये सोने के पत्तों की बनी हुई पत्तले डाली गई थी।[11]

पहिले परोसने के लिये अनेक प्रकार के भात लाए गए जो ऐसे महकते थे मानों कपूर की सुगन्धि से सुबासित किए गए हों। फिर हाथों में घी लगाकर पोए हुए झालर माँडे आए, जिनकी उज्ज्वलता देखने से ही मानों पाप धुल जाते थे। लुचुई, पूरी और सोहारी परोसी गई, जो एक तो गरम, दूसरे अत्यन्त मुलायम थी। फिर जो बावन प्रकार के भोजन आए, न वैसे देखे, न कभी खाए गए। खँडरे काट कर खाँड की चासनी में पकाए गए और वह एक सौ एक हाँडियों में डाल कर रख दी गई। फिर बहुत प्रकार से डाले गए अचार लाए गए। दूध दही के बाँधे हुए छेने के लड्डु आए। फिर जाउरि (दूध में चावल पकाकर बनाई गाढी खीर) और पछियाउरि (खुर्मा शकरपारे आदि की मीठी तश्तरी) परोसी गई। दूध, दही और मिठाइयों का क्या बखान करूँ? ये खाद्य–पदार्थ अत्यन्त सुगन्धित थे और मुँह में पड़ते ही घुल जाते थे। यदि एक कौर खाया जाय तो उसमें सहस्त्र प्रकार का स्वाद मिलता था।[12]

जेंवनार हो चुकी तो खाँड का शरबत घुमाया गया। फिर कुंकुम के रंग का अरगजा सबको दिया गया। उसके बाद पान बाँटे गए और सब बराती जनवासे में लौट आए। फिर ब्याह का कृत्य होने लगा।[13]

पद्मावत में जेंवनार का प्रसंग दो बार आया है। एक रत्नसेन–पद्मावती के विवाह के अवसर पर और दूसरे चित्तौड़ में बादशाह भोजखण्ड में। पहले वर्णन में सब रसाई घी, दूध, पूड़ी, मिठाई और शाकाहार तक सीमित है और वर्णन भी साधारण है। किन्तु रत्नसेन द्वारा शाह की इस दावत का वर्णन बहुत विस्तृत है। ज्ञात होता है जायसी ने अपने इस वर्णन में उस समय की राजकीय पाकशालाओं का चित्र खींच दिया है। सोमेश्वर कृत मानसोल्लास में भी इसी प्रकार की सामिष और शाकाहारी रसोई का ब्यौरेवार वर्णन है (मानसोल्लास, अन्नभोग, 312342–1600) संक्षेप में जायसी के भोज प्रकरण की रूपरेखा इस प्रकार है–

दो. 541– पशु पक्षियों की गिनती जो पकड़कर लाए गए और मारे गए।

दो. 542– मछलियों की गिनती जो जाल में पकड़कर लाई गई।

दो. 543– गेहूँ का सामान, माँड़े, पूरी, लुचुई, सुहारी।

दो. 544– सत्ताइस प्रकार के चावलों के नाम।

दो.545– माँस के विभिन्न प्रकार– (1) कटवाँ (2) बटवाँ (3) सूप या रसा (4) माँस के खण्डे (5) समूचे छागर।

दो.546– माँस का भरवाँ सामान– (1) समोसे (2) फल (3) मसौरा या कबाब।

दो.547– मछलियों के पदार्थ– (1) काटे मंछ (2) खण्डरे (3) मछलियों के अण्डे (4) घी में बघारा हुआ अरदावा या भरता।

दो.548– फलशाक, कंदशाक, पत्रशाक और शिम्बिशाक।

दो. 549–भाँति–भाँति के बड़े और बड़ियाँ।

दो. 550– तहरी, दूध दही का सामान और मिठाइयाँ।

बड़े–बड़े और छोटे–छोटे छागर और मेढ़े जहाँ तक मोटे मिल सके पकड़–पकड़कर लाए गए। बन में रहने वाले हिरण, रोझ, लगना, चीतल, गौन, झाँक और खरगोश लाए गए। तीतर, बटेर, लवा, सारस, कुंज और नाचने वाले मोर भी न बच सके। कबूतर, पण्डुक, खेहा, गुडरू और उसरबगेरी नामक पक्षी खोज कर लाए गए। हारिल और चरज भी आकर उस बन्धन में पड़े। बनमुर्गी और जलमुर्गी पकड़ी गई। चकवा, चकवी केंवा, पिडे, नकटा, लेदी, सोन और सिलारे, सब मोटे और बड़े चुन–चुनकर पकड़े गए। जो दुबले पतले थे वे बिना खुटक चर रहे थे।14

जो चतुर हैं वे इस दुःख के लिये कंठ को पहले से ही तैयार रखते हैं और देह का रक्त सब (साधनों द्वारा) सुखा डालते हैं। जो मूर्ख हैं वे सच्चा मार्ग भूलकर जगत के झूठे स्नेह से जल में पड़कर जाल में फँसते हैं।15 यहां जायसी ने मछली के कई प्रकारों का तो वर्णन किया ही है। साथ ही मनुष्य की संसाररूपी मृग तृष्णा का यर्थाथ भी बताते है।

दो पाटों के बीच की विपत्ति देखकर गेहूँ का हृदय फट गया। उन्हें वहां लाया गया जहाँ आटा होने को था। वे जब पहिले खूब धो लिए गए तब पीसे गए। कपड़े से छानकर खूब माँड कर पोए गए। कड़ाह चढ़े हुए थे। उनमें पूरियाँ उतर रही थी। वे मुट्ठी में ही चूर होकर रह जाती थी। वे श्वेत, पीत और उज्ज्वल लगती थी और मक्खन से भी अधिक मुलायम थी। मुख में डालते क्षण ही बिला जाती थी। जो खाता था वह सहस्त्र स्वाद पाता था। लुचुई पोकर घी में भिगो दी गई। पीछे इच्छानुसार खाँड से खाई गई। पूरी और सोहारी ऐसी बनी थी कि घी चू रहा था। छूते ही घुल जाने के डर से कोई छूता न था।

उनकी मिठास कहीं नहीं जाती। उनके विषय में बात भी कहने में बड़ी मीठी लगती थी। खाते हुए कोई अघाता न था, मन भले ही तृप्त हो जाय।[16]

जो–जो चावल पक रहे थे कहें नहीं जाते। भाँति भाँति के अनेकों थे, जो सुगंध फैला रहे थे। राजभोग, रानीकाजर, झिनवा, रदुआ, दाउदखानी, कपूरकान्त, लेंजुरि रितुसारी, मधुकर, दिहुला, जीरासारी, घृतकांदौं, कुँवरबिलास,

रामरास, इन चावलों में से अत्यन्त सुगंधि उठ रही थी। वे सीधे, लंबे और बारीक थे। सगुनी, बेगरी और पढिनी नामक चावल राँधे जा रहे थे। गड़हन, जड़हन, बड़हन, संसारतिलक, खंडचिला, राजहंस, हंसामौरी, रूपमंजरी, केतकी, बिकौरी नाम के चावल सिद्ध हो रहे थे।

ऐसे सोलह सहस्त्र प्रकार के चावल थे, जिनसे ऐसी प्यारी सुगन्ध निकल रही थी कि भौरों ने फूल छोड़ दिए और सुगन्ध से खिंचकर वहाँ एकत्र हो गए।[17]

बढिया माँस धोकर साफ किया गया। जितने प्रकार उससे बनाए गए उनका वर्णन करता हूँ। टुकड़े काटकर कटवाँ (कीमा) और पीस कर बटवाँ माँस तैयार किया गया और उनमें गन्ध के लिये कई पदार्थ मिलाए गए। फिर उनसे अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ सिद्ध किए गए। फिर उन्हें बहुत सी सुगन्धियों से और घी से बघारा गया, और केसर पीसकर ऊपर से छिड़का गया। माँस की जितनी हाँड़ियाँ चढ़ी थीं सबमें सेंधा नमक डाला गया। कंद मूल की गाँठें भी काटकर डाली गई। सोवा, सौंफ और धनियाँ बारीक करके ऊपर से छिड़क दिए गए। इससे उनमें अधिक वासना (सुगंधि) आने लगी। बड़े बड़े टाँकों या बर्तनों में पानी भरकर उनमें माँस चुराया गया और उन्हें घी के साथ इस प्रकार पकाया गया कि ऊपर घी उतिराने लगा। यों माँस का सूप तैयार हुआ। इसके अतिरिक्त माँस के खंडे बनाकर बड़े–बड़े हंडों में पकाए जाने लगे। अनेकों समूचे छागर लेकर उनमें सरागें पिरोकर भूनकर रक्खे गए। जो इस प्रकार के भोजन जीमता है वह तगड़ा बन शेर की तरह गरज उठता है।[18]

माँस के समोसे भूनकर घी में तले गए। फिर उनमें लौंग मिर्च मिलाकर वे भूने गए। और भी जो बढ़िया माँस पीसा गया था, उसे आम, भांटा जैसे फल फूलों में भरकर तैयार किया गया। नारंगी, अनार, तुरूँज, जँभीर, तरबूज, बालमखीरा, कटहल, बड़हल, नारियल, अंगूर, खजूर, छोहारे, इन सब फलों को उन–उनके भीतर पीसा माँस भरकर तैयार किया गया और भी जितने मेवे और फल होते हैं सब में यही नफासत पैदा की गई। जो जिस भाँति का था उसके भीतर भरे माँस में वैसा ही ज़ायका मिलता था। बनाने के बाद वे सब फल के सिरके में भिगोकर रक्खे गए थे। उसी में से निकालकर परोसने के लिये लाए गए। पद्मावती ने जो उन्हें तैयार कराया था इसी से ताजे बने हुए थे। वहाँ कबाब तैयार हुए। वह रसोई धन्य थी। जो कुछ था सब माँस से बनाया गया था। बाग का माली व्यर्थ ही सब फल लिए हुए आकर पुकार रहा था– 'सब फलों का स्वाद तो रसोई में ही खाने वालों ने पा लिया। अब मुझे कौन पूछेगा?[19]

अबुल फजल ने अकबर की रसोई के वर्णन में इस प्रकार के खाद्य को 'समोसा' ही कहा है– 10 सेर माँस, 4 सेर मैदा, 2 सेर घी, 1 सेर प्याज, पाव भर अदरक, आधा सेर नमक, 1 छटाँक काली मिर्च, धनिया, आधी छटाँक इलायची, जीरा, लोंग–इस सामग्री से बीस प्रकार के समोसे बनाए जा सकते हैं और चार तश्तरी तैयार होती है।20

पहले मछलियों को काटा गया। तब उन्हें दही डालकर धोया गया। चार बार धोने के बाद वस्त्र में बाँधकर उनका जल निचोड़कर निकाल दिया गया। फिर उन्हें कडुवे तेल में छौंका गया। उसमें मेंथी का धुँगार दिया गया। तरह तरह से अनेक मछलियों को बघारा गया। आम की खटाई की फाँके करके उन्हें उन पर छिड़का गया। ऊपर से लौंग मिर्च पीपल आदि छिड़क कर उन्हें चटपटा बनाया गया। जो उन्हें चक्खेगा वही उनका उत्तम रस पाएगा। भाँति भाँति से उन मछलियों के खँडरे बनाकर तले गए। उनके अंडों को तल तलकर अलग रखा गया। उन्हें टटके घी में तलकर ठंडा किया गया। अनेक भाँति का अरदावा (मछलियों का भरता) बनाया गया। उसमें केसर डालकर कपूर से सुवासित किया गया और ऊपर से लौंग और काली मिर्च डाली गई।

उसमें इतना घी तैर रहा था कि पहुँचे तक हाथ डूब जाता था। बूढ़ा यदि उसे खा ले तो उसमें नया यौवन आ जाय। फिर वह सौ स्त्रियां के साथ विवाह कर सकता है।[21]

अनेक प्रकार की तरकारियाँ सिद्ध की गई। कई प्रकार के कुम्हड़े की फाँके बनाई गई। पहाड़ी लौकी की भूजी बनाई गई। रायते के लिये उसके रत्ती रत्ती से टुकड़े काटे गए। चूक की खटाई डालकर भाँटा राँधा गया। अरबी में डालने के लिये अरिहन पीसा गया। तोरई, चिचिडा और टिंडे तले गए और ज़ीरे से धुँगारकर घी में कलकला

कर रखे गए। परवल, कुँदरू समूचे भूने गए और तैरते हुए घी में चुराकर निकाले गए। करेलों का कड़वापन निकाल कर उन्हें काटा गया और अदरक डालकर तला गया एवं खटाई डाली गई। खड़े सेम की फाँके राँधी गई। सागों को छौंककर और सोंधा करके उतार लिया गया।

अनेक प्रकार की तरकारी सिद्ध की गई। सब भोजन बहुत बढ़िया था। न जाने भोजन के समय क्यों रूचे और किस पर दृष्टि पहुँच जाय।[22]

कड़ाहियों में अलग घी भरा हुआ था। उसमें तरह तरह के बड़े उतारे जा रहे थे। एक पिट्ठी के साथ मिर्च और अदरक मिलाकर बनाए गए थे। दूसरे दूध और खाँड के साथ मीठे बनाए गए। मिर्च डालकर मूँग का पथ्याहार बनाया गया। मूँग के मुँगौड़े और मीठी बड़ियाँ बनीं। मेंथौरी बड़िया बनाई गई जिनमें सिरका डाला गया। सोंठ डालकर खिरिसा बनाया गया। मीठी दही में जीरा डालकर बड़ियाँ भिगोई गई जो खाने में मक्खन की तरह कोमल थीं। खाँड की चाशनी बनाकर उसमें अमचुर डाला गया और लौंग एवं इलायची के साथ मिलाकर रखा गया। कढ़ी और डुभकौरी बनाई गई और खाँड के पानी या पने में बरौरी बनीं। पत्ते लाकर रिंकवछ छौंका गया और उसमें हींग मिर्च और अदरक डाला गया। एक–एक काठ की हाँडी का सामान चखने से सत्तर सहस्त्र स्वाद मिलते थे।[23]

लौनी घी और गरी डालकर तहरी पकाई गई। ऊपर से उसमें चिरौंजी और खुरहुरी डाली गई। घी में भूनकर पेठा पाग बनाया गया। चाशनी में डालकर बनाए हुए गुलम्बे में अमृत जैसा स्वाद मिला। चुंबक लोहे की कढ़ाही में खोया औंटाया गया। ऐसा हलुवा बनाया गया जिसमें घी निचुड़ रहा था। सुगंधित द्रव्य डालकर गाढ़ी सिखरन छानी गई। मोटी भलाई वाले दूध से दही जमाई गई। फिर दही के मरिडें बांधे गए और बहुत प्रकार के अचारों के मसाले उनमें मिलाए गए। जो–जो मिठाइयाँ बनीं कही नहीं जातीं। मुँह में डालते क्षण ही घुल जाती थीं। मोती लड्डु, छाल, मुरकुरी, माँठ, गुंझे, बुँदिया की ढुरहुरी– ये सब मिठाइयाँ बनाई गई।[24]

फेनी बनी और पापड़ भूने गए। बहुत प्रकार की सामग्री तैयार हुई। जाउरि और पछियाउरि बनी। यों अनेंक भाँति की जेवनार (भोजन सामग्री) सिद्ध हुई।[25]

जितने प्रकार की रसोई कही गई हैं वे तभी तैयार हुई जब उनमें पानी की सहायता ली गई। यदि कोई परीक्षा करके देखे तो पानी सबका मूल है। पानी बिना रस उत्पन्न नहीं होता। पानी ही अमृत है और अमृत कुछ नहीं है। पानी से ही शरीर में प्राण रहता है। दूध में पानी ही है और घी भी पानी का ही रूप है। पानी घटने से शरीर में प्राण नहीं रहते है। पानी में ही ज्योति समाई हुई है। पानी से ही माणिक और मोती उत्पन्न होते हैं। पानी ही सबमें निर्मलता का रूप है। जो पानी छूता है वही निर्मल हो जाता है। वह पानी मन में गर्व नहीं करता। सिर झुकाकर नीचे की ओर बहता है। जो गहरा जल है वह झुककर समुद्र में मिल जाता है। जो भरे हैं वे भारी होते है। जो रीते हैं वे नगाड़े की तरह बजते हैं।[26]

रसोई तैयार हुई। उधर प्रातः काल हुआ और सुलतान गढ़ देखने के लिये आया। शाह (सूर्य) ने सरजा को संग में लिया और राघव चेतन को आगे किया। क्षण भर में ही उसका विमान आ पहुँचा। वह गति में मन से अधि ाक और ऊँचाई में आकाश से भी ऊँचा था। गढ़ की पौर खोल दी गई और सुल्तान उसमें प्रविष्ट हुआ मानों सूर्य आकाश पर चढ़ रहा हो।

राजा रत्नसेन के यहाँ सौलह सौ दासियाँ थीं। सबमें से चौरासी चुनकर अलग की गई। उन्हें रंग–रंग की साड़ियाँ पहिनाई गई। वे महल में से निकलकर सेवा में उपस्थित हुई।[27]

चारों ओर एकत्र होकर दासियाँ शाह की सेवा कर रही थीं, मानों अप्सराएं स्वर्ग में इन्द्र की सेवा में उपस्थित हों। कोई लोटा और कोंपर ले आई और शाह एवं सभा में अन्य सबके हाथ धुलाए।[28] कोई आगे पत्तले बिछाने लगी। कोई सब प्रकार की भोजन सामग्री ले लेकर आने लगीं। कोई पत्तलों पर दो दो माँडे रखकर जा रही थीं और कोई भात और पूरी परोसती थीं।[29] कोई भरे हुए थाल ले लेकर आती थीं और कोई बावन प्रकार की सामग्री परोस रही थीं। जो वस्त्र पहन कर परोसने के लिये आती थीं, दूसरी बार में फिर दूसरे ही वेश में दिखाई पड़ती थीं। हर फेरे

में भिन्न भिन्न रंग के वस्त्र पहनती थीं और अप्सराओं के समान दल के दल बनाकर आती थीं।

फिर अनेक प्रकार के अचार लाती थीं और एक–एक करके चंगुलों से परस रही थीं। जहाँ पर भी कुछ भूल होती, राजा स्वयं सँभाल करते थे।30

दो. 541–551 में रसोई की सामग्री तैयार कराने का उल्लेख है। उसके बाद सुल्तान के आने और बैठने का एवं अब भोजन परोसने और खाने का प्रसंग है।

ज्योनार समाप्त हुई। शरबत घुमाया गया। केसर मिला हुआ अरगजा सबको दिया गया। अमूल्य रत्न सौ थालों में भर कर राजा ने शाह की सेवा में रखे। पहले रत्न हाथ में करके पीछे से हीरा (पद्मावती) भी ले ले।31

इस प्रकार पद्मावत में वर्णित भोजन व्यवस्था के आधार पर हमें मध्यकालीन भोजन व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है।

संदर्भ सूची –

1. गुप्त रामेश्वर– मानव की कहानी, भाग–1, पृ. 137।
2. वही, पृ. 138 ।
3. विद्यालंकार डॉ. सत्यकेतु– भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ. 52 ।
4. गुप्त रामेश्वर– मानव की कहानी, भाग–1, पृ. 138 ।
5. ऋचा गौड़– कान्हड़दे प्रबन्ध में संस्कृति और समाज, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2009, पृ. 233 ।
6. वही, पृ. 48 ।
7. वही, पृ. 48 ।
8. वही, पृ. 233 ।
9. वही, पृ. 233 ।
10. परम्परा 1969 के अंक 2, पृष्ठ 10, राजस्थानी शोध संस्थान चोपासनी, जोधपुर ।
11. जेंवनार– भोजन, भाई बिरादरी का समूह में पक्ति भोजन। प्रा. जेमणकार। शिव की बरात में जनवासे के बाद जेवनार (बाल. 99/4) और तब विवाह का उल्लेख है (99/14)।
12. मलिक मुहम्मद जायसी कृत पदमावत– वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा अनुदित लोक भारती प्रकाशन 2013, पृ. 270 ।
13. वहीं, पृ. 272 ।
14. वहीं, पृ. 580 ।
15. वहीं, पृ. 582 ।
16. वहीं, पृ. 583 ।
17. वहीं, पृ. 584–585 ।
18. वहीं, पृ. 587 ।
19. वहीं, पृ. 588 ।
20. आईने अकबरी अनुवाद ब्लाखमैन, पृ. 63 ।
21. वहीं, पृ. 591 ।
22. वहीं, पृ. 592 ।
23. भए अनेग परकार– अकबर के भोजन में सौ प्रकार हर समय रहते थे। हेरात में हुमायूँ के प्रातः कलेवे में तीन सौ और दोपहर के भोजन में बारह सौ प्रकार की तश्तरी परोसी गई (अकबरनामा, पृ. 426)। शाह तहमास्प ने जब उसकी दावत की तो तीन सहस्त्र प्रकार रक्खे थे (अकबरनामा)। सूर ने सत्तरह सौ प्रकार के भोजन नन्द

भवन में कृष्ण के आरोगने के समय लिख हैं (नंद भवन में काग अरोंगै ''सत्तरह सौ भोजन तह आए। पद 1014)।

24. वहीं, पृ. 593 ।
25. वहीं, पृ. 595 ।
26. वहीं, पृ. 596 ।
27. वहीं, पृ. 597 ।
28. बावन परकारा– लोक में छप्पन प्रकार के व्यंजन भी प्रसिद्ध है।
29. राजा अपने समान या अपने श्रेष्ठ किसी व्यक्ति को निमंत्रित करते तो उसके सुपास के लिये व्यक्ति गत ध्यान देते थे अकबरनामा में तहमास्प द्वारा हुमायूँ के लिये इस प्रकार को निजी देख रेख का उल्लेख है।
30. वहीं, पृ. 607 ।
31. वहीं, पृ. 611 ।

C/o श्री सी.एस. शक्तावत
21, घाटी मगरी, पानेरियों की मादड़ी,
होली चौक, शान्ति नगर उदयपुर (राज.)
पिन नं. 313002

•••

ग्वालियर दुर्ग की स्थापना में जल स्रातों का महत्व

डॉ एस. के. द्विवेदी
स्मृति पाठक

ग्वालियर शहर भारत के हृदय प्रदेश अर्थात् मध्यप्रदेश में स्थित है। वर्तमान में यह एक विकासशील शहर के रूप में अपनी पहचान बना रहा है। ग्वालियर ऐतिहासिक दृष्टि के साथ –साथ शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पहचान बना रहा है। ग्वालियर शहर में स्थित महान दुर्ग इसकी पहचान है जो इसकी ऐतिहासिकता एवं वैभव का उदाहरण प्रस्तुत करता है। ग्वालियर दुर्ग के चारो ओर ग्वालियर शहर फैला हुआ है। ग्वालियर में प्राक्ऐतिहासिक मानव की गतिविधियों से लेकर आधुनिक इतिहास की गतिविधियों के प्रमाण इस शहर एवं ग्वालियर दुर्ग पर साक्ष्यों सहित दिखाई देती है। ग्वालियर के पश्चिम् क्षेत्र में गुप्तेश्वर नामक स्थान से पाषाण कालीन औजार प्राप्त हुए है। जिससे इस क्षेत्र की प्राचीनता व ऐतिहासिकता हजारों वर्ष पूर्व प्रागैतिहासिक काल तक मानी जाती है। मौर्य, शुंग, कुषाण, नाग तथा गुप्तकाल में भी यह क्षेत्र मानवीय गतिविधियों का केन्द्र रहा है। ग्वालियर में प्राचीन काल से ही राजनैतिक उथल–पुथल का प्रमुख कारण इस क्षेत्र का देश के मध्य में होना है जिस कारण से उत्तर व दक्षिण के मध्य के संघर्षो का यहॉ असर पडना स्वाभाविक है। ये दोनों क्षेत्रो के मध्य केन्द्र के रूप में उपयोग किया जाने लगा और यही कारण है कि प्रत्येक संघर्षरत महत्वाकांक्षी शासक ने इस क्षेत्र व इसके सुदृढ किले को अपने लाभ हेतु प्राप्त करना चाहा व उसके लिए संघर्ष किया।

ग्वालियर क्षेत्र (प्राचीन गोपाद्रि) अथवा ग्वालियर चम्बल सम्भाग जिसके अन्तर्गत वर्तमान में ग्वालियर ,मुरैना, श्योपुर, भिण्ड, दतिया, शिवपुरी, अशोकनगर और गुना जिलों का विस्तृत भू – भाग सम्मिलित है उत्तरी मध्यप्रदेश के नाम से जाना जाता है। समय के साथ गोपाद्रि क्षेत्र में विस्तार एवं कमी आती रही। साथ ही साथ सत्ता का केन्द्र भी परिवर्तित होता रहा है। अधिकांश विद्वान गोपाद्रि का विस्तार उत्तर में चम्बल नदी सें लेकर दक्षिण में बेतवा नदी के मध्य मानते है।[1]

महाभारत के भीष्म पर्व में (श्लोक –44) गोपराष्ट्र का उल्लेख किया गया हैं। इस गोपराष्ट्र की पहचान श्री हरिहर निवास द्विवेदी वर्तमान ग्वालियर के आसपास के क्षेत्र से करते है। यहॉ राष्ट्र शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थो में न होकर जनपद के अर्थ में हुआ है।[2] महाभारत में ही इस पर्वत को गोश्रृंग कहा गया है और इसे निषादभूमि के पास स्थित बताया है। निषादभूमि की पहचान वर्तमान नरवर तथा गोश्रृंग की पहचान ग्वालियर के गोपाद्रि अथवा गोपघगिरि से की जाती है।[3] मार्कण्डेय पुराण में विन्ध्य के उत्तर में गोवर्द्धन पुर का उल्लेख प्राप्त होता है जिसकी पहचान पार्जिटर महोदय ने गोपाचल से की है।[4]

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त प्राचीनतम साक्ष्य हूण शासक मिहिरकुल का 525 ई.का सूर्य मंदिर अभिलेख है । इस अभिलेख में इसे गोपाह्वय कहा गया है।[5] इसी दुर्ग से विदित सं – 932 (875 ई.) और सं 933 (876 ई.) के प्रतिहार कालीन चर्तुभुज मंदिर अभिलेख में इस पर्वत का नाम क्रमशः गोपाद्रि और गोपगिरि मिलता है।[6]

दुर्ग के कई प्रकार निम्नांकित भारतीय शास्त्रों में वर्णित हैं, जैसे. शुक्रनीतिसार, मानसार, समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा आदि। शुक्रनीतिसार में निम्नांकित प्रकार के दुर्ग (फोर्ट) बताए गए हैं जिनमें दानवदुर्ग, महिदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग हैं।[7]

ग्वालियर दुर्ग एक गिरि दुर्ग है। गिरि दुर्ग सुरक्षा की दृष्टि सें बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। ग्वालियर दुर्ग 300

मी की ऊंची बलुआ पहाडी पर स्थित है। प्राचीन एवं मध्यकाल में ग्वालियर शहर का अस्तित्व ग्वालियर दुर्ग से ही था। उत्तर मध्य भारत के राजनैतिक इतिहास में ग्वालियर दुर्ग का अपना एक अलग स्थान रहा है। ग्वालियर दुर्ग ने उत्तर से दक्षिण की ओर बढती हुई राजनैतिक शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित किया है। कारण था इस दुर्ग का सुदृढ, सुरक्षित और मध्य में होना । इसलिए प्रत्येक शक्तिशाली राज्य के राजा ने इसे अपने राज्य में सम्मिलित करना चाहा और यह भारतीय राजनैतिक इतिहास में अपनी अलग पहचान बनाता चला गया। आज भी ये सुदृढ़ दुर्ग अपना ऐतिहासिक जीवन बयां करता है। जहॉ कई महल, मंदिर व दर्शनीय स्थल हैं।

ग्वालियर दुर्ग की कई विशेषताएँ हैं जिनमें इसका स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला ,जलप्रंबधन ;जल स्रोत तकनीक प्रमुख हैं। दुर्ग पर आवश्यकता को देखते हुए जलाशयों का निर्माण होता रहा जिनमें आस्था ,उत्सव, दैनिक उपयोग व अन्य कारण शामिल है। ग्वालियर दुर्ग की नींव या उसकी स्थापना से संबधित कई किवन्दितयॉ एवं कथाएँ हैं। अनुश्रुतियों में दुर्ग की नींव एक कुण्ड से मानी जाती है। इस पहाड़ी पर ग्वाल ऋषि नाम के साधु साध ानारत थे, जिनकी शरण में आए राजा सूरजसेन (सूर्यपाल) कुष्ठ रोग से ग्रसित थे। एक दिन वह वन्य प्राणियों का शिकार करते हुए, पास की गोपगिरि पहाडी पर पहुॅचे। वहॉ की प्राकृतिक शोभा से वह अत्यधिक प्रभावित हुए। उस पहाडी पर एक सुन्दर सरोवर के समीप ही ग्वालिपा अथवा गालव ऋषि की गुफा थी। राजा को प्यास लगी थी। ऋषि ने उन्हें पहले उस सरोवर में स्नान करने के लिये कहा और उसके उपरान्त अपने कमण्डल से जल पीने को दिया जिसके फलस्वरूप वह कुष्ठ रोग से मुक्त हो गए। राजा उस साधु सें अत्यधिक प्रभावित हुए। उस सिद्ध संत की इच्छानुसार उस सरोवर का जीर्णोद्धार किया गया जिसकी पुष्टि हूण राजा मिहिर कुल का अभिलेख करता है। साधु ने उस कुण्ड का नाम सूरजकुण्ड रखा एवं साधु की आज्ञा से इस दुर्ग का निर्माण किया गया। राजा ने कृतज्ञतावश अपने नगर का नाम उस महात्मा के नाम पर ग्वालिअर अथवा ग्वालियर रखा।[8]

ग्वालियर दुर्ग की नीव संभवतः जलाशय से ही मानी जाती है और यही जल– प्रबन्धन इसकी विशेषता बनी। किसी भी निवास स्थान में जल, सुरक्षा व सुविधा का गुण होना अनिवार्य माना जाता है। ग्वालियर दुर्ग 300 मी की ऊॅचाई पर होने के कारण सुरक्षित गिरि दुर्ग रहा है। इसको विजय करने में शक्तिशाली राजाओं के पसीने छूट गए। अलग–अलग राजाओं नें अपनी रूचि वा सुविधानुसार इसमें निर्माण करवाकर इसे सुविधाजनक बनाया इसमें कई द्वार व गुप्त सुरंगे एवं जल पूर्ति हेतु की गई व्यवस्था है, जिससें इसकी खूबसूरती, सुविधा में कई गुना बढोत्तरी हुई।

ग्वालियर दुर्ग की जल प्रबन्धन तकनीक इसे अन्य दुर्गो से विशेष बनाती है। इसकी जल प्रबन्धन तकनीक इतनी उच्च कोटि की अपनाई गई होगी कि आज भी दुर्ग पर जल की समस्या नहीं है। जल स्त्रोत ही ग्वालियर दुर्ग और शहर की स्थापना का मुख्य कारण बना और इसकी जल प्रंबधन व्यवस्था ही इसकी दृढ़ता एवं सुरक्षा की दृष्टि से इसे महत्वपूर्ण दुर्गो में शामिल करती है। ग्वालियर दुर्ग के प्राकृतिक जलाशय, बावडियॉ, ताल, कुऍ, अन्दरूनी सुरंगनुमा बावडियॉ इसकी जल व्यवस्था को सुदृढ़ करती हैं।

जल स्रोत

सूरज कुण्ड :–

यह कुण्ड प्राचीन समय के कुतवार नरेश सूरजसेन के द्वारा जीर्णोद्धार करवाया गया। यह प्राकृतिक रूप से निर्मित कुण्ड है जिसका विस्तार किया गया। यह चारों ओर से प्राचीर युक्त कुण्ड है। इस तक पहुॅचने के लिए कुण्ड के पूर्वी एवं पश्चिम दिशा में कुण्ड़ तक नीचे की ओर सीढियॉ हैं। कुण्ड के मध्य में एक शिव मंदिर है। उस तक पहुॅचने हेतु पूर्वी ओर से पुल भी निर्मित हुआ है। प्राचीन समय में यह कुण्ड बहुत ही भव्य और आर्कषक रहा होगा। आज भी इसमें कमलपुष्प पाए जाते हैं। आज भी इस कुण्ड की मान्यता है कि यहॉ स्नान करने से रोगों का नाश होता है। यहॉ प्रत्येक वर्ष नवम्बर माह के आखिरी रविवार को मेले का आयोजन किया जाता है।

मानताल एवं जौहर ताल –

यह दुर्ग के उत्तरी क्षेत्र में स्थित है। यह सरोवर पूर्णतः पक्के निर्माण युक्त एवं सीढी युक्त है जो विशाल मात्रा

में जल संग्रह करने में सक्षम है। यह सरोवर दुर्ग की शोभा में वृद्धि करते है।

गंगोला ताल –

यह ताल दुर्ग के दक्षिणी क्षेत्र में सुरज कुण्ड और तेली.मंदिर के बीच में स्थित है। यह कुण्ड पत्थर की चट्टान को काटकर बनाया गया है। इस ताल से कई तोमर कालीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो इसके विभिन्न भागों पर अंकित किए गए हैं । इनकी संख्या 20 से अधिक है। यह ताल वर्तमान समय में दाताबंदी छोड़ गुरूद्वारा परिसर क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया है। इसकी मरम्मत के कारण इसका प्राचीन स्वरूप अब अल्पमात्रा में ही निहित है। यह ताल गुरूद्वारे के मुख्य भवन के ठीक पीछे है। यह गुरूद्वारा प्रबंधन वर्तमान में इसे सहेज कर इसका प्रयोग जलपूर्ति हेतु कर रहा है।

गूजरी महल के निर्माण से संबंधित कथा (गूजरी महल की जल प्रदाय व्यवस्था)–

गूजरी महल के बाहर एक कुँआ है, जिसका पानी समस्त खण्डों में नालियों के द्वारा ले जाया जाता था। किवदंती है कि गुर्जर जाति की रानी मृगनयनी ने मानसिंह से इस शर्त पर शादी की थी कि वह अपने जिस राई गॉव की नदी का पानी पीकर इतनी सुन्दर एवं बलिष्ठ हुई है, उस पानी को महल तक ले जाया जाये जिससे वह हमेशा उस जल को पीती रहे । मानसिंह तोमर ने उसकी शर्त मान ली थी और पानी गूजरी महल तक लाया गया था। इस बात का पता इससे चलता है कि राई गॉव वर्तमान तिघरा के पास था। वहॉ सें अभी भी पानी मोतीझील तक नहर से आता है। सभंवतः वर्तमान में उसी पुरानी नहर को नया रूप दिया हो क्योंकि इससे नहर के निर्माण कार्य में सुविधा व बचत हुई होगी। इसके बाद वर्तमान मोतींझील से कीर्तिसागर , जहॉ आजकल पुरानी ईदगाह एवं सागरताल आता है, वहॉ आज एक बडी नाली से पानी आकर एकत्रित होता है। इसके बाद इस बडी़ नाली द्वारा वर्तमान जगनापुरा और जौनपुरा तक पानी लाया गया होगा, जहॉ अभी भी इन नालियों के एवं जल व्यवस्था के भग्नावशेष है। इसके उपरान्त ग्वालियर में वर्तमान घासमण्डी में नालियों द्वारा किले के भीतर पानी दिया गया है। इसीलिए पानी के बहाव को तेज करने के लिए वर्तमान किले के पास गाडी वाली मस्जिद के करीब ढलाव देकर पानी के तेज बहाव को किले में कर दिया गया था। इस व्यवस्था से यह भी ज्ञात होता है कि राई गॉव से किले तक पानी आने में कोई अवरूद्ध घाटी आदि नहीं पड़ती है इसके विपरीत पानी अपना बहाव किले की तरफ रख सकता है। अतः उपरोक्त वर्णन से लगता है कि मानसिंह ने राई गॉव से किले तक पानी इसी मार्ग से लाने की व्यवस्था की होगी।[10]

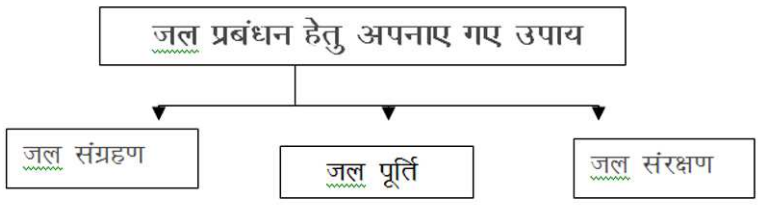

जल संग्रहण

ग्वालियर दुर्ग के ऊपरी क्षेत्र में कई जलाशय, कुण्ड व बावडियॉ है जिनमें वर्षा का जल संग्रहित होता है इन जलाशयो के पूर्णतः भर जाने पर किले के अंदरूनी हिस्से व चढाई के रास्ते से प्रवाह होने पर आसानी से देख जा सकने वाली अन्दरूनी बावडियॉ तक आता है। यह जल संभवतः ग्रीष्म ऋतु में जल पूर्ति हेतु एकत्र किया जाता होगा।

जल पूर्ति

कई कालखण्डों में निरन्तर पुनर्निर्माण के बाद भी हम आज भी ग्वालियर दुर्ग स्थित मानसिंह महल के आस पास तथा अन्य क्षेत्रों में छोटे–छोटे कुण्ड एवं नालियॉं देख सकते हैं। जो जल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुॅचने के मार्ग की ओर संकेत करते है। वर्षा ऋतु में दुर्ग के ऊपरी हिस्से का जल बडी पक्की नालियों के माध्

यम से दुर्ग के निचले हिस्से मे पहुॅचता होगा जो संग्रहित कर उपयोग मे लाया जाता होगा। ये नालियॉ आज भी घाटी क्षेत्र में देखी जा सकती हैं।

जल संरक्षण

जल संग्रहण हेतु ताल, कुण्डों, कुॅओं एवं बावडियों का निर्माण कराया गया जिससे वर्षा के जल का संग्रहण किया जा सके। वर्षा का जल संग्रहण के साथ साथ वर्ष भर तक कैसे संजो कर रखा जाए इसके लिए भी कई ताल व कुण्डों से वर्षा के अतिरिक्त जल को अन्दरूनी हिस्सों की बावडियों तक पहुचाए जाने की व्यवस्था की गई थी।

निष्कर्ष

प्रारम्भ से ही मनुष्य जल स्त्रोतों के आस–पास अपना आश्रय स्थल विकसित करता रहा है, जो विभिन्न संस्तियों में प्रामाणित भी हुआ है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जल एक अनिवार्य आवश्यकता है जीवन यापन की। इसी तरह ग्वालियर दुर्ग की नींव का पहला पत्थर जल के माध्यम से ही स्थापित हुआ है। ग्वालियर दुर्ग की सुदृढता उसकी जल व्यवस्था से भी है। प्राचीन काल की जल व्यवस्था आज भी यहॉ सुचारू रूप से देखी जा सकती है इतनी ऊँचाई पर और तलहटी में जलघ्पूर्ति बनाए रखना बहुत ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहा होगा क्योकि वर्तमान में ग्वालियर में ग्रीष्म ऋतु में जलघ्पूर्ति एक समस्या है, जो कई क्षेत्रों में विकराल स्थिति में है। कई मौहल्ले ,गलियॉ पानी के लिए परेशान हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान के इस उच्च तकनीकी एवं आधुनिक युग में हम अपनी सबसे प्रथम आवश्यकता जल की पूर्ति करने में सक्षम नहीं है। क्या ये प्राकृतिक समस्या है, या मानवजनित या फिर अज्ञानता की ? इसके बारे में हम नहीं कह सकते। किन्तु हॉ इतना जरूर ज्ञात है कि प्राचीन काल में प्रत्येक स्तर पर कार्य का समन्वय, संचालन, निष्पादन बडे ही बेहतर एवं गुणवत्ता युक्त माध्यम से किया जाता था, जिसके प्रमाण हम आज हजारों वर्षो बाद भी देख सकते हैं या उपयोग कर सकते हैं। ग्वालियर दुर्ग की स्थापना एवं सुदृढता तथा अभेद्यता में जल स्त्रोतो का अत्यन्त महत्व रहा है। दुर्ग के जल का आज भी प्रयोग हो रहा है, जिससे यह आज भी आबाद और बसाहट से सुशोभित है। दुर्ग में कई कार्यालय, गुरूद्वारा, विद्यालय आदि संचालित हैं। जहॉ कोई जल की समस्या नहीं हैं। यहॉ के जल से भरे जलाशय और बावडियॉ जलपूर्ति ही नहीं अपितु पर्यटकों एवं सामान्यजन को शीतलता एवं शान्ति का अनुभव कराते हैं।

संदर्भ सूची :–

1. द्विवेदी,एसण केण एवं नवनीत जैन; सम्पादितद्धय ज्ञान महोदधिए मुज्जफरनगर, 2006, पृ. 286।
2. द्विवदी, हरिहरनिवासय भारत का सुदेश, ग्वालियर दर्शनए ग्वालियर शोध संस्थान एवं जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर 1980ए पृण 175।
3. Ayyar, Sulochana; Costumes and ornaments as depicted in the early sculptures of Gwalior museum , Delhi 1987 , P. 15.
4. द्विवेदी, हरिहरनिवासय उपर्युक्त , पृ. 180।
5. Fleet, J.F.; Corpus Inscriptionum Indicarum, VoI .I , P. 161 -164.
6. Sircar, D.C.; Select Inscriptions (On Indian History and Civilization Vol.I) P. 426.
7. Burgess, Jas,; Epigraphia Indica ,Vol.I, 1892, , P . 154, 162.
8. Mishra, B.D. ; The fort and fortresses of Gwalior and Its Hinterland,Delhi,1993, P.76.
9. Cunningham; Archaeological Survey of India, Report XVI, 1864-65, P .373.
10. गुलाब खॉ, गोरी ; ग्वालियर का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास,ग्वालियर ,1998ए पृण 338।

जीवाजी विश्वविद्यालय,
ग्वालियर

हरदोई जनपद की ताम्र निधि संस्कृति

डॉ. श्याम प्रकाश

हरदोई उत्तर प्रदेश का एक जनपद है जो उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से लगभग 110 किमी. की दूरी पर 250 53′ उत्तरी अक्षांश से 270 46′ उत्तरी अक्षांश और 790 41′ पूर्वी देशान्तर से 800 46′ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। यह जनपद उत्तर में शाहजहाँपुर और खीरी जनपदों से घिरा हुआ है तथा पूरब में गोमती नदी, खीरी और सीतापुर जनपदों को हरदोई जनपद से अलग करती है। हरदोई जनपद के दक्षिण में उन्नाव और लखनऊ जनपद स्थित है जबकि पश्चिम में कन्नौज और फर्रूखाबाद जनपद स्थित है तथा दक्षिण पश्चिम में थोड़ी दूरी पर कानपुर जनपद स्थित है। पश्चिमी सीमा सेंधा नदी, द्वारा बनायी जाती है। आगे चलकर यह नदी गदनपुरा के पास गंगा में मिल जाती है, जो थोड़ी दूरी पर उन्नाव जनपद की सीमा का निर्धारण करती है। हरदोई जनपद का आकार समचतुर्भुजी है, जिसकी लम्बाई 126 किलो मीटर है तथा उत्तर–पश्चिम से दक्षिण–पश्चिम की ओर सम्भवतः इसका विस्तार 74 किलो मीटर है।

ताम्र निधियाँ लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत से प्राप्त होती हैं। दक्षिण भारत से अब तक केवल कर्नाटक के रायचूर जिले के कल्लूर से चपटी कुल्हाड़ी एवं श्रृंगिका तलवार तथा धारवाड़ जिले के हल्लूर नामक स्थान से 2 दोधारी कुल्हाडियों की प्राप्ति हुई है।[1]

ताम्र निधियाँ अकस्मात एवं विधिवत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण एवं उत्खनन द्वारा प्रतिवेदित होती हैं। कभी–कभी खेत की जुताई करते समय, सड़क का निर्माण करते समय, घर के लिए नींव खोदते समय, नहर बनाते समय या ऐसे ही आकस्मिक रूप से ताम्र निधियों की प्राप्ति की गई है। उत्तर भारत में सर्व प्रथम पुरातत्त्व वैज्ञानिकों को सन् 1822 ई0 में कानपुर (उत्तर प्रदेश) के बिठूर नामक स्थान से ताम्र निधि संस्कृति से सम्बन्धित श्रृंगिका तलवार, स्कन्धित कुल्हाड़ी, मत्स्यभाला तथा चपटी अथवा सपाट कुल्हाड़ी जैसे उपकरण प्राप्त हुए थे।[2] डॉ0 बृजवासी लाल को सन् 1971–72 ई0 में इटावा (उत्तर प्रदेश) के साई–पाई अथवा सैपाई अथवा सैफई नामक स्थान के पुरातात्त्विक उत्खनन से मत्स्यभाला, मानवाकृति, हुकदार भालेनुमा तलवार जैसे ताम्र उपकरणों के साथ–साथ गैरिक रंग के मृद्भाण्ड (Ocher Color Pottery) प्राप्त हुये जिसके कारण उन्होंने ताम्र निधि संस्कृति का सम्बन्ध स्पष्टरूप से गेरुए रंग की पात्र–परम्परा वाली संस्कृति के साथ स्थापित कर दिया।[3] ताम्र उपकरणों का सबसे बड़ा संग्रह मध्य प्रदेश के बालाघाट जिले में स्थित गुनगेरिया नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यहाँ से 424 ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं, जिनमें छल्ले, मानवाकृति, श्रृंगिका तलवारें, मत्स्यभाले, छेनी, स्कन्धित कुल्हाडियाँ, चपटी कुल्हाडियाँ इत्यादि प्रमुख है। समस्त उपकरण अपने बनावट एवं रूप–रंग की दृष्टि से विशिष्ट हैं। डी. पी. अग्रवाल को गनेश्वर के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण एवं उत्खनन के पश्चात् 1979 में 400 बाणाग्र प्राप्त हुए।[4]

ताम्र निधि संस्कृति की दृष्टि से हरदोई जनपद की शाहाबाद तहसील धनी रही है। जनपद में समय–समय पर विभिन्न विद्वानों एवं पुरातत्त्व वैज्ञानिकों द्वारा शाहाबाद के अनेक क्षेत्रों से ताम्र निधियाँ तथा गैरिक रंग के मृद्भाण्ड प्राप्त होने का उल्लेख पुरातत्त्व, इण्डियन आर्कियोलॉजी ए–रिव्यू, प्राग्धारा जैसी प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में प्राप्त होते हैं। जिन विद्वानों द्वारा इस जनपद में पुरातत्त्व के क्षेत्र में कार्य किया गया तथा जिन्हें ताम्र निधि संस्कृति से सम्बन्धित कुछ न कुछ अवशेष/उपकरण अवश्य प्राप्त हुए उनके नाम निम्नलिखित हैं –

1. यूले पौल[5]

2. इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ0 जगदीश गुप्ता (शाहाबाद एवं लखमापुर से ताम्र निधि)[6]
3. डॉ0 अरुण कुमार (कमलापुर मुज़ाहिदपुर से ताम्र निधि एवं गेरू रंग के मृद्भाण्ड)[7]
4. डेक्कन कॉलेज, पुणे के डॉ0 वी0 एन0 मिश्र[8]
5. सुखदेव साहनी[9]
6. एस0 पी0 शर्मा[10]
7. डॉ0 बृजवासी लाल[11]
8. डॉ0 मक्खनलाल[12]
9. डी0 पी0 शर्मा[13]

इन विद्वानों द्वारा समय–समय पर जनपद से प्राप्त ताम्र उपकरणों को उत्तर प्रदेश राज्य संग्रहालय, लखनऊ (मज़हदपुर, शाहाबाद से प्राप्त ताम्र उपकरण, चपटी कुल्हाड़ी) तथा राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में संरक्षित किया गया है। शाहाबाद से प्रमुखतः चपटी कुल्हाड़ी, कन्धेदार कुल्हाड़ी, छड़दार कुल्हाड़ी, मस्यभाला, एंटीनादार तलवार, हुकदार भाला, तलवार, छेनी, चाकू एवं उस्तरा इत्यादि ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं।

हरदोई जनपद में मानव सभ्यता से सम्बन्धित सबसे प्राचीन संस्कृति ताम्र–निधि[14] और गेरूरंग के[15] पात्र परम्परा की है। सर्व प्रथम विन्सेन्ट स्मिथ नामक विद्वान ने सन् 1905 और 1907 ई0 में ताम्र–निधियों की परम्परा पर ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से विचार किया और उस समय तक देश के विभिन्न भागों से जो ताम्र उपकरण उपलब्ध थे, उनकी संक्षिप्त सूची को प्रस्तुत किया।[16] लखनऊ संग्रहालय के संग्रहालयाध्यक्ष हीरानन्द शास्त्री ने सन् 1916 ई0 में एक निबन्ध लिखकर इस विषय की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। हरदोई जनपद के शाहाबाद, तहसील के मजहदपुर नामक स्थान से प्राप्त ताम्र उपकरण को राज्य संग्रहालय लखनऊ में भूतल पर सुरक्षित रखा गया है। सन् 1936 ई0 में 'हाइन गेल्दर्न' नामक विद्वान ने इस संस्कृति के लोगों का सम्बन्ध आर्यों से जोड़ा था।[17] लेकिन यज्ञदत्त शर्मा, कृष्ण देव, और विद्याधर मिश्र आदि, जैसे विद्वानों ने इस संस्कृति के निर्माता को उत्तर कालीन हड़प्पा संस्कृति के लोगों से जोड़ा है।[18] हरदोई जनपद के कमालपुर, और मुजाहिद पुर नामक स्थान से गेरूरंग के मृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई है।[19] गेरूरंग के पात्र प्रकारों में गढ़न एक सी नहीं है, इस संस्कृति से पतले एवं मोटे दोनों प्रकार के बर्तनों की प्राप्ति होती है। इन मृद्–पात्रों के विषय में यह आम धारणा है कि ये अच्छे से पके नहीं हैं तथा रगड़ने मात्र से ही रंग छोड़ने लगते है। इस बात पर सांकलिया ने यह मत दिया है कि गेरू रंग के पुरास्थल लम्बे समय तक जल में डूबे रहे इसी कारण से ये पात्र कच्चे से प्रतीत होते हैं।20 इस संस्कृति के लोग कृषि तथा पशुपालन पर निर्भर करते थे, यही उनकी अर्थव्यवस्था के मूल स्त्रोत थे इस संस्कृति के अनेक स्थलों से अनाज के दानें तथा पालतू जानवरों की पसलियाँ प्राप्त हुई हैं। रहनें के लिए ये लोग घास–फूँस से अपनें घरों का निर्माण करते थे।21 इस संस्कृति के आरम्भ होने की तिथि को 1200 ई0 पू0 के बाद ही रखा जा सकता है।[22]

शाहाबाद से प्राप्त ताम्र उपकरण

शाहाबाद क्षेत्र से अनेक प्रकार के ताम्र निधि उपकरणों की प्रप्ति हुई है। यहां से प्राप्त ताम्र कुल्हाड़ियों को धावलीकर ने तीन वर्गों – सपाट कुलहाड़ी, स्कन्धित कुल्हाड़ी तथा सब्बर या खन्ती प्रकार की कुल्हाड़ी में विभाजित किया

पश्चिमी उत्तर प्रदेश सम्भवतः शाहाबाद (हरदोई) से प्राप्त हत्थेदार कुल्हाड़ी, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली से साभार (चित्र सं0–1)।

है।[23]

1. हत्थेदार कुल्हाड़ी – हत्थेदार कुल्हाड़ियाँ गंगा घाटी से प्राप्त अन्य कुल्हाड़ियों की भाँति आकार–प्रकार वाली हैं, जिसके समन्तान्त में दोनों पार्श्वों पर लघु आकार के हत्थे लगे होते हैं।24 शाहाबाद से प्राप्त इस कुल्हाड़ी का कार्यांग हल्का सा त्रिकोण लिए हुए है तथा समन्तान्त हल्का सा लम्बा है। सम्भवतः इसी भाग को हाथ से पकड़ कर इस कुल्हाड़ी का उपयोग वृक्ष इत्यादि वनस्पतियों को कटाने के लिए किया गया होगा।

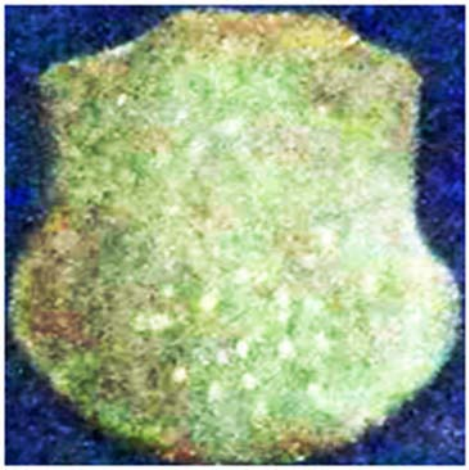

शाहाबाद (हरदोई) से प्राप्त स्कन्धित कुल्हाड़ी, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली से साभार (चित्र सं0–2)

2. स्कन्धित कुल्हाड़ी – इनका कार्यांग अर्द्धवृत्ताकार होता है तथा इनके ऊपर स्कन्ध होते हैं। ये आकार–प्रकार की दृष्टि से चपटी सपाट कुल्हाड़ियों के ही सदृश प्रतीत होते हैं।[25] शाहाबाद से ही प्राप्त इस कुल्हाड़ी का कार्यांग अर्द्धवृत्ताकार है तथा इसके स्कन्ध हल्के से गोल हैं। उपकरण का समन्तान्त नीचे से खण्डित हो गया है।

3. मत्स्यभाला – इनकी पहचान इनमें निकले कांटों के आधार पर होती है। मत्यभाले प्रायः दो प्रकार के प्राप्त होते हैं। प्रथम प्रकार में लम्बी त्रिकोणात्मक नोंक होती है तथा नीचे लगभग आधे भाग में दोनों पार्श्वों पर नीचे की ओर मुड़े हुए तीन–तीन तकुए होते हैं तथा नीचे का अनुप्रस्थ अनुभाग गोलाकार होता है। दूसरे प्रकार के मत्स्यभालों में त्रिकोणात्मक अग्रभाग को अपेक्षाकृत छोटा निर्मित किया जाता है तथा दोनों पार्श्वों पर नीचे की ओर गोल अथवा झुके हुए कांटे होते हैं। नीचे एक खूंटी बनी होती है तथा मूठ के भाग का अनुप्रस्थ काट आयताकार होता है।[26] सुखदेव साहनी के अनुसार अधिकांशतः मत्स्यभालों की प्राप्ति शाहाबाद क्षेत्र से होती है।[27]

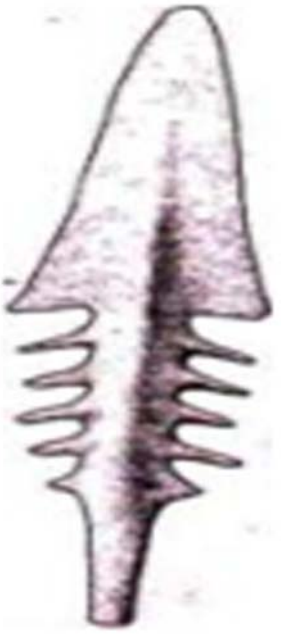

शाहाबाद (हरदोई) से प्राप्त मत्स्यभाला, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली से साभार (चित्र सं0–3)

शाहाबाद से प्राप्त मत्स्य भाले में दोनों पार्श्वों पर सीधे कांटे निर्मित किये गये हैं, नीचे मूंठ के पास एक छिद्र कटा हुआ है, जिसका त्रिकोणात्मक अग्रभाग अपेक्षाकृत लम्बा है। यही इसका कार्यांग वाला भाग भी है। कांटों से नीचे लम्बवत् भाग को सम्भवतः किसी डण्डे में बांधकर जानवरों का शिकार करने में प्रयुक्त किया जाता था। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसका निर्माण सम्भवतः ताम्र की चादर को काटकर किया गया है।

चाकूदार तलवार अथवा उस्तरा – यह ताम्र उपकरण हरदोई जनपद के शाहाबाद तहसील से प्राप्त हुआ है, जिसका अग्रभाग नुकीला एवं गोलाकार है। इसका कार्यांग ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः पतला होता गया है। तलवार के बीच का भाग उन्नतोदर है, जिसके कारण इसके दोनों पार्श्वों को पुर्नगठित करके इसका प्रयोग किये जाने की प्रबल सम्भावना है। राष्ट्रीय संग्रहालय बुलेटिन, नं0 9 में वर्णित एसोसिरीज़ नं0 87–22/12 एक उस्तरा अथवा चाकूदार कुल्हाड़ी है, जो शाहाबाद से प्राप्त हुआ है। इसकी लम्बाई 6.9 सेमी0 तथा चौड़ाई 4.2 सेमी0 है। यह एक विशिष्ट प्रकार का उस्तरा है जो कुल्हाड़ी के सदृश है। ताम्र निधियों में इसको एक नये प्रकार का संग्रहण माना जा रहा है।[28]

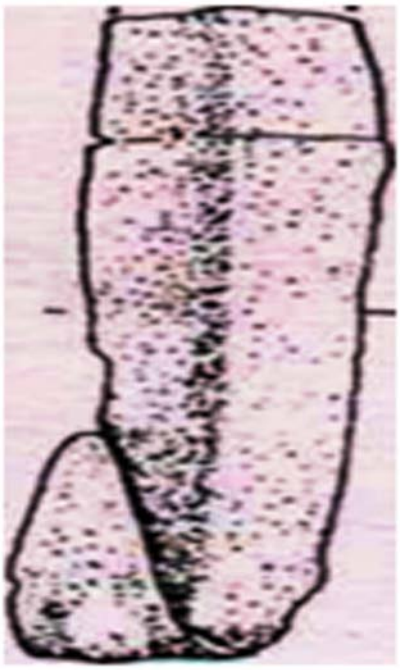

शाहाबाद (हरदोई) से प्राप्त चाकूदार तलवार अथवा उस्तरा, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली से साभार (चित्र सं0–4)।

सपाट अथवा चिपटी कुल्हाड़ी – शाहाबाद क्षेत्र से अनेक विद्वानों को सपाट कुल्हाड़ियों की प्राप्ति हुई है। इस क्रम में सबसे पहला नाम डी. पी. शर्मा का लिया जा सकता है। इन्हें शाहाबाद क्षेत्र से 26 सपाट कुल्हाड़ियों की प्राप्ति हुई थी जिनकी मानक लम्बाई 5 सेमी0 से 206 सेमी0 तथा चौड़ाई 5 सेमी0 से 15.2 सेमी0 तक है।29 यूले पौल को भी शाहाबाद क्षेत्र से एक सपाट कुल्हाड़ी की प्राप्ति हुई थी, जिसकी लम्बाई 15.0 सेमी0, चौड़ाई 8.8 सेमी0 तथा मोटाई 0.9 सेमी0 है। इसका कॉर्नर लाल पत्ती के समान है।30 राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में शाहाबाद क्षेत्र से प्राप्त बड़े आकार की पाँच, स्कन्धित कुल्हाड़ियाँ संरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त इसी संग्रहालय में शाहाबाद क्षेत्र से प्राप्त दस, स्कन्धित कुल्हाड़ियों को भी संरक्षित किया गया है जिनकी लम्बाई 11.7 सेमी0 से 23 सेमी0 तथा चौड़ाई 5.3 सेमी0 से 16.3 सेमी0 है।31

छलनी कुल्हाड़ी ;चसंलमक ।गमद्ध रू इस कुल्हाड़ी में तेज़ धार नहीं होती है और न ही कोने होते हैं। इनके किनारे पर्याप्त रूप से उत्तल हैं। इस प्रकार की चार कुल्हाड़ियाँ शाहाबाद से प्राप्त हुई हैं। इनकी लम्बाई लगभग 15.7 सेमी0 से 17.8 सेमी0 तक तथा चौड़ाई 7.6 सेमी0 से 15.0 सेमी0 तक मापी गई है।32

शाहाबाद से प्राप्त एंटीना तलवारें

क्रम सं.	माप, ल0xचौ0xमो0 (सेमी. में)	अनुभाग एवं धार की प्रकृति	संदर्भ
1.	56.9X 5.9X0.76	त्रिभुजाकार, टूटी हुई टिप	राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली
2.	47.0X5.9X5.11	लहरदार, धारदार झुकी हुई ब्लेड की नोंक,	राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली
3.	25.0X4.0X1.5	झुका हुआ उभयोत्तल टिप	यूले, पौल, (1985) पृ. 92[32क]

शाहाबाद से प्राप्त नोंकदार भाले

कम. सं.	माप, ल0xचौ0xमो0 (सेमी. में)	अनुप्रस्थ काट अनुभाग	धार की प्रकृति	ऐसोसिरीज़ न.	संदर्भ
1.	27.9X 5.2	त्रिभुजाकार	उभयोत्तल	85.176	राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली एवं पुरातत्त्व नं0 16[33], पृ. 98
2.	19.9X 1.8	त्रिभुजाकार	लम्बा ब्लेड	85.182	शर्मा, डी. पी., (2002),[34] पृ. 28
3.	6.4X 3.1	पत्ती आकार	उभयोत्तल और धारदार ब्लेड	86.59/37	शर्मा, डी. पी., (2002),[35] पृ. 39
4.	5.8X 3.8	पत्ती आकार	धारदार ब्लेड	86.59/38	शर्मा, डी. पी., (2002),[36] पृ. 34

शाहाबाद से प्राप्त मत्स्यभाले

कम सं.	माप, ल0xचौ0xमो0 (सेमी. में)	अनुभाग	धार की प्रकृति	ऐसोसिरीज़ न.	संदर्भ
1.	33.5X 7.2	उभयोत्तल	पांच जोड़ी कांटा और मध्य सिरा	65.256	राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली
2.	36.5X 6.1	उभयोत्तल	तीन जोड़ी कांटों से युक्त धारदार ब्लेड एवं मध्य सिरा	66.29	पुरातत्त्व नं0 16,[37] पृ. 97
3.	19X 4.2	उभयोत्तल	दो जोड़ी और चार जोड़ी काटों से युक्त मध्य सिरा	67.138	पुरातत्त्व नं0 16,[38] पृ. 97
4.	35.7X 6.8	उभयोत्तल	मध्य सिरे के साथ चार जोड़ी कांटे	67.140	पुरातत्त्व नं0 16,[39] पृ. 97
5.	25X 6	उभयोत्तल	कांटे और नुकीले ब्लेड के साथ मध्य सिरा	85.177	पुरातत्त्व नं0 16,[40] पृ. 98
6.	16X 3.6	उभयोत्तल	तीन कांटे, निचले सिरे पर एक छेद	86.59	पुरातत्त्व नं0 16,[41] पृ. 99
7.	38X 5	उभयोत्तल	मध्य सिरे के साथ तीन जोड़ी कांटे	86.22/3	शर्मा, डी. पी., (2002),[42] पृ. 39

शाहाबाद से प्राप्त खन्ती या सब्बर

क्रम सं0	माप, ल0xचौ0xमो0 (सेमी. में)	अनुभाग	संदर्भ
1.	19X2X5	आयताकार छलनी, काटने के किनारे	पुरातत्त्व नं0 16[43], पृ. 97

हरदोई जनपद से प्राप्त कुल ताम्र उपकरण

क्रम सं0	प्राप्ति स्थल	उपकरण सं0	प्राप्त उपकरण
1.	बन्दर कला	1	मत्स्यभाला
2.	कमालपुर	1	सपाट कुल्हाड़ी
3.	मदनपुर	1	सपाट कुल्हाड़ी
4.	मदनपुर	9	कन्धेदार कुल्हाड़ी
5.	शाहाबाद	34	सपाट कुल्हाड़ी
6.	शाहाबाद	10	कन्धेदार कुल्हाड़ी
7.	शाहाबाद	4	खन्तीदार/सब्बर कुल्हाड़ी
8.	शाहाबाद	7	मत्स्यभाला
9.	शाहाबाद	8	एंटीनादार तलवार
10.	शाहाबाद	5	हुकदार तलवार
11.	शाहाबाद	6	रुखानी या खुरपी
12.	शाहाबाद	1	उस्तरा या चाकूदार तलवार
		कुल सं0 87	

जनपद के शाहाबाद तहसील से जो भी ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं, वे लगभग–लगभग शुद्ध धातु के बने हैं। लेखक द्वारा हरदोई जनपद की मृद्भाण्ड परम्पराओं, मूर्तियों सिक्कों, अभिलेखों एवं प्राचीन स्मारकों के साथ–साथ जनपद की प्राचीन अधिवास प्रणाली को ज्ञात करने एवं उसको प्रकाशित करने के उद्देश्य से ग्राम्य स्तर पर पुरातात्त्विक सर्वेक्षण कार्य किया गया। जिसमें लेखक को न ही कोई ताम्र उपकरण प्राप्त हुआ और न ही गैरिक रंग के मृद्भाण्डों की प्राप्ति हुई किन्तु जनपद के तहसील सवायजपुर स्थित लखमापुर गाँव के पहुँचनाखेड़ा नामक 12–15 मी0 ऊँचे एक टीले के कटान भाग से कृष्ण–लोहित मृद्भाण्ड के दो टुकड़े प्राप्त हुए हैं। जिनके आधार पर इस स्थल पर ताम्र पाषाणिक संस्कृति के विद्यमान होने की सम्भावना व्यक्त की जा सकती है।[44] (देखें– चित्र सं0–6 से 9)

धरातलीय सर्वेक्षण के दौरान जनपद से किसी भी प्रकार के ताम्र उपकरणों अथवा ताम्र निधियों के प्राप्त न होने का कारण सम्भवतः अत्यधिक जनसंख्या बसाव है क्योंकि जिस समय यहाँ से ताम्र निधियों को प्राप्त किया गया था, उस समय गाँवों की संख्या अत्य अल्प थी। लेखक को सर्वेक्षण के दौरान ऐसे टीलों की प्राप्ति हुई है, जो मानवीय क्रिया–कलापों के कारण पूर्णतः क्षतिग्रस्त हो गये हैं अथवा उन पर आधुनिक भवन निर्मित कर दिये गये हैं। कौढ़ा (तहसील हरदाई) से प्राप्त एन0 बी0 पी0 युगीन टीले को ग्राम प्रधान द्वारा जे0 सी0 बी0 की सहायता से खुदवाकर पूर्णतः नष्ट कर दिया गया है। हासबरौली (तहसील हरदाई, विकासखण्ड अहिरौरी) के एन0 बी0 पी0 युगीन टीले को खोदकर कृषि कार्य किया जा रहा है। बाणासुर का किला (तहसील सण्डीला, विकासखण्ड भरावन) नामक एन0 बी0 पी0 युगीन टीले को काटकर डामर रोड का निर्माण किया जा रहा है। कटौनाखेड़ा (तहसील हरदाई, विकासखण्ड बावन) के पी0 जी0 डब्ल्यू युगीन पुरास्थल के ऊपर प्राइमरी स्कूल संचालित है। कुरारी (तहसील शाहाबाद, विकासखण्ड भरखनी) के पी0 जी0 डब्ल्यू युगीन पुरास्थल को काटकर कृषि कार्य किया जा रहा है।

शान्तनुखेड़ा (तहसील बिलग्राम विकासखण्ड साण्डी) के टीले के ऊपर अनेक आधुनिक भवन निर्मित हैं। टीले के ढलान पर स्थानीय लोगों द्वारा ट्यूब्बेल लगाया गया है, जिसके सहारे टीले के ऊपर शाक–सब्जी उगाने एवं बड़े पैमाने पर अनेक प्रकार से कृषि कार्य किया जा रहा है। सुनासीनाथ (तहसील बिलग्राम, विकासखण्ड मल्लावाँ) के एन0 बी0 पी0 युगीन टीले के ऊपर कई आधुनिक मन्दिर निर्मित हैं, जिससे अत्यधिक मानवीय गतिविधियों के चलते यह पुरास्थल अत्यधिक क्षतिग्रस्त अवस्था में है। इसके अतिरिक्त कई टीलों को जनपद में प्रवाहित होने वाली नदियों ने पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्तप्राय कर दिया है। जैसे– श्यामपुर अथवा सामपुर का टीला रामगंगा नदी में समाहित हो चुका है। लखमापुर के टीले को गर्रा नदी उत्तर दिशा की तरफ से काट रही है इत्यादि।

लेखक को धरातलीय सर्वेक्षण से प्राप्त 86 पुरास्थलों[45] में से शायद ही कोई ऐसा स्थल हो जो मानवीय गतिविधियों के कारण क्षतिग्रस्त न हुआ हो। लगभग–लगभग सभी पुरास्थल अपने अस्तित्व को बचाने में लगे हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा समय–समय पर इस बात का उल्लेख किया गया है कि जनपद से जो ताम्र निधियाँ अथवा उपकरण प्रकाश में आये हैं वे आकस्मिक रूप से प्राप्त हुए हैं। यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि अब–जबकि जनसंख्या वृद्धि का स्तर उच्चतम है तो जो भी ताम्र उपकरण स्थानीय निवासियों को प्राप्त हुए होंगे उनके द्वारा उन्हें अपने घरों अथवा किसी गुप्त स्थान पर छुपा दिया गया होगा। सर्वेक्षण के दौरान बड़े–बुजुर्ग इस बात की चर्चा किया करते थे कि अमुक स्थान से तलवार, कुल्हाड़ी अथवा खन्ती प्राप्त हुई है किन्तु जब उस स्थल का विधिवत सर्वेक्षण कार्य किया जाता था तो वहाँ से न ही किसी प्रकार का कोई ताम्र उपकरण प्राप्त होता था और न ही गैरिक रंग के मृद्भाण्ड प्राप्त होते थे। बड़े–बुजुर्गों द्वारा बताये हुए अधिकतर स्थलों के समीप से तो केवल एन0 बी0 पी0 कालीन मृद्भाण्डों की ही प्राप्ति हुई।

ऐसा सम्भवतः इस कारण से था कि जिस स्थल पर ताम्रनिधि संस्कृति से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के उपकरणों की प्राप्ति होती थी, उस स्थल पर सोने–चाँदी अथवा प्राचीन खजाना होने की सम्भावना व्यक्त कर स्थानीय निवासियों द्वारा ताम्रनिधि संस्कृति से सम्बन्धित स्थलों को खोदकर पूर्णतः नष्ट कर दिया जाता था। गैरिक मृद्भाण्ड के ऐतिहासिक महत्व की समझ न होने के कारण उन्होंने इन पात्र–खण्डों को फेंक दिया होगा। क्षण भंगुर होने के कारण जो कालान्तर में पूर्णतः समाप्त हो गये होंगे। यही कारण है कि जब हाल ही में जनपद का विधि ावत पुरातात्त्विक सर्वेक्षण कार्य किया गया तो वहाँ से इस प्रकार की संस्कृति के किसा भी प्रकार के अवशेष नहीं प्राप्त हुए।

इण्डियन आर्कियोलॉजी ए–रिव्यू पत्रिका के अंक 1978–79 में डॉ0 अरुण कुमार46 द्वारा कमलापुर और मुजाहिदपुर से जिन ताम्र उपकरणों एवं गैरिक मृद्भाण्डों की प्राप्ति की बात का उल्लेख किया गया है, वर्तमान में उस गाँव में एक भी टीला नहीं बचा है बल्कि गाँव के बाहर बड़े पैमाने पर कृषि कार्य किया जा रहा है। इण्डियन आर्कियोलॉजी ए–रिव्यू पत्रिका के अंक 1965–66 में प्रकाशित इलाहाबाद विश्वविद्यालय के जगदीश गुप्ता को

लखमापुर और शाहाबाद से ताम्र–निधियां प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है।47

लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग के प्राग्–इतिहासविद् एवं क्षेत्रीय पुरातत्त्व वैज्ञानिक डॉ0 अनिल कुमार का मानना है कि हरदोई जनपद पूर्वी और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के लगभग मिलन बिन्दु पर अवस्थित है। चूंकि अनेक पुरातत्त्व वैज्ञानिकों ने लखनऊ से लेकर सैपई तक के क्षेत्र में सर्वाधिक ताम्र–निधियों के प्राप्त होने का दावा किया है। चूंकि हरदोई लखनऊ और सैपई के मध्य में स्थित है अतः इस आध ाार पर यह कहा जा सकता है कि हरदोई क्षेत्र ताम्र–निधि संस्कृति के विकास के दृष्टिकोण से उत्तम क्षेत्र रहा होगा। आगे वे बताते हैं कि शाहाबाद में इस संस्कृति के सर्वाधिक उपकरण मिलने के पीछे सम्भवतः इस क्षेत्र में इसके विकास की अनुकूल अवस्था रही होगी। वे बृजवासी लाल के इस विवरण से सहमत प्रतीत होते हैं कि ताम्र–निधि ा काल में इस क्षेत्र में मुण्डाओं, भीलों, शबरों, निषादों एवं अन्य स्थानीय जन–जातियों का प्रभुत्व रहा होगा और सम्भवतः इन्हीं लोगों के द्वारा इस क्षेत्र में ताम्र–उपकरणों का निर्माण कर इस संस्कृति का विकास किया गया होगा। इस विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यो के आगमन से पहले इस क्षेत्र पर मुण्डाओं, भीलों, शबरों, निषादों आदि स्थानीय जन–जातियों का प्रभुत्व था, हस्तकला में निपुण होने के कारण ही इन लोगों के द्वारा इस क्षेत्र में उन्नत किस्म के ताम्र–उपकरणों का निर्माण किया गया होगा। सम्भवतः इस क्षेत्र के आर्यीकरण के पश्चात यहाँ निवास कर रही हस्तकला निपुण जन–जातियों को यहाँ से पश्चिम दिशा में स्थित हिमालय की तराई की तरफ़ खदेड़ दिया गया। शाहाबाद के जिन पुरास्थलों से ताम्र–उपकरण एवं गेरुए रंग के मृद्भाण्ड प्राप्त होने का उल्लेख अनेक शोध–पत्र, पत्रिकाओं में प्राप्त होता है। वर्तमान में उनमें से अधिकांश अपना अस्तित्व खो चुके हैं, उन स्थलों पर या तो कृषि कार्य किया जा रहा है या फ़िर वे मानवीय गतिविधियों के कारण पूर्णतः नष्ट हो गये हैं। एक बात ध्यातव्य है कि क्या ? इन उपकरणों का निर्माण हरदोई जनपद के शाहाबाद तहसील में होता था अथवा नही ? इस विषय में लेखक अथवा सर्वेक्षणकर्ता का अपना विचार है कि यदि लखमापुर के 12–15 मी0 ऊँचे टीले का पुरातात्त्विक उत्खनन कार्य कराया जाये तो सम्भवतः इस प्रश्न का हल निकल सकता है तथा ताम्र पाषाणिक एवं ताम्र निधि संस्कृति पर नवीन प्रकाश पड़ सकता है।

संदर्भ :–

1. पाण्डेय, जय नारायण, पुरातत्त्व विमर्श, प्राच्य विद्या संस्थान, इलाहाबाद, 12 वाँ संस्करण पृ. 485 ।
2. वही, पृ. 483 ।
3. वही, पृ. 491 ।
4. अग्रवाल, डी. पी., (1971), द कॉपर ब्रोंज एज़ इन इण्डिया, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, पृ. 199 ।
5. यूले, पौल, (1985), मेंटल वर्क ऑफ द ब्रोंज एज़ इन इण्डिया, सी. एच. बेक्स वर्लाग्स बुचन्दलन्ग मुन्चेन, जर्मनी, पृ. 53 ।
6. इण्डियन ऑर्कियोलॉजी, ए–रिव्यू, 1965–66, पृ. 48 ।
7. वही, 1978–79, पृ. 101 ।
8. वही, 1962–63, पृ. 36 ।
9. साहनी, सुखदेव, (2005), ए सोसियो–इकोनॉमिक वीव ऑफ प्रोटोहिस्ट्री कल्चर इन पंज़ाब हिस्ट्री कॉन्फ्रेंस, थर्टी सेवेन सेशन, पृ. 67 ।
10. शर्मा, देव प्रकाश, (2002), न्यूली डिस्कवर्ड कॉपर होर्ड वेपन्स ऑफ साउथ एशिया, भारतीय कला प्रकाशन, पृ. 15 ।
11. लाल, बृजवासी, (1951), फ़्यूचर कॉपर होर्डस फ्राम द गंगा बेसिन एण्ड अ रिव्यू ऑफ द प्रॉब्लम इन एन्शियन्ट इण्डिया, नं0 9, पृ. 38 ।

12. लाल, मक्खन, (1980–81), कॉपर होर्ड कल्चर ऑफ इण्डिया : ए रिअसिस्मेंट इन पुरातत्त्व, नं0 12, पृ. 66–67।
13. शर्मा, डी. पी., (2002), कॉपर होर्डस कलेक्शन इन द नेशनल म्युज़ियम इन नेशनल म्युज़ियम बुलेटिन, नं0 9, पृ. 58–59।
14. इण्डियन ऑर्कियोलॉजी, ए–रिव्यू, 1965–66, पृ. 48।
15. वही, 1978–79, पृ. 101।
16. पाण्डेय, जय नारायण, पुरातत्त्व विमर्श, पूर्वोद्धृत, पृ. 483।
17. वही, पृ. 483।
18. वही, पृ. 494।
19. इण्डियन ऑर्कियोलॉजी, ए–रिव्यू, 1978–79 पृ. 101।
20. पाण्डेय, जय नारायण, पुरातत्त्व विमर्श, पूर्वोद्धृत, पृ. 497।
21. वही, पृ. 501–02।
22. वही, पृ. 494।
23. धावलीकर, एम. के., (1997), इण्डियन प्रोटोहिस्ट्री, बुक्स एण्ड बुक्स, पृ. 256–57।
24. पाण्डेय, जय नारायण, पुरातत्त्व विमर्श, पूर्वोद्धृत, पृ. 486।
25. वही, पृ. 487–88।
26. साहनी, सुखदेव, (2005), ए सोसियो–इकोनॉमिक वीव ऑफ प्रोटोहिस्ट्री कल्चर इन पंज़ाब हिस्ट्री कॉन्फ्रेंस, थर्टी सेवेन सेशन, पृ. 67।
27. शर्मा, डी. पी., (2002), कॉपर होर्डस कलेक्शन इन द नेशनल म्युज़ियम इन नेशनल म्युज़ियम बुलेटिन, नं0 9, पृ. 58–59।
28. वही, पृ. 58–59।
29. यूले, पौल, (1985), मेंटल वर्क ऑफ द ब्रोंज एज़ इन इण्डिया, पृ. 62।
30. शर्मा, डी. पी., (1987), कॉपर होर्ड इम्पलीमेंट इन द नेशनल म्युज़ियम, नई दिल्ली, कलेक्शन इन पुरातत्त्व नं0 17, पृ. 38–39।
31. पुरातत्त्व नं0 16, पृ. 38।
32. क. यूले, पौल, (1985), मेंटल वर्क ऑफ द ब्रोंज एज़ इन इण्डिया, पृ. 92।
33. पुरातत्त्व नं0 16, पृ. 98।
34. शर्मा, डी. पी., (2002), कॉपर होर्डस कलेक्शन इन द नेशनल म्युज़ियम इन नेशनल म्युज़ियम बुलेटिन, नं0 9, पृ. 28।
35. वही, पृ. 39।
36. वही, पृ. 34।
37. पुरातत्त्व नं0 16, पृ. 97।
38. वही, पृ. 97।
39. वही, पृ. 97।
40. वही, पृ. 98।
41. 41. वही, पृ. 99।
42. शर्मा, डी. पी., (2002), कॉपर होर्डस कलेक्शन इन द नेशनल म्युज़ियम इन नेशनल म्युज़ियम बुलेटिन, नं0 9, पृ. 39।
43. पुरातत्त्व नं0 16, पृ. 97।

44. प्रकाश, श्याम, हरदोई जनपद का पुरातत्त्व, अप्रकाशित शोध–प्रबन्ध (2016), लखनऊ विश्वविद्यालय, पृ. 153–154।
45. वही, पृ. 73–87।
46. इण्डियन ऑर्कियोलॉजी, ए–रिव्यू, 1978–79 पृ. 101।
47. वही, 1965–66, पृ. 48।

अतिथि सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार

●●●

दक्षिण कोशल में शरभपुरीय एवं पांडु वंशीय कालीन विहार व्यवस्था

डॉ. सुनीता यादव

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने 639 ई. में दक्षिण कोशल की यात्रा की थी। वह अपने यात्रा वृत्तान्त में उल्लेख करता है कि उस समय दक्षिण कोशल (किआओ–स–लो) की राजधानी (संभवतः सिरपुर) में लगभग 100 संघाराम थे, जिनमें 10,000 भिक्षु निवास करते थे।[1] इस समय बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के साथ विहारों एवं भिक्षुओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। इसके साथ ही तत्कालीन शासकों द्वारा प्रदत्त राजकीय संरक्षण ने बौद्ध धर्म के विकास एवं संवर्द्धन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया गया। दक्षिण कोशल में बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से शरभपुरी एवं पांडुवंशी शासकों का काल विशेष महत्व का हैं। इस समय दक्षिण कोशल में आनन्दप्रभुकुटी विहार, स्वस्तिक विहार, तीवरदेव महाविहार जैसे बड़े विहार अस्तित्व में रहें। इन विहारों के सुगम संचालन हेतु शासकों द्वारा भू–अनुदान प्रदान किये गये, जिसने विहारों को साधन सम्पन्न बना दिया। ऐसी स्थिति में विहारों में एक सुनिश्चित परिचालन व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव की गई होगी। पालि साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि इस समय तक विहारों की प्रबंधन एवं व्यवस्था के लिए एक कुशल प्रबंध तन्त्र की नींव पड़ चुकी थी। इस दृष्टि से वैहारिक परिचालन व्यवस्था के अध्ययन हेतु इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. आर्थिक प्रबंधन
2. आन्तरिक प्रबंधन

आर्थिक प्रबंधनः दक्षिण कोशल के अभिलेखों में विहारों के आर्थिक स्त्रोत के रूप में ग्राम दान के सन्दर्भ विशेष रूप से प्राप्त होते है। यहां से प्राप्त अभिलेखीय साक्ष्य विहार के पक्ष में सम्पूर्ण सत्व के साथ ग्राम दान का उल्लेख करते हैं। महाशिवगुप्त (बालार्जुन) के मल्लार ताम्रपत्र[2] से ज्ञात होता है कि महाशिवगुप्त ने तरडंशक भोग में स्थित कैलाशपुर नामक ग्राम को कोरदेव की पत्नी अलका द्वारा तरडंशक में निर्मित करवाये गये विहार में रहने वाले आर्य भिक्षु संघ को दान में दिया था। यह ग्राम निधि–उपनिधि, दशापराध, सभी करों सहित, सभी प्रकार की पीड़ा से रहित, चाटों एवं भाटों का प्रवेश निषिद्ध कर दान में दिया गया था। इस दानात्मक अभिलेख में दो तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है–

प्रथम–राजस्व के समस्त साधनों का हस्तान्तरण

द्वितीय–न्यायिक एवं प्रशासनिक अधिकार

इस अभिलेख से विदित होता है कि विहार के पक्ष में दशापराध जैसे न्यायिक अधिकार का भी हस्तान्तरण किया गया था। नारद[3] एवं कात्यायन[4] ने राजकीय आज्ञा के उल्लंघन से लेकर सामाजिक अपराधों तक को "दशापराध" के अन्तर्गत परिगणित किया है। यद्यपि इनके द्वारा वर्णित दशापराध सूची में किंचित अन्तर दृष्टव्य हैं। नारद के अनुसार राजकीय आज्ञा का उल्लंघन, स्त्री वध, वर्ण संकरता, पर स्त्री गमन, पर पुरूष गर्भधारण, दुर्वचन का प्रयोग, गर्भपात, आघात, अभद्रता, तस्करी, मानहानि दशापराधों के अन्तर्गत आते हैं। कात्यायन के दशापराधों की सूची में षडभाग कर, खानों से प्राप्त कर, देय शुल्क निर्धारण में अनियमितता, युद्ध योजना का भेद देना, तस्कर का सहयोग, पर स्त्री आघात, गाय एवं ब्राह्मण के वध की इच्छा, फसल को क्षति पहुँचाना सम्मिलित हैं। इन समस्त अपराधों के लिए आर्थिक दण्ड का प्रावधान था। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि विहारवासी भिक्षु इन न्यायिक कार्यो को किस प्रकार सम्पादित करते होगें। ऐसे में विवेच्य अभिलेख में उल्लिखित कुछ राजकीय अधिकारियों के सन्दर्भ

अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इस अभिलेख में अन्य के साथ ग्राम प्रधान अथवा मुखिया का भी उल्लेख है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि चूँकि दशापराधों की सूची में परिगणित अपराध अधिक गुरूतर श्रेणी के नहीं थे अतः इनका निर्णय ग्राम के मुखिया द्वारा किया जाता रहा होगा और विहारवासी भिक्षु इस कार्य से मुक्त रहे होगें। उन्हें समय से जुर्माने की राशि प्राप्त हो जाती होगी। इस प्रकार दशापराध विहार के अर्थ प्राप्ति का स्त्रोत ही रहे होगें।

अब यदि हम इन देय ग्रामों के प्रशासनिक अधिकार पर विचार करें तो प्राचीन भारत में देय ग्रामों के लिए विधान था कि वह विषयों से पृथक और समस्त राजकीय हस्तक्षेप से मुक्त रहते थे। इस प्रकार ग्राम प्रशासन का कार्य निश्चय ही विहारों की जिम्मेदारी रही होगी। किन्तु विहारवासी भिक्षु के लिए शासन का संचालन संभव प्रतीत नहीं होता है, और न ही उसके पास ऐसे संसाधन थे जिसके सहयोग से वो प्रशासनिक कार्यो का सम्पादन कर सकें क्योंकि इस सन्दर्भ में इस प्रकार का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसे में एक बार पुनः प्राप्त अभिलेखों में निर्देशित प्रशासनिक अधिकारियों का उल्लेख महत्वपूर्ण हो जाता है। विवेचित अभिलेख में सन्निधाता, समाहर्ता के साथ प्रमुख अधिकारियों, अन्य कर्मचारियों एवं राजपुरूषों का सन्दर्भ प्राप्त होता हैं। ये सभी स्थानीय प्रशासनिक इकाई के सदस्य होते थे। इनका कार्य स्थानीय जनता से राजस्व संग्रह कर शासक तक पहुँचाना था। संभवतः ग्राम दान के बाद भी ये अधिकारी अपने कार्यो का सम्पादन पूर्ववत करते रहें हो, अन्तर मात्र इतना हो सकता है कि अब ये एकत्र किये गये राजस्व में से अपना अंश रखकर शेष भाग शासक को न देकर विहार को पहुँचाने लगे होगें। इस प्रकार विहार प्रशासनिक दायित्वों से मुक्त रहे और दान में प्राप्त ग्राम, मात्र अर्थ प्राप्ति का स्त्रोत बने रहें। सिरपुर से प्राप्त एक अन्य अभिलेख5 में भी आचार्य जिनघोष एवं बुद्धघोष को दिये गये ग्राम दान का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार आनन्दप्रभुकुटी विहार से प्राप्त अभिलेख6 में भिक्षु संघ के भोजन के लिए सफेद चावलों के एक खेत के दान किये जाने का सन्दर्भ प्राप्त होता है। संघ के पक्ष में इस प्रकार के क्षेत्र दान की परम्परा प्रारम्भ से ही विदित है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन खेतों में कृषि कार्य कौन करता था? विनयपिटक संघ एवं जनसामान्य के पारस्परिक सहयोग से कृषि कर्म के सम्पादन की सूचना देता हैं। इसके अनुसार संघ के बीज को व्यक्ति के खेत में बोने पर संघ दसवें भाग का एवं व्यक्ति के बीज को संघ के खेत में बोने पर उसे उचित भाग देकर शेष संघ ले सकता था।[7] इस सन्दर्भ में इत्सिंग[8] महत्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। वो लिखते है कि संघ किसानों को भूमि और बैल देता था तथा सामान्यतः उपज का छठवां हिस्सा लेता था। इसके साथ ही वो कुछ ऐसे विहारों का भी उल्लेख करते है जहां भिक्षुगण अपने निरीक्षण में संघ के सेवक–सेविकाओं से कृषि करवाते थे। इस सन्दर्भ में आनन्दप्रभुकुटी विहार से प्राप्त कृषि के औजारों[9] के साक्ष्य महत्वपूर्ण हो जाते है और इस संभावना को बल देते है कि संघ अपने निरीक्षण में कृषकों को कृषि सामग्री उपलब्ध कराकर कृषि कर्म करवाता रहा होगा। स्पष्ट है कि इस प्रकार के भू–अनुदान एवं उनसे प्राप्त राजस्व विहार की अर्थ प्राप्ति का मुख्य स्त्रोत थे।

आन्तरिक प्रबंधनः अनुदानों से प्राप्त राजस्व, अनाज आदि जब विहारों में आ जाता था तब प्राप्त वस्तुओं को व्यवस्थित करना एवं संघ की विभिन्न आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनके उपयोग की जिम्मेदारी विहार के आन्तरिक प्रबंधन से सम्बन्धित हैं। विहार के समस्त कार्य सुचारू रूप से सम्पादित हो इसके लिए भिक्षु संघ के मध्य कार्यों का विभाजन अनिवार्य हो जाता हैं। भिक्षु संघ में विहारवासी भिक्षुओं के मध्य कार्य विभाजन की यह परम्परा विनयपिटक[10] से विदित होती है। विनयपिटक[11] में भाण्डागारिक, नवकम्मिक, चीवरपतिगाहक आदि विभिन्न संघीय पदों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। विहारों के आन्तरिक प्रबंधन को संभावित कार्य विभाजन के आधार पर सहजता से समझा जा सकता है। विहार की व्यवस्था एवं सुचारू संचालन हेतु प्रदत्त अनुदानों के साथ ही नये विहारों के निर्माण एवं प्राचीन विहारों के जीर्णोद्धार और उनके विस्तार का कार्य भी शासकों द्वारा समय–समय पर किया गया। बौद्ध धर्म की बढ़ती लोकप्रियता और भिक्षुओं की बढ़ती संख्या भी इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष था। भवदेव के भांदक प्रस्तर अभिलेख[12] से विदित होता है कि शासक सूर्यघोष ने बुद्ध के धाम (मन्दिर) का निर्माण करवाया था। कालान्तर में

इस मन्दिर के जीर्ण हो जाने पर शासक भवदेव ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। बावड़ी, कुएं, उद्यान, बड़े कमरे, अटारी, चैत्य आदि से सज्जित यह विहार अत्यन्त सुन्दर था। ऐसा प्रतीत होता है कि शासक भवदेव ने जीर्णोद्धार के साथ कमरे, चैत्य आदि का निर्माण करा, इसका विस्तार भी किया। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर पुराविद्ों का मानना है कि आवश्यकतानुसार समय–समय पर विहारों का विस्तार होता रहा हैं। सिरपुर के स्वस्तिक विहार एवं तीवरदेव विहार (SRP-5) में इस प्रकार का विस्तार किये जाने की संभावना व्यक्त की गई हैं। निश्चय ही इस प्रकार की आन्तरिक गतिविधियों में विहारवासी भिक्षुओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। समकालीन पूर्वी भारत से प्राप्त साक्ष्यों में इस प्रकार के निर्माण कार्यों के लिए नियुक्त नवकम्मिक भिक्षुओं के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं[13]। संभवतः ये नवकम्मिक भिक्षु स्वयं या अपने निरीक्षण में इस प्रकार के निर्माण कार्यों को सम्पन्न कराते रहे होगें क्योंकि बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विशिष्ट वास्तु संरचनाओं यथा स्तूप, चैत्य आदि की सही जानकारी निश्चय ही भिक्षुओं को होती रही होगी। विहार के ऐसे अनेक कार्य होते होगें जिसमें विहारवासी भिक्षु संलग्न रहते होगें।

उत्खनित अवशेषों से ऐसे साक्ष्य प्राप्त हुए है जिनको देखकर प्रतीत होता है कि तत्कालीन विहारों में विशेष योग्यता वाले रचनात्मक कार्य जैसे–शिल्पकर्म, काष्ठकर्म, धातुकर्म, मूर्ति निर्माण आदि भी भिक्षुओं द्वारा या उनकी देख–रेख में किये जा रहे थे। सिरपुर से प्राप्त अवशेषों के आधार पर विद्वानों का मानना हैं कि यह धातु मूर्ति निर्माण का एक प्रमुख केन्द्र था, जिस पर नालन्दा कला का पर्याप्त प्रभाव था। सिरपुर के उत्खनन से प्राप्त बुद्ध की एक धातु प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सम्पूर्ण प्रतिमा पर स्वर्ण का मुलम्मा चढ़ा है, आँखों में चाँदी का जड़ाव, बालों में काला रंग और ओष्ठों पर ताम्र की लाली चढ़ाई गई है। डॉ. एम.जी. दीक्षित[14] को आनन्दप्रभुकुटी विहार के उत्खनन के दौरान विहार के एक कक्ष से स्वर्णकारों के औजार का सेट प्राप्त हुआ था, जिसमें धातु प्रगलन में प्रयुक्त घरिया, कसौटी जिस पर स्वर्ण को परखने के चिन्ह है, छोटा हथौड़ा, एक जोड़ा चिमटा जिसके छोर कमल कली के आकार के है, दो कैचियां और एक तारपीडों की आकृति की लौह छड़ जिस पर वक्र स्वर्ण वस्तुओं को आकार दिया जाता था। ये सभी वस्तुएं दक्षिणी बरामदे में चूनम रेखाओं से युक्त एक गर्त में प्राप्त हुई थी। इस सन्दर्भ में उनका मानना है कि संभवतः इनका प्रयोग उपर्युक्त प्रकार की मूर्तियों के निर्माण में किया जाता रहा होगा। यहां से प्राप्त बुद्ध की अर्धनिर्मित मूर्ति एवं बालुका युक्त अधिष्ठान इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन विहारों में इस प्रकार के शैल्पिक कर्मों का भी सम्पादन होता था। डॉ. दीक्षित का मत है कि तीन समीपवर्ती विहारों में स्थित मध्यवर्ती कमरे में एक ईटों से निर्मित अधिष्ठान होता था, जो इन धातु एवं प्रस्तर प्रतिमाओं को रखने के लिए ही बनाया जाता था। इनके अतिरिक्त विहार से कृषि कर्म, लौहकार एवं कुम्हार के औजार भी प्राप्त हुए हैं[15]। संभव है कि इन समस्त कार्यों में विहारवासी भिक्षु संलग्न रहते हो, जो विहार के कुशल प्रबंधन की ओर ही इंगित करता है।

इन विशेष रचनात्मक कार्यों के अतिरिक्त दैनिक जीवन से सम्बन्धित कार्य जैसे भोजनादि का प्रबंधन करने हेतु भी भिक्षुओं के मध्य कार्यों का विभाजन होता रहा होगा। विदित है कि प्रारम्भ में भिक्षुओं के भोजन की आवश्यकता भिक्षाटन से पूर्ण हो जाती थी। कालान्तर में उन्हें आमंत्रण भोज, उद्देश्य भोज, शलाका भोज, पाक्षिक भोज एवं उपोसथ भोज की अनुमति मिली[16]। अतः प्रारम्भिक अवस्था में भिक्षुओं को दुर्भिक्ष आदि आकस्मिक अवस्था में ही भोजन बनाने की अनुमति थी किन्तु बाद में सामान्य अवस्था में भी विहारवासियों द्वारा भोजन पकाने के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। जिसकी पुष्टि पूर्वी भारत के विहारों से प्राप्त अग्निशाला एवं भण्डार गृह से भी होती हैं। महाशिवगुप्त (बलार्जुन) के समय के सिरपुर प्रस्तर अभिलेख[17] से विदित होता है कि भिक्षुओं के लिए सत्र संचालन हेतु भिक्षु आनन्दप्रभु ने संघ से विहार कुटी क्रय की और सफेद चावल का खेत व्यंजन सहित प्रतिदिन भिक्षुओं के भोजन हेतु प्रदान किया था। इससे स्पष्ट होता है कि खाद्यान्नों का प्रयोग भिक्षुओं के लिए भोजन पकाने में होता था। निश्चय ही यह भोजन विहारों में ही पकाया जाता होगा और इसके लिए पृथक रसोईघर की व्यवस्था भी रही होगी। आनन्दप्रभुकुटी विहार के उत्खनन में एक कक्ष से कढ़ाई, तवा, चम्मचे, करछीं, मथानी और एक छोटा सरौता भी प्राप्त हुआ हैं। डॉ. एम. जी. दीक्षित का मत है कि यह कमरा निःसंदेह रसोईघर रहा होगा18। यहां से चक्की, सिलबट्टा

और ऊखल भी प्राप्त हुए हैं[19]। यहां एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि विहारवासी भिक्षुओं के अतिरिक्त निश्चय ही समय–समय पर विहारों में अतिथियों का आगमन भी होता होगा। सिरपुर विहार संख्या 1–5 के उत्खनन के दौरान यहां से एक ताम्र का चीनी सिक्का प्राप्त हुआ है[20]। यह सिक्का चीनी शासक काई–युवान (713–41 ई) के समय का है। उल्लेखनीय है कि चीनी यात्री समय–समय पर बौद्ध धर्म के प्रभाव वश भारत की यात्रा पर आते रहे हैं और बौद्ध विहारों में निवास भी करते थे। अतः इस बात की पर्याप्त संभावना है कि चीनी यात्री सिरपुर के बौद्ध केन्द्र से प्रभावित हो यहां आते रहें हो। ऐसे में इन आगन्तुकों के भोजनादि का प्रबंध भी संघ का दायित्व था। अतः निश्चित रूप से विहार में भोजन पकाना संघ की आवश्यकता हो गई थी और इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु अवश्य ही कुछ भिक्षु नियुक्त रहें होगें।

अनुदानों की बढ़ती प्रवृत्ति से समृद्ध हो रहे विहारों की सुरक्षा भी एक महत्वपूर्ण आवश्यकता थी। आनन्दप्रभुकुटी विहार[21] से प्राप्त स्कन्दाहत ताले, दरवाजे के कब्जे, साँकल और चटकनियां विहार में प्रयुक्त सुरक्षात्मक उपायों को इंगित करते हैं। विहार के कक्ष से विभिन्न प्रकार के आयुधों[22] की प्राप्ति से संभावना व्यक्त की जा सकती है कि विहारों की सुरक्षा हेतु चौकीदार भी नियुक्त होते होगें। साथ ही विहारों को चारदीवारियों से घेरने जैसे प्रमाण भिक्षु संघ के आन्तरिक सुरक्षा प्रबंधन को स्पष्ट करता है। सिरपुर के विहार संख्या 1–5 में कांच एवं सीप की चूड़ियों के टुकड़ों की प्राप्ति विद्वानों के अनुसार भिक्षुणी विहार[23] की संभावना को भी बल प्रदान करता है। इस दृष्टि से भी सुरक्षात्मक उपाय अनिवार्य रहे होगें।

उपर्युक्त साक्ष्यों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि भू–अनुदानों से प्राप्त राजस्व संग्रह एवं देय ग्रामों के प्रशासन में भले ही विहारवासियों की प्रत्यक्ष भूमिका न रही हो किन्तु विहार के आन्तरिक प्रबंधन से सम्बन्धित कार्यों का सम्पूर्ण दायित्व संघ का था और इन कार्यों के सम्पादन के लिए वैहारिक भिक्षुओं के मध्य कार्यों का विभाजन और उनके कुशल संचालन का दायित्व भी संघ का था। ऐसे में विहारों में कुशल प्रबंध तंत्र की स्थिति सहज स्वीकार की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. बील सैमुअल, सी–यू–की बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, चाइनीज एकाउण्ट्स ऑफ इण्डिया, जिल्द–4,वाराणसी, 1980, पृ. 44।
2. जैन, बालचन्द्र, उत्कीर्ण लेख, छत्तीसगढ़, 2005, पृ. 44।
3. काणे, पी. वी.,हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द–3, पुणे, 1974, पृ. 264।
4. काणे, पी. वी. पूर्वोक्त।
5. जैन, बालचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 156।
6. शास्त्री, अजयमित्र, इन्सक्रिप्शन ऑफ द शरभपुरी, पांडुवंशी एण्ड सोमवंशी, दिल्ली, 1995, पृ.148–49।
7. सांस्कृत्यायन, राहुल (अनु.) विनयपिटक, वाराणसी, 1994, पृ. 254।
8. ताकाकुसु, जे. (अनु.) ए रिकॉर्ड्स ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन एज प्रक्टिसड इन इण्डिया एंड दि मलाया आर्कियोप्लाग, बाई इतसिंग, ऑक्सफोर्ड, 1886, पृ. 65।
9. आई.ए.आर. 1954–55, पृ. 24।
10. दत्त, सुकुमार, बुद्धिस्ट मांक्स एण्ड मोनास्ट्री इन इण्डिया, लंदन, 1962,पृ. 69।
11. सांस्कृत्यायन, राहुल (अनु.) विनयपिटक, वाराणसी, 1994, पृ. 276।
12. जैन, बालचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 28–44।
13. शास्त्री, हीरानन्द,नालन्दा एण्ड इट्स एपिग्राफिक मेटेरियल्स, दिल्ली, 1986, पृ. 37।
14. आई.ए.आर. 1954–55, पृ. 24।
15. आई.ए.आर. पूर्वोक्त, पृ. 24।

16. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, 6.21
17. शास्त्री, अजयमित्र, पूर्वोक्त।
18. श्रीवास्तव, एम. सी., सिरपुर, भोपाल, 1984, पृ. 55।
19. श्रीवास्तव, एम. सी., पूर्वोक्त।
20. श्रीवास्तव, एम. सी.,पूर्वोक्त।
21. श्रीवास्तव, एम. सी., पूर्वोक्त।
22. आई.ए.आर. 1955–56, पृ. 27।
23. आई.ए.आर. 1954–55, पृ. 26।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर
प्रा.भा.इति.सं.एवं पुरा.विभाग
आर्य महिला पी. जी. कालेज,
वाराणसी–221001

•••

चोल साम्राज्य का कलात्मक एवं स्थापत्य पहलू एक विवेचना

वैशाली झा
प्रो. डॉ. शोभना झा

प्राचीन काल में कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदी से लेकर कुमारी अंतरीप तक के विस्तृत भू–भाग से तमिल प्रदेश का निर्माण हुआ करता था। इस प्रदेश के तीन राज्य प्रमुख थे, उसमें चोल प्रमुख राज्य था।

अशोक के 13वें शिलालेख में इन राज्यों की स्वतंत्र अस्तित्व का उल्लेख किया गया है। कालांतर में चोलो ने अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया। उनके उत्कर्ष का केंद्रीय स्थल तंजौर था। जो बाद में चोल साम्राज्य की राजधानी थी।

चोल राजवंश का प्रारंभ एवं ऐतिहासिक और राजनीतिक इतिहास भी सर्वविदित है। जिसका उल्लेख बहुत से ऐतिहासिक शब्दों में अलग–अलग भाषाओं में किया गया है। यहां पर हम चोल शासकों के कलात्मक अभिव्यक्ति को वर्तमान काल के मध्य रखते हुए उनकी स्थापत्य और कला से संबंधित विषय वस्तु की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं। जिनका समसामयिक घड़ी में महत्व है, और प्रासंगिक भी।

चोल साम्राज्य में स्थापत्य विषय की विशेषता थी। स्थानीय स्वास्थ्य संस्थाओं का सुंदर और सफल सामंजस्य स्थानीय जीवन के विभिन्न अंगों के लिए विधिक समूह संस्था थी। जो परस्पर सहयोग से कार्य करती थी। नगरम उन स्थानों की सफाई थी। जहां व्यापारी की प्रमुख निधि और गांव के उन व्यक्तियों की सभा थी। जिनके पास भूमि थी, सभा ब्रह्मदेय ब्राह्मणों के सामने संस्था का विशिष्ट नाम था । इत्यादि यह सभी इस बात का प्रमाण है। कि यह सभाएं अनुभव के अनुसार कुशल व्यवस्था को संचालित करने में उनका सहयोग करती थी क्योंकि इन सभाओं के कर्तव्य क्षेत्र व्यापक और विस्तृत था।

चोल सम्राट शिव के उपासक थे, लेकिन उनकी नीति धार्मिक सहिष्णुता की थी जो आज बहुत ही ज्यादा तार्किक और प्रासंगिक भावना मानी जा सकती है। उन्होंने पौधों का भी उल्लेख किया, जैन भी शांतिपूर्ण ढंग से अपने धर्म का पालन और प्रचार करते थे। तमिल धार्मिक रूप से सहिष्णुता की संस्ति तत्कालीन समय की इस साम्राज्य के अंतर्गत मानी जा सकती है। क्योंकि विभिन्न त्योहारों और उत्सवों पर किया जाने वाला नृत्य और गायन तथा मनोरंजन सब के साथ मिलकर ही संपन्न हुआ करता था। इस प्रकार चोल शासन किस शासक धार्मिक और सामाजिक सौहार्द के प्रतीक माने जा सकते हैं, और उनके इन्हीं विचारों और आदर्शों की वर्तमान काल में आवश्यकता भी है।

चोल कालीन स्थापत्य की विशेषताएं –

1) द्रविड़ शैली के अंतर्गत निर्मित ईटों की जगह पत्थरों और शिलाओं का प्रयोग इस साम्राज्य और काल की बहुत बड़ी विशेषता थी। जिसका अनुकरण कालांतर में पड़ोसी राज्य एवं देशों तक ने किया।
2) मंदिर भव्य एवं सुंदर होते थे, वास्तु कला में मूर्ति कला और चित्रकला का अनूठा संगम दिखाई देता है।
3) चोल स्थापत्य के एवं मूर्तिकला की यह भी विशेषता है कि मूर्तियां नटराज की ही सर्वाधिक बनाई गई और जिन में कांस्य धातु का प्रयोग किया गया।
4) चोल कला की विशेषता के रूप में सांस्तिक समन्वय को भी देखा जा सकता है।
5) चोल साम्राज्य की मूर्तिकला और स्थापत्य की विशेषताओं के अंतर्गत विशिष्ट मंडप विमान और गोपुरम भी देखे

जा सकते हैं, जो द्रविड़शैली पर आधारित थे। चोल स्थापत्य की प्रशंसा करते हुए फर्ग्यूसन ने कहा की चोल कालीन कारीगर राक्षस की तरह सोचते थे एवं जौहरी की तरह तरासते थे।

6) मंदिरों में बनाई जाने वाली कला के अंतर्गत भित्ति चित्र भी एक विशिष्टता लिए हुए रहते थे इस प्रकार नवमी और बारहवीं शताब्दी के मध्य यह कला और स्थापत्य एक अनुपम और उत्.ष्ट स्थापत्य के रूप में विद्यमान हुआ।

मूर्तिकलाः–

मूर्तियां मुख्य तया नटराज मूर्तियां है जिनकी संख्या बहुत है। लेकिन इनके अलावा भी भिन्न–भिन्न देवी–देवताओं, संतों तथा भक्त राजाओं की मूर्तियां भी बनाई गई, जिन्हें आज भी दक्षिण भारत के क्षेत्रों में देखा जा सकता है। जो पूजनीय भी है। यदि मूर्तिकला की बात की जाए तो त्रिचनापल्ली के तिरुवरंगुलाम से नटराज की एक विशालकाय प्रतिमा प्राप्त हुई है। जो दिल्ली संग्रहालय में है इसके अलावा अर्धनारीश्वर की मूर्तियां जो मद्रास संग्रहालय में सुरक्षित है और ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी ,भूदेवी, राम, सीता, कालिया नाग पर नृत्य करते हुए बालक .ष्ण और कुछ शेर मूर्तियां भी मिली है इन मूर्तियों को मंदिर के पूज्य तथा सजावटी दोनों ही उद्देश्य से निर्मित किया गया था।

मुख्य बात यह है कि ये मूर्तियां पूरी तरह से यथार्थता से जुड़ी थी और वास्तविकता से युक्त थी। इन मूर्तियों के द्वारा मानव आ.तियों का सजीव और यथार्थ चित्रण किया गया था।

बृहदेश्वर तमिलनाडु के तंजौर में स्थित हिंदू मंदिर है। जिससे 11 वीं सदी के आरंभ में बनाया गया। इसका निर्माण चोल शासकों के द्वारा राजाराम चोल ने करवाया था और इनकी ही नाम से इसे राजराजेश्वर मंदिर नाम दिया गया। अपने विशालतम संरचनाओं से यह मंदिर विशुद्ध स्थापत्य और उत्.ष्ट कला का अनूठा नमूना है। जिसमें 13 मंजिल निर्मित की गई है और वास्तु कला व स्थापत्य दोनों का सुंदर समन्वय चित्रांकन शिल्पांगन देखने योग्य है। इस मंदिर के मुख्य बात यह है कि गुंबद की परछाई पृथ्वी पर बिल्कुल नहीं पड़ती। एक स्वर्ण कलश भी उस पर स्थित है जिस पाषाण पर यह कलश स्थित है। मंदिर में स्थापित यह शिवलिंग भी देखने योग्य है और यथा नाम तथा गुण के दर्शन यहां पर होते हैं। मंदिर में प्रविष्टि के समय ही एक गोपुरम का चौकोर मंडप भी दिखाई देता है। जहां पर नंदी को विराजमान किया गया है। कहने का तात्पर्य है कि इतने बड़े विशाल चट्टान को विभिन्न तकनीकी गत ज्ञान को ना रखते हुए भी बड़े ही सुंदर तरीके से बनाया गया जो आज के तकनीकी गत समय में सीखने योग्य कला मानी जा सकती है। विभिन्न देवी–देवताओं से युक्त यह सारे मंदिर सामाजिक और धार्मिक समरसता के प्रतीक हैं। जिन्हें सभी वर्गों के द्वारा मिलकर तैयार किया गया था अर्थात धार्मिक व सामाजिक सहिष्णुता इन मंदिरों से निश्चित रूप से देखी और सीखी जा सकती है।

तंजौर के इस मंदिर के लिए पर्सीब्राउन ने कहा कि मंदिर निर्माण कला की सबसे बड़ी, सबसे ऊंची और सर्वाधिक महत्व कांक्षा पूर्ण करती है।

राजेंद्र चोल ने गंगाईकोंडचोलापुरम में एक विशाल मंदिर बनवाया। यह मंदिर तंजौर वृहदेश्वर मंदिर से ऊंचाई और आकार में निश्चित रूप से छोटा है। परंतु इसका भी स्थापत्य और कलात्मक पहलू प्रभावोत्पादक है यह दूसरा भव्य प्रतीक है। चोल साम्राज्य में निर्मित हुए मंदिर का चोल नरेश ने अपने समकालीन मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण में कल्पना, संरक्षण और वैभव से ऊपर उठकर शायद इनका निर्माण किया और यही कारण है कि वास्तुकला व तक्षण कला से उन्नत और समृद्धि मंदिर और मूर्तियां दिखलाई देते हैं। चोलो ने पाषाण के विभिन्न टुकड़ों को काटकर उन्हें तराश कर गण कर विशाल मंदिर बनाने का कार्य प्रारंभ किया। इसी शैली और सिद्धांत के आधार पर हमें संपूर्ण मंदिर और मूर्तियां में दिखलाई पड़ती हैं। मंदिर कला के अतिरिक्त भी मूर्तिकला में अलग–अलग देवी–देवताओं के रूप में दिखाई देती है। जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, लक्ष्मी, .ष्ण आदि देवी–देवताओं की मूर्तियां कहीं–कहीं राजा रानी की पाषाण मूर्तियां अष्ट धातु से बनी मूर्तियां भी दिखलाई पड़ती है। इन मंदिरों को हिंदू संस्.ति और धार्मिक समन्वय और सहिष्णुता के दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माना जाता है।

चित्रकलाः–

चोल शासनकाल में चित्रकला भी बहुत प्रचुर मात्रा में दिखलाई पड़ती है। मंदिरों की अंदर की दीवारों को सुसज्जित करने के लिए पौराणिक कथाओं के आधार पर चित्रों का अंकन किया गया। राजराजेश्वर मंदिर की भित्ति चित्र कला इसका अनुपम उदाहरण है। जिसके अंतर्गत संपूर्ण शिव कथा को अंकित किया गया।

स्थापत्य कलाः–

चोल वंश के शासक अपने समय में स्थापत्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किए, चोल काल दक्षिण भारतीय कला के इतिहास में स्वर्ण काल माना जा सकता है फर्गुसन के विचार भी इसी प्रकार है।

उन्होंने कहा चोल कलाकार कल्पना में महान और संपादन में कुशल थे। चोल कालीन स्थापत्य को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है।

प्रथम भाग चोल कालीन भवनः–

चोल शासक महान निर्माता थे ही साथ ही सार्वजनिक जन कल्याण के कार्य भी इनके द्वारा कराए गए। स्थापत्य की .ष्टि से विशाल राज प्रसाद, भवन, तालाब, बाग बगीचे सभी कुछ अप्रतिम .तियां मानी जा सकती हैं। बड़े–बड़े प्रस्तरों से बांध नदियों में बनवाना तत्कालीन समय की तकनीकी गत स्थापत्य का एक अनुपम उदाहरण है। आज के सभ्य और आधुनिकतम समय में इस प्रकार की तकनीकी को पुनः अध्ययन कर उस पाषाण प्रयोग पर अवलंबित ज्ञान की आवश्यकता है स्थापत्य के प्रथम चरण में राजधानी गंगाईकोंडचोलापुरम के निकट एक .त्रिम झील भी दर्शनीय और स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है। चोल नरेश कुलोटुंगप्रथम ने सड़क के साथ–साथ अनेक सैनिक बस्तियों का भी निर्माण करवाया जो स्थापत्य के लिए बेजोड़ मानी जाती है।

द्वितीय भाग में मंदिर निर्माण कला जो स्थापत्य के लिए बेजोड़ मानी जा सकती है। यह निर्माण अलंकरण शैली में पूर्णता तथा सौन्दर्य के लिए विख्यात है। इन मंदिरों का निर्माण राजराज प्रथम और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजेंद्र चोल ने कराया। तृतीय काल में मंदिरों का निर्माण होता रहा, लेकिन उसमें ना तो कल्पना शक्ति थी और ना ही सौंदर्य की नव चेतना अर्थात द्वितीय चरण तक स्थापत्य की .ष्टि से सौंदर्य चेतना और कल्पना शक्ति का सुंदर समन्वय हमें दिखलाई पड़ता है।

स्थापत्य काल को तीन खंडों में विभाजित किया गया प्रथम खंड प्रारंभ से 950 ईसवी तकः–

इस काल में त्रिचनापल्ली जिले का को रंगनाथ मंदिर स्थापत्य का उत्तम उदाहरण है। विद्यालय जलेश्वर का मंदिर जो राजा विद्यालय के ही काल में निर्मित हुआ और निश्चित रूप से उनके नाम के कारण इस मंदिर का नाम विद्यालय मंदिर पड़ा। मंदिर निर्माण के प्रथम चरण में यह पल्लव शैली भी कहीं–कहीं प्रदर्शित करता है।

द्वितीय चरण 950 से 1070 ईसवी तक

इस द्वितीय चरण में मंदिर निर्माण स्थापत्य अपने चरम उत्.ष्टता पर था। तंजौर का वृद्धेश्वर मंदिर और गंगाईकोंडचोलापुरम का मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। तंजौर का वृहदेश्वर मंदिर जो नरेश राजराज प्रथम ने बनवाया। यह एक विशालतम मंदिर है। जिसके मध्य में गर्भ ग्रह अर्ध मंडप, महामंडल, नंदी मंडप और सामने पूर्व की ओर विशाल गोपुर प्रवेश द्वार स्थापत्य के बेजोड़ नमूने हैं। देखने में यह पिरामिड के आकार का दिखलाई देने वाला 13 मंजिली भवन है। जो उस समय की उत्.ष्ट कला .ति मानी जा सकती है। आज समृद्ध तकनीकी होने के पश्चात भी इस प्रकार की कला.तियां दिखलाई नहीं पड़ती। विशेषता तो यह है कि ऊपर मंदिर के सिर्फ एक गुंबद को एक ही पत्थर से बनाया गया पर्सीब्राउन के शब्दों में तंजौर का बृहदेश्वर मंदिर द्रविड़ वास्तुकला की सर्वोत्तम कृति है और भारतीय वास्तुकला की कसौटी है।

स्थापत्य का तृतीय चरण ज्योति चरण तक स्थापित चरम बिंदु पर था। तृतीय चरण 1070–1250 ईसवी तक वह यथार्थ था और मौलिकता और जीवन स्पूर्ति का अभाव निश्चित रूप से दिखलाई देता है। अर्थात 1070 ईसवी तक चोल सम्राटों की वैचारिक स्थिति का पता चलता है। इसके पश्चात इनका शासन डांवाडोल होने लगा। जिसके

कारण धार्मिक और सामाजिक वैचारिक सभी परिवर्तन हमें दिखलाई पड़ने लगे।

उपरोक्त बिंदुओं पर चर्चा करने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि अधिकांश जो शासक शिव उपासक थे परंतु अन्य धर्मावलंबियों के साथ भी उनकी सहिष्णुता और उदारता देखी जा सकती है। विभिन्न भागों में विभिन्न धर्मों के अनुयाई निवास करते थे अर्थात जो समकालीन समाज में समाज समुन्नत अवस्था में था। धर्म और सामाजिक दोनों ही .ष्टिकोण से समाज एक समृद्ध शाली समाज के रूप में दिखलाई देता था क्योंकि जैन, बौद्ध एवं अन्य धर्मावलंबियों को भी पूर्ण स्वतंत्रता थी। इस युग में वैष्णव, बौद्ध, जैन मतावलम्बियों के अनुयाई भी साम्राज्य में सुखी जीवन व्यतीत करते थे।

निष्कर्ष–

चोल वास्तुकला की प्रासंगिकता एवं शुद्धता को पुनः नई तकनीकी के माध्यम से विकसित करना स्थापत्य के साथ ही समाज को सामंजस्य का पाठ पढ़ाना एवं बदलते हुए सामाजिक मूल्यों को सर्वप्रथम स्थानीय स्तर पर ही सहयोग के माध्यम से समृद्ध करना ताकि देश का युवा, स्थापत्य एवं ऐतिहासिक कला के माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। धार्मिक सहिष्णुता एवं संस्कृति की समृद्ध मिसाल चोलकला में दिखाई देती है। उन्हें नई विचारधारा के साथ रखकर पुनः प्रतिष्ठित करने का भी प्रयास किया गया। नई स्थापत्य शैली यद्यपि काफी विकसित हो चुकी है। परंतु यदिप्राचीन स्थापत्य के साथ मिलकर नवीन तकनीकी तैयार की जाए तो भविष्य में कला एवं स्थापत्य का एक अद्भुत नया स्वरूप समाज के सामने दृष्टिगत होगा और एक ऐसा सुंदर सामंजस्य दृष्टिगोचर होगा जिससे सामाजिक सहयोग और सरोकार के साथ इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी ।

संदर्भ :–

1. https://www.sansarlochan.in/nagar-dravid-vesar-shaili/
2. http://www.vivacepanorama.com/chola-empire-literature-and-religion/
3. https://m-jagranjosh-com.cdn.ampproject.org/v/s/m.jagranjosh.com/general-knowledge
4. http://www.vivacepanorama.com/chola-empire-literature-and-religion/
5. https://knowindia.gov.in/hindi/culture-and-heritage/monuments/chola-temples.php

वृद्धेश्वर मंदिर, तंजौर

एमिटी विश्वविद्यालय,
रायपुर, छत्तीसगढ़
श्री रावतपुरा सरकार यूनिवर्सिटी,
रायपुर, छत्तीसगढ़

गुप्तकालीन महिलाओं के विभिन्न पहलू

सुमिति सैनी

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में भारतीय साहित्य अर्थव्यवस्था, वास्तुकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ ध सामाजिक विकास एवं संरचना की दृष्टि से भी इस काल का अपना विशेष महत्व है, क्योंकि इस काल मे ंभी उच्च सामाजिक आदर्शों का संरक्षण हुआ एवं नारी को समाज में सम्मानीय स्थान मिला, जिसके कारण उसने अपने पारिवारिक दायित्वों को पूरा करते हुये सार्वजनिक जीवन में भी अपने महत्व और गरिमा को बनाये रखा। चूंकि उस युग में पर्दाप्रथा का प्रचलन नहीं था इसलिए उसके सार्वजनिक जीवन के अवदान में कोई बाधा भी नहीं थी। नारी का योगदान विकास के प्रत्येक क्षेत्र में था इसलिए उसका जीवन स्तर अच्छा था। ललितकला के क्षेत्र में उन्होंने दक्षता हसिल की और मंदिर में सार्वजनिक प्रदर्शन लौकिक मूर्तिया में जो दृश्य या प्रसंग है उनसे यह उदभासित होता है कि न केवल आभूषण, वस्त्र, केशविन्यास में ंनारी समाज ने अत्याधिक प्रगति की थी। वरन् यह वास्तविकता उजागर होती है कि नारी की अनेक विशिष्ट भूमिका थी, वह गृहणी, माता, बहिन, राजमहिषी, साहित्यकारा व शासिका के साथ–साथ अध्यात्म के क्षेत्र में भी सराहनीय उंचाई पर थी।[1]

गुप्तकालीन इतिहास के स्रोत के रुप में मुद्राओं एवं मूर्तियों का विशेष स्थान हैं। उल्लेखनीय है कि मुद्राओं पर नारी मूर्तियां उपलब्ध होती है जो नारी की स्थिति पर प्रत्यक्ष प्रकाश डालती है। प्रशासकीय इतिहास के साथ–साथ सामाजिक, इतिहास का ज्ञान भी इनसे मिलता है, जो देवी प्रतिमाएं और लौकिक वास्तुचिन्ह है, उनसे नारी चित्रण विशेषतः वस्त्र, सज्जा, केशविन्यास, आभूषण एवं अन्य जानकारी होती है। परंतु वस्त्र विन्यास की दृष्टि से प्रमाण के रुप में मूर्तिकला को बहुत महत्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि मूर्तिकला के क्षेत्र में कलाकारों ने अपनी परम्परा का निर्वाहन करते हुए स्त्री के वक्ष सौन्दर्य को अनावृत दिखाना अभीष्ट था जबकि उस समय चोली, कन्चुकी, ओढ़नी आदि का प्रचलन समाज में यथावत विद्यमान था।

धर्मशास्त्रीय जटिलताओं के होते हुए भी गुप्तकाल में नारी ने समाज में सम्भावित गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत किया। कला की बनावट में उत्कृष्ट कौशल एवं शिल्प का प्रदर्शन करते हुए अनेक गुप्तसिक्कों में नारी चित्र उत्कीर्ण किये गए, जो इस युग में नारी की बेहतर स्थिति के परिचायक है। चन्द्रगुप्त प्रथम के राजा–रानी प्रकार के सिक्कों की विशिष्टता से ज्ञात होता है कि नारी की समानता को सामाजिक स्वीकृति थी। समाज में उन्हें आदर एव ंसम्मान प्राप्त था।

शिक्षा

वात्स्सायन के कथनानुसार सामान्यतः स्त्रियां इतनी शिक्षित तो अवश्य ही थी कि वे अपने घर का लेखा–जोखा बना सके ंऔर उसके अनुसार खर्च कर सकें।[2] राजकुमारियों और उच्चकुलों की महिलाओं को उनके कथनानुसार शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त था। शास्त्रीय शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें अन्य विद्याओं की शिक्षा भी दी जाती थी। वात्स्यायन ने 64 अंग–विद्याओं की एक सूची दी है और उन्हें उनके लिए आवश्यक बताया है।3 इनमें पहली मंत्र–पाठ, छन्द–पूर्ति, शब्द–छन्द का ज्ञान आदि भी सम्मिलित है। तत्कालीन साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि उच्चपरिवार की बालिकाएं ही नहीं आश्रम में रहने वाली बालिकाऐं भी इतिहास और कथा साहित्य पढ़ती थीं और उन्हें काव्य रचना करने और समझने की क्षमता थी।

मेघदूत में यज्ञ–पत्नी के अपने पति के नाम पद्यबद्ध पत्र लिखने की चर्चा है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम

में शकुन्तला द्वारा कमल–पत्र पर प्रेम–पत्र लिखने का उल्लेख है। यदि कालिदास के आरम्भ में मूढ़ होने की अनुश्रुति में तनिक भी सत्यता है तो उससे तत्कालीन समय में स्त्रियों के शास्त्राज्ञ और विदुषी होने का सहज अनुमान किया जा सकता है। अमरकोष मे उपाध्याया और आचार्या शब्दों का उल्लेख है जो इस बात का द्योतक प्रतीक होते है कि उन दिनों स्त्रियां भी शिक्षिका का कार्य करती थी।[4] वात्सायन कामसूत्र में पहली–दूसरी शताब्दी में महिला शिक्षा पर लिखते है कि कन्याओं का पुस्तकवाचन, काव्य, पुराण, प्रहेलिका, नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि अनेककलाओं ने स्त्रियां निपुण होती थी।[5]

शिक्षित तथा बुद्धिजीवी महिलाओं का सर्वाधिक प्रिय श्रम अध्यापन था। अनाथकन्यायें मुनियों के आश्रम में रहकर शिक्षा संस्कृति ग्रहण करती थी। ये सभी साधना में व्यस्त रहती थी। समाज में इन आश्रमवासी, ऋषिकन्याओं को सम्मानीय स्थान था। जैनसध्विकायें, धर्म साधना करती थी वस्त्रों के अतिरिक्त आभूषण आदि नही पहनती थी। इनका सम्पूर्ण जीवन वनों आश्रमों में ही पूजा, पाठ, तप, ध्यान, योग में ही व्यतीत होता था।[6] वे फलों एवं भिक्षा से प्राप्त सामग्री से भोजन ग्रहण करती थी। ऋषिकण्व एवं ऋषि मारीच के यहां मुनि कन्याओं एवं तपस्विनियों का उल्लेख मिलता है।[7] कभी–कभी इन मुनि कन्याओं के विवाह भी सम्पन्न हो जाते थे।

विवाह

गुप्तकालीन समाज में नारी को सम्मानीय स्थिति एवं स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति प्राप्त थी; यह तत्कालीन शासको के सिक्कों से ज्ञात होता है। चन्द्रगुप्तप्रथम ने लिच्छवी राजकन्या कुमारदेवी से विवाह किया। इस बात की पुष्टि हमें एक विशेष प्रकार की स्वर्णमुद्रा जिसे राजारानी अथवा चन्द्रगुप्तकुमारदेवी प्रकार कहते हैं, से प्राप्त होती है।[8] चन्द्रगुप्तप्रथम के सिक्कों से ज्ञात होता है कि कुमारदेवी लिच्छवी गणराज्य के प्रधान की कन्या थी। सम्राज्ञी के रुप में उसे गुप्तराजाओं ने समान अधिकार प्रदान कर सम्मानित किया था। डा. अल्तेकर का मत है कि कुमारदेवी न केवल चन्द्रगुप्तप्रथम की पत्नी थी बरन् वह गुप्त साम्राज्य में संयुक्त शासिका भी थी। उनका यह मत है कि विवाह के समय लिच्छवियों की ओर से यह शर्त रही होगी कि गुप्त साम्रज्य पर उनकी राजकुमारी भी गुप्त सम्राट के साथ–साथ संयुक्त शासिका के रुप में शासन करें। इसलिए सिक्के के अग्रभाग पर सम्राट के साथ साम्रज्ञी की आकृति का अंकन किया गया है। गुप्तों की शक्ति सम्मान एवं मर्यादा का जो अभूतपूर्व विकास हुआ, उसमें इस वैवाहिक संबंध का विशेष योगदान था।[9]

राजा रानी प्रकार के विभिन्न सिक्कों में, अनेक मुद्राओं में उपहार, आभूषण, वस्त्र प्रियता का पता लगता है। कुमारदेवी का नाम उत्कीर्ण होने से सामाजिक समानता का बोध होने के साथ ही सामन्ती परिवेश में उच्चवर्ग में प्रचलित सम्मान की परम्परा भी दिग्दर्शित होती है। एक अन्य मुद्रा के पृष्ठ भाग पर सिंहवाहिनी देवी उत्कीर्ण है।[10] एलन के अनुसार देवी के पैर कमल पर अवस्थित है जिससे निश्चित ही स्पष्ट होता है कि मातृदेवी को गुप्तकाल में आदर एवं सम्मान प्राप्त था।[11]

वैवाहिक संबंधों की श्रृंखला में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंश से संबंध सुदृढ़ करने के लिए नागवंशीय राजकुमारी कुबेरनागा से विवाह किया था। इस वैवाहिक संबंध से दो साम्राज्य विस्तार कर राजाओं के संबंध मधुर एवं सुदृढ़ बन गये। इनसे प्रभावती गुप्ता नाम की राजकन्या उत्पन्न हुई। जिसका विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी सार्वभौम सत्ता को सुदृढ़ किया।[12]

कृषि क्षेत्र

गुप्त युग में नारियां खेती के कार्यों में पर्याप्त रुचि लेती थी। कृषक नारी, पुरुषों के समान खेती के सारे कार्य करती थी, गन्ना जो इस काल की प्रमुख फसल थी। कोल्हू में पेरकर उसके रस से गुड़ एवं शक्कर बनाया जाता था। कृषक नारियां इन सभी कृषक कार्यों में भाग लेती थी।[13] बीजबोने का कार्य महिलाओं द्वारा सम्पादित होता था। हल जोतने के उदाहरण नहीं मिलते किन्तु जो भूपति थे उनके साथ हल जोतने का अनुष्ठान करने के लिये उनकी पत्नियां प्रायः खेत जोतती थी। कालिदास ने विभिन्न प्रसंगों में बीजांकुरों के सौन्दर्य एवं कोमलता को अपने सौन्दर्य

निरुपण का उपमान चुना है।[14] कृषकों की पत्नियां अपने खेतों की रखवाली बड़ी सजगता एवं फुर्ती से करती थी। कालीदास ने ईख की छाया में बैठकर धान की रखवाली करने वाली उन किसान पत्नियों का उल्लेख किया है, जो प्रजा वत्सल राजा रघु की बचपन से युवावस्था तक की कथाओ ंको गीत बनाकर गाती हुई अपना मनोरंजन करती थी।[15]

बैलों की देखरेख में महिलाओं की महती भूमिका थी। कृषक नारी उपकरणों का प्रयोग जानती थी। कटाई, नदाई एवं मेड़ों पर सिंचाई में वे स्वयं श्रम करती थी और पुरुषों को पूर्ण सहयोग देती थी। बीज डालना एव ंहर मौसम के लिये सावधानी पूर्वक बीज तैयार कर रखना गुप्तयुगीन कृषक नारी का कर्त्तव्य था। कृषक बालिकाओं के द्वारा खेतों की रखवाली करने का वर्णन जैनग्रन्थों में मिलता है।[16] जहां वे टिड्डी–टिड्डी चिल्लाकर, सींग आदि बजाकर जंगली जानवरों को भगाया करती थी। जब शंकुतलाकण्व ऋषि के आश्रम से विदा होकर राजा दुष्यंत के यहां रही थी, तब उसने भावविभोर होकर इन पौधों, लताओं और वृक्षों से आश्रम छोड़कर जाने की अनुमति प्रदान की थी।[17] बृहस्पति ने सामूहिक कृषि का भी उल्लेख किया। इसमें समानस्तर के कृषक नर–नारी आपसी समझौते के अनुसार हल साझा करके अपने खेतों को बारी–बारी से जोतते और बोते थे। इस वर्ग की नारियां भी सामूहिक श्रम में सम्मिलित होती थी।[18] वे खेतों पर जाकर बुवाई, निराई और कटाई का कार्य करती थी।

कला व संगीत

स्त्रियों को नृत्य, संगीत, चित्रकला, गृहसज्जा आदि की शिक्षा भी दी जाती थी[19] और इनकी शिक्षा के लिए संस्थाएं थी जिनमें वे बालकों के साथ ही बिना किसी भेद के शिक्षा प्राप्त करती थी। मालविकाग्निमित्र में दो कला–निपुण युवतियों से भेंट किये जाने की भी चर्चा है। स्त्रियां संगीत में रुचि ही नहीं रखती थी वरन् पुरुषों के साथ प्रतियोगिता में भाग भी लेती थी। जैनग्रंथ हरिवंश पुराण में ऐसी प्रतियोगिता का वर्णन है, जिसमें कुमार वासुदेव ने खेटनगर के निवासी क्षत्रिय वंशी सुग्रीव नामक गायनाचार्य की दोनों ंपुत्रियों को संगीत शास्त्र में पराजित किया।[20]'' उसी समय कुमारगंधर्व ने संगीत कला में गंधर्वसेना के साथ प्रतियोगिता में भाग लिया था।'' विष्णुपुराण में बाणासुर के मंत्री कुष्माण्ड की कन्या का वर्णन है, जिसकी सखी चित्रलेखा एक उच्चकोटि की चित्रकार थी और उसने अभिज्ञानाथ चित्रपट पर देव–दानव, गन्धर्व और मनुष्य के चित्र बनाये थे।[21] नर्तकी, गायिकाओं, मंच अथवा नाटक के कार्यों में व्यस्त अभिनेत्रियां, स्त्री कलाकारों तथा ग्राम के समीप स्थित नियमित बाजारों में वस्तुओं का विक्रय करने वाली नारियों ने श्रम से समाज में अपना स्थान सुनिशचित किया था।[22] रघुवंश मे ंइन्दुमति की मृत्यु पर विलाप करते हुए ने उन्हें कलामर्मज्ञ बताया गया।[23]

प्रशासनिक क्षेत्र

स्त्रियों का राजनीति में रुचि रखने तथा शासन सूत्र पकड़ने की घटनायें अत्यंत प्राचीन है। गुप्तकाल में नारियां शासन कार्य मे ंसहयोग देती थी। चन्द्रगुप्तप्रथम के सिक्कों पर महादेवी कुमारदेवी के चित्र का अंकन इस बात का प्रतीक है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावतीगुप्ता ने अपने पति वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के निध ान पर अपने पुत्र प्रवरसेन द्वितीय को अल्पव्यस्कता के कारण संरक्षिका के रुप में राज्य किया था।[24] राजनीति का क्षेत्र स्त्रियों से अछूता नहीं था परन्तु राजतंत्रीय व्यवस्था में सामान्य वर्ग की स्त्रियों का इसमें प्रवेश का कोई अवसर नहीं था। केवल राजपरिवार की स्त्रियां ही इसमें ही भाग लेती थी। बाल्यावस्था से ही राजकुमारों के सदृश राजकुमारियों को राजनीति की पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। तभी वे शासन कार्यभार संभालने में समर्थता प्राप्त करती थी। 7वीं शदी में उत्तर भारत के दो स्त्री राज्यों का उल्लेख चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया है। जिसमें से एक पूर्व की ओर एवं दूसरा पश्चिम की ओर स्त्रियों का देश कहा जाता था। इन राज्यों में प्रत्येक की अपनी सरकार थी।[25]

पतंजलि ने शाक्सीकी और यास्टकी नाम की स्त्री सैनिकों का उल्लेख किया है। जिससे पता चलता है कि नारी इस क्षेत्र में भी अग्रसर थी। सैनिक व्यवसाय में स्त्रियां अंगरक्षक एवं द्वाररक्षक का कार्य जिम्मेदारीपूर्वक करती थी एवं युद्ध के दौरान प्रेरणा घोष का कार्य भी बड़ी निडरता एवं साहस के साथ करती थी।[26] पाणिनी से ज्ञात होता

है कि स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त थे। रानियां भारतीय राजतंत्र में पट्टमहादेवी या महिषी की वैधानिक उपाधि से सम्मानित हुआ करती थी। राजा के साथ उसकी रानी का भी सिंहासन पर महाभिषेक किया जाता था। महिषी को सम्मान रुप से धन भी मिलता था[27] रानियों को शासन प्रबन्ध में उचित स्थान एवं अधिकार प्राप्त था। राजनीति में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी।[28] पुत्र के अभाव में पुत्री राजकार्य संचालन करती थी। अतः यह कहना ही होगा कि नारियां अन्य क्षेत्रों के साथ–साथ राजनीति में भी हस्तक्षेप रखती थी।

गोपनीयता पूर्ण कार्यों में नारी अधिक विश्वसनीय थी। गुप्तचर कार्यों में तथा गोपनीय संदेशवाहक, अंगरक्षिका एवं द्वारपाल के कार्यों में महिलायें अत्यंत कुशल एवं दक्ष थी। स्त्री चाहे मां हो, बहिन हो, पत्नी हो, उन सब में गुप्त कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। वीरांगनाओं का गुप्ताचार्या से घनिष्ठ संबंध रहा है। प्राचीन भारत में ही नहीं अपितु सभी पूर्ववर्ती देशों में शांति, सुव्यवस्था तथा युद्धों में स्त्रियों की अहम भूमिका रही है।[29]

मानविकाग्निमित्रम् में महारानी की आज्ञा से दासियों को कैद करने तथा उनकी आज्ञा के बिना उन्हें मुक्ति नहीं करने का उल्लेख है।[30] व्हेनसांग के यात्रा विवरण से स्पष्ट है कि हूण सरदार मिहिरकुल की बंदी बनने पर गुप्त नरेश बालादित्य की माता उससे मिलने गई थी तथा उनकी आज्ञानुसार वह मुक्त भी कर दिया गया था।[31] निश्चिय ही गुप्त नरेश बालादित्य की माता प्रशासनिक नीतियों की ज्ञाता थी। मात्र शिक्षित ही नही ंकूटनीति को समझने वाली विदुषी नारी थी। गुप्तकाल में समकालीन कन्नड़ प्रदेश की स्त्रियां प्रान्तीय शासन और गांवों में कार्य करती थी। इसी प्रकार दक्षिणभारत मे ंस्त्रियां ग्रामीण एव ंप्रान्तीय शासिका होती थी।[32]

विविध कार्य

अयोध्या से गंगा तक सुरम्य शिविर और कूप आदि के निर्माण में विभिन्न प्रकार की श्रमिक नारियों का वर्णन है। श्रमिक नारियां उंची–नीची सजल भूमि का ज्ञान रखने वाले, भूमि खोदने तथा सुरंग आदि बनाने जल के प्रभाव रोकने वेतनभोगी, मार्ग रक्षिका आदि कार्यश्रमिक नारियां भी पुरुषों की तरह करती थी। युद्ध में वे प्रेरणा घोष करने का कार्य करती थी।[33] अफसढ़ शिलालेख से ज्ञात होता है कि आदित्य सेन की माता श्रीमतीदेवी ने धार्मिक महाविद्यालय का निर्माण करवाया था तथा उसकी पत्नी कोणदेवी ने जन के लिए तालाब खुदवाया था।[34] सांची प्रस्तरलेख में उपासक सनसिद्ध की पत्नी उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा अपने माता–पिता के लिए काकनादवोट (सांची) के पवित्र बिहार में सामुहित श्रद्वालुओं के संघ के प्रति 12 दिनारों का अक्षय नीवीं दान देने का वर्णन है। जिससे इन दीनारों से प्राप्त ब्याज द्वारा संघ में प्रविष्ट एक भिक्षु को प्रतिदिन भोजन दिया जाता था।[35]

शकुन्तला केवल तपोवन वासिनी मुनिकन्या ही नहीं। वह प्रेम एवं सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा बनकर उपस्थित होती है। तपस्वी जनोचित पवित्रता के साथ प्रणय की सरसता, संयम के साथ चपलता तथा नारी सुलभ लज्जा के साथ स्पष्टवादिता का समावेश स्पष्ट झलकता है। पति द्वारा प्रत्याख्यान किये जाने पर ऋषिमारीच के आश्रम में रहकर की गई शकुन्तला की एकान्त व्रत साधना तो उसके चरित्र को स्वर्ग की उच्चता प्रदान करती है।[36] महिलायें समान्यतः इत्र फुलेल तैयार करने, फूलगूथने, फूलों के जेवर बनाने, माला आदि बनाने का श्रम भी करती थीं। आभूषण, उद्योग, मिट्टी से बर्तन आदि बनाने का उद्योग मे ंभीस्त्रियां सलंग्न और सहायक थी। जातक कथाओं में प्राप्त 26 श्रेणियों की सूची में से अधिकांश में स्त्रियों की प्रमुख या सहायक भूमिका थी।[37]

महिलायें घर पर ही सूत कातने का कार्य करती थी। वस्त्र उद्योग में कार्यरत महिलाओं को तुरंत भुगतान की व्यवस्था थी।[38] वस्त्र उद्योग से संबधित अन्य व्यवसायों में भी स्त्रियां कार्यरत थी। उदाहरणार्थ कपास की बनाई, वस्त्रों की रंगाई, धुलाई और सिलाई आदि। विधवा अंगहीन स्त्रियां, कन्यायें, संन्यासिनी, राजदंड चुकाने में असमर्थ स्त्रियां, वृद्ध वेश्याएं, वृद्ध राजदासियां तथा मंदिरों में न जाने वाली देवदासियां, बल्कल, कपास, तुल, सन् और क्षौम काटती थी।[39] स्त्रियां सब्जियां पैदा करती थी। कामसूत्र के अनुसार स्त्रियां पौधों के बीज संग्रह करने, उन्हे ंकलात्मक ढंग से बोने तथा उनके सिंचाई सम्बर्धन की व्यवस्था भी करती थी।

गुप्तकाल में स्त्रियां पशुपालन का कार्य करती थी एवं उनकी उचित देखभाल करती थी।[40] नारी पशुपालन एवं कृषि से प्राचीन युग से निकट से जुड़ी है। वह वार्त्ता (गोचर भुमि) करोड़ो गायों और अन्य मवेशियों की जीवन रक्षा भी करती थी। कृषि की दृष्टि से इन चारगाहों का महत्व भी था क्योंकि कृषि के अन्य सहायक जैसे बैल, सांड[41], खच्चर[42], ऊंट[43] आदि भारवाही को इन चारगाहों से चारा मिलता था नारद ने भी गोचर भूमि का उल्लेख किया है जहां पर स्त्री, पुरुष चारवाहों की देख–रेख में गांव के मवेशी चरा करते थे।[44] वे बाग–बगीचे लगवाती और उनकी सज्जा करती थी नगर के अंदर और बाहर अनेक उद्यान थे जो पुष्पों वाले अनेक वृक्षों से सुशोभित थे। उत्सव आदि अवसरों पर भारी संख्या में पुरुष एवं नारियां यहां एकत्रित होते थे। नगर के पास उद्यान होने के कारण ये क्रीड़ास्थल भी थे।[45]

इस प्रकार गुप्तकाल में नारी के विविद पक्षों का चित्रण हुआ है। नारी जो कि परिवार की धुरी होती है। समाज के सभी कार्यों में पुरुष की सहभागिनी होती थी। उपयुक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में ऐसी स्त्रियों की संख्या कम नहीं थी, जो स्वतंत्र रुप से अपने जीवन को परिवार तथा समाज के लिए स्वयं को तैयार करती थी। स्त्रियों का बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था जो कि कृषिक्षेत्र का कार्य, धार्मिक गतिविधियां, आभूषण, उद्योग, मिट्टी से बर्तन आदि कार्यों में पुरुषों के साथ मिलकर सम्पन्न करती थी। गुप्तकाल की एक महत्वपूर्ण विशेषता स्त्रियों के प्रति एक दृष्टिकोण की थी। उस समय एक ऐसा वाताावरण देखने को हमें मिलता है जिससे वह बिना किसी भय के अपने कार्य को कर सकती थी। कला, शिक्षा, प्रशासन आदि के संबंध में अधिकार सिर्फ समाज के उच्चतर स्तर तक सीमित नहीं थे बल्कि निचले वर्ग की महिलाओं को समाज में समान रुप से प्राप्त थे।

संदर्भ–

1. श्रीमती अन्विता आनंद, गुप्तकाल में नारियों की स्थिति, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ0 23।
2. वात्सायन का कामसूत्र 1.3.32 ।
3. वही1.3.16 ।
4. पूना ताम्रपत्र अभिलेख जिल्द–3 श्लोक–12 ।
5. वात्सायन का कामसूत्र 1/1/16 ।
6. वृहतकल्पसूत्रभाष्य 4–40, 72–73 ।
7. अभिज्ञानशकुन्तलम, तृतीय अंक पृ0 24 ।
8. विन्सेंट, अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, पृ0 215–216 ।
9. डी0 सी0 सरकार, गुप्तकालीन मुद्रायें, राजारानी प्रकार, पृ0 22 ।
10. एल0 वी0 सोहोनी, ''चन्द्रगुप्तप्रथमकुमारदेवीटाइप'' जनरल आफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया, वाल्यूम 5, पृ0 37 ।
11. जे0 एलन कैट लोग आफ दी क्वाइन्स आफ दी गुप्ता सडायनेस्टीज (ब्रिटिश म्यूजिम) लंदन, 1994, पृ0 119 ।
12. लेग्मे फाहियान पृ0 72 (रिकार्ड आफ दी बुद्धिस्टि ककिंग्डम्स, आक्सफोर्ड..) ।
13. भगवतशरण उपाध्याय, ''कालिदास और युग'' पृ0 157,पृ0 51 ।
14. कुमारसंभव 7/17 ।
15. रघुवंश 4/20 ।
16. निशीध चूर्णी जैन ग्रन्थ पीठीका 12 ।
17. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम,अंक 4, पृ0 12 ।
18. बृहस्पतिस्मृति 13. 27 ।
19. वही 1.3.16 ।

20. हरिवंशपुराण 19.53–57 ।
21. वही 10. 162–267, विष्णुपुराण 5.32.22 ।
22. भगवतशरण उपाध्याय ''इण्डिया इन कालिदास'' पृ0 164 ।
23. रघुवंश 7.68 ।
24. डा0 ए0 एस0 अल्तेकर,पोजीशन आफ वूमेन इन सिविलाइजेश्न पृ0 187 ।
25. वाटर्स 1 पृ0 230 ।
26. भगवतशरण उपाध्याय ''इण्डिया इन कालिदास'' पृ0 164 ।
27. अष्टावक्र 4.4.47 ।
28. डा0 भारती, आर्य–स्मृतियों में नारी, पृ0 20 ।
29. जयशंकर मिश्र, प्रा0 भा0 का सा0 इतिहास पृ0 421 ।
30. मालविकाग्निमित्रम,अंक 4, पृ0 316 ।
31. वाटरव्हेनसांग, भाग 1, पृ0 288 ।
32. सुधीश्वर द्विवेदी, भारतीय संस्कृति के पांच अध्याय 1164, पृ0 72 ।
33. भगवतशरण उपाध्याय, ''इण्डिया इन कालिदास'' पृ0 164 ।
34. का0 ई0 ई0,जिल्द 3, पृ0 204 ।
35. भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, संख्या 62, 37 ख सांची प्रस्तरअभिलेख 321,36 ।
36. डा0 शास्त्री, हरिदत्तसंस्कृतकात्सकार पृ0 114 ।
37. हरिवंशपुराण 19.53–57 ।
38. डा0 अच्युतानंद विंग्याल, ''प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक'', पृ0 – 45 ।
39. डा0 रामजी उपाध्याय प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पृ0 731 ।
40. वात्सायन का कामसूत्र 4.1.33 और 4.1. 67 निर्णय सागर , प्रेस, बम्बई 1100 (जयमगलाटीकासहित, सं0 देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी 1164) ।
41. डा0 ओमप्रकाश, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ0 421 ।
42. कालिदास ''रघुवंश'' 4.22 (सं0 एस0 पी0 पंडित), तीन भाग बम्बई, संस्कृतसीरीज, 1769–84।
43. कालिदास ''रघुवंश'' 5.32 ।
44. नारदस्मृति 11.40 (सं0 व0 अनु0 जे0 जाली) सेक्रेड बुक्स आफ दी सीरीज वाल्यूम 53 ।, आक्सफोर्ड, 1779 ।
45. निशीथ चूर्णी, जैनग्रन्थ 7,2 ।

(शोध छात्रा)
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

●●●

नहुष की कोट का पुरातात्त्विक अध्ययन

सुशील राय

मध्य गंगा घाटी की भौगोलिक विशेषताओं से परिपूर्ण तथा पवित्र घाघरा एवं तमसा द्वारा संवृत मऊ जनपद 83017′–8404′ पूर्वी देशान्तर और 24047′–26017′ उत्तरी अक्षांश के मध्य स्थित पूर्वी उत्तर प्रदेश का महत्त्वपूर्ण अंग है। एक जनपदीय इकाई के रूप में इसका सृजन 14, नवम्बर 1988 ईस्वी में हुआ, जो चार तहसीलों एवं नौ विकासखण्डों में प्रविभाजित है। घोसी विकासखण्ड में स्थित 'नहुष की कोट' नामक पुरास्थल गाजीपुर से गोरखपुर जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 29 पर विद्यमान घोसी बाजार से पश्चिम 83032′ पूर्वी देशान्तर तथा 2608′ उत्तरी अक्षांश के मध्य अवस्थित है। यहाँ न सिर्फ सड़क अपितु रेल मार्ग द्वारा भी पहुँचना सुविधाजनक है। मऊ होकर गोरखपुर जाने वाले या गोरखपुर से मऊ को आने वाले उत्तर प्रदेश परिवहन निगम के बस तथा अन्य निजी क्षेत्र के वाहनों द्वारा पुरास्थल पर आसानी से पहुँचा जा सकता है। रेलमार्ग से पहुँचने के लिये मऊ या इन्दारा जंक्शन से उतरकर उपर्युक्त सड़क साधन ही उपयुव्य है।

इस स्थल को पुरातात्त्विक पटल पर लाने का श्रेय ए0 फ्यूहरर को है। उन्होंने अपने प्रतिवेदन 'दी मान्यूमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन द नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध' 1891 ईस्वी में 12वीं सदी का एक अभिलेख प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् राहुल सांकृत्यायन ने इसके पुरातात्त्विक महत्त्व के बारे में लोगों को अवगत कराया। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 1968–69 ई0 में जे0एस0 नेगी के निर्देशन में वी0डी0 मिश्रा, एम0सी0 दीक्षित, एम0एन0 राय एवं एस0एन0 प्रसाद का सामूहिक सर्वेक्षण था। इन पुराविदों ने यहाँ से ताम्रपाषाणकाल से लेकर कुषाणकाल तक की मृद्भाण्ड परम्पराओं, मानव एवं पशु मृण्मूर्तियों के साथ–साथ चर्ट का फलक तथा पुरास्थल के दुर्गीकृत होने का प्रतिवेदन किया था। देवी प्रसाद सिंह एवं जितेन्द्र कुमार सिंह ने भी ताम्रपाषाण काल से लेकर कुषाणयुग तक के पात्र परम्पराओं की पुष्टि की है। प्रसून कुमार राय ने सर्वेक्षणोरपरान्त यहाँ से मानव एवं पशु मृण्मूर्तियाँ, प्रस्तर निर्मित लोढ़े, थाप, छावाँ, मिट्टी के गेंद, मनके, छिड़कदानी, टोंटीदार पात्र एवं लौहमल के साक्ष्य प्राप्त होने की सूचना प्रकाशित की है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो0 सीताराम दुबे ने सरयूपार क्षेत्र में इसके महत्त्व की रूपरेखा निर्धारित करते हुये यहाँ की अधिवास संरचना को उजागर करने का प्रयत्न किया है। इसी विश्वविद्यालय के डॉ0 सचिन कुमार तिवारी ने पुरास्थल से अकस्मात् प्राप्त 39 मृण्मूर्तियों का विस्तृत विवेचन करते हुए बताया है कि 'घोसी से प्राप्त मृण्मूर्तियों में मौर्यकालीन एवं शुंगकालीन कला का प्रभाव है। इतनी अधिक संख्या में मृण्मूर्तियों का पाया जाना घोसी को एक वृहद एवं समृद्ध सांस्कृतिक नगरी के रूप में दर्शाता है। प्राप्त मृण्मूर्तियों में अधिकांश मृण्मूर्तियाँ यूनानी देवी ॲर्दोक्षो से मेल खाती हुई प्रतीत होती है। ॲर्दोक्षो सम्भवतः यूनानी देवी है, जो भारतीय देवी लक्ष्मी के समान ही धन सम्पूर्णता एवं वैभव की देवी है। ॲर्दोक्षो को कुषाणकालीन शासकों द्वारा यूनानी एवं रोमन कला से लिया गया है, जिसका अंकन लगभग सभी कुषाणयुगीन शासकों द्वारा जारी किये गये सिक्कों के पृष्ठभाग पर मिलता है। डॉ0 तिवारी का मत है कि घोसी से प्राप्त 80 फीसदी मृण्मूर्तियाँ देवी ॲर्दोक्षो के समीचीन प्रतीत होती है क्योंकि प्राप्त खण्डित मूर्ति के संयोजन से जो आकृति बनती है, वह प्रलम्ब पाद मुद्रा में अर्थात् स्टूल/कुर्सी/सिंहासन पर सीधी बैठी एक महिला जिनका दोनों हाथ घुटनों के ऊपर टीका है एवं दोनों हाथ की हथेलियाँ किसी प्रकार की खण्डित वस्तु को धारण किये हुये है जो कॉर्नकोपियाँ अथवा पाश एवं पत्ती की डाली अथवा धन से भरा हुआ पात्र हो सकता है। भारतीय देवी लक्ष्मी, ॲर्दोक्षो का ही भारतीयकरण है क्योंकि

कुषाणकालीन सिक्कों पर अंकित ॲर्दोक्षो गुप्तकालीन सिक्कों पर अंकित लक्ष्मी है।

पौराणिक सन्दर्भ एवं जनश्रुति

पुराणों में उल्लिखित परम्परागत विश्वास के अनुसार आर्यावर्त जिसके अन्तर्गत मऊ का भू–भाग भी था, मनु पुत्री इला और मनु पुत्र इक्ष्वाकु के वंशजों द्वारा शासित होता था। इला के वंशज चन्द्रवंशी और इक्ष्वाकु के वंशज सूर्यवंशी कहे जाते हैं। चन्द्रवंशियों की राजधानी प्रतिष्ठान और सूर्यवंशियों की राजधानी पहले हस्तिनापुर और बाद में अयोध्या हो गई। चन्द्रवंशियों के सम्बन्ध में पारम्परीय अनुश्रुति है कि इला के पुत्र पुरुरवा ने अपनी राजधानी प्रतिष्ठान बनाई। पुरुरवा के पौत्र नहुष के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने असुरों को पराजित किया था। वे ऋषियों एवं ब्राह्मणों के भक्त थे और उनके यज्ञों के कारण इन्द्र भी उनसे भयभीत रहते थे। एक बार वृत्तासुर को मारने से इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप लगा था। अतः उन्हें एक हजार साल तक कमलनाथ में छिपकर रहना पड़ा। उस समय इन्द्र की अनुपस्थिति में वृहस्पति ने नहुष को कुछ दिनों के लिये इन्द्रपद दिया था। नहुष राजमद में चूर हो इन्द्राणी को अपनी पत्नी बनाना चाहते थे। इससे पिण्ड छुड़ाने के लिये इन्द्राणी ने उन्हें सप्तर्षियों के कन्धे पर पालकी में बैठकर बुलाया। उन्होंने ऐसा ही किया। शीघ्र पहुँचने की व्याकुलता में ऋषियों से 'सर्प, सर्प' अर्थात जल्दी चलो कहकर दवाब बनाना शुरू किया। इससे क्रोधित अगस्त्य ऋषि के श्राप से वह सर्प ही हो गये तथा इन्द्रपद भी समाप्त हो गया। मऊ में अनुश्रुति प्रचलित है कि सर्प होकर राजा नहुष घोसी की कोट में रहा करते थे। संभव है नहुष ने इस भू–भाग के मूल–निवासियों (असुरों) को पराजित कर अपना साम्राज्य विस्तार किया हो और बाद में अपने अत्याचारों के कारण अपने ही वर्ग के लोगों का कोपभाजन बनकर यहाँ आकर शरण ली हो।

वर्तमान सर्वेक्षण

मऊ जनपद के पार्श्ववर्ती जिलों एवं स्वयं मऊ के अनेक क्षेत्रों से नवाश्मयुग से पूर्व–मध्ययुग तक की अनेक संस्कृतियाँ छोटी सरयू (तमसा) एवं झीलों के किनारे उद्घाटित हुई हैं। 'नहुष का कोट' की छोटी सरयू नदी क्षेत्र से समीपता अनेक पौराणिक सन्दर्भों तथा टीले की स्थिति एवं विस्तार से इसकी महत्ता स्वयमेव बढ़ जाती है। इस सन्दर्भ में उपर्युक्त संस्कृतियों के ससमान अवशेषों की प्रायिकता ने मुझे सर्वेक्षण के लिये प्रेरित किया जिसका विवरण निम्न है–

यह पुरास्थल घोसी बाजार से लेकर कस्बा खास गाँव तक विस्तृत है, जिसकी पूर्व–पश्चिम लम्बाई 1 किमी तथा उत्तर–दक्षिण चौड़ाई 1 किमी के करीब है। पुरातात्त्विक महत्त्व का यह स्थल दोहरीघाट के पकड़ी पेवा ताल से निर्गत नकटी नालें के बायें तट पर अवस्थित है, जिसका मध्यवर्ती 10 एकड़ क्षेत्रफल 14 मीटर ऊँचा है जबकि अन्य हिस्से 3–4 मीटर ऊँचे हैं। (फलक सं0 1) मध्यवर्ती ऊँचा भाग ही 'राजा नहुष की कोट' के नाम से जनमानस में चलनसार है। यह ऊँचा भाग तीन तरफ से मिट्टी की विशाल दीवाल से दुर्गीकृत है, चौथी तरफ (पूर्व दिशा में) डाक बंगला का निर्माण है। इसलिये इस दिशा के दुर्गीकरण की रूपरेखा देना संभव नहीं है। दुर्गीकृत दीवाल की 14 मीटर ऊँचाई एवं 4 मीटर चौड़ाई आज भी दृश्यमान है। टीले के किनारे गहरी खाई है, जिसमें संभवतः पानी भरा रहता रहा होगा ताकि टीले की सुरक्षा हो सके। इसके तीनों दिशाओं (उत्तर, दक्षिण एवं पश्चिम) के बिल्कुल मध्य हिस्से में प्रवेश द्वार के प्रमाण उपलब्ध है। संभव है पूर्व दिशा में भी प्रवेश द्वार रहा हो जो अधुनातन मानव गतिविधियों से अब विनष्ट हो चुका है। दुर्गीकृत टीले के मध्य भाग में ईंट अवशेषों के ढ़ेर वहाँ किसी आवास या प्रशासनिक संरचना के वास्तु–योजना का आभास कराते हैं।

सर्वेक्षण क्रम में यहाँ से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृदभाण्ड, कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड, गेरु रंग के मृद्भाण्ड तथा लाल मृद्भाण्डों के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। जिनके रेखाचित्रों द्वारा निम्नांकित प्रकार के पात्र उभरकर सामने आते हैं–

1. अन्तर्मुखी ग्रीवा से युक्त 19.3 सेमी व्यास का लोहित वर्णी घड़ा।
2. तीक्ष्ण बहिर्मुखी अवठ तथा अल्प अन्तर्मुखी ग्रीवा से युक्त 14.4 सेमी व्यास का लोहित घड़ा।
3. बहिर्मुखी चौरस अवठ जो अल्प ही सही बाहर की ओर ढ़लान लिये हुये हैं। इसकी ग्रीवा अन्तर्मुखी, व्यास 17.

2 सेमी एवं पात्र का रंग लाल है।

4. अन्दर की ओर मुड़ी विशेषतारहित अवठ वाली 23.4 सेमी व्यास से युक्त उत्तरी कृष्ण मार्जित पात्र परम्परा की थाली।
5. उक्त क्रम के पात्र परम्परा की लम्बवत पार्श्व वाली थाली जिसका व्यास 26 सेमी है।
6. गोलाकार बहिर्मुखी अवठ से परिपूर्ण 26.3 सेमी व्यास का लोहित वर्णी घड़ा।

इसके अतिरिक्त मिट्टी की गेंद, थाप एवं मृण्मय मनकों की प्राप्ति उल्लेखनीय है। (फलक सं0 2) कुषाण–गुप्त और लखौरी ईंट सम्पूर्ण टीले तथा आस–पास के क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ की सबसे विशिष्ट उपलब्धि बेसाल्ट की बनी हुई पॉलिशदार कुल्हाड़ी है, जिसकी धार आज भी अत्यन्त तीक्ष्ण है। यह किनारे से हल्की टूटी हुई है। (फलक सं0 3) मध्य गंगा घाटी के मऊ, बलिया, आजमगढ़ तथा गाजीपुर जैसे समीपवर्ती क्षेत्रों के पुरास्थलों से अभी तक इस तरह की कुल्हाड़ी प्राप्त नहीं है। निश्चय ही यह अध्ययन क्षेत्र के पुरातत्त्व की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि ा है। इस कुल्हाड़ी की समानता सेनुवार तथा नरहन से मिलने वाले बेसाल्ट की कुल्हाड़ियों से स्थापित होती है। परन्तु सेनुवार में यह नवाश्मयुगीन चरण का प्रतिनिधित्त्व करती है तो नरहन में ताम्राश्म; चूँकि सर्वेक्षित क्षेत्र में पूर्व के सर्वेक्षणों से ताम्राश्मयुगीन मृद्भाण्ड अवशेष प्राप्त हो चुके हैं।

अतः नरहन संस्कृति के ससमान प्राप्त यहाँ की कुल्हाड़ी और यहीं के पूर्व प्रतिवेदित कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड़ों के आलोक में इसे ताम्राश्मयुगीन कहना न्यायोचित है। संभव है अभिनव प्रस्तर युगीन कृषि एवं पशुपालक समाज की पृष्ठभूमि पर ताम्राश्मयुगीन ग्रामीण संस्कृति विकसित हुई तदनन्तर निरन्तर उन्नति करते हुये ऐतिहासिक युग विशेषकर मौर्य, शुंग, कुषाण एवं गुप्तकाल में अपने विकास के चरमोंत्कर्ष पर पहुँची हो।

प्रस्तुत सर्वेक्षण से एक कुषाणयुगीन साँचे से निर्मित स्त्री के सौम्य रूप का दिग्दर्शन कराती मृण्मूर्ति प्राप्त हुई है (फलक सं0 4) जिसके पतले ओठ, कोमल मुखाकृति एवं लम्बे कान इसकी सुन्दरता को द्विगुणित कर देते हैं। इसके सँवारे हुये केश अत्यन्त आकर्षक दिखाई दे रहे हैं, जिसको ऊपर उठाकर जुड़े के रूप में बनाया गया है। यह मृण्मूर्ति चूलदार है जिसके धड़ के भाग को अलग से बनाकर गर्दन के नीचे हिस्से में बने चूल से जोड़ा जाता था। ऐसी मृण्मूर्तियाँ मध्यगंगा घाटी के अनेक पुरास्थलों से प्रतिवेदित हो चुकी हैं जिनमें पक्काकोट, खैराडीह, नरहन, राजघाट जैसे पुरास्थल प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त मऊ जनपद के ही गढ़वा की कोट नामक पुरास्थल से लगभग डेढ़ दर्जन ऐसी ही मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

दुर्गीकृत टीले के दक्षिणी दीवाल के किनारे दक्षिण–पूर्व दिशा में लखौरी ईटों के परकोटे से घिरा एक शिव मन्दिर स्थित है। मन्दिर के गर्भगृह में बेसाल्ट पत्थर के बने चार पालयुगीन शिवलिंग एवं एक मानव शीर्ष स्थापित है। (फलक सं0 4 एवं 5) दो शिवलिंग बड़े जबकि शेष दो अपेक्षाकृत छोटे हैं। इनमें से एक बड़े तथा दो छोटे शिवलिंग प्रस्तर पट्टिका से घिरे चौकोर घेरे में स्थापित है। बड़े शिवलिंग की लम्बाई 35 सेमी0 एवं भोगपीठ (बीच के हिस्से) की मोटाई 20 सेमी है जो 60 सेमी0 की गोलाई वाली अर्घा में स्थापित है। 9 सेमी0 लम्बाई तथा 6 सेमी0 मोटाई से युक्त 27 सेमी0 के अर्घे में स्थापित दोनों छोटे शिवलिंग बड़े के प्रतिरूप है। चौथा शिवलिंग बनावट में अलग प्रकार का है। इसके निचले हिस्से को फणयुक्त सर्प लपेटकर आगे की ओर मुख किये लेटे हुये हैं। अर्घे के मुख भाग पर भी एक सर्प का निरूपण किया गया है, जिसमें सर्प का मुख शिवलिंग की तरफ तथा पूंछ अर्घे के नाली की ओर प्रदर्शित है।

यहाँ स्थापित काले रंग का मानव शीर्ष 35 सेमी लम्बा है। इसके केश पट्टिका को मस्तक के ऊपर चौकोर पट्टी के रूप में उकेर कर बनाया गया है। केश विन्यास को प्रदर्शित करने के लिये चारों तरफ से उकेर कर गहरी लाइनें बनाई गई हैं, जिन्हें संयुक्त रूप से एक जगह समेटकर जूड़े के रूप में निरूपित किया गया है जो दूर से देखने पर शंखाकृति का आभास कराते हैं। पट्टीनुमा धनुषाकृति रूप में गहरी उकेर कर बनाई गई भौंहे, अर्द्धोन्मीलित नेत्र, मंदस्मित मुस्कान एवं सौम्य भाव इसके मुखमण्डल की कान्ति को अत्यन्त सुन्दरता प्रदान करते हैं।

पुरास्थल के उपर्युक्त विशेषताओं से यह विदित होता है कि संस्कृति के सृजन अथवा विकास के प्रथम चरण में यह ताम्राश्मयुगीन मानव की क्रीड़ास्थली थी। इस युग की पुष्टि यहाँ से प्राप्त नरहन की ताम्रपाषाणिक विशेषताओं से परिपूर्ण कुल्हाड़ी के मिलने से होती है। इसके अतिरिक्त कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड पूर्व में नहुष की कोट से प्रतिवेदित है जो नरहन संस्कृति की विशेषताओं से ही परिलक्षित है। गोरखपुर जनपद में घाघरा नदी के किनारे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो0 पुरुषोत्तम सिंह ने नरहन संस्कृति की खोज की थी। वहाँ से चित्रित एवं अचित्रित कृष्ण लोहित मृदभाण्ड परम्परा के पात्र मिले। नहुष की कोट से प्राप्त कृष्ण लोहित मृदभाण्ड नरहन, खैराड़ीह, अगियाबीर, मसोन आदि के प्रथम काल तथा चेजर–कुतुबपुर, मनेर, इमलीडीह खुर्द, सोहगौरा, पक्काकोट, लहुरादेवा, मांझी आदि मध्य–गंगा घाटी के पुरास्थलों के द्वितीय काल के समान है। विभा त्रिपाठी ने मध्य–गंगा घाटी के काले एवं लाल मृदभाण्ड की समयावधि 1200 ईसा पूर्व माना है जबकि मक्खन लाल एवं पुरुषोत्तम सिंह ने 1300 ईसा पूर्व स्वीकार किया। इस प्रकार अभिनव प्रस्तर युग के पश्चात् ताम्रप्रस्तर युगीन संस्कृति के बीजारोपण एवं संवर्द्धन का काल 1300 ईसा पूर्व स्पष्ट होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस पुरास्थल से 3 किमी0 उत्तर इसी नाले के बायें किनारे स्थित हाजीपुर नामक पुरास्थल से ताम्रश्मयुगीन कृष्णलोहित मृद्भाण्डों के चित्रित एवं अचित्रित खण्ड बहुतायत में बिखरे हुए मिले हैं। इतने पास–पास दो बड़े ताम्रश्मयुगीन पुरास्थलों का एक ही जलस्रोत के किनारे होना सुखद आश्चर्य है। अतः नहुष की व्यापक समृद्धि में हाजीपुर की महत्वपूर्ण भूमिका जान पडती है। यही सम्भावना हाजीपुर के उद्भव एवं विकास में नहुष की कोट के योगदान के सन्दर्भ में भी व्यक्त की जा सकती है। कोट नहुष की कोट पर विकास का दूसरा चरण उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड परम्परा के निर्माण एवं उपयोग से प्रारम्भ होता है। इस तरह के पात्र वैशाली, चेजर–कुतुबपुर, मनेर, नरहन, इमलीड़ीह खुर्द, पक्काकोट एवं अगियाबीर के तीसरे काल, श्रावस्ती के प्रथम काल एवं लहुरादेवा के चतुर्थ काल के समान है। नहुष की कोट (मऊ) के समीपवर्ती जनपदों एवं उन जनपदों के संलग्न क्षेत्रों से मिलने वाले उत्तरी कृष्ण मृद्भाण्डीय चरण की तिथि 7000–600 ईसा पूर्व से लेकर 200 ईसा पूर्व तक रखी जा सकती है।

उत्तरी कृष्ण मार्जित पात्र परम्परा की संलग्न पात्र–परम्परायें कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड, गेरु मृदभाण्ड तथा लाल मृदभाण्ड भी प्राप्त हुये हैं जो अनेक परिवर्तनों के साथ कुषाण–गुप्तकाल तक बने रहें। आगे चलकर पूर्व–मध्यकाल में लाल एवं मध्यकाल में लाल तथा ग्लेज्ड मृद्भाण्ड ही सर्वप्रमुख पात्र परम्परा रह गई।

अतः नहुष की कोट नामक पुरास्थल पर ताम्राश्मकाल से मध्यकाल तक मानव की गतिविधियों की अविच्छिन्न परम्परा रही है। पुरास्थल की सम्पन्नता का सबसे प्रभावशाली कारण इसका अनवरत प्रवाहमान पौराणिक नदी तमसा के समीप तथा पकड़ी पेवा ताल से प्रस्फुटित नकटी नालें के तट पर स्थित होना है। इनसे उत्पन्न अनुकूल भौगोलिक दशाओं ने तत्कालीन मानव को सहज अपनी ओर आकर्षित किया होगा। इसके अतिरिक्त पुरास्थल के चारों दिशाओं में बिजपुरा, नदवा सराय, भोपौरा, पकड़ी पिउवा, इटौरा चौबेपुर, सरायसादी, देवकली देवलास, रसूलपुर जगदेव, गोपालपुर, माछिल जमीन माछिल, जिगिना–मदिना, जामडीह, बरईपार (खंझरवॉ), धरौली (लठिया), बेला सुल्तानपुर, खुनशेखपुर, हरदासपुर, कल्याणपुर, टड़ियाँव, हाजीपुर, अमिला, सहरोज एवं गोठा आदि पुरास्थल स्थित है। इनमें से देवलास का पौराणिक सन्दर्भ प्राप्त होता है जबकि गोठा से बुद्ध मूर्ति एवं हाजीपुर से ताम्रश्मयुगीन मृद्भाण्ड परम्परायें प्राप्त हुई है। निश्चय ही इन पुरास्थलों का नहुष की कोट से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा होगा जिससे इसकी सम्पन्नता में वृद्धि हुई होगी एवं यह कुषाण और गुप्तकाल में मध्य–गंगा घाटी का प्रमुख नगर बन गया।

नहुष की कोट पुरास्थल का विहंगम दृश्य

नहुष की कोट से प्राप्त शिवलिंग

नहुष की कोट से प्राप्त स्त्री मृण्मूर्ति

नहुष की कोट से प्राप्त मानव मुखाकृति

संदर्भ सूची :–

1. फ्यूहरर, एलियस एण्टन, दी मॉन्यूमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन द नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण रिपोर्ट, जिल्द 11, इलाहाबाद, 1891, पृ0 188।
2. त्रिपाठी, विनोद, आजमगढ़ जनपद का पुरातत्त्व, विमा प्रिन्टर्स एण्ड पैकेजेस प्रा0 लि0, हरदोई, 2004, पृ0 4।
3. इण्डियन आर्कियोलॉजी– 1968–69 ए रिव्यू, पृ0 35 ।
4. त्रिपाठी, विनोद, पूर्वोक्त ।
5. राय, प्रसून कुमार, छोटी सरयू नदी क्षेत्र का पुरातात्त्विक अध्ययन, अप्रकाशित शोध–प्रबन्ध, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2011, पृ0 133 ।
6. दुबे, सीताराम, घोसी का टीला–ए प्रोटोहिस्टोरिक सेटलमेंट ऑफ सरयूपार प्लेन : एन ऑर्कियोलॉजिकल इन्वेस्टीगेशन, ज्ञान–प्रवाह रिसर्च जर्नल, न0 15, वाराणसी, पृ0 142–148 ।
7. राय, उत्कर्ष, अजीत कुमार एवं सचिन कुमार तिवारी, घोसी : कुषाणकालीन मृण्मूर्तियों का देवी ऑर्दोक्षी से तादात्म्य, पुरामंथन, न0 09, 2018, पृ0 176।

8. वही ।
9. भागवत पुराण 9.17.1, 18.1–2, 6.13.16, 10.73.20 ।
10. सिंह, बी0पी0, अर्ली फार्मिंग कम्युनिटीज ऑफ द कैमूर, एक्सकेवेशन ऐट सेनुवार, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 2004, पृ0 605 ।
11. सिंह, पुरुषोत्तम, एक्सकेवेशन्स ऐट नरहन, 1984–89, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 18 तथा फलक सं0 XXIX (A) ।
12. इण्डियन आर्कियोलॉजी, 1968–69, ए रिव्यू, पृ0 35 ।
13. सिंह, पुरुषोत्तम, एक्सकेवेशन्स ऐट नरहन, 1984–89, वाराणसी, 1994, पृ0 32 ।
14. वहीं ।
15. सिंह, बी0पी0 एवं दीपक कुमार राय, एक्सकेवेशन्स ऐट खैराडीह, 1980–84, 85–86, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2014, पृ0 04–05 ।
16. सिंह, अशोक कुमार एवं रविशंकर, एक्सवेशन्स ऐट अगियाबीर डिस्ट्रिक्ट मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, 2015–16, भारती, नं0 40, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2014, पृ0 04–05 ।
17. इण्डियन आर्कियोलॉजी, 1964–65, ए रिव्यू, पृ0 42 ।
18. वही, 1977–78, ए रिव्यू, पृ0 18 ।
19. वही, 1984–85, ए रिव्यू, पृ0 11 ।
20. वर्मा, राधाकान्त, पुरातत्त्व अनुशीलन, भाग–2, इलाबाहाद, 2003, पृ0 91 ।
21. इण्डियन आर्कियोलॉजी, 1974–75, ए रिव्यू, पृ0 47 ।
22. दुबे, सीताराम, अशोक कुमार सिंह एवं गौतम कुमार लामा, पूर्वोक्त, पृ0 53 ।
23. तिवारी, राकेश, लहुरादेवा में प्राचीन कृषि व्यवस्था, पुराप्रवाह जर्नल, नई दिल्ली, पृ0 23 ।
24. इण्डियन आर्कियोलॉजी, 1983–84, ए रिव्यू, पृ0 13 ।
25. वही, 1977–78, ए रिव्यू, पृ0 18 ।
26. वही, 1984–85, ए रिव्यू, पृ0 11 ।
27. भट्टाचार्य, डी0के0, भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा, पलका प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ0 195 ।
28. वर्मा, राधाकान्त, पूर्वोक्त ।
29. दुबे, सीताराम, अशोक कुमार सिंह एवं गौतम कुमार लामा, पूर्वोक्त ।
30. सिंह, अशोक कुमार एवं रविशंकर, पूर्वोक्त ।
31. सिन्हा, के0के0, एक्सकेवेशन ऐट श्रावस्ती, वाराणसी, 1967, पृ0 11 ।
32. तिवारी, राकेश, पूर्वोक्त ।

शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

●●●

गजकिला रतनपुर में उत्कीर्णित नायिकाएँ

सुमन साहू

छत्तीसगढ़ (दक्षिण कोसल) प्रारंभिक काल से ही आदि मानवों की शरणस्थली रहा है। छत्तीसगढ़ भारत के हृदय स्थल में स्थित है। यद्यपि यह अरण्याच्छादित है तथापि पुरातत्त्व एवं पर्यटन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण राज्य है। छत्तीसगढ का प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ के शासकों की धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप सभी धर्मों एवं तत्जनित कलाओं के विकास का समान रूप से अवसर प्राप्त हुआ है, जिसके प्रमाण यहाँ के प्रमुख कला केंद्रो यथा– ताला, खरौद, सिरपुर, राजिम, शिवरीनारायण, मल्हार, रतनपुर, जाँजगीर, पाली, अडभार, भोरमदेव, बारसुर, गण्डई, डीपाडीह, भोंगापाल आदि में आज भी देखे जा सकते हैं, जो स्थापत्य कला और प्रतिमा विज्ञान के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतीय साहित्य एवं शिल्प में नारी को विविध रूपों में व्यक्त करने का प्रयास सिन्धुघाटी काल से ही मिलने लगता है। प्रारंभिक रूप में नारी को शालभंजिका के रूप में अंकित किया गया है, जिसके दर्शन हमें अजंता की गुफाओं, भरहुत एवं सांची के तोरण द्वारों तथा वेदिका में होते है। साहित्य में नायिकाओं को शालभंजिका, दोहद, कन्दुकक्रीड़ा, पक्षीक्रीड़ा, निशाभिसारिका, सुरसुंदरी, परिभोगमंदना, प्रसाधिका, सद्यःस्नाता, परिभोगदर्शिनी, रूपगर्विता, तोयक्रीड़ा नायिका, वीणावादिनी नायिका, वत्सला एवं प्रकृतिसज्जा नायिका आदि के रूप में वर्णन मिलता है। साहित्य वर्णन के अनुसार भारतीय शिल्प में भी प्रभूत मात्रा में विविध नायिकाओं का अंकन प्राप्त होता है।

छत्तीसगढ़ (दक्षिण कोसल) के मंदिरों की सज्जा मूर्तियों में सुर–सुंदरियों एवं विविध क्रियाकलापों में संलग्न नायिका मूर्तियों का अंकन किया जाता रहा है। नायिका मूर्तियों या अलसा कन्याओं में से प्रमुख है, यथा–अलसा, मुग्धा, डालमालिका, पद्मगंधा, दर्पणा, तोरणा, मानिनी, ध्यानरक्षिता, केतकी भरणा, गुंठना, चंवरधारिणी, नर्तकी, सुकसारिका, नूपुरपादिका, मंडला और विन्यासा। उपरोक्त वर्णित प्रकारों में से छत्तीसगढ़ के मूर्तिशिल्प में अलसा, डालमालिका, विन्यासा, चंवरधारिणी, शुकसारिका, दर्पणा, नूपुर पादिका आदि प्रमुख रूप से अंकित की गई हैं।

वर्तमान में छत्तीसगढ़ राज्य में कुल 29 ज़िले हैं, जिनमें से एक बिलासपुर ज़िले में स्थित रतनपुर न केवल छत्तीसगढ़ में अपितु पूरे भारतवर्ष में धार्मिक एवं ऐतिहासिक नगरी के रूप में प्रसिद्ध है। रतनपुर को कलचुरी राजवंश एवं उसके बाद मराठा शासकों की राजधानी होने का गौरव भी प्राप्त है। उन्होंने रतनपुर में अनेक मंदिरों, मूर्तियाँ एवं किले का निर्माण करवाया था, जिसके प्रमाण आज भी वर्तमान हैं। रतनपुर में निर्मित महामाया मंदिर, कण्ठीदेउल मंदिर, लखनी देवी मंदिर, वृद्धेश्वर मंदिर, रत्नेश्वर महादेव मंदिर, भुनेश्वर शिव मंदिर, गिरजाबन हनुमान मंदिर, नर्मदेश्वर मंदिर, काल भैरव मंदिर, राम टेकरी मंदिर तथा गज किला शिल्पियों की अनुपम कला विद्वता का परिचय देते है। रतनपुर की कला में विभिन्न देवी–देवताओं, राजा–रानी, नायक–नायिकाओं, नर्तक–नर्तकियों, पशु–पक्षियों तथा मिथुन मूर्तियों के साथ ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित उत्कीर्णन को बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। कला में नायिकाओं का शास्त्रानुरूप अंकन गजकिला रतनपुर की कला की अपनी विशेषता रही है। वस्तुतः भारतीय मूर्तिकला में केवल देवी–देवताओं की ही मूर्तियाँ नहीं अपितु अनेक धर्मेत्तर मूर्तियाँ भी निर्मित हुईं, जिनका निर्माण कलाकार ने पूरी स्वतंत्रता से किया है। यद्यपि इसके अंतर्गत श्रृंगारिक भावना से युक्त नारी मूर्तियों का स्थान प्रमुख है तथापि अन्य मूर्तियों में राजा–रानी, सैनिक, नायक–नायिका, साधु–योगी एवं मिथुन मूर्तियाँ विशेष हैं। यद्यपि गजकिला रतनपुर से प्राप्त नायिका मूर्तियों पर विद्वानों द्वारा प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है

तथापि उन मूर्तियों पर समग्र रूप से गहन अध्ययन एवं विवेचन का यह प्रयास है। गजकिला रतनपुर में उत्कीर्णित कलचुरी कालीन नायिका मूर्तियों का विश्लेषण ही प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय हैः–

1. प्रसाधिका :– नायिका अपने दाहिने हाथ में अंजनश्लाका धारण किए हुए है, बायें हाथ में नैपकिन (रूमाल) पकड़े हुए प्रदर्शित है। भूरे बलुआ प्रस्तर पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 24×12 इंच (लगभग) है, जो समभंग मुद्रा में स्थित है, जो गजकिला के गणेश प्रवेश–द्वार के दायें भित्ति में संलग्न है। नायिका किरीट मुकुट, कर्णकुण्डल, चन्द्रहार, स्तनहार, कंकण, हस्तजाल, कटिमेखला, उरुजाल आदि से विभूषित है। अधोवस्त्र का निचला छोर दायें ओर लहराते हुए प्रदर्शित है। नायिका के केश के जुड़े विशेष रूप से बंधे हुए तथा बायीं ओर लटकते हुए प्रदर्शित हैं। क्षीणकटि भंगिमायुक्त है। पीन जंघायें तथा उन्नत उरोज सुंदरता में वृद्धि कर रहे हैं।

2. स्खलितवसना (परिभोगदर्शनी) :– भूरे बलुआ प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 23×11 इंच (लगभग) है, जो समभंग मुद्रा में प्रदर्शित है, जो गजकिला के गणेश–द्वार की बायें भित्ति में संलग्न है। नायिका का दाहिना पैर कुछ उठे हुए पादविक्षेप की स्थिति में प्रदर्शित है। नायिका का दाहिना हाथ सूचीमुद्रा में प्रदर्शित है तथा बायें हाथ में एक पात्र धारण किए हुए है, जो उसके निजि अंग (उपस्थ) को ढके हुए है। नायिका के अधोवस्त्र का नीचे गिरते हुए प्रदर्शित किया गया है। नायिका कुण्डल, स्तनहार, कंकण, हस्तजाल तथा नूपुर से अलंकृत है। क्षीणकटि भंगिमायुक्त है। उन्नत उरोज तथा पीन जंघायें सुन्दरता में वृद्धि कर रहे हैं।

3. केशनिस्तारेणी (सद्यःस्नाता) :– बलुआ प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 23×11 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला के गणेश–द्वार की बायीं भित्ति से संलग्न है। नायिका का दाहिना हाथ तथा बायें पैर घुटने से नीचे तक खण्डित है। नायिका अपने बायें हाथ से गीले केश निचोड़ रही है। केश की लंबाई अजानु है। क्षीणकटि एवं उन्नत उरोज मनोहर छवि लिए हुए है। नायिका कुण्डल, स्तनहार, कंकण, हस्तजाल तथा नूपुर से सुशोभित है।

4. वासकसज्जा (अभिसारिका) :– भूरे बलुआ प्रस्तर पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 25. 5×10.5 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला रतनपुर के गणेश–द्वार के दायें ओर की भित्ति से संलग्न है। नायिका का दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठे हुए सिर पर अवस्थित है तथा बायां हाथ कटि के नीचे अवलम्बित है। नायिका प्रिय से मिलने के लिए श्रृंगार करके प्रतिक्षारत खड़ी हुई प्रदर्शित है। नायिका कण्ठहार, स्तनहार, कुण्डल, अंगद, कटिमेखला उरुजाल तथा नूपुर से सुशोभित है। क्षीणकटि और उन्नत उरोज मनोहर छवि लिए हुए है।

5. नृत्यरत नायिका :– भुरे बलुआ प्रस्तर पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 24×10.5 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला के गणेश–द्वार के दायें ओर की भित्ति में संलग्न है। नायिका का दाहिना हाथ ऊपर उठे हुए सिंहकर्ण मुद्रा में है जबकि बायें हाथ गजहस्त मुद्रा में प्रदर्शित है। नायिका का बायां पैर ऊपर उठा हुआ नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित है। नायिका किरीटमुकुट, कुण्डल, कंकण, चन्द्रहार, स्तनहार, मेखला, कड़ा तथा नूपुर से अंलकृत है।

6. अलसा :– भुरे बलुआ प्रस्तर पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 21×12 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला के गणेश–द्वार के दायें ओर की भित्ति से संलग्न है। नायिका के दोनों हाथ ऊपर उठे हुए सिर के पीछे प्रदर्शित है। अंगड़ाई के कारण देहयष्टि का अंकन तिर्यक है। क्षीणकटि भंगिमायुक्त है। पीनजंघायें तथा उन्नत उरोज सुंदरता में वृद्धि कर रहे हैं। नायिका मूर्ति के उत्तरीय को नीचे गिरते हुए नितंब के पीछे लहराते हुए प्रदर्शित किया गया है। नायिका किरीटमुकुट, कुण्डल, कण्ठहार स्तनहार, कंकण, मेखला, उरुजाल, कड़ा तथा नूपुर से सुशोभित है।

7. दर्पणा :– भूरे बलुआ प्रस्तर पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 20×12 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला के गणेश–द्वार के दायें ओर के भित्ति से संलग्न है। नायिका अपने बायें हाथ में धारण किए हुए दर्पण में अपनी छवि निहार रही है। प्रतीत होता है कि वह अपने नेत्रों को अपलक निहार कर आह्लादित हो रही है।

नायिका का दाहिना हाथ, वक्षस्थल तथा चेहरा अर्धखण्डित है। क्षीणकटि भंगिमायुक्त है। पीनजंघायें तथा उन्नत उरोज सुंदरता में वृद्धि कर रहे हैं। नायिका मूर्ति के उत्तरीय को पीछे लहराते हुए प्रदर्शित किया गया है। नायिका कुण्डल, स्तनहार, कंकण, मेखला, उरुजाल, कड़ा तथा नूपुर धारण किए हुए है।

8. पक्षीक्रीड़ा :– भूरे प्रस्तर पर उत्कीर्णित नायिका का परिमाप 21.5×10.5 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला के गणेश–द्वार के दायें ओर की भित्ति से संलग्न है। नायिका का दाहिना हाथ ऊपर उठे हुए सिर के पीछे स्थित है तथा बायें ऊपर उठे हुए हाथ में पक्षी संभवतः शुक का अंकन है। नायिका अपने बायें हाथ में धारण किए हुए पक्षी को अपलक निहारकर आनंदित हो रही है। नायिका का वक्षस्थल अंशतः खण्डित है। नायिका कुण्डल, स्तनहार, कंकण, मेखला, उरुजाल, कड़ा तथा नूपुर से अलंकृत है। अधोवस्त्र का छोर सामने लहराते हुए प्रदर्शित है।

9. प्रकृतिसज्जा नायिका :– भूरे बलुआ प्रस्तर उत्कीर्णित नायिका की परिमाप 24×10 इंच (लगभग) है, जो सम्प्रति गजकिला के गणेश–द्वार के दायें ओर के भित्ति से संलग्न है। नायिका अपने दायें हाथ में फलों का गुच्छा पकड़े हुए है तथा बायें हाथ में पुष्प धारण की हुई प्रदर्शित है। नायिका किरीटमुकुट, कुण्डल, कण्ठहार स्तनहार, कंकण, मेखला, उरुजाल, कड़ा तथा नूपुर से विभूषित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. सिन्हा, डॉ. (श्रीमती) शशिकला, 'पुरातात्त्विक स्थल रतनपुर – एक अध्ययन', समता प्रकाशन, कानपुर देहात, संस्करण 2016।
2. विश्वकर्मा, डॉ.आर.एन.ए लेख – छत्तीसगढ़ की पुरा सम्पदा और ललित कलायें, स्मारिका नवम् दीक्षान्त समारोह, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़।
3. मिश्र, पी. एन., लेख – 'छत्तीसगढ़ की नायिका मूर्तियों का कलात्मक विवेचन', 'कला वैभव', अंक–12, वर्ष 2002–03, इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़ ।

शोधार्थी

प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़

'प्रसाधिका'
(गजकिला, रतनपुर)

'परिभोगदर्शिनी' (स्खलितवसना)
(गजकिला, रतनपुर)

केश निस्तोरणी' (केश विन्यास
(गजकिला, रतनपुर)

'लासकसज्जा' (अभिसारिका)
(गजकिला, रतनपुर)

'पुष्पधरत नायिका'
(गजकिला, रतनपुर)

'अलसा नायिका'
(गजकिला, रतनपुर)

'दर्पणा'
(गजकिला, रतनपुर)

'पक्षीक्रीडा'
(गजकिला, रतनपुर)

'प्रकृतिसज्जा नायिका'
(गजकिला, रतनपुर)

दमोह जिले के सर्वेक्षित शाक्त–प्रतिमाएँ

डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय

देवी की उपासना मानव सभ्यता के साथ ही प्रारम्भ हुई है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में मनुष्य प्रजनन के रहस्य से अनभिज्ञ रहा और प्रजनन करने वाली नारी को देवी शक्ति स्वरूप समझा। भारतीय दर्शन की आद्याशक्ति प्रकृति है या प्रकृति ही शक्ति है। मानव की इसी कल्पना से आदिकाल में शक्ति का प्रादर्भाव हुआ। देवी पूजन की परम्परा मुख्यतः दो रूपों में प्राप्त होती है– प्रथम मातृदेवी स्वरूप में और द्वितीय शक्ति स्वरूप में। प्रारम्भ से देवी की उपासना माता के रूप से जन मानस में अधिक लोकप्रिय रहा। भारत, मिस्र, मेसोपोटामिया, यूनान एवं विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में धर्म की अवधारणा के साथ ही मातृ–पूजन की परम्परा भी आरम्भ हुई।[1] सृष्टि में सतत वृद्धि में योगदान के फलस्वरूप मातृदेवियों का पूजन प्रारम्भ हुआ। माता की प्रजनन शक्ति, जो सभ्यता की निरन्तरता का मूलाधार है, मातृदेवी के रूप में उनके पूजन का मुख्य कारण रही है। हड़प्पा सभ्यता से ही मातृदेवियों के पूजन के स्पष्ट पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। देवी–पूजन का दूसरा रूप शक्ति–पूजन के रूप में प्रकट हुआ। शक्ति वस्तुतः क्रियाशीलता का परिचायक और उसी का मूर्त रूप है। संसार की उत्पत्ति (विश्व–सृष्टि) का कारण मानकर शक्ति की पूजा सदा होती रही। जिससे कालान्तर में इसका सम्बन्ध शिव से स्थापित किया गया। इसी कारण शक्ति के सौम्य तथा उग्र भाव का प्रदर्शन कला में दिखाई पड़ता है।[2] वैदिक संस्कृति में दैवी शक्ति की आराधना से उस आर्य भाव का बोध होता है, जिसका सम्बन्ध सृजन से मानते हैं। अतः शिवलिंग के साथ योनि को स्थान दिया गया है। योनि–पट्ट पर स्थापित शिवलिंग और अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की परिकल्पना वस्तुतः शिव–शक्ति प्रकृति–पुरुष के समन्वय की परिचायक है।[3]

सर्वेक्षित प्रतिमाओं का शिल्पशास्त्रीय विवेचन

दमोह क्षेत्र के सर्वेक्षण से सरस्वती, गौरी, लक्ष्मी, ब्राह्मी, महिषासुरमर्दिनी, चामुण्डा आदि शाक्त प्रतिमाएँ मिली हैं। जिनका विवरण निम्नवत है–

(1) सरस्वती प्रतिमाएँ

समस्त ज्ञान एवं संस्कृति का प्रतिरूप सरस्वती आध्यात्मिक, सर्वमंगला लौकिक शक्ति है। विद्या, बुद्धि एवं संगीत की अधिष्ठाती देवी के रूप में सरस्वती को प्रारम्भ से ही अति विशेष स्थान रहा। सरस्वती को वाक्, वाग्देवी, वागीश्वरी, वाणी, शारदा, भारती आदि नामों से भी अभिहित किया गया है।[4] ब्रह्मा, विष्णु, गणेश की शक्तियों के रूप में इनका पौराणिक कथा में उल्लेख प्राप्त होता है। बौद्ध और जैन धर्मों में सरस्वती विद्या एवं बुद्धि की देवी के रूप में विशेष लोकप्रिय रही हैं। सरस्वती की सबसे प्राचीन पाषाण निर्मित (132 ई.) प्रतिमा मथुरा के प्रसिद्ध कंकाली टीले से मिली है, जो लखनऊ के राज्य पुरातत्त्व संग्रहालय में संरक्षित है। यह खण्डित प्रतिमा अपने बायें हाथ में धागे से बंधी ताड़पत्रीय पुस्तक लिए है तथा दाहिनें हाथ में अक्षमाला लिए, खण्डित है। दोनों पार्श्वों में अनुचर खड़े है। दाहिनें पार्श्व का अनुचर अंजलिमुद्रा में खड़ा है तथा बायें पार्श्व का अनुचर घट धारण किये हुए हैं। चरण चौकी पर छः पंक्ति का एक लेख उत्कीर्ण है, जो कुषाणकालीन है। इससे पता चलता है कि गोव नामक एक व्यापारी ने प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया। इस प्रतिमा को विद्वानों ने जैन सरस्वती की प्रतिमा माना है। इस प्रकार हम देखते है कि जैन सरस्वती का प्रादुर्भाव द्वितीय शताब्दी में हो चुका था।[5]

सरस्वती का प्रतीक के रूप में चित्रण भीटा से प्राप्त एक गोलकार मुहर पर होता है, जिसके आधार पर एक

भद्र घट का चित्र अंकित है और उसके नीचे गुप्तकालीन लिपि में 'सरस्वती' लिखा है, जिससे विदित होता है कि घट के रूप में सरस्वती का अंकन किया गया है। इसका समय लगभग 4–5 वीं शताब्दी है।

खरोद (छत्तीसगढ़) से सरस्वती की पाषाण प्रतिमा 10वीं शताब्दी की प्राप्ति हुई, जो खिले हुए कमल पर खड़ी है। दाहिना हाथ सिर के पीछे तथा बायाँ सामने ऊपर को उठा है। दोनों ही हाथ खण्डित है। देवी के चरणों के दोनों पार्श्वों में बौने खड़े हैं, जिसमें दायें तरफ है। प्रतिमा विभिन्न वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है।[6]

वैदिक सरस्वती और जैन सरस्वती प्रतिमाओं में प्रमुख अन्तर यह है कि वैदिक सरस्वती स्वयं अपने हाथ में वीणा धारण किये रहती है, अपितु जैन सरस्वती प्रतिमाओं में उपप्रतिमाएँ वीणा लिए होती है।

सरस्वती विद्या की देवी होने के कारण अपने हाथों में अन्य आयुधों के साथ पुस्तक (शास्त्र प्रतीक) तथा वीणा (कला संगीत प्रतीक) धारण किये हुए हैं इसका विवरण मत्स्यपुराण में मिलता है।

वेदा : शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत्।
न विहीनं त्वया देवी तथा मे सन्तु सिद्धयः।।

प्रतिमा	–	सरस्वती
प्राप्ति स्थान	–	दौनी, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	10वीं शती ई.
आकार	–	56 51 से.मी.
पंजीयन	–	R–142

दमोह जिले के पुरास्थल दौनी से सरस्वती की प्रतिमा मिली है, जो वर्तमान में रानी दमयन्ती संग्रहालय में संगृहीत हैं। प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उकेर कर निर्मित की गयी है। प्रस्तर स्थापत्यखण्ड पर उत्कीर्ण सरस्वती को त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। द्विभुजी देवी अपने हाथ में वीणा धारण किये हुए हैं। अंग–प्रत्यंग से यह प्रतिमा सुन्दर आभूषणों से अलंकृत है, जिसके सिर पर कुन्तल मुकुट, कान में कर्णाभूषण, गले में ग्रीवासूत्र एवं हार, कटि प्रदेश में कटिमेखला, उरूद्दाम, मुक्तदाम, स्कन्धों पर उत्तरीय अलंकृत है। सरस्वती की मुख–मुद्रा सौम्य है, जो सात्विक परम्परा के अनुरूप है। प्रतिमा दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य में है जिसके दोनों पार्श्वों में मांगलिक चिन्ह के रूप में शार्दूल व्याल का अंकन है। प्रतिमा 10वीं–11वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य की है। (छायाचित्र–1)

प्रतिमा	–	सरस्वती
प्राप्ति स्थान	–	बड़खेड़ा, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	8वीं शती ई.
आकार	–	51X41 से.मी.

दमोह जिले के पुरास्थल बड़खेड़ा से सरस्वती की प्रतिमा मिली है। यह प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उकेर कर निर्मित की गयी है। सरस्वती जी अर्धपर्यंकासन मुद्रा में आसन पीठिका पर आसनस्थ है। चतुर्भुजी सरस्वती ऊपरी दोनों हाथों में वीणा धारण किये हैं एवं निचले दायें हाथ में वेद पुस्तक एवं निचले बायें हाथ में कमण्डलु धारण की हुई हैं। इनका वाहन हंस नीचे बायें पार्श्व में विराजमान है। किरीट मुकुट, कान में कर्णफूल, कंगन, भुजबन्ध धारण किये हुए हैं। (छायाचित्र–2)

(2) पार्वती देवी प्रतिमाएँ

द्वादश गौरी स्वरूपों में पार्वती स्वरूप भारतीय शिल्प में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा जिसके प्रमाण हमें सभी मध्ययुगीन कला केन्द्रों में देखने को मिलता है। पार्वती प्रतिमा के प्रतिमा लक्षण शिल्पग्रन्थों में मिले हैं। अपराजितपृच्छा (222.9), रूपमण्डन (5.3) एवं देवतामूर्तिप्रकरण में पार्श्वों में अग्निकुण्ड से वेष्ठित चतुर्भुजी पार्वती के हाथों में अक्षसूत्र,

शिव, गणेश तथा कमण्डलु का उल्लेख हैं।[7] स्वतंत्र रूप से पार्वती का शिल्पांकन गुप्तकाल के बाद प्रारम्भ हुआ।8 पूर्व मध्यकाल की प्रतिमाओं में परम्परानुरूप गोधावाहन पार्वती के दोनों पार्श्व में अग्निकुण्ड तथा उनके दो हाथों में शिवलिंग और गणेश (या कार्तिकेय) प्रदर्शित हैं।

रूपमण्डन9 के अनुसार पर्वत पुत्री पार्वती की मूर्ति के साथ शिव, गोद में गणेश, हाथों में अक्षसूत्र और कमण्डलु तथा उसके दोनों ओर अग्निकुण्ड होना चाहिए।

अक्षसूत्रां शिवां देवीं गणाध्यक्षकमण्डलुम। पक्षद्वयेऽग्निकुण्ड/ पार्वती पर्वतोद्भवा।।

रूपमण्डन 5.3

दीपार्णव10 के विवरण के अनुसार पार्वती का दायाँ निचला हाथ अभय मुद्रा में एवं निचला वाम हस्त में मातुलिंगधारी तथा ऊपरी दायें हस्त में शिवलिंग एवं ऊपरी वाम हस्त में गणेश प्रदर्शित होने चाहिए। देवी के साथ लांछन (वाहन) के रूप में गोधिक का चित्रण होना चाहिए।

दक्षिणेत्वभयं चैव तदूर्ध्वे लिंगमीश्वरम्।
वामो गजानना चौर्ध्व मातुः फलमधस्थितम्।
गोधिकालाघ्छना पार्वती नाम मूर्तिका।।

दीपार्णव 16, 15–16

अपराजितपृच्छा11 के अनुसार पर्वत से उत्पन्न पार्वती अक्षसूत्र, शिव, गणेश एवं कमण्डलु के साथ प्रदर्शित हो तथा उनके दोनों उभय पार्श्वों में अग्निकुण्ड अंकित होना चाहिए।

अक्षसूत्रं शिवो देवो गणाध्यक्ष कमण्डलुः।
पक्ष द्वये चाग्निकुण्डं पार्वती पर्वतोद्भवा।।

अपराजितपृच्छा 222, 9

अपराजितपृच्छा12 और देवतामूर्त्तिप्रकरण13 में पार्वती को गोधासन पर स्थित बताया गया है। इस प्रकार से सभी प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों के आधार पर चतुर्भुजी पार्वती को अक्षसूत्र, शिवलिंग अथवा शिव, गणेश, कमण्डलु आदि आयुधों के साथ प्रदर्शित होना चाहिए। इस प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में प्रायः अग्निकुण्ड को प्रदर्शित करने का निर्देश है। पार्वती के वाहन अथवा लांछन का उल्लेख मिला है।

प्रतिमा	–	पार्वती
प्राप्ति स्थान	–	संग्रामपुर, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	12वीं शती ई.
आकार	–	36X30 से.मी.

प्रस्तुत प्रतिमा को दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य उकेर कर निर्मित किया गया है। चतुर्भुजी देवी समभंग मुद्रा में पादपीठ पर खड़ी हैं। देवी का अग्र दायाँ हस्त वरद् मुद्रा में एवं वाम हस्त में कमण्डलु धारण किये हुए हैं। पार्श्व के दोनों हाथों में सम्भवतः पद्म धारण किये हुए प्रदर्शित हैं। देवी परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। पादपीठ पर देवी का वाहन सिंह दायें पार्श्व में प्रदर्शित है तथा देवी के बायें पार्श्व की आकृति अस्पष्ट है।(छायाचित्र–3)

प्रतिमा	–	पार्वती
प्राप्ति स्थान	–	परसोरिया, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	11वीं शती ई.
आकार	–	36X30 से.मी.

प्रस्तुत प्रतिमा दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य ललितासन मुद्रा में आसनस्थ हैं। चतुर्भुजी पार्वती प्रतिमा के दाहिने ऊपरी हाथ में सनाल पद्म बायें ऊपरी हाथ में कमल पुष्पकलिका तथा निचले दाहिने हाथ में अक्षमाल लिए हैं तथा उनके हाथ दाहिने जंघे पर स्थित है। बायें निचले हाथ में घट प्रदर्शित है। देवी की सौम्य मुख मुद्रा आराध्य भाव प्रदर्शित करता है। ऊर्ध्व केश विन्यास, जटामुकुट, कानों में पुष्पकुण्डल, त्रिवली ग्रीवासूत्र, वक्षबन्ध, स्तनहार, कटिमेखला, केयूर तथा कंकण आदि वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। नीचे वाम पार्श्व में देवी का वाहन सिंह प्रदर्शित है। दोनों बाह्य पार्श्वों में गजशार्दूलों का अंकन है। (छायाचित्र–4)

(3) ब्राह्मी

ब्रह्मा के शक्ति के रूप में ब्राह्मी का निरूपण हुआ है। शास्त्रों में इस शक्ति को ब्रह्मा के सदृश ही निरूपित करने का विधान बतलाया गया है। मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, स्कन्दपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन और देवतामूर्तिप्रकरण आदि ग्रन्थों में ब्रह्मणी–प्रतिमा लक्षण के विवरण मिलते हैं। रूपमण्डन में हंस पर आरुढ़ चतुर्भुजी ब्राह्मी के ऊपरी दोनों हाथों में श्रुवा और पुस्तक धारण किये हुए तथा उनके निचले दोनों हाथों में अक्षसूत्र और कमण्डलु धारण करने का विधान है।[14]

हंसारूढा प्रकर्त्तव्या साक्षसूत्रकमण्डलुः।
स्रुवं च पुस्तकं धत्ते ऊर्ध्वहस्तद्वये शुभा।।

उपर्युक्त शास्त्रों में ब्राह्मी को प्रायः ब्रह्मा के समान ही चतुर्मुखी, द्विभुजी, चतुर्भुजी या षड्भुजी प्रतिमाएँ निर्मित करने के निर्देश है। द्विभुजी और चतुर्भुजी प्रतिमाओं में आयुध स्वरूप अक्षसूत्र, स्रुव, पुस्तक और कमण्डलु निरूपण है। षड्भुजी प्रतिमा में आयुध के अतिरिक्त दो हस्त क्रमशः वरद और अभयमुद्रा में बताये गये है। ब्राह्मी के हंसवाहन को विवरण प्रायः शास्त्रों में मिलता है।

गुप्तकाल से ब्राह्मी की स्वतन्त्र प्रतिमायें मिलने लगती है। पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मी प्रतिमा–निर्माण में विकास हुआ। उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों– मध्य प्रदेश, जम्मू–कश्मीर, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल आदि स्थान से ब्राह्मी प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। ब्राह्मी प्रतिमाएँ आसनस्थ एवं स्थानक मुद्रा में निरूपित हुई।

प्रतिमा	–	ब्राह्मी
प्राप्ति स्थान	–	नोहटा, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	9–10वीं शती ई.
आकार	–	45 X 55 से.मी.

दमोह जिले के नोहटा मन्दिर के प्रकोष्ठ में ब्राह्मी प्रतिमा प्रदर्शित है, जो लाल बलुए प्रस्तर से निर्मित है। देवी अर्द्धपर्यंकासन मुद्रा में पद्म पादपीठ पर आसनस्थ हैं। चतुर्भुजी प्रतिमा का अग्र दायाँ हस्त सम्भवतः वरद मुद्रा में दर्शाया गया है, क्योंकि हथेली खण्डित है एवं वाम अग्र हस्त में कमण्डलु धारण किये हुए दर्शाया गया है। दायें पश्च हस्त में स्रुव एवं वाम पश्च हस्त में पुस्तक धारण किये हुए दर्शनीय है। त्रिमुखी देवी गोल प्रभामण्डल एवं परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। नीचे बायें पार्श्व में देवी का वाहन हंस निरूपित किया गया है। प्रतिमा दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य में है और बाह्य दोनों पार्श्वों में ऊपर से नीचे मकर मुख, मांगलिक पशु, शार्दुल एवं गज मुख का सुन्दर अंकन है।(छायाचित्र–5)

(4) लक्ष्मी

लक्ष्मी को समृद्धि, सौभाग्य और सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है। प्राचीन साहित्य में इन्हें श्री, पद्मा, कमला, हरिप्रिया आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। लक्ष्मी ब्राह्मण धर्म के साथ–साथ बौद्ध एवं जैन धर्मों में भी लोकप्रिय

है। भरहुत एवं साँची के बौद्ध स्तूपों पर गजलक्ष्मी का अंकन मिलता है। जैन स्थलों खजुराहो, कुम्भारिया लूणवसही से उत्कीर्ण मांगलिक स्वप्नों में गजलक्ष्मी की भी प्रतिमा मिलती है। लक्ष्मी का मूर्ति–विवरण विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्नि पुराण, मत्स्यपुराण, समरांगणसूत्रधार और रूपमण्डन में मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अष्टदल पद्म से युक्त सिंहासन पर विराजमान चतुर्भुजी लक्ष्मी के हाथों में सनाल–पद्म, अमृतघट, बिल्वफल और शंख का उल्लेख है। दो गजों द्वारा जल–कलशों से देवी के जलाभिषेक का भी विवरण मिलता है।15 रूपमण्डन के अनुसार लक्ष्मी समस्त आभूषणों से विभूषित, विनायक की भाँति अष्टदल पद्म के ऊपर सिंहासन पर आसीन है। उनके दोनों ऊपरी हाथों में पद्म है। निचले बाँए हाथ में अमृतघट और दाहिने हाथ में मातुलिंग धारण किये हुए निरूपित है।16

भारतीय कला में स्वतंत्र मूर्तियों एवं मुद्राओं पर दूसरी–पहली शती ई.पू. से ही लक्ष्मी के गजलक्ष्मी स्वरूप का साक्ष्य मिलते हैं।

गुप्त मूर्तियों, मुद्राओं और मुहरों पर लक्ष्मी और गजलक्ष्मी के विविध स्वरूपों का निरूपण है। गुप्तोत्तर एवं मध यकाल में लक्ष्मी की मूर्तियाँ व्यापक रूप से निरूपित हुई, जिनमें स्वतन्त्र लक्ष्मी और गजलक्ष्मी के साथ–साथ लक्ष्मी–नारायण तथा शेषशायी विष्णु प्रतिमा के साथ में लक्ष्मी का निरूपण होता रहा।

प्रतिमा	–	गजलक्ष्मी
प्राप्ति स्थान	–	नोहटा, दमोह, मध्यप्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	9–10वीं शती ई.
आकार	–	45 X 55 से.मी.

चतुर्भुजी गजलक्ष्मी की प्रतिमा नोहटा के मन्दिर प्रकोष्ठ में प्रदर्शित है। दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य चतुर्भुजी लक्ष्मी सुन्दर बीज से युक्त अष्ट–दल पद्म सिंहासन पर अर्द्धपर्यंकासन मुद्रा में विराजमान है। देवी का अग्र दायाँ हस्त खण्डित है एवं वाम अग्र हस्त में शंख धारण किये हुए हैं। दोनों पश्च हस्त में सनाल पद्म सुशोभित है, जिन पर खड़े हुए गजयुग्म देवी का अभिषेक कर रहे हैं। देवी परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। प्रतिमा के बाह्य दोनों पार्श्वों में ऊपर मकर मुख एवं निचले भाग पर मांगलिक पशु गज–शार्दूल का सुन्दर अलंकरण है।(छायाचित्र–6)

(5)वैष्णवी

विष्णु की शक्ति वैष्णवी के प्रतिमा लक्षण मत्स्य पुराण, अग्नि पुराण, स्कन्दपुराण, मार्कण्डेय पुराण, देवीभागवत पुराण, अपराजितपृच्छा, विश्वकर्मशास्त्र, रूपमण्डन, देवतामूर्तिप्रकरण आदि शिल्पशास्त्रों में विवरण मिलता है।

मत्स्यपुराण में चतुर्भुजी वैष्णवी को गरुड़ पर आसीन बतलाया गया है, जिनका एक हाथ वरद–मुद्रा में तथा शेष तीनों हाथों में क्रमशः शंख, चक्र और गदा धारण करने का उल्लेख मिलता है। इस पुराण में सिंहासन पर बैठी हुई देवी के साथ बालक को निरूपित करने का विवरण है।17 रूपमण्डन के अनुसार वैष्णवी, विष्णु के सदृश ही गरुड़ पर आसीन है। चतुर्भुजी देवी का एक हाथ वरद–मुद्रा में एवं शेष तीनों हाथों में शंख, चक्र और गदा है।18

उपरोक्त गन्थों में वैष्णवी को प्रायः विष्णु के सदृश श्यामवर्णा, पीताम्बरधारी, वनमाला से अलंकृत, शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधों से सुसज्जित और गरुड़ पर आरूढ़ निर्मित करने का विवरण मिलता है।

वैष्णवी प्रतिमा गुप्त काल से मिलने लगती है। पूर्व मध्यकाल तक आते–आते उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों– मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, जम्मू–कश्मीर, राजस्थान, उड़ीसा, बिहार आदि से वैष्णवी प्रतिमाएँ प्राप्त मात्र होने लगती है।

प्रतिमा	–	वैष्णवी
प्राप्ति स्थान	–	नोहटा, दमोह, मध्यप्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	9–10वीं शती ई.
आकार	–	45X55 से.मी.

दमोह जिले के नोहलेश्वर मन्दिर के प्रकोष्ठ में वैष्णवी प्रतिमा प्रदर्शित है, जो लाल बलुए प्रस्तर पर निर्मित है। देवी अर्द्धपर्यंकासन मुद्रा में मानवरूपी गरुड़ पर आसीन है। चतुर्भुजी देवी प्रतिमा का अग्र दायाँ हस्त सम्भवतः वरदमुद्रा में एवं वाम अग्र हस्त में शंख धारण किये हुए हैं। दायें पश्च हस्त में पद्म एवं वाम पश्च हस्त में चक्र सुशोभित है। गोल प्रभामण्डल से युक्त प्रतिमा परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। नीचे बायें पार्श्व में मानवरूपी गरुड़ वीरासन मुद्रा में उत्कीर्ण है। दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य देवी प्रतिमा उकेरी गयी है। स्तम्भों के बाह्य दोनों पार्श्वों में ऊपर मकर मुख एवं नीचे गज–शार्दुल का अंकन है। (छायाचित्र–7)

(6) गंगा–यमुना

गंगा और यमुना का महत्त्व पवित्र नदियों के रूप में माना जाता है। गुप्तकाल में मन्दिर स्थापत्य के निर्माण परम्परा के प्रारम्भ के साथ ही प्रवेशद्वारों में मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की प्रतिमाओं का शिल्पांकन प्रारम्भ हुआ।

गंगा पवित्रता और यमुना भक्ति की द्योतक है। गंगा के विवाहिता होने के कारण उन्हें रूपवती महिला के रूप में और यमुना के अविवाहिता होने के कारण तरुणी रूप में व्यक्त किया जाता है। गंगा और यमुना के सिर के ऊपर सामान्यतः छत्र और उनके एक हाथ में कलश या पद्म तथा दूसरा हाथ सामान्यतः नीचे लटका या कटिहस्त मुद्रा में प्रदर्शित रहता है। सामान्यतः मध्यकाल में सभी क्षेत्रों के ब्राह्मण एवं जैन मन्दिरों की द्वार शाखाओं पर नीचे एक पार्श्व में मकरवाहिनी गंगा और दूसरे पार्श्व में कूर्मवाहिनी यमुना स्थानक मुद्रा में निरूपित हुई।

प्रतिमा	–	गंगा
प्राप्ति स्थान	–	राजगढ़ी, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	10वीं शती ई.
आकार	–	95X45 से.मी.

विवेच्य देवी गंगा की प्रतिमा द्वारशाखा पर उत्कीर्ण है। प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उकेर कर निर्मित की गयी है। मकरवाहिनी गंगा त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित है। देवी के दायें हाथ में मंगलकलश एवं बायाँ हाथ स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर लटक रहा है। देवी प्रतिमा परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। देवी के सिर एवं मंगलकलश को आच्छादित करते हुए सर्पकण से युक्त नागदेव का सुन्दर अंकन हे। त्रिभंग मुद्रा में देवी गंगा के बायें पार्श्व में छत्र धारण किये हुए परिचायिका उत्कीर्ण है तथा परिचायिका के बायें पार्श्व में द्विभंग मुद्रा में दण्ड लिये दूसरी परिचायिका को दर्शाया गया है। द्वारशाखा का ऊपरी भाग अलंकरण की दृष्टि से तीन उपशाखा में विभक्त है।

मध्य में भारवाहक के ऊपर पद्मासन मुद्रा में देवाकृति, इसके ऊपर सुखासन मुद्रा में देवाकृति तथा इसके ऊपर तीसरे देव को सुखासन मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। तीन देव को दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य दर्शाया गया है। मध्य उपशाखा के दायें पार्श्व में नीचे से ऊपर क्रमशः तीन मानवाकृति उत्कीर्ण है। बायें पार्श्व की उपशाखा पर ऊपर से नीचे क्रमशः मानवाकृति, मांगलिक पशु दर्शित है। पुष्पवल्लरी एवं लहरदार आकृतियों से द्वारशाखा अलंकृत है। शिल्पकला की दृष्टि से यह प्रतिमा विशिष्ट है। देवी गंगा एवं परिचारिकाओं की शारीरिक संरचना, अलंकरण एवं आभूषणों का अंकन प्रतिमा शास्त्रीय आधार पर है। (छायाचित्र–8)

प्रतिमा	–	यमुना
प्राप्ति स्थान	–	राजगढ़ी, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	10वीं शती ई.
आकार	–	96X45 से.मी.

विवेच्य यमुना देवी प्रतिमा द्वारशाखा पर निर्मित है। प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उकेर कर उत्कीर्ण की गयी है। कूर्मवाहिनी यमना त्रिभंग मुद्रा में दर्शित हैं। देवी के बायें हाथ में मंगलकलश एवं दायाँ हाथ स्वाभाविक रूप से नीचे लटक रहा है। यमुना देवी की प्रतिमा विविध आभूषणों से सुसज्जित है। आभूषणों से अलंकृत केशराशि, कुण्डल, हार, कटिमेखला एवं आभूषणों से अलंकृत वस्त्रों से देवी सुशोभित हैं। देवी के सिर एवं मंगलकलश को आच्छादित करते हुए सर्पफण से युक्त नागदेव का सुन्दर अंकन है। देवी के दायें पार्श्व में छत्र धारण किये हुए परिचायिका का अंकन है तथा दूसरे परिचायिका का आयुध अस्पष्ट है। द्वारशाखा का ऊपरी भाग अलंकरण की दृष्टि से तीन उपशाखा में विभाजित किया गया है। उपशाखा के मध्य भाग में नीचे से ऊपर क्रमशः सम्भवतः भारवाहक के समरूप मानवारूपी गरुड़ को तथा इनके ऊपर प्रत्यालीढ़ मुद्रा में नृवराह एवं सुखासन मुद्रा में विष्णु का अंकन है। मध्य उपशाखा के दोनों पार्श्वों में देव आकृतियों का अंकन है। पुष्पवल्लरी एवं लहरदार आकृतियाँ से द्वारशाखा अलंकृत हैं।(छायाचित्र–9)

प्रतिमा	–	गंगा
प्राप्ति स्थान	–	मोहड़, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	9वीं–10वीं शती ई.
आकार	–	100X60 से.मी.

विवेच्य गंगा देवी प्रतिमा द्वारशाखा पर निर्मित है। प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उकेर कर उत्कीर्ण की गयी है। मकरवाहिनी गंगा मंगलकलश धारण किए त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। देवी के बायें पार्श्व में तीन परिचारिकाओं का अंकन है। देवी प्रतिमा के ऊपर सिर को आच्छादित करते हुए नाग देव का अंकन है। प्रतिमा परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। द्वारशाखा के दोनों बाह्य पार्श्वों में पुष्पवल्लरियों का सुन्दर अंकन है। उपशाखा के मध्य में दो अलंकृत स्तम्भों के बीच भारवाहक के ऊपर मिथुन आकृतियों का अंकन है। (छायाचित्र–10)

प्रतिमा	–	यमुना
प्राप्ति स्थान	–	मोहड़, दमोह, मध्यप्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	9वीं–10वीं शती ई.
आकार	–	110X60 से.मी.

विवेच्य यमुना देवी प्रतिमा द्वारशाखा पर निर्मित है। प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उकेर कर उत्कीर्ण की गयी है। कूर्मवाहिनी यमुना मंगलकलश धारण किए त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। देवी के दायें पार्श्व में तीन परिचारिकाओं का अंकन है। देवी प्रतिमा के ऊपर सिर को आच्छादित करते हुए नागदेव का अंकन है। प्रतिमा परम्परागत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। द्वारशाखा के दोनों बाह्य पार्श्वों में पुष्पवल्लरियों का सुन्दर अंकन है। उपशाखा के मध्य में दो अलंकृत स्तम्भों के बीच भारवाहक के ऊपर मिथुन आकृतियों का अंकन है। (छायाचित्र–11)

(7) महिषासुर–मर्दिनी दुर्गा प्रतिमाएँ

दुर्गा का महिषासुर–मर्दिनी रूप भारतीय जनमानस के बीच विशेष रूप से लोकप्रिय रहा है। दुर्गा पूजा शाक्त धर्म की लोकप्रियता के साथ प्रारम्भ हुई। शक्ति अथवा शिव की पत्नी को विभिन्न नाम, यथा–देवी, दुर्गा अथवा काली

आदि नाम दिये गये हैं। महिषासुरमर्दिनी शक्ति सम्पन्न दुर्गा का ही एक रूप है, जो महिषासुर का वध करने के फलस्वरूप यह नाम प्राप्त हुआ। आश्विन मास के शुक्ल पक्ष में प्रत्येक वर्ष दुर्गा पूजा के पर्व पर इस रूप की पूजा भारत के विभिन्न भागों में अत्यन्त श्रद्धा एवं उत्साह से की जाती है।[20]

महिषासुरमर्दिनी दुर्गा की प्रार्थना महाभारत में महिषासुरनाशिनी[21], महिषासृकप्रिया[22] आदि नामों से किया गया है। मार्कण्डेयपुराण[23] के कथानक के अनुसार दैत्यराज महिषासुर ने इन्द्र को पराजित कर स्वयं इन्द्र के सिंहासन पर आसीन हो गया। इन्द्र के पराजय के बाद सम्पूर्ण देवता क्रोधित हो गये। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं के शरीर से निकले शक्तिपुंज से एक देवी स्वरूपा का प्रादुर्भाव हुआ। विभिन्न देवों के शक्ति से देवी के भिन्न–भिन्न अंगों का प्रादुर्भाव हुआ, यथा शिव के तेज से मुख, विष्णु के तेज से भुजाएँ, ब्रह्मा के तेज से चरण इत्यादि। सभी देवताओं ने देवी को अपना विशिष्ट आयुध प्रदान किया और वाहन के रूप में हिमालय ने सिंह प्रदान किया। इस रूप में देवी महिषासुर की सेना का संहार करने लगी। अपनी सेना के संहार को देखकर महिषासुर ने महिष का रूप धारण किया और अपने विभिन्न अंगों से देवी के गणों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। अन्त में देवी ने महिष को अपने पैरों से दबाकर त्रिशूल से प्रहार किया। दबे मुख से दैत्य मानवरूप में बाहर आया और देवी से युद्ध करने लगा। अन्ततः देवी ने महिषसुर का वध कर दिया।

महिषासुरमर्दिनी दुर्गा के प्रतिमा–लक्षण प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध है जिसमें उनके चतुर्भुजी, अष्टभुजी, दशभुजी, द्वादशभुजी, षोड्शभुजी, अष्टादशभुजी, बीसभुजी(विंशति) एवं अट्ठाइसभुजी(अष्टविंशति) प्रतिमा के वर्णन मिलते है।

देवी की दशभुजी प्रतिमा का वर्णन मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन एवं देवतामूर्ति प्रकरण में मिलता है। मत्स्यपुराण में महिषासुरमर्दिनी की दशभुजी प्रतिमा को कात्यायनी24 कहा गया है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण[25] के अनुसार देवी चण्डी स्वरूपा, सुवर्ण के समान, त्रिनेत्र एक युवती के रूप में प्रदर्शित है। वे क्रोधित मुद्रा में सिंह पर आरूढ़, क्षीण कटिप्रदेश, विशाल नेत्र, उन्नत उरोज, सुन्दर ग्रीवा तथा बीस भुजी हैं। उनके दाहिनें भुजाओं में शूल, तलवार, शंख, चक्र, बाण, शक्ति, वज्र, डमरू, छत्र तथा एक हाथ अभय मुद्रा में प्रदर्शित है और बायें हाथ में नाग–पाश, खेटक कुठार, अंकुश, धनुष, घण्टा, ध्वज, गदा, दर्पण तथा मुद्गल प्रदर्शित हैं। देवी के सामने असुर का महिष भाग कटा पड़ा है, और वास्तविक मानवरूपी असुर उसकी गर्दन से निकलते हुए प्रदर्शित है, जिसके गले में देवी अपना त्रिशूल चुभोये हुए है। सिंह उसे काटता हुआ एवं असुर के गर्दन से रक्त की धारा प्रवाहित है। असुर नागपाश में बंधा और उनके हाथों में ढाल तथा तलवार प्रदर्शित है।

निगद्यते हाथो चण्डी हेमाभाषा सुरुपिणी। त्रिनेत्रा यौवनावस्था च क्रुद्धा चोर्ध्वस्थिता मता।।
कृशमध्या विशालाक्षी चारुपीन पयोधरा। एकवक्त्रा तु सुग्रीवा बाहुविंशति संयुता।।
शूलासिशंखचक्राणि वाण शक्तिपवीनपि। अभयं डमरू चैव छत्रिकां दक्षिणे करे।।
उर्ध्वादि क्रमयोगेन विभ्रती सा सदा शुभा। नागं पाशं तथा खेटं कुठाराअकुंशकार्मुकम्
घण्टाध्वजगदादर्श मुद्गर वाम एव च।।
तदधो महिषश्छिन्नमूर्धा पतित मस्तकः। शस्त्रोद्यतकरस्स्तब्धस्तद्गीवा संभवः पुमान्।
शूलभिन्नो वमद्रक्तो रक्तभ्रूमूर्धजेक्षणः। सिंहेन खाद्यमानश्च पाशबद्धो गलेभृशम्।।
याभ्याङ्घ्राकान्तसिंहा च सव्याङ्घ्रयालीढगासुरे। चण्डी चौद्यतशस्त्रेयं चाशेषरिपुनाशिनी।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण 117, 18,27

मत्स्यपुराण[26] के अनुसार देवी जटा–जूट और अर्द्धचन्द्र से युक्त दसभुजी और त्रिनेत्री कात्यायनी को सभी आभूषणों से सुसज्जित नवयौवना रूपा त्रिभंग मुद्रा में सिंह पर आरूढ़ प्रदर्शित है। देवी के दाहिने हाथों में त्रिशूल, खड्ग, चक्र, बाण, शक्ति और बायें हाथों में धनुष, खेटक, पाश, अंकुश, घण्टा या परशु धारण किये हुए हैं। उसके नीचे हाथों में तलवार एवं ढाल लिए हुए महिषासुर को दर्शाया गया है, जिसके वक्ष में देवी का त्रिशूल धंसा हुआ

है। उसकी आँखे और भौंहे लाल होती हैं और उसके मुख से रक्त का फौब्बारा निकल रहा है। असुर नागपाश में बंधा होता है। देवी का दहिना पैर सिंह की पीठ पर और बायें पैर का अँगूठा महिष के ऊपर स्थित प्रदर्शित है।

कात्यायन्याः प्रवक्ष्यमि रूपं दशभुजं तथा। त्रयाणामपि देवानामनुकारानुकारानुकारिणीम्।
जटाजूट समायुक्तामर्द्धेन्दुकृतशेखराम्। लोचनत्रयसंयुक्तां पूर्णेन्दुसदृशानम।
अतसीपुष्पवर्णाभां सुप्रतिष्ठां सुलोचनाम्। नवयौवनसम्पन्नां सर्वाभरणभूषितम्।।
सुचारुदशनान्तद्वत्पीनोन्नतपयोधराम्। त्रिभंगस्थानसंस्थानां महिषासुरमर्दिनीम्।।
त्रिशूलं दक्षिणे दद्यात्खड्गं चक्रं क्रमादधः। तीक्ष्णं बाणं तथा शक्तिं वामतोऽपि निबोधत।
खेटकं पूर्णचापं च पाशमकुंशमेव च। घन्टां वा परशुं वापि वामतः सन्निवेशयेत्
अ़स्तान्महिषं तद्वद्विशिरस्कं प्रदर्शयेत्। शिरश्छेदोद्भवं तद्वदानवं खड़गपाणिनम्।।
ऋदि शूलेन निर्भिन्न निर्यदन्त्रविभूषितम्। सपाशवामहस्तेन धृतकेशं च दुर्गाया।
रक्तरक्तीकृतागं च रक्तविस्फुरितेक्षणम्। वेष्टितं नागपाशेन भ्रकुटीभीषाननम्।।
वमद्रुधिरवक्त्रंच देव्याः सिंहं प्रदर्शयेत्। देव्यास्तु दक्षिणं पादं समं सिंहोपरिस्थितम्।
किं/द्दूर्ध्व तथा वाममगुष्ठं महिषोपरि। मत्स्यपुराण, 259, 55–65

रूपमण्डन[27] के अनुसार त्रिभंग मुद्रा में महिषासुरमर्दिनी दाहिनें हाथों में क्रमशः त्रिशूल खड्ग, चक्र, बाण और शक्ति धारण किये हुए है। बायें हाथों में क्रमशः खेटक, चाप, अकुंश और घण्टा धारण किये हुए हैं। (कभी–कभी अन्तिम बायें हाथ में विकल्प से दैत्य के मस्तक का केश पकड़ कर खीचते हुए प्रदशित की जाती हैं)। दैत्य के हृदय में शूल धँसा है। दैत्य टेढें दाँतों से युक्त है। उसका शरीर रक्त से लाल हो गया है। वह लाल और बड़े विस्फारित नेत्रों से (देवी की ओर) देख रहा है। दैत्य नागपाश से जकड़ा है तथा भौंहे चढ़ी है जिससे उसका मुख वीभत्स है। देवी का दाहिना पैर सीधा और सिंह के ऊपर अवस्थित है तथा बायाँ पैर कुछ ऊपर उठा है और उसका अंगूठा महिषासुर पर टिका है।

त्रिभंगीस्थानसंस्थानां महिषासुरसूदनीम्। दक्ष (क्षे) त्रिशूलं खड्ग/ चक्रं बाणं च शक्तिकाम्।
खेटकं पूर्णचाप/ पाशमङ्कुशमेव च। घण्टा/ वामतो दद्याद् दैत्यमूर्धजधृक्कराम।।
हृदिशूलेन निर्भिन्नं तिर्यग्दन्तविभूषितम्। रक्त रक्तीकृतागं/ रक्तविस्फारितेक्षणम्।
वेष्टितं नागपाशैश्च भृकुटीभीषणाननम्।
देव्यास्तु दक्षिणं पादं समं सिंहोपरि स्थितम्। किं/द्र्धं तथा वाममगुंष्ठो महिषोपरि।
रूपमण्डन, 5 , 46–50

राजस्थान के उदयपुर जनपद से प्राप्त 491 ई. के छोटी सदरी अभिलेख में दुर्गा को सिंह से जुटे हुए रथ पर आरूढ़ होकर भाले से असुर के वध करने का वर्णन है।[28] गुप्तकाल की भीटा से प्राप्त महिषासुरमर्दिनी प्रतिमा में दो हाथ प्रदर्शित किया गया है। देवी महिषासुर से युद्ध करती हुई प्रदर्शित है।[29] मध्यप्रदेश के विदिशा के समीप (भिलसा) चन्द्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरि गुफा से प्राप्त प्रतिमा में देवी महिष–दैत्य से संघर्ष करती हुई प्रदर्शित की गयी है।[30]

प्रतिमा	–	दुर्गा (महिषासुरमर्दिनी)
प्राप्ति स्थान	–	नोहटा, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	10वीं शती ई.
आकार	–	64X36 से.मी.

प्रस्तुत महिषासुरमर्दिनी प्रतिमा एक पादपीठ पर आलीढ़ मुद्रा में प्रदर्शित है। जिसमें महिषासुर का संहार करते हुए दशभुजी देवी का अंकन है। देवी अपने दोनों अग्र हाथों से शूल से महिषासुर पर प्रहार कर रही है। अन्य

दायें हाथ में ऊपर से नीचे खड्ग, डमरू, घण्टा, बाण धारण किये हुए एवं अन्य बायें हाथ में, चक्र, दो मध्य हाथ के आयुध अस्पष्ट हैं, निचले हाथ से कटी गर्दन से मानव देहधारी असुर को पकड़े हुए प्रदर्शित हैं। पादपीठ पर महिषासुर असहाय पड़ा है, इसके पीठ पर देवी का बायाँ पैर एवं दायाँ पैर पादपीठ पर अंकित है। असुर के महिष शरीर से मानव रूप निकलते हुए उकेरा गया है। देवी के दोनों पैरों के मध्य उनका वाहन सिंह महिष पर प्रचण्ड आक्रमण की मुद्रा में उत्कीर्ण है। पादपीठ पर दायें पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में उपासक का अंकन है तथा सबसे ऊपर परिकर में दोनों पार्श्वों में मालाधारी–विद्याधरों का अंकन है। गोलाकार प्रभामण्डल, जटाजूट, मुकुट, कान में कुण्डल, गले में हार, हाथ में कंकण एवं परम्परागत वस्त्राभूषणों से प्रतिमा सज्जित है।(छायाचित्र–12)

प्रतिमा	–	दुर्गा (महिषासुर मर्दिनी)
प्राप्ति स्थान	–	नोहटा (व्यारमा नदी के दायें किनारे), दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	11वीं शती ई.
आकार	–	56X43 से.मी.

प्रस्तुत प्रतिमा त्रिरथ पादपीठ पर दो अलंकृत स्तम्भों के मध्य उकेर कर उत्कीर्ण किया गया है। अष्टभुजी महिषासुरमर्दिनी के अग्र दायाँ हाथ सम्भवतः वरद मुद्रा में, अन्य दायें हाथ में ऊपर से नीचे क्रमशः ढाल, घण्टा एवं खड़ग धारण किये हुए प्रदर्शित हैं। इनका अग्र बायाँ हाथ बायें जंघे पर एवं अन्य बायें हाथ में ऊपर से नीचे क्रमशः चक्र, शूल धनुष दर्शाया गया है। देवी ललितासन मुद्रा में अपने दाहिने पैर से असुर को दबाये हुए और बायाँ पैर पादपीठिका पर रखे हुए है। पादपीठिका के ऊपर दोनों पार्श्वों में सिंह का अंकन है। सिर के पीछे गोल प्रभामण्डल, जटा मुकुट हार, कुण्डल, केयूर, कंकण, पादवलय आदि आभूषणों से देवी प्रतिमा अलंकृत है। परिकर के ऊपरी दोनों पार्श्वो में मालाधारी गन्धर्व का अंकन है।(छायाचित्र–13)

प्रतिमा	–	दुर्गा (महिषासुरमर्दिनी)
प्राप्ति स्थान	–	कुमेरिया (खैरमाता) ,दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	11वीं शती ई.
आकार	–	49X33 से.मी.

विवेच्य प्रतिमा एक प्रस्तर फलक पर निर्मित है। चतुर्भुजी महिषासुरमर्दिनी प्रत्यालीढ़ मुद्रा में प्रदर्शित है। देवी का दायाँ पैर महिषासुर के पीठ पर एवं बायाँ पैर पाद पीठ पर उत्कीर्ण है। देवी अपने अग्र दोनों हाथों में शूल धारण की हैं, जिससे मानव देहधारी असुर का संहार कर रही है। पश्च दायें हाथ का आयुध अस्पष्ट है एवं पश्च बायें में ढाल धारण किये हुए दर्शाया गया है। पादपीठ पर महिष देहधारी का मस्तक कटा पड़ा है और इसके गर्दन से निकलते मानव देहधारी आक्रोशयुक्त असुर का अंकन है। पादपीठ पर दायें पार्श्व में देवी का वाहन सिंह महिष देहधारी पर आक्रमण करते हुए उत्कीर्ण है। देवी परम्परागत वस्त्राभूषणों से अलंकृत है। परिकर के ऊपरी हिस्से में दोनों पार्श्वों में मालाधारी गन्धर्वों का अंकन है। मुख मण्डल घिसे होने के कारण देवी के मुख भाव–भंगिमा अस्पष्ट है। (छायाचित्र–14)

(8) चामुण्डा देवी प्रतिमाएँ

देवी चामुण्डा को भयानक, अद्भुत तथा विलक्षण भाव प्रकट करते हुए प्रदर्शित किया जाता है। प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन एवं अंशुमद्भेदागम् आदि से चामुण्डा प्रतिमा के लक्षणों का विवरण प्राप्त होता है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण[31] के अनुसार चामुण्डा देवी प्रेत पर सवार, रक्त वर्ण वाली क्षीण, विकृत देहवाली होनी चाहिए। उसके दाँत निकले हुए और रूप भंयकर होता है। दशभुजी प्रतिमा के दाहिने पांच भुजाओं में मूसल, चक्र,

बाण, अंकुश और खड्ग तथा बायें पाँच भुजाओं में ढाल, पाश, धनुष, दण्ड और कुठार प्रदर्शित होता है।

चामुण्डा पेतगा रक्ता विकृतास्याहि भूषणा। दंष्ट्रोगा क्षीणदेहा च गर्ताक्षी भीमरूपिणी।

दिग्बाहुः क्षामकुक्षिश्च मुसलं कवचं शरम्। अंकुशं विभ्रती खड्गं दक्षिणेष्वथ वामतः।

खेटं पाशं धनुर्दण्डं कुठारं चेति विभ्रती।।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण 125, 8–10

रूपमण्डन[32] के अनुसार चामुण्डा बड़े तीक्ष्ण दाँतों वाली, क्षीण देहवाली, गर्त में घुसी आँखों वाली और भयंकर स्वरूप वाली है। उनके दस हाथ हैं, वह दाहिने हाथों में मूशल, चक्र, बाण, अंकुश, और खड्ग तथा बाएँ हाथों में खेट, पाश, धनुष, दण्ड और कुठार धारण करती है। चामुण्डा का वाहन प्रेत है, वे लाल, विकृत मुख वाली है और सर्पो को धारण करती हैं अथवा उनकी प्रतिमा द्विभुज भी बनानी चाहिए। वे कृतिकाओं के कार्य को करती रहती है अर्थात् विनाश कार्य में रत रहती है।

दंष्ट्राला क्षीणदेहा च गर्त्ताक्षा भीमरूपिणी। दिग्बाहुः क्षामकुक्षिश्च मुशलं चक्रमार्गणौ।

अकुंश विभ्रती खड्गं दक्षिणेष्वथ वामतः खेटंपाशं धनुर्दण्डं कुठारं चेति विभ्रती।

चामुण्डा प्रेतगा रक्ता विकृतास्यादि (हि) भूषणा।

द्विभुजा वा प्रकर्त्तव्या (कृत्तिकाकार्यरन्विता)।।

रूपमण्डन 5, 70, 72

अपराजितपृच्छा[33] में उन्हें शव पर स्थित बतलाया गया है। मस्त्यपुराण[34] में इन्हें व्याघ्रचर्म पहने रहने का निर्देश किया गया है। अग्निपुराण के आधार पर इस देवी के आठ स्वरूपों को स्वीकार किया गया है, यथा–रूद्रचर्चिका, रूद्र–चामुण्डा, महालक्ष्मी, सिद्धचामुण्डा, सिद्धयोगेश्वरी, रूपविद्या, क्षमा और दन्तुरा। 'अग्निपुराण' की कालिका और 'मत्स्यपुराण' की दुब्जिका को भी चामुण्डा के प्रकारों में गिना जाता है।[35]

अग्निपुराण[36] के अनुसार चामुण्डा के तीन नेत्र होने चाहिए जो कोटर में धँसे हुए, ऊर्ध्वकेशी, कृशोदरी, निर्मांसा होनी चाहिए। उनके दायें हाथ में शूल एवं कर्तरी तथा बायें हाथ में कपाल और पट्टिका से युक्त होना चाहिए। वे व्याघ्रचर्म धारण किये हुए, अस्थि–आभूषणों से अलंकृत और शव पर आसीन बतायी गयी है।

चामुण्डा कोटराक्षी स्यान्निर्मांसा तु त्रिलोचना।

निर्मांसा अस्थिसारा वा ऊर्ध्वकेशी कृशोदरी।

द्वीपिचर्मधरा वामे कपालं पट्टिशं करे।

शूलं कर्त्री दक्षिणेऽस्याः शवारूढास्थिभूषणा।।

अग्निपुराणं 50, 21–23

दुर्गासप्तशती[37] में अनेकशः देवी–मातृका प्रतिमाओं का विवरण सविस्तार मिलता है। मूर्तिकला में चामुण्डा मूर्तियों के साक्ष्य गुप्त काल से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। गुप्तकालीन मूर्तियाँ शामलाजी एवं बडोह से प्राप्त हुई है। बडोह (मध्य प्रदेश) की लगभग पांचवी शती ईस्वी की प्रतिमा कंकाल रूपी देवी के पैरों के कपाल का चित्रण है। गुप्तोत्तरकाल में देवी के इस स्वरूप का विकास हुआ।

प्रतिमा	–	चामुण्डा
प्राप्ति स्थान	–	नोहटा , दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	9–10वीं शती ई.
आकार	–	75X60 से.मी.

प्रस्तुत प्रतिमा नोहटा मन्दिर के प्रकोष्ठ में दो स्तम्भों के मध्य नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित है, जो प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर पर उत्कीर्ण है। देवी दायाँ पैर अपस्मार पुरूष के ऊपर एवं बायाँ पैर पादपीठ पर है। प्रतिमा अग्र दायें हाथ

में कपाल पात्र एवं पश्च हाथ में खड्ग धारण किये हुए प्रदर्शित हैं। अग्र बायाँ हाथ विस्मय मुद्रा में एवं पश्च हाथ में दण्ड धारण किये हुए जिसका ऊपरी भाग खण्डित दर्शाया गया है। देवी के ऊर्ध्व केशों, नरमुण्ड को विकृत मुख, कृश उदर, मांस रहित अस्थि स्वरूपा शरीर तथा अवनत स्तन प्रदर्शित है। अलंकृत प्रभामण्डल, अस्थिनिर्मित कर्णाभूषण, सर्पहार, नरमुण्ड मालाधारी, उदर में बिच्छू तथा कंकण आदि से प्रतिमा विभूषित है। प्रतिमा के ऊपर दोनों पार्श्वों में प्रेत का अंकन है तथा दायें निचले भाग में दाहिने हथेली से सिर को टिकाये, अपस्मार पुरूष का मुख देवी की ओर उन्मुख है। इसका दोनों पैर उठे हुए प्रदर्शित हैं। प्रतिमा के बायें स्तम्भ के बगल में विविध वस्त्राभूषणों से अलंकृत एक उपासिका खड़ी है। (छायाचित्र–15)

प्रतिमा	–	चामुण्डा
प्राप्ति स्थान	–	कोड़ल, दमोह, मध्य प्रदेश
प्रकृति	–	प्रस्तर
कालखण्ड	–	12–13वीं शती ई.
आकार	–	55X33 से.मी.

शव के ऊपर पैर रखकर खड़ी हुई देवी चामुण्डा दो भागों में खण्डित है। देवी द्विभंग मुद्रा में स्थानक हैं। सम्भवतः प्रतिमा षष्टभुजी है, जिसमें अग्र दाहिना हाथ वितर्क मुद्रा में तथा अन्य दायें हाथ में घण्टा, खड्ग एवं तीसरा हाथ खण्डित है। बायें हाथों के आयुध एवं मुद्रा स्पष्ट नहीं हैं देवी चामुण्डा ने कटि पर मनोहरी ढंग से व्याघ्रचर्म धारण किया है। देवी का मुख मुद्रा विकराल है। शिरोभूषण के रूप में नरमुण्डों और अस्थि से प्रतिमा सुशोभित है। (छायाचित्र–16)

अधिकांश मातृका प्रतिमाओं का विवेचन विष्णु, शिव, गणेश, कार्तिकेय आदि युग्म प्रतिमाओं के साथ किया गया है, यथा– लक्ष्मी–नारायण, उमा–महेश्वर (शिव–पार्वती), हर–गौरी, विनायक–वैनायिकी, कार्तिकेय–कौमारी, कल्याण–सुंदर, वरेश्वर–शिव तथा भैरव इत्यादि। दमोह क्षेत्र के विभिन्न कलाकेन्द्रों से देवी–देवताओं–सप्त मातृकाओं–ब्राह्मी, माहेश्वरी, लक्ष्मी (वैष्णवी), चामुण्डा, सरस्वती, इन्द्राणी, वाराही, जारसिंही, कौमारी, दुर्गा तथा महिषासुर–मर्दिनी, भैरवी इत्यादि देवियो–मातृकाओं की कलात्मक शक्तिप्रतिमाएँ अनेक पुरातत्त्व संग्रहालयों में संरक्षित हैं। विवेच्य क्षेत्र के कलाकेन्द्रों से भी एकल (स्वतंत्र) तथा युग्म देवी प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इस कथन से ज्ञात होता है कि दमोह के प्राचीन कलाकेन्द्रों में ''मातृशक्ति' (शाक्तमत) की उपासना का प्रचलन तत्कालीन धार्मिक जन–मानस में प्रतिष्ठित था तथा मातृशक्ति की आराधना अनेक रूपों में सतत की जाती रही है। प्राचीन मंदिरों के बाह्य भाग के प्रकोष्ठों (आलों) में दिक्पालों के अतिरिक्त अनेक देव–देवी प्रतिमाओं को स्थापित करने की परम्परा रही है।

दमोह क्षेत्र में शाक्त धर्म से सम्बन्धित देवी के सौम्य एवं रौद्र स्वरूप वाली प्रतिमाओं के साक्ष्य बाहुल्यता से उपलब्ध हुई है। सौम्य प्रतिमाओं में समृद्धि एवं सौभाग्य के प्रतीक लक्ष्मी, विद्या की देवी सरस्वती, वैष्णवी, ब्राह्मी, गौरी, पार्वती एवं गंगा–यमुना की प्रतिमाएँ महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में कलचुरि काल से सम्बद्ध सरस्वती की स्वतंत्र प्रतिमाएँ अत्यन्त नगण्य मिली हैं। वीणाधारी द्विभुजी सरस्वती के सौम्य भाव को अत्यन्त कलात्मकता से व्यक्त किया गया है। साथ ही देवी की रौद्र स्वरूपा वाली प्रतिमाओं में महिषासुर–मर्दिनी एवं चामुण्डा की प्रतिमाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये प्रतिमाएँ क्षेत्र के जनमानस में शाक्त धर्म के लोकप्रियता को व्यक्त करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. तिवारी, मारुतिनन्दन, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमालक्षण, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी, 1997, पृ. 121।
2. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1992, पृ 105 ।
3. तिवारी, मारुतिनन्दन, कमल गिरि, पूर्वोक्त, पृ. 121 ।
4. सहाय, भगवन्त, आइकोनोग्राफी ऑफ माइनर हिन्दू एण्ड बुद्धिस्टडीटीज, नई दिल्ली, 1975, पृ. 141–155 ।
5. शर्मा, ब्रजेन्द्रनाथ, आइकोनोग्राफी ऑफ विनायकी, अभिनव पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1979, पृ. 13 ।
6. वही, पृ. 13 ।
7. तिवारी, मारुतिनन्दन, कमल गिरि, पूर्वोक्त, पृ. 127 ।
8. त्रिवेदी, आर.डी., आइकोनोग्राफी ऑफ पार्वती, आगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1981, पृ. ।
9. श्रीवास्तव, बलराम (सं.), रूपमण्डनम्, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1996, 5,3 ।
10. सोमपुरा, प्रभाशंकर, ओ. (सं.), दीपार्णव (विश्वकर्मा), सौराष्ट्र, 1960, 16, 15–16 ।
11. अपराजितपृच्छा (भुवनदेव), गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज–115, बड़ौदा, 1950, 222,9, ।
12. वही, 222, 5 ।
13. मोहन, उपेन्द्र (सं.), देवतामूर्तिप्रकरण, (सूत्रधारमण्डन), साख्यतीर्थ, कलकत्ता संस्कृत सीरिज–12, कलकत्ता, 1936, 8, 1 ।
14. रूपमण्डन, पूर्वोक्त, 5–63 ।
15. सिंह, नागशरण, (सं.), विष्णुधर्मोत्तर पुराण, नाग पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985, 82, 3–7 ।
16. रूपमण्डन, पूर्वोक्त, 5, 47–48 ।
17. शर्मा, पुष्पेन्द्र, मत्स्यपुराण, मेहरचन्द्र लछमनदास, दिल्ली, 1984, 260, 28–29 ।
18. रूपमण्डन, पूर्वोक्त, 5,66 ।
19. तिवारी, मारुतिनन्दन, कमल गिरि, पूर्वोक्त, पृ.123–124 ।
20. सिन्हा, पुष्पा, बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2010, पृ. 187 ।
21. महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1956, 4, 6, 151 ।
22. वही, 6, 23, 8 ।
23. मार्कण्डेय पुराण, विब्लिओधिका इण्डिया सिरीज, कलकत्ता , 1855–62, 79–80 ।
24. मत्स्यपुराण, पूर्वोक्त, 259, 55 ।
25. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, पूर्वोक्त, 117, 18–22 ।
26. मत्स्यपुराण, पूर्वोक्त, 259, 55–65 ।
27. रूपमण्डन, पूर्वोक्त, 5.46–50 ।
28. एपीग्राफी इण्डिका, वैल्यूम ग्ग पृ. 120 ।
29. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया एनुएल रिर्पोट, 1911–12, पृ. 86 ।
30. बनर्जी, जे.एन., दि डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी (द्वि.सं.) ,कलकत्ता, 1956, पृ. 498 ।
31. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, पूर्वोक्त, 123, 8–10 ।
32. रूपमण्डन, पूर्वोक्त, 5.70–72 ।
33. अपराजितपृच्छा (भुवनदेव), पूर्वोक्त, 223 ।
34. मत्स्यपुराण, पूर्वोक्त, 261, 36–37 ।
35. सहाय, भगवंत, आइकोनोग्राफी ऑफ माइनर हिन्दू एण्ड बुद्धिस्टडीटीज, दिल्ली, 1975, पृ. 202–03 ।

36. शर्मा, राजेन्द्रनाथ (सं.), अग्निपुराणच, नाग पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1985, 50, 21–23 ।
37. दुर्गासप्तशती, गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 10, श्लोक–8 ।

सरस्वती–दौनी

सरस्वती–बड़खेड़ा

पार्वती–संग्रामपुर

पार्वती– परसोरिया

ब्रह्मी–नोहटा

गजलक्ष्मी –नोहटा

वैष्णवी –नोहटा

गंगा –राजगढ़ी

पूर्व शोध छात्र
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
डॉ. हरी सिंह गौर वि.वि. सागर (म.प्र.)

औरंगाबाद (बिहार) जिले का पुरातात्त्विक अध्ययन

डॉ. विनय कुमार
बृजेश कुमार

मध्य गंगा घाटी की भौगोलिक विशेषताओं से परिपूर्ण तथा पविष सोन एवं पुनपुन द्वारा संवृत औरंगाबाद जिला 840.22′–840.53′ पूर्वी देशान्तर और 240.10′–250.7′ उत्तरी अक्षांश के मध्य स्थित दक्षिणी बिहार का महत्त्वपूर्ण अंग है। एक जिला ईकाई के रूप में इसका अभ्युदय 19 जनवरी 1972 ईस्वी में हुआ जो ग्यारह विकासखण्ड (तहसील) एवं दो उपमण्डल में व्यवहृत है। स्वयं नबीनगर नामक तहसील का नबीनगर विकासखण्ड; जनपद की समृद्धशाली प्रशासनिक व्यवस्था में अप्रतिम स्थान रखता है। यह विकासखण्ड जनपद मुख्यालय से देव–डुमरी हरिहरगंज रोड पर 34.8 किमी की दूरी पर अवस्थित है। 168.67 वर्ग किमी में विस्तृत इस विकासखण्ड के एक नगर एवं 200 ग्राम सभाएँ हैं। यहाँ की पहाड़ी भूमि, उर्वर भूमि, निर्मल जल से कल–कल बहने वाली नदियों, नालों, शीतलमन्द सुगन्धित पवन के शान्तिदायी झँकोरे तथा मौसम को अपरिमित विशेषताओं से ओत–प्रोत यह धरणी संस्कृतियों के सर्जन, पुष्पन, पल्लवन तदन्तर प्रकीर्णन का प्रतिमान प्रस्तुत करती दिखाई देती हैं।

मध्य गंगा घाटी में स्थित होने के कारण क्षेष की पुरातात्त्विक महत्ता स्वमेव बढ़ जाती है। औरंगाबाद जिले के उत्तर में चिन्हित पैसरा1, भीमबंध2 के पुरास्थलों से पूर्व पुरा–प्रस्तरकालीन संस्कृतियों के प्रमाण देखे जा सकते हैं। जनपद के दक्षिणी भाग पर बसे झारखण्ड राज्य के पलामू, सिंहभूम, गिरीडीह, संथाल परगना, हजारीबाग तथा राँची से भी उपर्युक्त संस्कृतियों के समान साक्ष्य संगीतकरण स्थापित करते हैं।[3] जनपद के पूर्वी छोर पर बसे गया जिले में ताराडीह[4], मनेर[5] के उत्खनित पुरास्थल नवाश्मयुग से लेकर ऐतिहासिक युग तक की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का प्रकटन करते हैं। जनपद के उत्तरी छोर पर बसे हुये अरवल जिले के उत्खनित पुरास्थल लारीगढ़ में ताम्रपाषाण काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तक प्रमाण देखते जा सकते हैं।[6] जनपद के पूर्वी छोर पर बसे गया एवं औरंगाबाद के पूर्ववर्ती अन्वेषणों के अवलोकन से प्राचीन मानवीय भौतिक अवशेष प्राप्त हुए हैं।

''औरंगाबाद (बिहार) जिले का पुरातात्त्विक अध्ययन'' शोध के अन्तर्गत विकासखण्डवार गाँव से गाँव सर्वेक्षण कार्य किया जा रहा है। इस क्रम में यहाँ नबीनगर विकासखण्ड के पूर्व सर्वेक्षित एवं नवोन्मेषी पुरास्थलों का वर्णन किया गया है।

1. घिरसिंडी गढ़

240.68′30′′ उत्तरी अक्षांश।

840.97′50′′ पूर्वी देशान्तर।

यह पुरास्थल जिला मुख्यालय से 30 किमी. की दूरी पर नबीनगर से बारून को जाने वाली सड़क के बाँये किनारे पर कोयल नहर से 500 मीटर की दूरी पर पश्चिम की दिशा में अवस्थित है, जिसका क्षेषफल लगभग 5 एकड़ में विस्तृत है। इस पुरास्थल की ऊचाई लगभग 9 मीटर है। गढ़ से सटे हुए पूर्वी छोर पर घिरसिंडी राजकीय माध यमिक विद्यालय तथा बस्ती का बसाँव है। इसके दक्षिण–पूर्वी छोर पर एक बड़ा सा तालाब है। सर्वेक्षण के दौरान यहाँ टीले के मध्य भाग से लेकर उपरी भाग तक लगभग 10 मीटर लम्बी प्रस्तर की दीवाल के ध्वशांवशेष दिखाई देते हैं। पुरास्थल से प्राप्त मूर्तियों को यहाँ के ग्रामवाशी चबुतरा बनाकर उसकी पूजा–पाठ करते आ रहे हैं। इन मूर्तियों में एक बलुआ पत्थर की खण्डित शीर्ष प्रतिमा प्राप्त हुई जो मिश्रित मानव पशुसम प्रतित होती है, जिसके

ऊपरी और निचले जबड़े के दाँतों को बड़े–बड़े आकार के रूप में उत्कीर्ण किया गया है और आँखों को भी गोल रूप में दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त एक और मूर्ति इसी चबूतरे पर रखी हुई है, जिसकी लम्बाई 10 से.मी. तथा चौ. 6 से.मी. है। इस मूर्ति के अवलोकन से प्रतीत होता है कि यह किसी जानवर की प्रतिमा है, जिसकी तराश सही ढंग से नहीं हो पायी है। सर्वेक्षण क्रम में यहाँ से लाल रंग के मृदभाण्ड प्राप्त होते हैं, जिनमें कटोरा एवं घड़े प्रमुख है।

2. बाडेम

400.90'99'' उत्तरी अक्षांश।

290.16'25'' पूर्वी देशानतर।

यह घिरसिंडी पुरास्थल से 3 कि.मी. उत्तर की दिशा में 5 मीटर ऊँचाई तथा 3 एकड़ क्षेषफल का विस्तार लिए हुए अवस्थित है। पुरास्थल से सोन नदी पश्चिम की दिशा में लगभग 3 किमी. की दूरी पर प्रवाहित होती है। यह टीला लगभग नष्ट होने की स्थिति में है जिसके चारों तरफ काफी घनी आबादी बस गयी है। यहाँ के एक स्थानीय निवासी दूर्गा सिंह के घर से बड़ी संख्या में मुस्लिम कालीन चाँदी तथा ताँबे की मुद्राएं व मुहरे संरक्षित अवस्था में मिली हैं। इन मुद्राओं का केवल छायाचिष ही लिया गया है। यहाँ के सर्वेक्षण से कृष्ण लोहित, भूरे तथा लाल रंग के मृदभाण्ड टूकडें प्राप्त हुए है।

3. कंकेर (कनघड़)

200.26'40'' उत्तरी अक्षांश।

810.49'72'' पूर्वी देशान्तर।

यह पुरास्थल जिला मुख्यालय से 30 कि.मी. दक्षिण की दिशा में नबीनगर विकासखण्ड से 9 किमी. की दूरी पर परासिया को जाने वाली सड़क से लगभग 500 मी. पश्चिम की दिशा में 7 मीटर की ऊँचाई लिए हुए लगभग 1 एकड के क्षेषफल में विस्तृत पुरास्थल का आधा भाग मानव गतिविधियों से प्रभावित है। पुरास्थल के पश्चिम में एक बड़ा सा प्राचीन तालाब है। पुरास्थल के शिर्ष पर शिव का मंदिर है, जिसके बाहरी चबूतरे पर बलुए प्रस्तर की एक नंदी प्रतिमा खंडित अवस्था में विराजमान है। इस प्रतिमा की ऊचाई 98 से.मी. तथा चौड़ाई 78 से.मी. है। आलोच्य प्रतिमा बैठी हुई अवस्था में है। इसके गर्दन का ऊपरी हिस्सा नष्ट हो गया है, पीठ सुन्दर फूल–पत्तियों से नक्काशी युक्त है। पैरों की भाव भंगिमा से ऐसा प्रतीत होता है कि बस उठने वाला ही है। मंदिर के अन्दर काला कसौटी प्रस्तर की शिव की शीर्ष प्रतिमा भूमि पर रखी हुई है, जिसकी लम्बाई 9.5 से0मी0, चौड़ाई 7.2 से0मी0 है। इस प्रतिमा में शिव के केश को जुड़ा की तरह कस–कर ऊपर की तरफ बांधा गया है तथा बालों को कंघे की तरह संवारा गया है। यहाँ के सर्वेक्षण क्रम में उत्तरी कृष्णमार्जित व लाल मृदभाण्ड के टुकडे प्राप्त हुए है।

4. चन्द्रगढ़

220.83'51'' उत्तरी अक्षांश।

810.6'23'' पूर्वी देशान्तर।

यह पुरास्थल जिला मुख्यालय से 20 कि.मी. की दूरी पर होल्या नदी (पुनपुन की सहायक मौसमी नदी) के बाँयी तट पर 10 एकड़ में अवस्थित है। इसे पुरातात्त्विक पटल पर लाने का श्रेय ग्रियर्सन महोदय को है। उन्होंने अपने प्रतिवेदन 'नोट्स ऑन द डिस्ट्रिक्ट ऑफ गया' 1908 ई. में एक लेख प्रकाशित किया था।5 यह पुरास्थल मध्यकालीन प्रतीत होता है यहाँ एक प्राचीन शिव का मंदिर पूर्वी छोर पर जर्जर अवस्था में विद्यमान है। यह पुरास्थल चन्द्रगढ़ किले के रूप में जाना जाता है, जिसका निर्माण 1694 ई. में मेवाड (राजस्थान) से आकार बसे हुए राजपूत शासक चन्द्रदेव के द्वारा इस किले का निर्माण कराया गया, जो निर्माता के नाम पर चन्द्रगढ़ पड़ा। इस पुरास्थल के पूर्व दिशा में एक कुँआ विद्यमान है जिसके निर्माण में ईंट की जगह पत्थरों को उपयोग में लाया गया है। इसका व्यास लगभग 2 मीटर है। यहाँ पर मृदभाण्ड के साक्ष्यों का अभाव दिखता है।

5. भवानोखाप

410.69'45'' उत्तरी अक्षांश।

810.23'11'' पूर्वी देशान्तर।

नवीनगर से बारून को जाने वाली सड़क पर चन्द्रगढ़ पुरास्थल से लगभग 3 कि.मी. उत्तर की दिशा में यह पुरास्थल अवस्थित है, जिसका क्षेषफल लगभग 2 एकड़ में विस्तृत है। इस गाँव के नामकरण के सम्बन्ध में रोचक अनुश्रुतियाँ यहाँ सुनने को मिली। स्थानीय ग्रामीण संवाद क्रम में यह पता चला कि भवानीखास नाम का एक राजा था। उसी के नाम भवानी का अपभ्रंश हो कर भवानोखाप पड़ा। इस पुरास्थल का अधिकांश भाग आज ग्रामीण अधि ावास की बलि चढ़ चुका है। पुरास्थल का जो अवशेष हिस्सा है उसकी ऊचाई 3 मीटर है जिसके दक्षिणी हिस्से में गहरी खाई है। पुरास्थल के परिमार्गण से मध्यकालीन दीवार के साक्ष्य मिले है।

6. नबीनगर

700.77'31'' उत्तरी अक्षांश।

530.27'34'' पूर्वी देशान्तर।

यह पुरास्थल परासिया–नबीनगर को जाने वाली सड़क के दाहिने तरफ नबीनगर बाजार से सटे हुए 100 मी. की दूरी पर पुनपुन नदी के दाहिने तट पर स्थित है। नबीनगर डाकघर पुरास्थल से 200 मी. की दूरी पर पश्चिमी की दिशा में अवस्थित है। यह पुरास्थल लगभग 4 एकड़ में विस्तृत है। यह पुरास्थल पुनपुन नदी के किनारे होने के कारण धार्मिक आस्थाओं को समेटे हुआ है। यहाँ प्रत्येक वर्ष अमास्या के दिन मेले का आयोजन होता है, जिससे आस–पास के लोगों की काफी भीड़ होती है। इस पुरास्थल के मध्य पूर्वी छोर पर सोखा बाबा की समाधि स्थल है तथा पुरास्थल के मध्य भाग में दो छोटे–छोटे मंदिर अवस्थित है। इस मंदिर के अन्दर सप्तअश्व रथ पर सवार सूर्य की काला कसौटी प्रस्तर की प्रतिमा विद्यमान है। सूर्य प्रतिमा का प्राचीनतम विवरण बृहत्संहिता7 में उपलब्ध है। यहाँ सूर्य उदीच्यवेश, हाथों में पद्म लिए, कुण्डल, हार एवं मुकुट से सुशोभित है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण8 में भी सूर्य प्रतिमा का वर्णन मिलता है। शुंग काल से सूर्य प्रतिमा मिलने लगती है और उसे प्रारम्भ करने का श्रेय बिहार को ही है। यह बोधगया के वेदिका पर उत्कीर्ण है।9 इस पुरास्थल से प्राप्त सूर्य प्रतिमा की माप 24.4 से.मी. ऊचाई तथा चौडाई 28 से.मी. है। इस रथ का संचालन करते हुए सारथि अरूण का अंकन है। अश्व रथ पर विराजमान सूर्य के बाँये हाथ में गदा तथा दाये हाथ में हथौडा कानों में कुण्डल गले में माला पहने हुए दर्शाया गया है। यह मूर्ति मध्यकालीन प्रतित होती है।

7. उरदाना गढ़

410.69'30'' उत्तरी अक्षांश।

810.23'11'' पूर्वी देशान्तर।

यह पुरास्थल जिला मुख्यालय से लगभग 25 किमी. पश्चिम की दिशा में नवीनगर से बारून को जाने वाली सड़क से 200 मी. की दूरी पर दक्षिण दिशा में सोन नदी के दाहिने तट पर पर अवस्थित है। इसका क्षेषफल लगभग 2 हेक्टेयर में विस्तृत है। इस पुरास्थल के शीर्ष भाग पर एक शिव मंदिर विद्यमान है। यहाँ से सर्वेक्षण के क्रम में मुख्यतः कृष्ण लेपित मृदभाण्ड, लाल लेपित मृदभाण्ड प्राप्त होते है जिनमें कटोरा एवं घडे प्रमुख हैं।

8. केरका

360.44'78'' उत्तरी अक्षांश।

280.22'50'' पूर्वी देशान्तर।

यह पुरास्थल नबीनगर से बरेम को जाने वाली सड़क से 3 किमी. पश्चिम की दिशा में सोन नदी के दाये तट पर लगभग 2 किमी. की दूरी पर स्थित है। इस पुरास्थल का क्षेषफल लगभग 3 एकड़ में विस्तृत है।

यहाँ से पालकालीन (9–10वीं शती ई0) काला कसौटी पत्थर द्वारा निर्मित दशावतार विष्णु की एक लगभग

4 फीट की प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसमे विष्णु स्थानक मुद्रा में है। ब्राह्मण प्रतिमाओं में विष्णु का महत्वपूर्ण स्थान है। मानव की धार्मिक भावना तथा भक्ति प्रदर्शन के निमित्त ही विष्णु की प्रतिमा तैयार की गयी। विष्णु की पूजा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। शतपथ ब्राह्मण10 में विष्णु को सभी देवताओं में श्रेष्ठ बताया गया है। इसके अतिरिक्त पद्म पुराण11 में भी विष्णु की श्रेष्ठता का उल्लेख है। विष्णु की यह प्रतिमा पद्मासन पर विराजमान हैं। यह चतुर्भुज प्रतिमा है। बायी तरफ के दोनों हाथों में क्रमशः चक्र एवं शंख धारण किये हुए हैं। दाहिने तरफ के ऊपर उठे हाथ में परशु के समान कोई आयुध है, तथा दूसरा हाथ नीचे की तरफ है, जो वरद मुद्रा में है। विष्णु के मस्तक पर किरीट मुकुट सुशोभित है। प्रतिमा के दोनों तरफ विष्णु के अन्य दस अवतारों की प्रतिमायें अंकित हैं, जो विष्णु की मुख्य मूर्ति से अपेक्षाकृत छोटी हैं। विष्णु के बालों को दोनों तरफ कन्धे तक लटकता हुआ प्रदर्शित किया गया है। प्रतिमा में ऊपर की तरफ उड़ते हुए नभचारी गन्धर्वों की आकृतियाँ हैं। गले में ग्रैवेयक सुशोभित है साथ ही यज्ञोपवीत भी धारण किये हुए हैं।

सन्दर्भ–सूचीः–

1. पंत, पी.सी. एवं विदुला जायसवाल, 1991, पैसरा, द स्टोन एज सेटलमेन्ट ऑफ बिहार, आगम कला, दिल्ली, पृ. 48 ।
2. वर्मा, राधाकान्त, 2016, भारत की प्रस्तर युगीन संस्कृतियाँ, परमज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 105–106 ।
3. चक्रवर्ती, दिलीप कुमार, 2006 ''द ऑक्सफोर्ड कम्पेनियन टू इण्डियन आर्कियालाजी; द आर्कियालाजिकल फाउन्डेसन्स ऑफ एन्शियट इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 267 ।
4. वही, पृ. 268 ।
5. पाटिल, डी.आर., 2006, (पुनर्मुद्रित), दि एन्टिक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, पृ. 225 ।
6. शर्मा, शंकर और सचिन तिवारी, 2016, रिसेन्ट एक्सप्लोरेशन एट एन्शिएण्ट माउण्ड लारी (डिस्ट्रिक्ट–अरवल, बिहार), रिसर्च डेलिबरेशन (ऐन इण्टनेशनल) जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटी एण्ड सोशल साइन्स (ग्वालियर), वाल्यूम–1, ईसु–1, https://issue.com/lalleshkumar/docs/rd-accessed on 01.11.2019./
7. जोशी, नीलकंठ पुरूषोत्तम, 1977, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, बिहार पब्लिकेशन, पटना, पृ. 158 : (वृहत्संहिता 57. 41) ।
8. वही, पृ. 159; (विष्णु धर्मोत्तर पुराण 67.2) ।
9. सिंह, विन्ध्येश्वरी प्रसाद; 1999, भारतीय कला को बिहार की देन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ. 220 ।
10. उपाध्याय, वासुदेव, 1982, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृ. 78–80 (शतपथ ब्राह्मण 26.1.1.) ।
11. वही, पृ. 78; पद्म पुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय–282।

मिश्रित मानव पशु शीर्ष प्रस्तर प्रतिमा

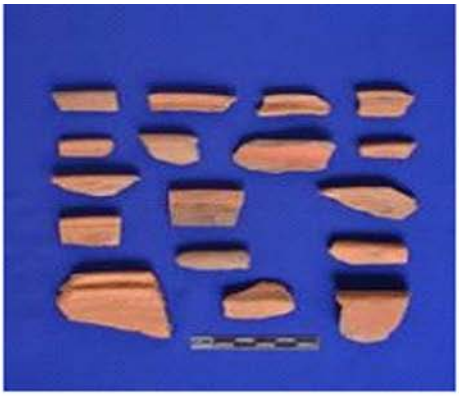

लाल रंग मृदभाण्ड पात्र खण्ड

मध्यकालीन चाँदी के सिक्के

मध्यकालीन ताम्र धातु के सिक्के

शिव की शीर्ष प्रतिमा

अश्वरथ पर सवार भगवान सूर्य और उनके सारथी अरूण

काशी हिन्दु
विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

''अमोघवर्ष प्रथम की दो विवादास्पद रचनाएँ''

वियोग सिंह यादव

राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम का समय एक समावेशी काल था। धर्म, दर्शन, अर्थव्यवस्था, विद्या एवं साहित्य सर्वष यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। अमोघवर्ष स्वयं विद्वान् एवं विद्याप्रेमी था। इसका दरबार विद्वानों का केन्द्र बन चुका था, जिसके फलस्वरूप विभिन्न विधाओं से संबंधित साहित्यिक क्रियाकलाप हुए। इस काल में विविध विषयों से संबंधित साहित्यिक रचनायें दिखाई देती हैं। इस काल के साहित्य में संस्कृत, कन्नड़ एवं प्राकृत तीनों भाषाओं का समावेश किया गया है। विषय की दृष्टि से भी साहित्य समावेशी है। ये विषय हैं– काव्य, काव्यशास्ष, व्याकरण, जैनधर्म एवं दर्शन। तथापि साहित्य में सैद्धान्तिक पक्ष को अधिक महत्व दिया गया है। वस्तुतः सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि ही समावेशी चिन्तन की प्रेरक होती है। इस काल में लिखे गये ग्रंथों में कविराजमार्ग, प्रश्नोत्तररत्नमालिका, पार्श्वाभ्युदय, जयधवलाटीका, आदिपुराण, गणितसारसंग्रह, शब्दानुशासन, अमोघवृत्ति, स्षीमुक्ति–केवलिभुक्तिप्रकरण प्रमुख हैं। कविराजमार्ग और प्रश्नोत्तररत्नमालिका के संदर्भ में यह विवाद है कि इसके वास्तविक लेखक कौन हैं? ए0एस0 अलतेकर महोदय का मानना है कि कविराजमार्ग काव्यशास्ष पर कन्नड़ भाषा का प्रथम कार्य है। जिसका श्रेय अमोघवर्ष को दिया जाता है, लेकिन क्या वह (अमोघवर्ष) स्वयं लेखक थे या महज प्रेरणादायक, यह अब भी विवाद का विषय है।[1] लीट महोदय ने यह सुझाव दिया है कि इसके लेखक कवीश्वर हैं। हम्पा नागरजैय्या का मत है कि कविराजमार्ग के प्रणेता श्रीविजय हैं, जिन्होंने नृपत्तुंग (अमोघवर्ष) के यश में वृद्धि के लिए यह रचना की थी।[2] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन लेखक नागवर्मा (लगभग 1145 ईस्वी) और भट्टारक अकलंक (1604 ईस्वी) ने नृपत्तुंग को ही कविराजमार्ग का प्रणेता माना है।[3] उनके मत साहित्यशास्ष के प्रचलित मान्यता के भी बोध ाक हैं। इसी तरह के विवाद प्रश्नोत्तररत्नमालिका के संदर्भ में भी है। प्रश्नोत्तररत्नमालिका के प्रणेता कौन हैं? इस पर भी विद्वानों में कई मत हैं, जिनमें से एक मत में अमोघवर्ष को प्रणेता माना गया है। प्रस्तुत शोध आलेख में अमोघवर्ष से सम्बन्धित उपर्युक्त दोनों रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

कविराजमार्गः–

'कविराजमार्ग' कन्नड़ साहित्य की प्राचीनतम रचनाओं में से एक है। यह एक लक्षण ग्रंथ है और दंडी के 'काव्यादर्श' पर आधारित है। इसमें दोषादोषानुवर्णननिर्णय, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार नाम के तीन परिच्छेद है। इसकी भाषा प्राचीन कन्नड़ है। इसमें कन्नड़ भाषा के उत्तर–दक्षिण दो भेद भी बताये गये हैं। उदाहरणस्वरूप इसमें अलग–अलग शब्दभेद भी निरूपित हैं। बेदण्डे तथा चत्ताण नाम की द्विविध पद्य शैलियों का उल्लेख भी किया गया है। कन्द, वृत्त या एक–एक जाति का नाम बेदण्डे एवं कई कन्द, वृत्त, अक्षर, चौपदी, गीतिका और षिपदी आदि का नाम चत्ताण बताया गया है। कन्द ही इसमें प्रयुक्त प्रधान छन्द है। इसमें गीतिका और संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग विरल है और प्रत्येक परिच्छेद के अंत में पुष्पिका मेंगद्य का व्यवहार परिलक्षित होता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ कन्नड़ भाषा–भाषियों के लिए गौरव की वस्तु है। इसमें तत्कालीन कन्नड़ क्षेष का परिचय बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया गया है। इसमें कन्नड़ भाषा की भौगोलिक सीमा के बारे में उल्लेख है कि ''कन्नड़ प्रदेश कावेरी से गोदावरी तक फैला है।[4]

अन्त के कुछ छन्दों में इसके लेखक संबंधी समस्या पर प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक परिच्छेद में अंत में श्रीविजय के इस ग्रन्थ की कृति होने का उल्लेख है। यद्यपि नृपत्तुंग (अमोघवर्ष प्रथम) को भी मान्यता दी गयी है और तीनों

ही परिच्छेदों के नितान्त अर्थात् पुष्पिका में नृपत्तुंगदेव के अनुमत होने की बात कही गयी है। इस ग्रन्थ के अन्त में श्रीविजय और नृपत्तुंग दोनों के उल्लेख होने से यह विवाद खड़ा हो गया है कि कविराजमार्ग वास्तव में किसकी रचना है– श्रीविजय की अर्थात् नृपत्तुंगदेव (अमोघवर्ष) की।

वास्तव में बात उलझी नहीं है बल्कि उलझा दी गयी है। बहुत से विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि राजा पैसा देकर कवियों से अपने नाम से ग्रन्थ लिखवा लेते थे। इस पक्षपातपूर्ण आग्रह के चलते ग्रन्थ रचना का पूरा श्रेय ही श्रीविजय को दे दिया गया है। जो लोग इस ग्रन्थ को नृपत्तुंग की रचना मानते हैं, उनको ग्रन्थ के अन्त में सभाकवि श्रीविजय के विवरण (छंद 222–223) का उत्तर देने में कठिनाई हो रही है। क्या इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय दोनों को नहीं दिया जा सकता है? एक को ग्रन्थ के विषयवस्तु के लिए और दूसरे को भाषा और छन्द में उसके विचारों को प्रस्तुत करने के लिए। दूसरे शब्दों में अमोघवर्ष को कविराजमार्ग में उपनिबद्ध विषय और विचार का श्रेय दिया जाना चाहिए और श्रीविजय को प्रस्तुतीकरण का। इस प्रकार की रचनाएँ प्राचीन काल में होती थीं और अभी भी होती हैं। इस प्रसंग में ए.पी.जे. अब्दुल कलाम की आत्मकथा ''अग्नि की उड़ान'' (मूल कृति–wings of fire)को लिया जा सकता है।

'अग्नि की उड़ान' पुस्तक की भूमिका में अरुण तिवारी कहते हैं कि ''डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के सान्निध्य में मुझे (अरुण तिवारी) एक दशक से भी अधिक समय तक काम करने का अवसर मिला है। हो सकता है कि उनके जीवन लेखक के रूप में मेरे पास पर्याप्त योग्यता न हो, परन्तु निश्चित रूप से मेरी ऐसा बनने की इच्छा भी नहीं थी। एक दिन बातचीत करते हुए मैंने (अरुण तिवारी) उनसे पूछा कि भारत के नौजवानों के लिए वे क्या कोई सन्देश देना चाहेंगे? युवाओं के लिए उनका जो सन्देश था, उसने मुझे मोह लिया। बाद में मैंने उनसे उनकी यादों के बारे में पूछने का साहस जुटाया, ताकि उन्हें मैं (अरुण तिवारी) कलमबद्ध कर सकूँ।

हमने देर रात एवं सूर्योदय से पहले तक कई लंबी–लंबी बैठकें कीं। उनकी अट्ठारह घंटे रोजाना की दिनचर्या से किसी भी तरह यह समय निकाला। उनके विचारों की गहराई और व्यापकता ने मुझे सम्मोहित कर लिया था। उनमें गजब का तेज था और उन्होंने विचारों की दुनिया से असीम आनंद पाया था। उनके बातचीत को समझना हमेशा आसान नहीं होता था; पर उनसे बातचीत हमेशा ताजगी और प्रेरणा प्रदान करने वाली होती थी।

जब मैं इस पुस्तक को लिखने बैठा तो मुझे लगा कि जितनी क्षमता मेरे भीतर है, इस काम को करने के लिए उससे कहीं ज्यादा योग्यता चाहिए। लेकिन इस काम की महत्ता को महसूस करते हुए और इसे एक सम्मान के रूप में लेते हुए मैंने इसे पूरा करने का साहस एवं हिम्मत जुटाई।''[5]

अरुणतिवारी कहते हैं कि ''डॉ. कलाम की बताई कई घटनाओं में से कुछ को ही मैं इस पुस्तक में शामिल कर पाया हूँ।''[6] इस पुस्तक में 'मेरी बात' के अन्तर्गत डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम कहते हैं कि ''मेरे युवा सहयोगी अरुण तिवारी ने मुझसे अपने संस्मरण देने का अनुरोध किया, ताकि वे इन्हें लिखकर सुरक्षित कर सकें।''[7] डॉ. ए. पी.जे. अब्दुल कलाम के पास समयाभाव के कारण यह पुस्तक अरुण तिवारी ने भाषाबद्ध की है। लेकिन वैचारिकता पूर्ण रूप से कलाम की है। प्रकाशित पुस्तक के शीर्षक पृष्ठ पर इसका विवरण इस प्रकार है:–

अग्नि की उड़ान
(आत्मकथा)

डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम
लेखन सहयोग
अरुण तिवारी

इस पुस्तक के आलोक में कविराजमार्ग के कृतित्व को भी समझा जा सकता है। शासक के रूप में अमोघवर्ष के पास भी लेखन कार्य के लिए समयाभाव रहा होगा। दोनों (अमोघवर्ष और श्रीविजय) में कविराजमार्ग के विषयवस्तु पर कई दौर संवाद चला होगा। बाद में श्रीविजय ने अमोघवर्ष के विचारों को भाषाबद्ध किया होगा। एक–एक परिच्छेद पूरा होने के बाद श्रीविजय ने अपना आलेख राजा के सामने प्रस्तुत किया होगा। प्रस्तुति से सहमत हो जाने पर राजा ने टिप्पणी के रूप में अनुमत लिखा होगा। अतएव इस ग्रन्थ के तीनों परिच्छेद के अंत में 'नृपत्तुंगदेवानुमतं' उल्लेख मिलता है। इस तरह कविराजमार्ग के वास्तविक लेखक अमोघवर्ष ही है और श्रीविजय उनके विचारों को उपनिबद्ध करने वाला भाषा कवि।

प्रश्नोत्तररत्नमालिका :–

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय ने प्रश्नोत्तररत्नमालिका नामक सुभाषित काव्य को अमोघवर्ष की कृति माना है। अनेक विद्वान् इसे शंकराचार्य की कृति मानते हैं। वस्तुतः इसके अनेक संस्करण ज्ञात होते हैं। हमें इसके निम्नलिखित प्रकाशित संस्करण देखने को मिले हैं–

1. शंकर भगवत्पादकृत प्रश्नोत्तररत्नमालिका, कांची कामकोटिपीठ कांचीपुरम् के जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा जारी, तिरुमाला तिरुपति देवस्थानम्, 1992।
2. प्रश्नोत्तररत्नमाला, अनुवादक पं0 ब्रह्मदत्तशर्म्मा, प्रकाशक श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी, अम्बाला शहर, 1922।
3. प्रश्नोत्तररत्नमालिका, प्रकाशक वीरेन्द्र कुमार, देवेन्द्र कुमार जैन, बम्बई, 1976। प्रश्नोत्तररत्नमालिका, प्रकाशक भगवान् ऋषभदेव ग्रंथमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेष मंदिर, संघीजी, जयपुर, 2012।
4. कुछ पाण्डुलिपियों में इसे यतीन्द्र शुकदेव की रचना बतलाते हैं। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस प्रसंग में निम्न पुष्पिका प्रस्तुत की है– इति श्रीशुकयतीन्द्रविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता।।8
5. श्री ओझा बतलाते हैं कि ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रश्नोत्तररत्नमालिका का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ जिसमें लिखा है कि इसपुस्तक को बड़े राजा अमोघवर्ष ने रचा था।9

   संस्करण 2 एवं 3 जैन संस्करण हैं। दोनों संस्करणों में प्रथम श्लोक में देवाधिप वीर अर्थात् महावीर की वन्दना है।

   प्रणिपत्य वर्द्धमानं प्रश्नोत्तर–रत्नमालिकां वक्ष्ये।
   नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम्।।10

अर्थात् नागेन्द्र, मनुष्य और देवों से वंदनीय स्वयं देवस्वरूप (देवं) देवों के अधिपति (देवाधिपम्) वीर (वीरम्) वर्द्धमान (वर्द्धमानं) भगवान को नमस्कार करके (प्रणिपत्य) प्रश्नोत्तररत्नमालिका (प्रश्नोत्तररत्नमालिकां) को कहूँगा(वक्ष्ये)।

संस्करण 2 में अन्तिम श्लोक है–

रचिता सितपट गुरुणा विमलाविमलेन रत्नमालवे।
प्रश्नोत्तर रत्नमालेयं कण्ठगता कन्न भूषयति।।11

अर्थात् सितपट धारण करने वाले आचार्य विमलमुनि की बनाई हुई विमलप्रश्नोत्तररत्नमाला को गले में धारण कर (याद कर) कौन पुरुष शोभित नहीं होता? अर्थात् सब होते हैं।

यह श्लोक संस्करण 3 में नहीं है। उसके स्थान पर निम्न श्लोक है–

विवेकात् त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः।।12

अर्थात् विवेक से (विवेकात्), जिन्होंने राज्य छोड़ दिया है (त्यक्तराज्येन), उस राजा (राज्ञा), अमोघवर्ष के द्वारा (अमोघवर्षेण), बुद्धिमानों के लिए (सुधियाम्), उत्तम आभूषण रूप (सत् अलंकृति) यह कृति (इयम्) रची (रचिता) गयी है।

संस्करण 2 के वर्णन के अनुसार प्रश्नोत्तररत्नमालिका आचार्य विमलमुनि की बनाई हुई है जबकि संस्करण 3 के श्लोक के अनुसार यह राजा अमोघवर्ष की रचना है। संस्करण 1 के प्रश्नोत्तररत्नमालिका में संस्करण 2 एवं 3 के प्रथम और अन्तिम श्लोक उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि इस संस्करण में प्रस्तुत सुभाषित काव्य को शंकराचार्य की कृति माना गया है। पुस्तक की समाप्ति पर यह वाक्य मिलता है–''इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृता प्रश्नोत्तररत्नमालिका समाप्ता।।13

इस प्रकार प्रश्नोत्तररत्नमालिका के लेखक के सम्बन्ध में 4 परम्पराएं मिलती हैं जो 4 लेखकों को इसके कर्त्ता के रूप में प्रस्तुत करती हैं– यतीन्द्र शुकदेव, शंकराचार्य, विमलमुनि और अमोघवर्ष।

'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' संस्कृत भाषा में लिखी गयी है, जिसमें प्रश्नोत्तर शैली से गूढ़ विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस पुस्तक में गुरु कौन हैं?, संसार में सार क्या है?, सत्य क्या है? इत्यादि दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों को उठाकर उनके उत्तर दिये गये हैं। इस पुस्तक के कुछ संस्करणों में वेदवाक्य के सेवन, विष्णु और शिव की भक्ति तथा सेवा का उपदेश होने से और जैनों के उपासकीय देवताओं के नाम न होने से स्पष्ट है कि इसका लेखक कोई जैनी नहीं अपितु वेदधर्मानुयायी था।14 इसके तिब्बती अनुवाद में इसे अमोघवर्ष की रचना बताया गया है। इस आध ाार पर इसे अमोघवर्ष की कृतिमाना जा सकता है द्य हमारी दृष्टि में अमोघवर्ष का अपना धर्म जैन धर्म नहीं था, अतएव उसके द्वारा रचित प्रश्नोत्तरमालिका में जैनेत्तर प्रसंग आ सकते हैं। इस समस्या के उपयुक्त निर्णय के लिए इसके एक अच्छ प्रामाणिक समालोचनात्मक ;बतपजपबंसद्धसंस्करण की आवश्यकता है।

संदर्भ :–

1. अलतेकर, ए0एस0, 'द राष्ट्रकूट्ज एंड देयर टाइम्स', प्रकाशक– ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना, 1934, पृ0 411।
2. नागरजैय्या, हम्पा, 'ए हिस्ट्री ऑफ द राष्ट्रकूट्ज ऑफ माल्खेद एंड जैनिज्म', प्रकाशक– अंकिता पुस्तक, बंगलौर, 2000, पृ0 129 ।
3. शास्षी, के0 भुजबली एवं अन्य,'जैन साहित्य का बृहद इतिहास', भाग–7, प्रकाशक– पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1981, पृ0 9 ।
4. पूर्वोक्त, पृ0 9–10 ।
5. कलाम, ए0पी0जे0 अब्दुल, अरुण कुमार तिवारी, 'विंग्स ऑफ फायर', अनुवादक आर्येन्द्र उपाध्याय, 'अग्नि की उड़ान', प्रकाशक– प्रभात, दिल्ली, 2020, पृ0 9 ।
6. पूर्वोक्त, पृ0 10 ।
7. पूर्वोक्त, पृ0 14 ।
8. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला का कर्त्ता', प्रकाशित : अमोघवर्षकृता प्रश्नोत्तर रत्नमालिका, पद्यानुवाद गुणभद्रजैन कविरत्न, भाषानुवाद श्री जिनवरदास, गुजराती अनुवाद, श्री प्राणलाल भाई देसाई, प्रकाशक

वीरेन्द्र कुमार देवेन्द्र कुमार जैन श्री सन्मति कुटीर, बम्बई, 1976, पृ0 1–6 ।
9. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 2 ।
10. प्रश्नोत्तररत्नमाला, अनुवादक पं0 ब्रह्मदत्त शर्म्मा, प्रकाशक श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट, सोसायटी, अम्बाला, 1922, श्लोक–1, पृ0 1; प्रश्नोत्तररत्नमालिका, अमोघवर्षकृत, पद्यानुवादक गुणभद्रजैन, कविरत्न, भाषानुवादक श्रीजिनवरदास, गुजराती अनुवादक श्री प्राणलाल भाई देसाई, प्रकाशक– वीरेन्द्र कुमार देवेन्द्र कुमार जैन श्री सन्मति कुटीर, बम्बई, 1976, पृ0 14; प्रश्नोत्तरत्नमालिका, रचयिता अमोघवर्ष मुनिराज, टीकाकार– मुनिश्री प्रणम्य सागर जी महाराज, प्रकाशक भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेष मंदिर संधीजी, साँगानेर, जयपुर, 2012, श्लोक 1, पृ0 11 ।
11. पूर्वोक्त, अम्बाला संस्करण, श्लोक– 30, पृ0 31 ।
12. पूर्वोक्त, जयपुर संस्करण, श्लोक– 29, पृ0 79 एवं बम्बई संस्करण, श्लोक– 29, पृ0 24 ।
13. शंकर भगवत्पादकृता प्रश्नोत्तररत्नमालिका, कांची कामकोटि पीठ कांचीपुरम् के जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा जारी, तिरुमाला तिरुपति देवस्थानम्, 1992, पृ0 40 ।
14. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ0 ।

शोध छात्र
प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग,
का0हि0वि0वि0, वाराणसी

●●●

AHERI DUSSHERA FESTIVAL IT IS UNITY OF SOCIAL AND CULTURAL

Pro. (Dr.) Anand K. Bhoyar

Indian culture celebrates their festivals to show their features. Gadchiroli is the tribal District of Maharashtra. The Culture shown and festival celebrated in the District are completely deferent compared to other District of Maharashtra. Gadchiroli district is the Identity of Cultural Sports and Stage Shows . Even festival celebrated in this district are the strongest identities for it. Festival Dusshera celebrated in Gadchiroli district on the hands of Royal Family Named "Atram" shows the identification of ancient tribal culture and give the grand proof which now become social and cultural symbol of unity. "1"

1) <u>Land lord of Aheri</u>

About 125 to 150 years ago the family that gained prosperous history . The Royal Family belonging to Aheri celebrate. Dusshera Festival this festival Means that constricting the cultural Mine. According to Royal Family of Atram Late Dharmarao Maharaj Atram (First) is believed to be the first Emperor of this family. First King of Landlord's of Aheri , Late Dharmarao Maharaj Maintained Aheri Estate From 1871 to 1893 . After him the second king Bhujangrao Maharaj Atram Maintained this estate from 1893 to 1928. Afther them Third King late Dharmarao Maharaj (Second) Ruled the estate of Aheri From 1928 to 1950.

During the reign of Late Dharmarao Maharaj (Second) our Country got Freedom. Authorities of this estate were restricted. Till his last breath he was the emperor of Aheri estate due to lot of love and grace of people after his death. Late. Raje Vishveshwarao Maharaj became the emperor of Aheri Estate He Ruled his estate from 1950 to 1997 after him fifth emperor of Aheri estate was Late. Satyavanrao Maharaj Maintained this estate from 1997 to 2011. After him the sixth emperor Raje Ambrishrao Maharaj took the charge as king Aheri Estate.

2) <u>Main Festival</u> :-

Hundred of Years ago Dusshera Festival was historical tradition for the Royal Family of Atram. One upon a time it is very attractive and unbelievable for Aheri. South face Hanuman Temple is located out of the city of Aheri. It has a special Value. Before day of Dusshera Festival people gathered at Rajwada and they went for across the border of Aheri and in Return they killed body of animals this is a symbol of Victory. The Same day they fire with Guns in air. It is biggest festival for royal Family of Aheri. During these days Festival Dussehra celebrated by royal Family of Aheri is a grand occasion for the people of Aheri. Near about 6 to 8 thousand people come for this festival and they stay around the city of Aheri. While coming they bring few gift articles for the emperor. They spend 7 to 8 days in Aheri. Rajwada in this time Aheri looks Spectacular. '2' '3'

3) <u>Meaning of the Poem</u>. :-

Oh! my Lord you called me by sending a message we were eagerly waiting for this message we all arrive on special occasion. On this special occasion God of Saibaba's rally move each and every Road of Aheri. Behind this Saibaba Palakhi Aheri Estate Emperor's Palakhi. People take on their Shoulders. After him Palaki of rayal Family Moves. In this rally, Elephants , Hours, Spiritual Flags , Trumpet , Dhols , Nagads with sward , spear holds some soldiers, Servants, Gond, Adhivasi (Tribal) Non Tribal Male and Female all Types of People including in this rally. In this rally those People participate who come from long distance. They all people and the king of Aheri estate move around the city of Aheri and finally they reach at Gad Aheri. Gad Aheri is the main residence of Royal Family and Late Ranilaxmibai who Maintained the Landlordism from the residence of Gad Aheri. After they do the Pooja of Goddess of Laxmi as well as Weapons. In the evening time rally return

to Rajvada of Aheri then they take Dinner In this Dinner all members who come in the rally . After the dinner people place a campfire and they start the entertainment Program like Rella, Madia dance , Bhajan , Kirthan etc. in the presence of Emperor. '4'

4) Farwell :-

People who come from long distance they stay till 5 to 6 days around Rajvada. This time emperor gives meals for all people. For the purpose of Dusshehra Festival they open Darbar. In this Darbar Limited people goes to meet the Emperor and tell them their sorrow and joys. After this celebration they help them who are needy. They punish to rude people. When the people return to their home they keep Red Gulal Tika on the forehead of Emperor. This happened same to the people. Hundred years ago Dusshehra Festival was the pure soul and good cultural life Journey of Adivasis.

Presently in this situations people to move to city life from the villages. After living the democracy for about 65 years, we have seen few deferments. Transportations developed. We have seen it is near about 5-6 days its happens But Now a days it is going to be end within 2 days. People to come to this festival show their love and affection towards the emperor and we all hope that this love caring & affection must be permanent till the last breath. '5'

5) Features :-

1) In the Dushehra celebrations , Madia people , Gond people and Trible, nontribal people will be present at a large scale.
2) Tribal people will be dressed up with block caps on their heads.
3) The rally on this festival will be moved out with the ancient musical instruments.
4) Till today, the chariot of the emeror will be taken on the shoulders of Bhoi community.
5) After the dinner at night, people join together to perform stage shows such as tribal arts and tribal dance.
6) On the festival of Dusshehra the committee will be filled with selective people.
7) Dusshehra is the festival to celebrate with lots of noise and enthusiasm , but it will be celebrated with peace & without violence.
8) In this festive Hindu, Muslim, Buddhist, Tribal, Bengali People will participate equally.

6) Related books:-

1) Mandavkur Gopal Krishna – Lokmat Daily Newspaper.
2) Rajurkar S.T. – History of chandrapur – Mahakali Publication Chandrapur 1982 – P.No. 137.
3) Devgoankar Dr. Sou. Shaileja – Adhivasi - Folklore of Maharashtra – Shri. Sainath Publication Nagpur 1993 P.No. 88-89 .
4) Badve Maharashtra – Madia Community from Indravati river area – Narayan Publicatin – 1999 P.No. 50 .
5) Kitta - Mandavkar Gopalkrishan – Lokmat Daily News Paper.

Hod. Dept. of History
Bhagwantrao Arts College Sironcha
Dist. Gadchiroli (M.S.) 442504

●●●

Newly Discovered Neolithic Tools from District Jashpur, Chhattisgarh

Dr.Nitesh Kumar Mishra
Anshu Mala Tirkey
Baleshwar Kumar Besara

This paper is related to Neolithic culture in Jashpur region. It consists of the definition of prehistory. The paper deals with the geographical features of the region. As Jashpur region consists of various mountains, rivers and forest, which promotes the survival of prehistoric man. There are detailed information about the Neolithic culture and tools. Few sites are also mentioned in this paper. The paper also focuses on the study o worship, rites and rituals of tribal communities related to Neolithic tools. This paper also contains the medical used of the Neolithic tools among the tribal societies. The Neolithic tools are not only used for human beings but also for the animals as medicine. Continuation could be seen among the tribal people as medicine and they worship the tools as god. Neolithic culture in this region enriches the history of the state and constructs the chronology of the district.

We acquire knowledge of prehistoric age by the archaeological evidences which are scattered all over the world. There is no written evidences of this age, thus the word prehistoric represents the period before history was recorded or before the invention of writing system. Prehistory is also known as "Stone age". Prehistory describes eras where there was human existence, but no records exist about their way of life. On the basis of archaeological evidence, Pleistocene period (30 lakh B.C.) is marked as the evolution of mankind1. Our first nearest ancestor was Australopithecus. After Australopithecus, Homo Habillis, Homo erectus and Neanderthal were marked as our ancestors. After all these species the developed human was marked as Homo sapiens. Infact the complete developed human species was known as Homo Sapiens Sapiens2. Pleistocene period was marked for the attainment of the evidence of fossils and stone tools. For the study of prehistoric age, the period was divided on the basis of technique and types of the prehistoric tools. First is Paleolithic period then Mesolithic period and the last phase of Stone Age is Neolithic period. Neolithic period was the revolutionary era, when the prehistoric man changed their life style. They started agriculture along with hunting and food gathering. Previously they depend upon nature (man gathered the fruit and roots for their survival) but in this period they won victory upon the nature, they started cultivating and produced their own food. Apart from this they also started domesticating animals for food and other purposes3

Geographical background

Jashpur region is one of the districts of Chhattisgarh state. It is the bordering district of northern side of Chhattisgarh state. Geographically Jashpur region is divided into two parts. The northern part of the district is known as 'upper ghat' where as the southern part is known as 'nichghat' Jashpur district is the interconnecting border of Jharkhand and Odisha. There are eight blocks in Jashpur district. Geographically Jashpur region is very rich; it consists of numerous mountains (like Dungul pahar, Deshdekha, Madeshwar and Arra pahar), rivers (like Ib River, Lawa River, Shankh River and Girma River) and forests (like Badalkhol etc.)4. There are different kinds of trees, plants, animals, birds and aquatic animals. The geographical features and climatic condition of Jashpur region indicates the survival of prehistoric man. This region consist of not only the historic period but there are also the evidence of prehistoric period scattered all over district. s

Literary review

Archaeologically Jashpur region is very important part of Chhattisgarh state, but also incomplete and nebulous research work has been done. Directorate of Culture and Archaeology Govt. of Chhattisgarh has done the

exploration work in the year (2013 to 2014) but report is not published yet. After the Directorate of Culture and Archaeology Govt. of Chhattisgarh, we have explored and wrote three articles namely "Agaria tribe; the chronicles of megalithic tradition of iron smelters of northern Chhattisgarh region" (Shodh Sarita), New explored archaeological site "Jaimarga" (Puratan), The ancient megalithic practices in Jashpur district (Chhattisgarh region)(IJASS) We have roughly explored this region and got the result that it consists of Neolithic period, which was missing of in Jashpur district of Chhattisgarh state.

Aim of study

The Neolithic period will play an important role in the chronological history of Jashpur district. In the area of north Chhattisgarh region there was lack of Neolithic period, so this research will add a lesson to the history of northern region. It will also enrich with the knowledge of the spread of the Neolithic culture in Indian context. The Neolithic phase in Jashpur district is very beneficial for the state, research scholars and historians.

Research methodology

This research paper consist of primary data, the work has been done by excessive field work. Interaction and documentation work also have been done. The rites and rituals which have been followed by the tribal people are also presented in this paper by the means of interaction.

Analysis

Prehistory is that era or time period when there was the evolution of mankind took place. There are no written records of prehistoric time. We have to depend on the archaeological remains (their daily used artifacts like stone tools etc.).

The term Neolithic period contains the last sequence of the Stone Age after Paleolithic and Mesolithic period. This period is also known as the new stone age. In this period there was the change in the lifestyle of the prehistoric man. The prehistoric man was now engaged to agriculture, domestication along with hunting and food gathering. They started living a settled life5. The most striking feature of this period was the use of polished stone tools by the prehistoric man. And the main work of this period was grinding and polishing. The stone tools were polished on the querns; it was continuously rubbed on the quern. The Neolithic period encompass an amelioration of behavioral and cultural innate and changes including the domestication of animals and cultivation. There were various stone tools used by the mankind of Neolithic period.

Ring stone was the most important tools used by the people of Neolithic period. Mace head is also known as ring stone6. Mace head are of various shape and size. The stones were rubbed and made in round shape, after that hole was made in between by drilling the stone for fixing the stick (for holding purpose). According to the shape and size work was decided by the prehistoric man. It was the symbol of power within the Stone Age man. The real skill of prehistoric man was the cutting, drilling and shaping the ring stone. Mace head was used to crush the lump of soil in the field. It was also used as hammer stone and as weapon in prehistoric time.

Celt was another very important tools used by the prehistoric man. Celts were basically used for cutting purposes. When the prehistoric man started living settled life they need to clear the forest7. So they made the Celts for this work. Shoe last Celt is a Neolithic tool, which is a long polished stone tool. It was used for felling the trees and wood working. This tool was very essential for prehistoric man, they used this tool to clear the forest lands and create fields for making houses and cultivation. This Celt was also used for ploughing the field in prehistoric times.

The axe was made to drive into wood and to split it. The axe usually has a short and flat body and means of pulling it back or twisting it loose from the grip of the cloven wood. The axe is a tool for hewing, cleaving or chopping trees and woods. The axes were also used for killing purpose.

Chisel is a small Neolithic tool. These tools are made of various types of stone of which one end is beveled to one sharp edges and other side is left blunt being struck with hammer stone. Chisel is used for carving or cutting a hard material such as wood and stone. The handle of these chisels were made of wood.

Like other places Jashpur also consist of the evidences Neolithic culture. People also existed during this period in Jashpur region. The abundances of Neolithic tools indicate the presence of the Neolithic period in this region. The tools which are found in this region are ring stone (mace head) also known as "gadhasili pakhna" in

tribal language where as Celt is also known as "bajar pakhna". Along with Celt and ring stone chisels are also found. The ring stones found in the Jashpur region are made of different types of stone like (granite and sand stone). The tools (ring stone) are of various shape and size like circular and oval, some small and big in size. Two ring stones which were discovered was unfinished, the hole in between the stone are incomplete. It shows that, maybe they (prehistoric man) were unable to complete the ring stone.

Nine Celts are discovered from few areas of Jashpur region, in which there is one shoe last Celt, one axe, two chisel and five Celts. Thirty one ring stones were discovered from this region. Among the ring stones few are broken and two stones are unfinished. While exploring the region, we found a habitational site in "Haldi Munda" a village in Duldula block which consists (two broken ring stone and one Celt).

Neolithic tools play an important role in the life of the tribal communities. The Neolithic tools were discovered from the tribal people as well as from the field. According to the tribal people the Neolithic tools were used for medical purpose as well as they also worship the tools as god. Jashpur region consist of higher population of tribal communities. There are around 13 tribal communities, namely Korwa tribe (pahadi Korwa), Birhor tribe, Asur tribe, Oraon tribe, Nagesia tribe, Kawar tribe, Gond tribe, Kherwar tribe, Munda tribe, Kharia tribe, Bhuihar tribe, Saura tribe and Agaria tribe. Among these tribes Korwa and Birhor are marked as primitive tribe. Almost all the tribes worship the Neolithic tools as god. The Oraon tribe has a special ceremony for worshipping the Neolithic tools. They celebrate this festival once a year. The people of Oraon tribe bury the Neolithic tools under a specific tree and in the festival of Sarhul, they took out the stone tools, wash them, put sindoor and chant mantras. The people of Oraon tribe believe that if they worship these tools as god all the epidemics and difficulties will stay away from their village. The people of Gond tribe worship Celt as "Budha Dev". The people of Gond tribe placed the Celt outside their house under the banyan tree or pipal tree. This stone tool is placed by the baiga with all the rites and rituals along with the village people. They don't worship the god every day, worshipping is done once in three years (known as Teen Saali Puja). On the day of worship and celebration the people of Gond tribe sacrifice goat (karipathi) or sheep to god. In teen saali puja, the people of Gond tribe start their preparation before three to two months; they collect funds and purchase various things for worship. On the day of worship the baiga go to river and have bath (wear new cloths). He carries water in a brass pot to the worship place and adds turmeric for the purification of the surrounding. The worship place is plastered by the cow dung. The people offer rice water and flower to their "kill devta". Before sacrificing the goat they feed rice to it, which was offered to the "kul devta". After sacrificing the goat the head part is eaten by the baiga and the body part is distributed among the people as sacrament. The Gond people do this worship because they have the believe that, the god will flourish their harvest, there will be increase in domestication and they will be safe from all kinds of natural calamities

The Neolithic tools are not only worshipped as god but also used for medical purposes. The ring stones and Celts are used as medicine for human and animal both, by every tribe. According to the tribal people (mati or ojhas) used these tools to cure the disease like "fudki (in tribal language) (gastric) also known as 'gastroenteritis', "Mumps" also known as 'parotitis'. When a person suffers from these two diseases the ojhas rub the tool and apply the powder on the neck, if he/ she are suffering from mumps. If a person is suffering from the fudki disease the ojha cauterized the stomach with the stone tools (Celt).

The Neolithic tools are also used for curing the disease of animals like cow and goat. The 'Bahrain disease' which is very common disease among the animals like cow and goat are cured by the Neolithic tools (ring stone). Bahrain disease is the serious autoimmune disease in which the animal's immune system attacks the nervous cells. The damage of the nervous cells leads to numbness, weakness and tingling and it possible that it may cause paralysis. When a cow or goat suffers from Bahrain disease the tribal people tie the ring stone round the neck of the animal. They tie the ring stone until and unless the disease is cured. According to the villagers the Neolithic tools was secured by generation to generation and was to their young ones in tribal communities.

Conclusion

The Neolithic tools were not only used by the prehistoric man but also it was continuously used by the people of tribal communities. The remarkable discovery of the Neolithic tools in Jashpur region indicates the evidence

of the Neolithic culture in this region. The Neolithic period enrich the history of Jashpur region. It also contributes in the chronology of the history of Jashpur region. The abundance of stone tools also indicates the presence of settlement of prehistoric man in Jashpur region.

References

1. Pandey, J.N. Puratattva Vimarsh, Prachya Vidya Sansthan, Allahabad, 2013, pp151.
2. Cambell, B.G. Human Evolution, Routledge, Abingdon U.K. 1998, pp121
3. Jaiswal Vidula, Bhartiya Itihas Ka Nav Prastar Yug, Swati Publication, Delhi, 1992, pp24
4. Kumar, Pramila. Chhattisgarh Ka Bhaugolic Parichay, Madhya Pradesh Hindi Granth Bhopal, 1994, pp42
5. Jaiswal, Vidula. Bhartiya Itihas Ka Nav Prastar Yug, Swati Publication, Delhi, 1992, pp52
6. Pandey, R.P. Bhartiya Puratattva, Madhya Pradesh Hindi Granth Academy, Bhopal, 2007, pp77
7. Chakrabarti, Dilip K. India An Archaeological History, Oxford University Press, New Delhi, 1999, pp221

These are mace head which we have discovered from Duldula block. These tools are made of different stones. These are Celts, axe, shoe last Celt and chisel.

*** Asst. Prof., SoS in AIHC & Archaeology, PRSU RAIPUR.**
**** Research Scholar, SoS in AIHC & Archaeology, PRSU RAIPUR.**
***** M.A. in Archaeology, Ranchi University.**

●●●

Concept of Capital Punishment through the Ages

Dr. Prashant Kashyap

According to dictionary meaning, 'Capital Punishment' means the 'legally authorized killing of someone as a punishment of crime, a death penalty for a crime'. In other words it means a government sanctioned practice where a person is put to the death by the state as a punishment for a crime. During the Ancient time, the capital punishment was executed for a small – small crime. It is the most extreme form of punishment. The methods of execution of death penalty have varied from time to time. There were so many forms of executing the death penalty in which some popular forms are –

(i) Stoning

(ii) Pillory

(iii) Construct in to wall

(iv) Throw under the leg of elephant.

The word 'Punishment' has not been defined under the Indian Penal Code but it simply provides the forms of punishment. Punishment according to dictionary, involves the infliction of pain or forfeiture, it is infliction of penalty, chastisement or castigation by the judicial arm of the state and according to the E. Westermark25 "Punishment is limited to such suffering as is inflicted upon the offender in a definite way by, or in the name of the society of which he is a permanent or temporary member." The main purpose of punishment is not only to punished the wrongdoer but also to maintain peace and harmony in the society According to dictionary meaning, the word 'Punish' means 'to make someone suffer for a crime or for a bad behavior or the imposition of penalty as retribution for an offence'. In Criminal law, 'Punishment' means 'any pain, penalty, suffering inflicted upon a person by the authority of law and the sentence of the court for some crime committed by him or for his omission of a duty enjoined by law'. The punishment maintains law and order, it protects the person and the property. The offenders refrain from wrongdoing for the fear of punishment and therefore, the punishment and law are inseparable. The concept of the punishment has also been recognized in the Dharmashstra. In the Hindu shastras, The King had the power to punish the law breaker and protect the law abider. According to Manu, King was Danda Chhatra Dhari, i.e. the holder of punishment and protector. For him, punishment was the essential characteristics of law and he justified the punishment to keep the people under control and protects them, Manu says that –

''दण्डः शास्ति प्रज्ञाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

''दण्डः शास्ति प्रज्ञाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्ड सुम्तेषु जागर्ति दण्ड धर्म विदुर्वधाः।।[26]

which means 'punishment remains awake when the people are asleep, so the wise have recognized punishment itself as a form of Dharma'. Since ancient times, crime is a legal concept and has the sanction of law. It is also known as the 'living concept' or as the 'changing concept' as it appears at different light in different times (Mohamood Bin Muhammad 2006). What may be crime at one time may not be the crime at other time. Before moving into details, few important things should be kept in mind. Firstly, there was a tendency in the ancient period that crime got mixed up with sin and the law givers strongly believed that every act of the human being is predestined, be it good or evil. To lend support to this idea Narendranath Law (2009: 161) penned down thus: 'The idea of the dependence of all the affairs of life upon heavenly luminaries might have tended to stop the spring of actions by deepening the belief in fatalism. 'This philosophical bent of mind sometimes aided the rulers to take lenient steps against the offenders. Secondly, in ancient India, capital punishment was rendered according

to caste basis. We will see later on that the women and Brahmanas were kept away from the realm of capital punishment on many occasions. Thirdly, capital punishment was rendered with tremendous brutality and lastly, there were certain restrictions imposed on the king while granting death penalty to an offender. While penalizing an offender with capital punishment, the king took under notice two things:

a. the objective circumstance of an offence and

b. the limitations of the offender.

In this respect, Gupta (2006: 4) opined that 'penal science of Hindu India ranks on the same level as the most advanced system of today. Thus, to be precise, since the ancient Indian period, when neither imprisonment had come into existence, nor the value of expiation had been recognized, criminal and his criminality were not looked upon separately, the capital punishment was surer and certain method of getting riddance of the offenders and his offensiveness. The death of the criminal satisfied the individual or the group which had been his victim. This retributory feeling passed on from individuals to groups and from groups to large societies as the civilizations marched away from the primitive form of society.

Concept of capital punishment in the epics

The science of penology was a fully developed subject as early as 4th century B.C. It is observed that right from the days of Mahabhrata till the 'close of the 17th century, there were writers, commentators and compilers and literatures who - had lend their voices in favour of the invoke of capital punishment. In Mahabharata, it has been mentioned that if by destroying an individual ora whole family, the kingdom becomes safe and dagger proof, it ought to be done in the interest of the State. In the Shanti Parva, Dyumatsena said 'As long as barriers within which men should be kept are not transgressed, so long they are designated by the name of Righteousness. If they who transgressed those, barriers were not punished with death, those barriers would soon be destroyed. Men of remote and remoter times were capable of being governed with ease. In this age, the punishment of death has become current. The measure of wickedness has increased to such an extent that by slaying one another cannot be restrained. In the Ramayana, the concept of death penalty was floated widely. It appears that Valmiki wanted the men to behave suavely in the presence of women and not to put on a stern demeanor. An extension of this could be seen in the privileges granted to women of the society. Women should not be killed. To Satrughna manhandling Manthara, Bharata said that the ladies were granted immunity from capital punishment, and hence, he should spare her life. Ravana was also dissuaded by his councilor Suparsva from killing Sita, for killing a woman did not behave him who was born in a noble family. The highest punishment accorded to a woman guilty of severe offences was 'deformity'- her ears and nose were chopped off. However, it must be noted that Valmiki was not in favor of allowing the above privileges to become the license for women for committing atrocities. He required his king to show clemency towards a woman who was a menace to the security and well being of the society at large. In support of this view, the poet recorded the legendary evidence of Indra who killed the Rakshashi Dirghajiva who threatened to swallow the whole earth (Sharma 1971: 108-109). Even Lord Rama in Ramayana had prescribed capital punishment on rare occasions like when a person has lustful relations with his own sister or younger brother's wife (Guruge 1991: 195).

Influence of Buddhism on capital punishment

During the period of Lord Buddha, the concept of capital punishment underwent certain changes. Before the death of Lord Buddha, he prescribed 227 rules to control criminal behavior through the establishment of certain punishments. Of course one of the important ways of deterring punishments was through confession (Simon 2002: 11). Early Chinese pilgrims that in ancient India capital punishment and mutilation on many occasions has been abolished on the ground that they conflicted with the Buddhist attitude of compassion seems to be partially correct when we undergo the rules of penology prescribed by Kautilya in 'Arthasatra' (Morgan 1997: 368). Written by Kautilya during the reign of the great Mauryan ruler Chandragupta Maurya, 'Arthasastra' clearly justifies the importance of capital punishment. Kautilya in his book Arthasastra have categorically mentioned when capital punishment should be rendered. Capital punishment has been prescribed if a miserly officer used government money for his own benefit. If there is a misuse of the government property by an official himself, or by allowing others in misappropriating gems and jeweler, then death sentence has been

prescribed by Kautilya. As said before that the law givers took into consideration the objective circumstances of the offence and the limitation of the offender is proved when Kautilya mentions that if the case against any official is not proved, the Informant shall be given corporal punishment and no mercy shall be shown to him. Moreover, if an informant withdraws the charge at the instigation of the accused, he shall be condemned to death. On stealing the kings property, or on false documentation even by the king, Kautilya prescribed death penalty. Death sentence was also rigorously prescribed for killing, inciting to kill, stealing an animal. However, as mentioned before, that the degree of torture was decided on the gravity of offence becomes clear when Kautilya prescribed death without torture if a theft of a herd (more than ten heads) of cattle occurs. Another example can be sited. In case a miner is caught stealing gems from ores, he is blindly given death sentence while for thefts in other ores other than gun mines; the stealer is punished by imposition of either heavy fine or could opt to do labour without payment. Kautilya considered voluntary deaths like being gored by an elephant is as meritorious as having the sacred bath at the end of Aswamedha (horse) sacrifice. Hence, anyone who seeks such a death shall make oblatory gifts of the following: a drone of rice, a jar of wine, garlands and a piece of cloth to clean the tusks. Capital punishment was also bestowed on selling human flesh, stealing of temple property. Thus, deliberate murderers, harmer's of king's military equipment were punished with death accompanied with torture.

Even later on, during the period of Ashoka, Dr. Subhas C. Gupta had shown that when 'ahimsa' was followed rigidly, it was not applied in the realm of penology. Ashoka, perhaps, did not have capital punishment disallowed when he took to the policy of 'Dhammavjjaya'. He made the uniform rule that men lying in the prison under sentence of death were given respite of three days. Those guilty under concealed act were released from prison on every anniversary of his coronation by granting them pardon. According to V. A. Smith, 'The monkish legend that Ashoka abolished death penalty is not true. His legislation proves that that idea of such abolition never entered his thoughts and like that of the Buddhist monarchs, he regarded the extreme penalty of the law was an unavoidable necessity, which might be made less horrible than it had been, but could .not be dispensed with. Late, in his reign, in 243 B.C., he published an ordinance that every prisoner condemned to death should invariably be granted before execution a respite of three days in which to prepare him for the next world. This slight mitigation of the usual practice of Indian despots, whose sentence was commonly followed by instant or almost instant execution, is all that Ashoka claims credit for' (Smith 1977: 59). However, it is noteworthy that capital punishment rapidly recovered after Ashoka died and his empire decomposed (Jhonson 1935: 427- 428).

Capital punishment in the post Mauryan period

The capital punishment was in vogue at almost every stage during the ancient period. According to scholars like U. N. Ghosal (1996: 29), the emphasis on laid to the Doctrine of the Divine affinity of the temporal ruler. The authority of the king was coupled with his obligation towards his subjects, and the coercive authority of the ruler was recognized as the cause of Dharma. In the post Mauryan period, the penal code was very strict. According to Fa-hien, the culprits were not exempted from physical punishments. The Junagarh Inscription of Skandagupta has given a detailed account of capital punishment. Even in 'Mudrarakshasha', there is a reference that the culprits were crushed to death by elephants (Mishra 1987: 138). With an expansion in the territorial limit of the rulers and increase in population, perhaps the Smriti rules regarding the penal code could not have been implemented strictly and uniformly throughout the country. There must have been variations according to the nature of the kings and also in view of the law and order situations in different kingdoms. The rulers sometimes took a lenient view and pardoned the offender on confession of his guilt. Like earlier periods, the law was partial to women. The description of the execution ground in a contemporary book named 'Samaraiccakatra' is rather terror striking. Like earlier times, the impalement was usual form of execution and it was carried by the Chandalas. The penalty served as a strict warning to the criminals (Mishra 1997: 161-162).

Discussion and Conclusion

Thus, it is clear that the punishment is one of the oldest method of controlling crime and criminality. The object of the punishment is not only to reform the offender but also to deter him and others from committing the

offences and to protect the society. There are different forms of punishments and it changes with the changing of times. The methods of executing the sentence are also changed and supporting human rights.

The history of mankind is an immense sea of errors in which here and there obscure truths must be detected and availed off. Man has never been favoured with any "Follow- and- win" method, he has but learnt from "trial and–error" one. Thus, law has been a thing that changed from one ruler to the other having many coats as a dandy and as many reflections as the glass of Fashion. Laws were cruel and even brutal so much so that often it defeated its own purpose. The history of crime and death penalty would light up the whole dark night of man's groping past. Many cruel things that were done are practically impossible now because law itself has been deposed from the altar of Finality. Justice demanded this and still now doing so. In the increasing participation of the people slow but inevitable changes has been ushered. Treatment has been more and more humane as often brothers had to legislate against his erring brother or sister against her fallen sister. More humane treatment came into being when public became enlightened.

References

'Arthasastra' Kautilya, (edt. and translated by L.N. Rangarajan).

Ananda Guruge, 1991. The Society of the Ramayana, Pg.195, New Delhi.

David T. Johnson, 1935. The Next Frontier: National Development, Political Change and Death in Asia, Barcelona.

Kamal Kishore Mishra, 1987. Police Administration in Ancient India, New Delhi.

Kenneth W. Morgan, 1997. The Path of the Buddha : Buddhism Interpreted by Buddhists, New Delhi.

Mohamood Bin Muhammad's 1996. Planning and Research for Crime Prevention, Social Defence Journal XII, No. 47, New Delhi.

Narendra Nath Law, 2009. Aspects of Ancient Indian Polity, New Delhi.

Ramashraya Sharma, 1971. The Socio-Political Study of the Valmiki Ramayana, New Delhi, 1971.

Rita J. Simon, 2002. A Comprehensive History of Capita Punishment, U.K.

S. M. Mishra, 1997. Yashovarman of Kanauj, New Delhi.

Subhas C. Gupta, 2006. Criminal Punishment, New Delhi.

The Mahabharata, Vol. 12,Shanti Parva, Translated by Kisati Mohan Ganguli.

U.N.Ghosal, 1996. A History of Indian Political Ideas, New Delhi.

V.A.Smith, . 1977. Ashoka, the Buddhist Emperor of India, New Delhi.

Associate Professor
AIHC and Archaeology Department
DAV PG College (BHU), Varanasi

●●●

A historical study of granthalaya in India: a over view

Dr. Vaishali jha,
Dr. Shobhana jha

Writing of the history of granthalaya in India has not yet recived the attention it deserves. Unfourtunately, even the granthalaya in India have also not given due importance to the study of granthalaya history. The pathetic scenario obtains in sparse literature available on this era and the students of granthalaya and suchana vogyan also have not taken serious studies in this regard. The present paper is an earnest attempt in filling this gap and traces the genesis and growth of academic granthalaya in acient, medieval and modern India.

History of granthalaya began with the first efforts to systematize collection of papers. This topic of significance comprise ease of access of the compilation, acquisition of study resources, understanding and decision tools, the books trade, the influence of the material property of the different script resources, language distribution, role in education, rates of literacy, budgets, staffing, granthalaya for specially targeted audiences, architectural merit, patterns of usage, the role of granthalaya in a nations educational tradition, the function of government, minster and private funding. Since the 1960 issues of automation and digitization have arise. Documentation history is the educational regulation committed to the reading of the history of granthalaya; it is a subfield of granthalaya and of history. Right from the days of antiquity, Indian society, Philosophy and religion occupied a place of pride throughout the world and the neighboring countries were all under the magical spell of its majesty. Thousands of scholars from all over the world undertook harmful journeys across the irregular seas, burning desert and snowed in mountain to gain right to use to the resources of India, the land of marvels, especially the resources of its information. Their journeys were real epics of devotion and staying power. They on attainment India stand surprised before the giant collections of the country's recorded information arranged in the most helpful succession in its earliest seats of education. It took their whole existence to overcome that curse.

Indias ancient seats of learning like Nalanda, Taxila, Pataliputra, Banaras, Kanchi, etc, then had excellent collections of rare handmade books and the light and fragrance of the eastern thought contained in them attracted renowned scholars from far abroad. There they mingled with under study from all over the nation and exchange thoughts and dreams. Many popular unknown scholars accurate from Megasthanese to Max Muller lived and worked in those institutions for most part of their life and returned to their national land with caravans/ ships full of translations as well as copies or originals of recorded information of India.

Objectives

The objectives of the present study are to examine the availability of history of ancient granthalaya. The objectives are:-

- To study the existing of the Information available in the all granthalaya;
- To identify the transition of information resources and learning resources;
- To know the reasons for inadequate information growth nation; and
- To know the satisfaction of existing of the Information in granthalaya resources.

Source Material for Writing History

The purpose of systematic writing of record of granthalaya and accepting of the environment of accessible resource material and expressive the art of using it is fundamental. The source for script the record are available in Pali, Sanskrit, Chinese, Arebic, Persian and European Languages and most of them have been translated into English. These be present different format, such as Manuscripts, inscriptions, copper plates etc. They are also original or overseas. The gift of overseas travelogues such as Tibetan, Chinese, Muslim, Portuguese, English and other Europeans is highly useful. Some noteworthy foreign travelogues are Itching, fahien, Hieun, Tsang,

Alberuni, Ibn Batuta, Minhaj, Firshta, Badauni, Afif, Bernier, Mandelso, Manrique de Lara, Martin, Count Noer.

University Granthalaya in early India

The Vedic era information were impart "vocally, exclusive of the average of book." Taxila from 700 B. C. to 300 A. D. was consider to be the most appreciated seat of higher knowledge and education in India, but still there is no accidence found so far in the archaeological excavations at Taxila that there had been a good granthalaya organization in the Taxila University. Fa-Hien noticed such granthalaya Jetavana monastery at Sravasti in 400 A. D. there came into being one of the largest recognized university, the Nalanda University, which by 450 A. D. became a popular seat of scholarship, its fame spreading outside the boundaries of India. Nalanda near Patna grew to be the chief Buddhist monastery and an educational center. Most of what we distinguish of the Nalanda University for the era of the 6th and the 7th centuries A. D. is suitable to the account absent by HiueniTsang, who lived in the organization for three years in the first half of the 7th century and I-Tsing who also stayed there for ten years towards the later part of the same century. Information on the Nalanda University Granthalaya is also found in the Tibetan accounts from which we appreciate that the granthalaya was placed in a particular region known by the poetical name the Dharmaganja, which comprised three huge building, called the Ratnasagara, the Ratnodadhi and the Ratnaranjaka of which theRatnasagara was a ninestoried building and housed the collection of manuscripts and rare sacred works like Prainaparamita Sutra etc. The Granthalaya at Nalanda had a wealthy collection of manuscripts on Philosophy, Religion and contain text concerning to grammar, logic, literature, the Vedas, the Vedanta, the Samkhya Philosophy, the Dharmasastras, the Puranas, Astronomy, Astrology and Medicine.

The University of NAlanda and its granthalaya flourished down to the 12th cencury A. D. (Inid) until Bakhtiyar Khilji sacked it in 1197-1203 A. D. and set fire to the establishment of Nalanda.

University granthalaya in Medieval India

The continuation of educational granthalaya through the medieval era of Indian history is not recognized, though the Muslim policy did hold up granthalaya in their own spaces. A lone exclusion, however was a granthalaya emotionally involved to a educational at Bidar having a collection of 3000 books on special subjects.

Granthalaya in Modern India

During the British law in India, number of educational institution was documented by the East India Company, and by the Christan missionaries. Some of the worth point out actions which led to the development and increase of higher instruction in India during this era were the establishment of the Calcutta Institution in 1781, Jonathan Duncan, then a British manager, found the Benaras Sanskrit Institution in 1792. The Calcutta Fort William institution was founded in 1800. All these institution were having their own granthalaya.

The castle William institution was found in Calcutta on 18th August 1800 by the Marquis of Wellesley, the Governor-General of India during 1798-1805. Reverend David Brown, Provost of the institution was instrumental in setting up the granthalaya which had a well rounded compilation of Eastern manuscript. In the absence of sufficient economic carry, the granthalaya could not carry on for extended and in 1835 it was determined to close the granthalaya and its expensive group was transferred to the Asiatic civilization Granthalaya in Calcutta between 1835-39.

Institution through this era was founded by the Danes in 1818 and the King of Denmark in 1927 agreed to give this institution an academic status by providing correspondence to the Danish Universities with authority to award degree. The granthalaya of this institution too was recognized the length of with its establishment and at a later stage the institution was specified association to the University of Burdwan for the purpose of conferring degrees.

The 7th March 1835 conclusion of the British Indian Government to agree English text and sciences in India was resulted into the spread of number of institutions in India and by 1839 there were over 40 institutions with friendly granthalaya in the British territory in India. For their founding, lots of currency was made accessible by the Indians in the appearance of contributions.

Academic Granthalaya in India after Independence

The authentic method for the growth of institution of higher education granthalaya in India can be said to

have been set in action with the prior arrangement of the University Education Commission presided over by Dr. S. Radhakrishnan (1948-49) and its recommendation, such as, twelve-monthly grants, unlock right of entry scheme, functioning hours, association of the granthalaya, staff, stepladder to make students book aware and the need to give grants to teachers to buy books. The section on granthalaya in Chapter 4 of the report opens with a powerful statement on the importance of granthalaya in university education and states, "teaching is a cooperative enterprise. Teachers must have the necessary tools for teaching purposes in the shape of granthalaya and laboratories as also the right type of students." The Commission in the course of its study of the academic granthalaya, found that "granthalaya were hopelessly inadequate to serve the curricular needs of a modern university. They were ill-housed, and ill-staffed and were completely missing in average literary and methodical journal. Examination was in the hands of workforce that had scarcely any notion of the objectives of university education. The annual appropriation for book purchase seldom exceeded the ten thousand mark."(Bashiruddin, 1967). In addition, the twelve-monthly grant for these granthalaya were not satisfactory. Therefore, the Commission suggested that at least six percent of the total budget of each academic institution should be set aside for the granthalaya. Only then will the condition of these granthalaya progress. It added that if institutions were not willing to allocate six percent of their budget to granthalaya, they should spend Rs.40 per student enrolled. The Commission also recommended that better notice should be paid to improve the reference services in the university granthalaya. Therefore, "certification and bibliographical services must be developed in order to promote research among the faculty and students, make granthalaya proper centres for research activities, and to raise the standards of services." As far as the granthalaya staff is concerned, the Commission was of the view that it is very important to have well-qualified staff, including the Director, in order to provide excellent service in any granthalaya. The Director's qualifications must include Ph.D. in Granthalaya Science and he must have the rank and salary of a professor, capabilities of organization and management, and should have full powers of an administrator to run the granthalaya effectively. There is no uncertainty that the recommendation of the order "were based on the needs of the modern granthalaya services in universities for the promotion of research and creative learning." It was for the first time that such detailed attention was paid to the granthalaya matters by a commission on university education in India.

Conclusion

The magnificent olden times of granthalaya can be traced rear to the very old era when our forefathers learnt the art of statement and script, penned the in sequence, awareness and understanding in the form of texts and manuscript which approved the birthright of civilization, society and awareness from one age group to one more. The initial awareness hubs of Nalanda, Taxila learning centres spread the delicate scent of knowledge, enticed the knowledge seekers crossways the global limitations and quenched quests. The journey of granthalaya also flourished in the mediel era though the invader annihilate chief portion of our awareness legacy but became awakened and inquisitive to actually know and study the fundamentals of awareness paradigms.

References

· Davis, Donald G., Jr. The Status of Granthalaya History in India: A Report of an Informal Survey and a Selective Bibliographic Essay. Journal of Granthalaya and Information Science 14.2 (1989): 98.

· Rajgopalan, T. S. "Trends and Perspectives in Indian Librarianship." Presidential Address, Indian Granthalaya Association Conference, 1987.

· Ranganathan, S. R. "Radio Talk of April 1956. Mohamed Taher and Donald G. Davis, Jr. Librarianship and Granthalaya Science in India. 3.

· Agarwal, J. N. "Granthalaya in Ancient India." Indian Librarian 8.4 (1954): 141.

· Chakravorty, S. N. "Granthalaya in Ancient Times with Special Reference to India." Indian Librarian.

Assistant Professor, Department of Architecture and Planning,
Amity University Chhattigarh, Raipur, CG.
Professor, Department Of Arts and Humanity,
Shri Rawatpura Sarkar University, Raipur, CG,

●●●

PREHISTORIC CULTURAL ACTIVITIES IN THE ONGANA AND POTIA ROCK SHELTER, DISTRICT RAIGARH, CHHATTISGARH

Dr. Shambhoo Nath Yadav
Mr. Zakir Khan

Rock paintings of Raigarh district are extremely important from the Indian perspective. From here, rock paintings were first discovered in 1910 AD, after that the sequence continues uninterrupted and currently about 22 rock shelters have been discovered in which paintings from prehistoric to historical period are found. The biggest problems with there are no work yet done in classification and Dating of Prehistoric Rock painting for which many reasons are responsible. In the research paper presented, the classification and Dating of rock paintings and their newly discovered stone artifact will be discussed and also detailed description of the Finding of stone tools at the Ongna and Potia Rock shelter under Dharamjaygarh tehsil is thus given. In the above descriptions, out of the total 5 rock shelters of Ongna village, only 4 rock shelter paintings are found. From collections of stone tools have been revealed during the survey in the surface and surrounding areas in the basis of stone tools being discovered from this area, this site show the chronology from the Microliths to Mesolithic period to the Neolithic period. For this purpose we surveyed the 2 major rock shelter of Dharamjaygarh Tahsil in Raigarh, Chhattisgarh.

The first rock paintings were discovered in India in 1880 by A. Carlleyle.[1] The history of the discovery and study of rock paintings all over the world is very interesting, exciting and curious. The major cultural features of the Mesolithic period in India are identified with small stone tools. By this period, technological development can be seen in the size and type of stone artifacts. On this basis, this period is called Mesolithic period. The stone tools of this period are kept in two parts - non-geometric and geometric. In which the development of geometric tools occurs in the late stages of the Mesolithic period, the non-geometric tools are the tools of the early stages of this period[2]. Non-geometric and geometric tools are also commonly tools from the surface along with Microliths tools[3]. Neolithic tools, semicircular, triangle, scraper, blade, burin, etc. stools were manufactured during the Mesolithic period[4]. Raw materials such as Chert, Chalcedony, Aget, Quartz, and Jasper have been used[5] in tool Made-up of the Mesolithic age. In this period, development was not limited to tools; their influence is seen in stylographs as well. The rock art of this period was also advanced.[6] similarly; the era of Neolithic period has been technical era. The specific method of friction and polishing was used in stone tools. The number of agricultural implements increased during this period. This includes tools like Ring stone, Celt, Basuli, Chisel, Pickaxe, Sling etc.[7]

Previous work

The first discovery of rock art in Chhattisgarh was made in 1910 by C.W. Anderson, an engineer in the Bengal/Nagpur Railways, duly assisted by C.J. Wellington (from 1910 to 1913) mentioned such work, especially at Singhanpur in Raigarh District, was made in 1918 and subsequently in a few publications. It was followed by the works of P. Brown, M. Ghosh, 1932, Amar Nath Dutta, 1939, L.P. Pandey, D.H. Gordon, 1939, J. P. Gupta, P. Mitra, Dr. M.G. Dikshit, 1955-56. First information of Microliths in painted rock shelter of Kabra pahar, S.K Pandey and V.S. Wakankar, B.K. Sinha, 1977-78 reported of Microliths in painted rock shelter of Ongana pahar, adding considerably to our knowledge about rock art in this area. However, no proper work has been undertaken on this subject in Chhattisgarh during the last two decades in the light of new techniques of study

that have become available in recent years. Although some scholars like G. L. Badam, S. S. Yadav, A. K. Pradhan, B.Shroti, J. R. Bhagat, S. N. Yadav, Minakshi Dubey Pathak etc. highlighted some discoveries in the State.

List of re-visit sites

S.N.	Name of Site	District & Block	Number of Shelters	Number of Painted Shelters
1	Ongna	Raigarh-Dharamjaygarh	5	4
2	Potia		3	1
		Total Surveyed Shelter = 8		

ONGNA (23° 26'18"N 83° 14'39" E) -

Near the village of Ongna, the site is located; the distance between villages to shelter is 1 Km. Local people have known this shelter as name of Shankar Parvati Gufa. In front of Sheltar, it is possible to reach the site in a vehicle up to a distance of about 200 meters. It is located at a distance of about 5 Km from Dharamjaygarh, which has an asphalt road from here; the site is 1 Km on the raw route of Ongna village. Natural Water Spring is available in rock shelter No.2. Bhirhor, Urav, Rathiya, Khorta Tribes are living in this area. Microliths and Cupules are found in the shelter and nearby area. First time Microliths reported by B. K. Sinha[9] and further few Neolithic artifacts were found during the revisiting by author in these shelters.

Description and Measurement of Rock Shelters

Shelter No.01: This is the largest Shelter, whose height is 5.70m, width 31m and depth is more than 10m. The shape of this rock shelter is oval. Here the paintings in Shelter are made up to a width of 12.20m. The direction of all rock shelters is northwest. The highest numbers of rock paintings are found in this rock shelter. Most of the illustrations are done in dark and light red ocher color. Evidence of superimposition is also found in this rock shelter. Some of the prominent illustrations are mentioned below. (fig.1,2,3,4,5)

The visible of a triangular shaped human figure is marked with dark red colour, in which both the grazing humped bull & non humped bull are marked in a row. Two bulls are visible on the right side of human figure, out of which the outside is a hump and the inside is hump less. This entire creation is linear. (fig.8)

A handprint is also being obtained just above the inner bull which is a creation overlapping the bull. The marking of two bulls is also found on the left side of human figure in which the face of the inner one is towards the outside while the face of the outer one is towards the inside, thus both are facing each other. This appears to be the authentic evidence of animal husbandry. The bottom shows a rectangular decoration made through a line on a square pattern. Two human figures have also been depicted in the standing posture. Another depiction is also obtained in which three circles have been formed with the help of a vertical line. A double line is used in the top and bottom circles while four lines are used in the middle circle. In another illustration, three human figures are drawn through a single line. (fig.9), all these three are standing and holding each other's hands. One hand print has been also found in front of them. In addition, the depictions found are several human figures in dancing posture. It is all formed by a single line and is holding each other's hands. This painting of group dancing is a symbol of early human unity and happiness (fig.10). At present time much tribal dance from is living tradition like this painting.

Another important human figure is depicted in dance posture, which at first sight seems to be similar to that of a Harappan dancer lady. (fig.11) Apart from these, many more depictions have been done in this rock shelter, but it is not possible to mention them all due to location.

Shelter No.02: The height of this rock Shelter is 4.30m, width is 23.40m and depth is 7.60m. Paintings are also found here and there is a deposition of friable soil on its surface. Some of the human figures in this rock

painting are painted red ocher color with two important ones. Some such decorations have been done on the heads of both of them, which gives an impression of Ravana.[10] The important thing is that the local people come here once in a year to worship and assimilate this picture with Ravana. Painted walls are being degraded due to which the paintings are getting dim.

Shelter No.03: This rock shelter having height is 2.10m. & width is 9.20m. These shelters also used for paintings. In this rock shelter, some human figures are painted in the group, in which the human form on the left side is the longest and one monkey is depicted on both sides (fig.12). Some blurry geometric shape is visible above it. Another human figure made by lines is also depicted. It seems that this human is expressing some happiness. Two other human figures are created below this picture and the holding of the plant is obtained in both hands (fig.13). This painting is found in the lower part of the rock shelter.

Shelter No.04: Shelter No.4 is small and height is 1.35m, width 0.90m. This is the smallest rock-shelter. A human figure is depicted in red ochre color. The entire image has been created by linear pattern. From a primary observation of human figure, it appears to be type of anthropomorphic figure. Another human figure is also depicted in red ochre color. But its entire body is filled with this color. This picture looks like a drum beater. A swastika symbol has also been depicted, with only three arms visible. One arm appears to have been destroyed, possibly due to stone erosion (fig.14). A depiction of a circle has also been found in the middle of which the mark of the cross is made. Some of the earlier scholars have equated this sign with death (fig.15). A linear human figure is depicted in red ochre colour in a standing posture. The right side of this picture depicts an elephant in the same colour while the left depicts a tiger (fig.16) whose length is 8.5 cm, width 7 cm. and thickness 4.5 cm. is approx.

Artefact - It can be said that with the analysis of these tools, they have been made by friction (faceted and leveling). It would not be wrong to call these Tools as Neolithic tool based on the making technique and typology of the tools obtained. We found broken ring stone, Silling boll, hammer and one Celt in the site. We recover some of Microlithic artefacts on the site. (Fig.19, 20, 21, 22)

The Cupules - In this site I found four cupules in near shelter 1 and 3. In the shelter no. 1 the size of cupules is 10X12 cm. (width & Depth). And the numbers of cupules are two. The size of cupules in shelter no.3 is 10X10 cm. and here also two cupules identified. (Fig.23)

POTIA (22° 22'15''N 83° 15'59'' E) –

The local name of the shelter is Rabkob gufa the distance of village Potia from Dharamjaygarh tehsil is about 13 kilometers. Prehistoric rock painting and Stone tools found in this shelter. There are more than ten paintings in this rock shelter. In which some painting are quite blurred. Most of the pictures of this rock art are destroyed. In which the painting having of deer, animals is visible. In this shelter we found approximate ten rock paintings in red-orchid color. The painting of pair of Dear are depicted here. (General view fig.6,7)

Description and Measurement of Rock Shelters

There are three rock shelters in this hill. In which the Paintings is found in Shelter no.1. The formation of shelter is fine grain Quartzite. The shelter is large in size. Whose height is 6.70 m, width 30.50 m and its depth is 19.35 m. The surface of Shelter no.1 has a deposition of loose soil. This has a light yellow color. In Shelter no.2, rocks have broken and fallen, due to which no painting have been received but cupules are found.

Rock Painting –

In this shelter we found approximate ten rock paintings in red-orchid colour. The painting of pair of Dear are depicted here. Painting of deer depicted here in standing position in the cave dear were looking at each other. The depiction has become quite dull and it has a human portrayal which color is ocher. It has one hand in the waist and one hand on the head which has more currency posture. (Fig.17) The deer is depicted in red color, in which the deer are seen face to face. (Fig. 18) This panel belongs to the Mesolithic periods[11] from the pattern of painting. Many painting are abraded by environment, temperature and human activity.

Description of the artifact -

Microliths tool - The survey of this site provide stone tools of the Microliths as well as artifact of the Neolithic period. In which geometric tools of the Microliths or Mesolithic period have been obtained during the

survey. Here on the surface of shelter 1, there is a deposition of frizzy soil which is light yellow in color. It seems that there is a scientific excavation need at this place to better understand the prehistoric culture of the site. The Microliths period tools are abundant in the area around this rock shelter. In which small stone tools built on both common core and fluted core have been obtained. In which burin, trapeze, triangle blade, flake, cores etc. are obtained. These tools have been made in stone like Chert, Chalcedony, Quartz, and Jasper.

Neolithic Stone tools – Neolithic artifacts, grinding and polished Celt stone tools found on the pebble near shelter 1. Which may have been used to make other tools polished through friction? In which there is a sling tool and another polishing stone tools. In these tools, the part of the carrying made of the blows reveals it's making technique. On the basis of which these tools are kept in the Neolithic period. Along with this, a Celt has been received. Which is one of the typologically are the Neolithic period. The bottom of which is flat. The surface obtained by polished in the receiving tools has been smoothed, demonstrating the major tool making method of the period. Probably such tools may have been made-up with the help of wood. This was used in agricultural work. During the survey of this site, a large size core has also been found, which is made in chert. (Fig.25, 26, 27, 28)

The Cupules - Cupules in this site identified in shelter no.1 and 2, number of cupules is five and the measurements of the cupules are - 11X10 cm., 11X15, 23X15, 43X17 (width x length) and another cupules of shelter number 2 that size is 11X11 cm.. (Fig.24)

Discussion

In this research paper, detailed description of the Finding of stone tools at the Ongna and Potia Rock shelter in Block- Dharamjaygarh, District- Raigarh, is thus given. In the above descriptions, out of the total 5 rock shelters of Ongna village, only 4 rock shelter who painted. On the basis of stone tools and the rock painting being discovered from this site, this site shows the chronology from the Microliths to Mesolithic period to the Neolithic period. On the basis of which the rock paintings obtained from this site can also be kept in continuous order from the Microliths period to the Neolithic period. Similarly, various types of stone Artifact are obtained continuously from the Mesolithic period to the Neolithic period from the surveyed area near Potia rock shelters.

These Tools can be divided into two important Culture of the Stone Age, based on the analysis of the tools found in the site from the survey and the size and type of these tools as well as the technique on the basis of which, the paintings located here can be set by the method of Typology. After studying and analysis the rock paintings of Ongna and Potia, the depiction of geometric, hunting, animals is seen here which can be placed during the prehistoric period. Paintings of agricultural and animal husbandry are depicted in the rock shelters of Ongna are associate with Neolithic period and geometric, animal images are associate with Microliths or Mesolithic period in Ongna and Potia also.

The distance between Ongna and Potia shelter is about 10 kilometers. From which it can be inferred that the humans living in these two rock shelters may have been correlated as well. Ongna may have been established as an industry site during the Microliths or Mesolithic period. The evidence of which is found in various types of stone tools, debitage and raw materials obtained from here. There is also a possibility that the tools were made from the human Ongna site of Potia rock shelters or using the raw material obtained from the same site to making its tools. Inauguration of many such facts can be solved in future by research work on the basis of micro survey and excavation of these sites. These sites can help in phasing out the prehistoric period of Chhattisgarh in future.

Reference:

1. Wakankar V. S., 2005, painted Rock shelter of India, Directorate of Archaeology, Archives and Museums, Government of Madhya Pradesh, Bhopal, p.3.
2. Sankaliya, H.D., 1970, Studies in Indian archaeology, Bombay. P-115.
3. Sankaliya, H.D., 1974, The prehistory and protohistory India and Pakistan, Puna. P-235.
4. Varma, Radhakant, 2007, Bhartiya pragitihas, Allahbad, p-114.
5. Paddiya, K. Basak, B., 2017, Prehistoric research in the Indian sub-continent : A represent and new direction, Delhi, p-222

6. Ghosh, A., 1989, An Encyclopedia of Indian archaeology, Delhi, p-41
7. Varma, Radhakant, 2007, Bhartiya pragitihas, Allahbad, p-133-140.
8. Breet, E.A., 1909, Central provinces gazetteers, Print the time press, Bombay, p-166.
9. IAR, 1977-78, p-34
10. Pathak, Meenakshi Dubey & Jean Colottes, 2017, Rock Art in Chhattisgarh, An Overview, Rethinking the past: Attribute to Prof. V. N. Misra, Susham G.Deo & Others ed. Indian Society for Prehistoric and Quaternary Studies, Department of Archaeology, Deccan College Pune,p-309.
11. Pandey, S.K., 1993, Indian rock art, Aryan book international, New delhi, p-187

Assistant Archaeologist, ASI, Raipur Circle, Raipur
Research Scholar, SoS in A.I.H.C. & Archaeology, Pt. R.S.U., Raipur, Chhattisgarh

●●●

Rock and Wooden Art and Architecture: A Case Study of Memorial Pillars from Bastar Region of Chhattisgarh

Dr. Tirtharaj Bhoi

Chhattisgarh is rich with potential archaeological sites, the inaccessible terrain along with the socio-political conditions prohibit detailed exploration. Though the region is rich with archaeological sites, not much work has been carried out for study and deep understandings on the Memorial evidences from this region. The antiquities recovered from these monuments reveal that the tribal culture in this region is coeval with similar culture in other parts of India. But, so far no comprehensive study of these memorial sites has been carried out. Another interesting aspect that prevails among the existing tribal groups is the practices of erecting Memorial to the deceased person even to the present day. In the absence of large-scale exploration/excavation of the Memorial sites in this region, their antiquity and tribal culture is not properly understood. The present work makes an attempt to find out information from the ethnographical and archaeological fieldwork from Bastar and Dantewada district.

The tradition of erecting monuments as a form of memorial pillar still continues amongst the various tribes of Bastar region. The region was originally under the control of and was part of Daksina Kosala in ancient time. The tribes like maria Gond, still put up Menhirs and Dolmens in the honor of the departed souls. The Memorial monuments of this area are concentrated on high rock bench areas. The erections of memorial monuments are a living tradition. The present work deals with memorial culture and some ethnographical information of their present day erection of memory of the departed soul. The first documentation of megalithic culture around Chhattisgarh was done by J. D. Begler in his report on a tour in central provinces, which he undertook in 1873-74. He mentions, "From the village of Navapara to Majhgan runs a long stretch of broken blocks of stone lying loose on each other in irregular masses, and presenting the exact appearance of the ruins of a great fort two miles long, at intervals stand upright stones looking like Sati pillars. He never imagined that, the monuments were memorial to deceased person and latter it was called as Menhirs or Megaliths. But the understanding of tribes through these memorial pillars is totally different from the theory given by earlier authors. These erections of memorial culture begin from earliest period and continue even today.

Historiography:

If we analyze the historical development on memorial pillar in this region the first and important work was from V. Elwin. His work produces a very detailed and descriptive account of the funerary rites and eschatological belief of the aborigines like Hill maria, Bison maria and Jhoria of Bastar. He also examines how the tribal belief and practices came to be believed by Hindus of the Bastar region. He has also documented about the funerary rites of the maria Gonds and their various stages of life cycle in this region. C. Von Furer Haimendorf, in his study, mentions that, the similarity of customs and rituals are found between the middle Indian and North East Indian tribes. The megalithic culture of the South East Asiatic type is found among the Gadabas, Bondas and Bastar Gonds who came from the East with its center of diffusion in Eastern Assam or North Burma or China. Chandrasekhar Gupta, in his paper "Megalithic Culture of Daksina Kosala" provides information about megalithic culture in Bastar district and adds to the theory that the megalithic traditions are still in practice among the tribal folks of the region even in the present time. Malti Nagar in her work described that the material culture, religion and socio-economic organization of the gonds living in villages are around the Stone Age site of Bhimbetka in

the forest of vindhyan hills. Her study revealed that Gonds in this area raise small stone in memory of their dead. The stone are installed on a stone and mud platform accompanied by elaborate ceremony. V. D. Jha in his article "Archaeological Remains in Bastar" explores a new megalithic site in Bastar district. The Maria Gonds still practice megalithic discourses, and the study of their funerary rites shed a flood of light on the ancient megalithic culture. He highlights megalithic monuments in South Bastar at Timelwada, Handaguda and Nelakanker.

Amitab Sarkar et.al, in their work, Spectrum of Tribal Bastar, attempt to understand the Dokra art, Gotul system, religious belief and practices in general, of the Bastar tribals. They also describe about the agrarian landscape and land alienation problem of the tribal. Michel Postel and Zarine Cooper's work, deals with the exclusive and fascinating tradition of constructing memorials among the Muria and maria Gonds. The upright stone, horizontal slab, carved wooden and stone pillars, painted stones are commemorate for the dead person. These have been compared to similar tradition in South India. The memorials are decorated with intricate design and vivid color, narrating the life of deceased. Vinaya Kumar in his article entitled "Megalithic Cultural Tradition amongst the Lesser Known Tribal Communities of India with Special Reference to Tribes of Central India and Khasi tribes of North-East India" (2015) described the practices of living megalithic culture amongst the various tribe of central India. Vishi Upadhyay in her book Megalithic culture of Chhattisgarh in 2013 highlighted that Megalithic culture is one ancient most culture. According to her, it was brought out from India and could set the deep roots in the land. Megalithic culture of Chhattisgarh has the special characteristics but due to the lack of public awareness, it is going to be vanished. The topical work of T.R. Bhoi, in 2019,on ethnography of megalithic culture in Chhattisgarh deals with ideas in detail on memorial pillar and their belief system in Bastar region.

Methodology and Geographical Limitations:

During exploration, the pedestrian technique was followed with the help of collected information from the local district and Tahasil office and interaction were made with local people to get information about memorial sites in this area. The local people have given information about the monuments along with the tales, tradition, and folklores associated with them. With such clues we visited those places to confirm the feasibility of their information in terms of the site, leaving the truthfulness of a legend aside. The ethnological data for the study was collected from Dantewada and Bastar area. Twenty four villages in two districts were inhabited by Gonds tribes. The village sample was selected based on the majority of the tribe in various villages which the information was collected from Tahasil office of Jagdalpur and Dantewada.

Wooden Memorial Pillar:

There are two types of memorial pillars one can find in Bastar and Dantewada region, one is made of stone and the other is wooden. Nowadays it is very difficult to get proper surface stone in hills and finding and taking a good stone is time taking. So the Muria have taken the alternate of wood in lieu of stone. For erection of wooden memorial pillar the procedure of the menhirs, is followed. The most valuable thing is that they decorate the wood in various shapes and draw different kind of picture on it. They decorate even the stones too. The members of the deceased person's family call the carpenter to decorate the wood with pictures. The decoration is based on two things; firstly, the picture should be of what the deceased person liked and secondly, the Picture of the nature Gods and Goddesses and also the pictures of animals such as crow, peacock, sparrow, tiger, bull, rhinoceros and fish are drawn. The nature Gods and Goddesses are sun, moon, stars, trees and mountains. For the decoration, the carpenter charges around 1000 to 1500 rupees. The Muria carpenters are very advance in their art. One can find various designs of dolls and toys of high quality in the market of Bastar and Jagdalpur. The question arises as why do they decorate? The answer may be because they believe that after death, these Gods and Goddesses would help the deceased.

There are some memorial pillars at Dhilimili where one can see the creativity of the Muria. It is a fat, thick pillar, carefully squared, standing between 3.05 to 5.05 mts. with complicated carvings surrounding the base and a beautification of crocodiles and pigeons carved at the top. The centre is surmounted by a trident and on this again is a small bird called paara and chentia. On the west face of the pillar, there are carvings of dancers wearing their traditional dresses and some girls who are realistically portrayed. Below them is a tiger, a crane

and a peacock. On the south side is a picture of a man riding an elephant with an umbrella in his hand and a bag of some material, and five women follow him with pots of rice-beer and leaf spoons. Below them are some rats. At the bottom are men plough, deer and tigers. On the east side is a man riding a horse and catching fish and tortoises. To the north, there is a man and his wife with their children. Below this are two pairs of dogs. It seems as if they are copulating. At the very bottom some men are carrying a pot of rice beer. Near the pillar are grave and a modern hut built up by the Gaon Mukhia to preserve these monuments.

Rock and Stone Memorials:

The Muria erect menhir and dolmen in memory and conciliator of the dead. They continue this tradition in different forms. Those who are staying inside the jungle and hills, they continue this tradition. The tradition has been abandoned in most of the areas such as Jagdalpur, Bastar town and some part of Kondagaon tahasil. The stone erected by Muria is an upright menhir called as "uraskal" in gondi. Some Muria of Bailadila area believe that the size of the menhirs is based on the personality of the dead person and how much he or she was respected. If we look at the Muria of Narayanpur and Bhopalpatnam, they say that the size depends on the availability of suitable stone in hills. The Muria erect menhirs for men and women, which stand in long rows by the roadside, near the village boundary or in the place of marghat. Stone for men and women are usually put separately. These stones are not confined to this region only. They are found extensively in almost all the inhabitant of Muria. If anyone, who has died under suspicious circumstances his or her menhir is put in a secluded place. In the village Murdanda of Avapalli area, the Murias erect menhirs in the name of men and dolmen in the name of women, because they believe that the men can stand more time compared to women. Therefore, all the menhirs are in standing position and the dolmens are in the sitting position. If we see the Timelwada area of Konta tahasil the Muria erect only dolmen in the name of both men and women. Due to unavailability of proper height stones, now they use wood as a memorial pillar. These days Muria generally use small stones and have to quarry them and pick them off the ground. When they go to the forest for wood or to hunt, they keep a look out for suitable surface stone and also good quality of wood. During the taking of the stone from hills, the chelik and motiari escort the menhir to its place with their drum and dances. The relatives give some drinks to their clan members who cooperate in taking stones.

Generally, the stone is selected by the old man of their clan or gaita. It is believed that the removal of the stone must be performed by a member of such clan or gaita. The gaita makes a small hole on the stone and offer salpi, pulses and rice, and digs it up. If the stone does not get out of the ground, then the gaita declares that the soul of the dead person may need something different. They sacrifice a black cock to the stone and then the stone is dug it. Once they get the stone out of the ground they cover it with a new cloth and take it directly to the burial ground or marghat. Apart from the memorial stone, another small stone is kept with the menhir. Sometimes the people put stones in the name of deceased. The wife of the dead man; and if not, the wife of brothers, takes the small stone and keeps it with the menhir. Everybody puts a mark of oil and haldi on the stones just like the marriage of couples in the Hindu tradition. They leave the stone near the menhir and return back home and sacrifice a cock in the name of departed pot. Next morning or any suitable day, the relatives give a feast to the entire village to satisfy the soul of the dead man. The erection of menhir is very costly and it depends on the economic condition of the family. If the family is unable to offer a feast to the entire village, they offer them drinks.

Understanding the Pillars:

The Muria believe that if the dead soul is satisfied with the arrangements that one made for him/her the stone grows in size. The soul of the deceased stays in the stone. When the family gets a child, the soul will come with the new child. The soul also protects the deceased family from devil. The maximum period for worshiping the stone is twenty years and after that it remains only as a memorial. Another theory of growing stone is, if the stone is erected in an isolated place and nobody touches and disturbs then the stone may grow 1.23 every year.

Occasion for Worshiping:

There would be no value of menhirs without worship. The family has the responsibility to continue the worship of the stone. Generally, they worship the menhirs during the following days (i) The day of amabasya

and purnima (ii) Before going to cut the crops (iii) Before going for hunting (iv) First three days of marriage ceremony (v) Before going to put seed for cultivation.

Motive for Erecting Pillars:

They erect both menhir and dolmen as memorial in the name of their ancestors. The menhirs are called kotakal in gondi. They believe, there is continuity of life beyond death. The deceased wishes desire and needs, which the relatives would fulfill. They believe that the unsatisfied life has sprits and it would trouble the family members. There are many reasons for erecting menhir or dolmen. They are as follows: (i) After death the soul (atma) need not go anywhere, it will stay in the stone near the house. (ii) If they stay inside the stone, they must not harm the relatives. (iii) They must help in bringing rain and protect form the harmful and destructive sprit. (iv)The coming generation must remember their forefathers by seeing the Memorial stone. (v) If they erect the monuments, the soul of the departed again will come in the form of new born children. (vi) They worship the monuments and it is their belief and customary tradition. (vii) They believe that they have been worshipping the monument from time immemorial. If they stop the tradition it means it is disrespect to their ancestors. (viii) It entails community participation and shows the strength and unity of the community in the village or region.

Conclusion:

No matter what we do with memorial pillar in the present time, that is to study them, excavate them, restore them, erect an information board and a counter next to them, is a contribution of contemporary history of culture to the monuments, present and future lives. A remembrance of culture is the way through which a society ensures cultural continuity by preserving its communal and indigenous knowledge from one generation to the next. The structure of present narration is to encourage later generations to reconstruct their cultural identities that can be found amongst the tribal of Bastar region.

Wooden and Granite Memorial Pillar from Gammewada of Dantewada District.

Stone Memorial Pillars from Dhilimili, of Dantewada District.

Notes and References:

1. Cunningham, Archaeological Survey of India Report, vol. xvii, Calcutta, 1984, pp. 68-69.
2. Archaeological Survey of India Report, Calcutta, vol. vii, 1873 p. 138.
3. Ibid.
4. Elwin. V, The Tribal Art of Middle India, New York, 1980.
5. Haimendorf, C. Von Furer. "The After-Life in Indian Tribal Belief" The Journal of the Royal Anthropological Institute of Great Britain and Ireland, Vol. 83, No. 1, 1952, pp. 37-49.
6. R. K. Sharma, Indian Archaeology-New Perspective, New Delhi, 1982.
7. Nagar, Malti. "Survival of the Hunting Gathering Tradition in the Ganga Plains and Central India" Bridget Allchin, (ed.) Living Tradition: Studies in Ethno-Archaeology of South Asia, New Delhi, 1994, Pp. 169-92.
8. V. D. Jha, Prachya Prativa, Vol-v, 1987.
9. Sarkar, A., and Samira Dasgupta, Spectrum of Tribal Bastar, Gian Publication, New Delhi, 1991.
10. Cooper, Zarine. "The Kuruk Fishermen of Bastar District." *The Eastern Anthropologist*, vol. 39, 1986, pp.01-20.
11. T. R. Bhoi, *Ethnography of Megalithic Culture in Chhattisgarh*, New Delhi, 2019.
12. Elwin, V. *The Muria and their Ghotul*, New Delhi, 1991 Reprint, p. 159.

Assistant Professor
Department of History
School of Social Sciences
University of Jammu
Jammu-180006, J&K

●●●

भारतीय समकालीन चित्रकला में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का प्रभाव
(बीसवीं शताब्दी के सन्दर्भ में)

अपराजिता

कला का उद्भव व विकास समग्र ऐतिहासिक, सामाजिक प्रक्रिया का अंग है। यह सामाजिक व ऐतिहासिक प्रक्रिया निश्चित ही कई प्रकार के परिवर्तनों को भी स्वयं में समाहित किये हुए आगे बढ़ती है और साथ ही हमारी कला एवं संस्कृति को भी नई दिशा व दशा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यदि भारतीय ऐतिहासिक व सामाजिक प्रक्रिया की लम्बी यात्रा पर दृष्टिपात करें तो परिवर्तन की एक वृहद् पृष्ठभूमि हमें दिखायी पड़ती है चाहे वह धार्मिक परिवर्तन हों या वैचारिक परिवर्तन अथवा कलागत परिवर्तन। परन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्येक समय में हुए परिवर्तनों के पीछे कुछ तात्कालिक कारण या परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उत्तरदायी होती हैं। जिसका भारतीय इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय उदाहरण है ब्रिटिश उपनिवेशवाद। 18वीं व 19वीं शताब्दी के दौरान भारत में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत उपनिवेशवादी विचारधारा ने अनेक प्रकार के परिवर्तनों को जन्म दिया। इसके व्यापक प्रभाव ने किसी क्षेत्र विशेष को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति (कला, साहित्य, शिक्षा, संगीत, वास्तु आदि) को एक नई दिशा व दशा हेतु प्रतिबद्ध किया।

"उपनिवेशवाद" प्रभुत्व स्थापित करने का एक स्वरुप (वितउ वि कवउपदंजपवद) है। दूसरे शब्दों में किसी समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने विभिन्न हितों को साधने के लिये किसी निर्बल किन्तु प्राकृतिक रूप से परिपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न संसाधनों का शक्ति के बल पर उपभोग करना। उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है। एक वाक्यांश में कहें तो 'आधिपत्य', 'विस्थापन' एवं 'मृत्यु'।

ब्रिटिश शासन में निश्चित ही भारतीय भूभाग पर आधिपत्य कर रखा था परन्तु उनकी औपनिवेशिक नीतियों ने भारतीय कला एवं संस्कृति का भी विस्थापन किया और उसे मृत्यु की ओर धकेलने का प्रयास किया। भारतीय अतीत के विभिन्न युगों ने कला क्षेत्र में जगत प्रसिद्ध अजन्ता, जैन, राजस्थानी मुग़ल तथा पहाड़ी चित्र शैलियों में नित् नवीन व असाधारण सौन्दर्य तथा अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण कलाकृतियाँ प्रदान की हैं। परन्तु 18वीं व 19वीं शती के मध्य भारत में अपनी जड़ें फैला रहे ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय कला के इतिहास में एक अन्धकारमय काल की भी रचना की।

इस शोध पत्र में मुख्यतः तीन महत्वपूर्ण बिंदु हैं जिनके आधार पर हम ब्रिटिश उपनिवेशवाद के जरिये भारतीय समकालीन चित्रकला में हुए बदलावों अथवा उस पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित कर सकते हैं–

1. पृष्ठभूमि– भारतीय चित्रकला में उपनिवेश का आगमन (1760–1900 तक)
2. उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण (बदलते हुए विषय व प्रमुख कलाकार)
3. 20वीं शताब्दी का प्रथम चरण और यूरोपीय उपनिवेश द्वारा स्वदेशी कला के दमन का प्रभाव (बंगाल स्कूल व राष्ट्रवादी भावनाओं का उदय) यहाँ पर डा. आर.वी.वैद्यनाथ अय्यर का यह विचार सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है कि– 'contemporary Indian art is the product of the cultural confrontation with the British'-

यूँ तो भारत में विदेशी कलाकार पूर्व में भी आते रहे हैं जिसका प्राचीनतम उदाहरण गान्धार शैली के रूप में हमारे समक्ष है किन्तु जहाँगीर के शासन काल में यूरोप के राजदूत सर टामस रो को भारत में व्यापार करने की अनुमति के साथ ही जो यूरोपीय प्रभाव भारत में आया वह निरंतर बढ़ता ही गया। 18वीं शताब्दी से यूरोप के बहुत

सारे कलाकार अंग्रेज़ व्यापारियों और शासकों के साथ भारत आने लग गए थे। ये कलाकार चित्रकारी की नई शैलियाँ और परम्परायें भी साथ लाये थे। उन्होंने इस तरह की तस्वीरें बनायीं जो यूरोप में बेहद लोकप्रिय हुईं और जिन्होंने पश्चिम में भारत की छवि गढ़ने में अहम भूमिका अदा की। यूरोपीय कलाकार अपने साथ यथार्थवाद का विचार लेकर आए थे। परन्तु भारत आने वाले सभी यूरोपीय कलाकार एक जैसी चीजों से प्रभावित नहीं थे। उन्होंने जिन विषयों पर तस्वीरें बनाईं वे भी अलग–अलग थीं। परन्तु प्रायः इन तस्वीरों में ब्रिटेन, उसकी संस्कृति उसके लोगों की श्रेष्ठता पर जोर दिखायी देता था।

मुख्यतः इन चित्रकारों का समय 1760 से 1900 तक रहा है। जिनमें प्रमुख रूप से 1769 ई० में टिल्ली केटिल, 1774 ई० में जॉर्ज विलिसन, 1776 ई० में सेटोन, 1777 ई० में केथरीन रीड, 1778 ई० में मिस आइज़क, 1780 ई० में विलियम होजेज, 1782 ई० में जॉर्ज फेरिंगटन, 1783 ई० में योहान जेफेनी, टामस हिकी, 1785 ई० में हम्फ्रे, अलफाउंडर, आर्थर विलियम डेविस, जॉन स्मार्ट, थॉमस डेनिअल, आगोश्तो शोफ्त, फ्रान्सिस हेमेन आदि भारत आए। इन प्रमुख चित्रकारों सहित उस समय भारत में 33 विदेशी चित्रकार यूरोपीय अकादमी शैली की यथार्थवादी पद्धति में कार्यरत थे। साथ ही भारतीय चित्रकारों ने भी इनकी यथार्थवादी चित्रण शैली को ग्रहण करना प्रारम्भ किया।

इसी बीच ब्रिटिश औपनिवेशिक विचारधारा का गहरा प्रभाव उन दरबारी कलाकारों पर भी पड़ा जो उस समय राजाश्रय समाप्त हो जाने तथा राजनैतिक अनिश्चितता के कारण निराश्रित होकर भटकने लगे थे। इनमें से कुछ कलाकार बड़े शहरों में बस गए जहाँ इन्हें यूरोपीय अधिकारियों का प्रोत्साहन एवं संरक्षण मिला। इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप कलाकारों ने अपने नये आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार भारतीय जन जीवन के उन विषयों को ऐसी शैली और तकनीक में चित्रित किया जिसे देखने व समझने में यूरोपीय अधिकारी अभ्यस्त थे। अतः यूरोपीय सत्ता के आश्रय में भारत में पनपी चित्रशैली को भारतीय कला इतिहास में "कंपनी शैली" का नाम दिया गया। और इन कलाकारों द्वारा चित्रित चित्रों को 'कंपनी पेंटिंग्स' का नाम कहा गया। कंपनी शैली के अंतर्गत चित्रित चित्रों को देखने से पता चलता है कि किस प्रकार चित्रकार धीरे धीरे यूरोपीय तत्वों को अपना रहे थे। इन चित्रों में यूरोपीय तथा भारतीय शैलियों के चित्र तो विद्यमान थे किन्तु यथार्थवादी शैली की गरिमा तथा भारतीय शैली की विषयवस्तु व गौरवशाली परम्परा दोनों का ही अभाव था।

कंपनी शैली के चित्रों में प्रमुख रूप से व्यक्ति चित्र, पशु पक्षी, प्राकृतिक चित्र, लघु चित्र, भारतीय जीवन से सम्बंधित (जिसमें अंग्रेजों के अधीनस्थ दासों एवं सेवकों के दीन हीन जीवन का प्रकटीकरण किया गया है) एवं पारिवारिक लोगों के चित्र बनाये। साथ ही भारत आए अंग्रेज़ अफसरों को ये समझ आने लगा था कि उपनिवेशों में उनका जीवन वैसा नहीं है जैसा इंग्लैंड में था। लिहाजा वे भी ऐसे तस्वीरें बनवाना चाहते थे जिसके सहारे वे भारत को समझ सकें। कंपनी शैली के चित्रकार जो कि मूल रूप से लघु चित्रण करते थे उन्होंने अब अर्ध यूरोपीय ढंग से चित्रण किया। विषयवस्तु के साथ–साथ माध्यम का चुनाव भी बदल गया। चित्र प्रायः विदेशी कागज़ पर या हांथी दांत पर टेम्परा पद्धति में नहीं बल्कि जलरंग व तैलरंग में चित्रित किया जाने लगे। दृश्य चित्रों में परिप्रेक्ष्य दर्शाने का प्रयत्न किया। मुग़ल लघु चित्रों की विशेषता 'परदाज' का प्रयोग शून्य हो गया व उसके स्थान पर तैलरंगों से या जलरंगों से छाया प्रकाश द्वारा यथार्थवादी चित्रण होने लगा।

साथ ही यूरोपीय औपनिवेशिक विचारों का प्रभाव राजदरबारों से बाहर लोककलाओं पर भी सामान रूप से पड़ा। 19वीं शताब्दी में भारत के बहुत सारे शहरों में एक लोककला विकसित हुयी। बंगाल में कालीघाट स्थित चित्रकार जिन्हें खर्रा या पटुआ चित्रकार कहते थे एक नई शैली विकसित करने लगे। परम्परागत रूप से खर्रा चित्रकार देवी देवाताओं की तस्वीरें बनाते थे तथा इन खर्रा चित्रों की छवियाँ गोलाकार नहीं बल्कि सपाट हुआ करती थीं। अब कालीघाट चित्रकार अपनी छवियों में उभार पैदा करने के लिये छायाकरण का इस्तेमाल करने लगे जिससे छवियाँ त्रिआयामी दिखने लगें। 1840 के बाद कालीघाट चित्रकारों में एक नया रुझान देखने को मिलता है जहाँ मूल्य–मान्यताएं, रुचियाँ, सामाजिक कायदे कानून और रीती–रिवाज बहुत तेजी से बदल रहे थे जिसका प्रभाव

चित्रकारों पर भी पड़ा। 19वीं शताब्दी के अंत में बहुत सारे कालीघाट चित्रों में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत सामाजिक जीवन को दर्शाया गया है। अपने चित्रों के माध्यम से ये कलाकार अक्सर इन नये बदलावों का मजाक भी उड़ाते थे। ये कलाकार अक्सर अमीरों के खिलाफ़ आम आदमी के गुस्से और सामाजिक तौर तरीकों में आ रहे आमूल बदलावों के प्रति लोगों में पैदा हो रहे गुस्से को अभिव्यक्त करते थे। 'कुर्सी पर बैठा बाबू' कालीघाट का उल्लेखनीय चित्र है।

19वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक भारतीय कला में राष्ट्रवाद के बीज बो दिए गए थे तथा उपनिवेशी विचारों के प्रति एक विरोध समाज में दिखाई दे रहा था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक राजा रवि वर्मा के चित्रों द्वारा इसे और बल मिला। हांलाकि इसके साथ इस शताब्दी के उत्तरार्ध में तीन प्रमुख महानगरों में सुनियोजित ढंग से कला विद्यालयों (1850 में मद्रास, 1854 में कलकत्ता व 1857 में बम्बई) ने प्रयोगात्मक रूप से औपनिवेशिक तत्वों को बढ़ावा देने का प्रयास भी किया।

राजा रवि वर्मा उन शुरुआती चित्रकारों में से थे जिन्होंने आधुनिक और राष्ट्रीय कला शैली को विकसित करने में योगदान दिया। रवि वर्मा ने तैल चित्रकारी और यथार्थपरक जीवन अध्ययन की पश्चिमी कला पर महारत हासिल की परन्तु भारतीय पुराणों पर आधारित चित्र बनाये। उन्होंने महाभारत और रामायण के अनगिनत दृश्यों को किरमिच पर उतारा। हालांकि रवि वर्मा पर यह भी आरोप लगते रहे कि इन्होंने केवल यूरोपीय अकादमिक शैली को बढ़ावा दिया। प्रसिद्ध कला समीक्षक जया अप्पास्वामी ने इनके चित्रों की शैलीगत विशेषताओं के आधार पर 'विक्टोरियन इंडियन' शब्द का प्रयोग किया। परन्तु कला समीक्षकों की आलोचनाओं के बावजूद यह कहना युक्तिसंगत होगा कि राजा रवि वर्मा ने अपनी उत्कृष्ट कलाकृतियों के माध्यम से भारतीय एतिहसिक व पौराणिक अनुभूतियों को जीवन बनाया, धार्मिक एवं परम्पराओं कथाओं को पुनर्स्थापित किया तथा अपने परिश्रम व कौशल द्वारा ब्रितानी शासन के अनेक परोक्ष नियंत्रणों के उपरांत भी मृतप्राय भारतीय कला के पुनुरुद्धार का भागीरथ प्रयास किया। इसके साथ ही रवि वर्मा ने तत्कालीन राजा–महाराजाओं तथा उच्च पद पर ब्रिटिश शासकों के निमंत्रण पर भी अनेक शबीह चित्रों का भी निर्मान किया।

ठीक इसी समय यूरोपीय सरकार द्वारा कला विद्यालयों की स्थापना कला की शिक्षा का माध्यम नहीं था अपितु कहीं न कहीं कला के माध्यम से भारतीय कला एवं संस्कृति की अस्मिता को पूर्ण रूप से मृत साबित करने का भी माध्यम था। इन विद्यालयों में 'ब्रिटिश रॉयल अकादमी ऑफ़ लन्दन' की कला शैली का अनुसरण किया गया। जिसमें दृष्टिक्रम, छाया–प्रकाश तथा मानव शरीर संरचना के अध्ययन पर अधिक बल दिया गया।

भारतीय कला की पूर्व अभिव्यन्जनाओं को मृत और संग्रहालयों का माल मानते हुए दरकिनार कर दिया गया। ब्रिटिशों ने कला शिक्षा में पश्चिमी मूल्यों एवं औपनिवेशिक एजेंडे को प्रसारित करने के लिए 1854 में कलकत्ता और मद्रास में एवं 1857 में बॉम्बे में कला स्कूलों की स्थापना की।

इन कला विद्यालयों में शिक्षित प्रमुख भारतीय कलाकारों में जो कि यूरोपीय अकादमिक शैली से अधिक प्रभावित थे व उसमें कार्य भी कर रहे थे, एम वी धुरंधकर, एस एल हलदानकर, जामिनी प्रकाश गांगुली, माधवराव के परणरेकर, एच एच मूलर आदि प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त स्वपठित चित्रकारों में राजा रवि वर्मा, पेंटर बाबूराव आदि प्रसिद्ध थे। इन स्वपठित चित्रकारों ने राष्ट्रवादी भावानाओं के प्रचार प्रसार में भी अत्यधिक योगदान दिया। पेंटर बाबूराव द्वारा निर्मित चित्र 'भारतमाता' देश भर में प्रसिद्ध हुआ जो उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम से प्रेरणा लेकर बनाया था। हालांकि ये सभी चित्रकार यूरोपीय अकादमिक शैली का ही निर्वहन कर रहे थे और कहीं न कहीं यूरोपीय औपनिवेशिक विचारधारा को बढ़ावा भी दे रहे थे। इस दौरान काम कर रहे सभी कलाकारों में राजा रवि वर्मा का नाम अग्रणी और लोकप्रिय माना जा सकता है।

20वीं शताब्दी का प्रथम चरण आते आते इन कला विद्यालयों में एक नए परिवर्तन की आवाज सुनाई देने लगी थी। सन 1870 के लगभग भारत में फोटोग्राफी के आगमन से भारतीय कला परम्परा को भारी ठेस लगी। अंग्रेज़

चाहते थे कि इस देश में भारतीय कला के नाम से अभिहित की जाने वाली कोई चीज शेष ना रह जाए। ऐसी स्थिति में भारतीय कला के पक्षधरों, शुभचिन्तकों, कलाकारों एवं विचारकों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतः ऐसे लोगों के समुदाय द्वारा यह सोचा गया कि एक ऐसा कला आन्दोलन चलाया जाए जिसके माध्यम से कला क्षेत्र में लोप हो रही भारतीय संस्कृति को बचाया जा सके। उक्त कला आन्दोलन ने पुनर्जागरण की कला अथवा पुनरुत्थान की कला शैली के नाम से मूर्त रूप ग्रहण किया। इसका उद्भव स्थल बंगाल था अतः कला के इतिहास में इसे बंगाल स्कूल की संज्ञा दी गयी।

भारतीय परम्परा, सभ्यता, इतिहास, एवं संस्कृति के विनिष्ट होने का ख़तरा मात्र कला के क्षेत्र में ही नहीं अनुभव किया गया अपितु शैक्षिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी औपनिवेशिक विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव पर चिंता की गयी। सब तरफ से भारतीय संस्कृति की रक्षा के प्रयास किये जाने लगे। जैसा कि हम पिछले सन्दर्भों में भी देख चुके हैं कि किस प्रकार से भारतीय कला में राष्ट्रवादी भावनाओं के बीज उपनिवेशी विचारों के विरुद्ध बोये जाने लगे थे परन्तु एक आन्दोलन के रूप में यह तब सामने आया जब विभिन्न महानगरों में स्थापित कला संस्थानों में प्रबुद्ध कला समीक्षकों व चित्रकारों ने एकजुट होकर इसका विरोध किया, जिसमें बंगाल स्कूल की भूमिका अहम थी। उपनिवेशवादी यूरोपीय विचारों के विरोध का प्रयास केवल कलाकारों द्वारा तक सीमित नहीं रहा अपितु अनेक विद्वानों जिनमें राजा राममोहन राय, देवेंद्र नाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचंद्र वि।सागर, मधुदत्त, केशव चंद्र सेन व बंकिम चंद्र चटर्जी आदि ने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भारतीय परम्पराओं की पुनर्स्थापना का प्रयास किया। एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, इंडियन एसोसिएशन, नेशनल कांफ्रेंस, इंडियन नेशनल कांग्रेस आदि संस्थाओं की स्थापना की गयी जिनके द्वारा राजनैतिक व समाजिक क्षेत्रों में नवीन चेतना का संचार किया गया। उक्त संस्थाओं में केवल भारतीय ही नहीं अपितु कुछ उदारवादी अंग्रेज़ विद्वान भी थे जिन्होंने भारतीय दर्शन, इतिहास, संस्कृति तथा पुरा–संपदा का अध्ययन किया था तथा जिनकी रुचि भारत की वास्तविक पहचान में थी।

परन्तु यदि हम चित्रकला के क्षेत्र में पुनुरुत्थान के इस आन्दोलन को दृष्टांकित करें तो 1884 ई० में मद्रास स्कूल के प्राचार्य पद के रूप में भारत आये ई० बी० हैवेल से इस कला आन्दोलन को नई स्फूर्ति मिली। साथ ही कलकत्ता उन दिनों इस प्रकार की गतिविधियों का केंद्र था जहाँ अनेक जागरूक देशभक्त अंग्रेजी सभ्यता को लादने और सांस्कृतिक एवं सामाजिक नियंत्रणों के विरुद्ध जंग छेड़ चुके थे। अतः समकालीन कला के पुनर्जागरण का केंद्र बिंदु भी इसे ही मान सकते हैं।

बंगाल स्कूल के पूर्व मद्रास आर्ट स्कूल जिसकी स्थापना 1850 ई० में ही एलेक्जेंडर हंटर द्वारा की गयी थी परन्तु 1852 ई० में ही यूरोपीय शासन में इसका संचालन अपने हाथों में ले लिया था और स्वहितों को साधने में जुटी हुयी थी। परन्तु 1884 ई० में ई वी हैवेल ने प्राचार्य पद ग्रहण कर भारतीय कला परिदृश्य को गहन रूप से प्रभावित किया। हैवेल ने 1892 ई० तक यहाँ रहकर कला शिक्षा के विकास में उत्तरोत्तर योगदान दिया। हैवेल ने भारतीय कला परम्परा की श्रेष्ठता को पहचाना और अनेक लेख भी लिखे। 1908 ई० में 'भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला' एवं कुछ ही समय बाद 'भारतीय कला के आदर्श' नाम से एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ। 'हैंडबुक ऑफ़ इंडियन आर्ट' व 'भारतीय कला में हिमालय' नाम से इन्होंने अपनी आरंभिक रचनाओं का संक्षिप्त संकलन भी प्रकाशित किया। 'पवित्र नगर बनारस' नाम से लिखी गयी पुस्तक से हैवेल ने हिन्दू धर्म की एतिहासिकता पर प्रकाश डालने का भी प्रयास किया। हालांकि 1929 ई० में देवी प्रसाद रॉय चौधरी के मद्रास में प्रथम भारतीय प्राध्यापक के रूप में नियुक्त होने के पश्चात मद्रास (चेन्नई) कला गतिविधियों का प्रमुख केंद्र बना। देवीप्रसाद ने मद्रास में नवीन सांस्कृतिक विचारधारा को एक निश्चित स्वरुप देने के साथ ही बंगाल शैली को भी प्रोत्साहन दिया।

अन्य प्रमुख कला समीक्षक आनन्द कु० स्वामी का भारतीय अस्मिता के पुनरुत्थान के लिए अथक परिश्रम अविस्मरणीय है। इसी दौरान जब देश भर में राष्ट्रवाद व स्वदेशी के नारे बुलंद थे, आनंदकुमार स्वामी ने भारतीय कला की शोध और विकास का महती कार्य अपने हाथों में ले लिया और 1913 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'कला

और स्वदेशी' में कला विद्यालयों से सम्बद्ध अध्याय में उन्होंने जो कुछ लिखा उसे तत्कालीन कला आन्दोलन के घोषणा पत्र के रूप में लिया गया। उन्होंने लिखा–"भारत में कला विद्यालयों को सच्चा कार्य यूरोपीय तरीकों एवं आदर्शों का प्रचार–प्रसार करना नहीं है अपितु भारतीय परम्परा के टूटे हुए संपर्क सूत्रों को बटोरना है तथा उन्हें शक्तिशाली बनाना है, राष्ट्रीय संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में भारतीय कला के विचार को मूर्त करना है। तथा भारतीय शिल्पियों को जनगण के जीवन तथा चिंतन के अनुरूप ढालना है।"

बंगाल स्कूल के पुनर्जागरण आन्दोलन में कुछ चित्रकार प्रमुख भूमिका निभा रहे थे जिनमें अवनीन्द्रनाथ टैगोर, गंगनेंद्रनाथ ठाकुर, नंदलाल बसु, असित कुमार हलदार, क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, देवीप्रसाद रॉय चौधरी, जामिनी रॉय, अब्दुर्रहमान चुगताई, ईश्वरी प्रसाद, शैलेंद्रनाथ डे और शारदा उकील आदि प्रमुख थे। हालांकि अवनींद्रनाथ ठाकुर इन सबकी प्रेरणा के प्रमुख केंद्र थे।

इन सभी चित्रकारों ने अपने चित्रों के माध्यम से भारतीय कला एवं संस्कृति की पुनर्स्थापना का प्रयास किया। और अवनींद्र नाथ ने जापान के दो कलाकारों जो उन दिनों ठाकुर परिवार के मेहमान थे 'योकाहामा ताइकान' व 'हिंसदा' से उनकी कार्य व शैली में निर्देशन प्राप्त किया और तत्पश्चात उसी जलरंग की जापानी पद्धति जिसे हम 'वाश' के नाम से जानते हैं में 'उमर खैयाम' की चित्र श्रृंखलाएं तैयार कीं साथ ही अनेक भारतीय पौराणिक कथाओं व संस्कृत साहित्य को भी अपने चित्रों का विषय बनाया तथा 'रितुसंहार', 'रामायण', 'महाभारत' आदि की घटनाओं को भी चित्रित किया। जैसा कि पूर्व संदर्भों में भी उल्लेख किया गया है कि कला के क्षेत्र में यूरोपीय शैलियों, वादों तथा चित्रांकन की रंग पद्धतियों का भारत में अंधानुकरण किया जा रहा था, पुनर्जागरण काल की कला में उसका परित्याग किया गया और चित्रकला के क्षेत्र में भारतीय परंपरा, संस्कृति, धर्म व इतिहास आदि का प्रवेश हुआ।

वास्तव में तथाकथित 'बंगाल स्कूल' एक वृहद प्राच्य कला आंदोलन में परिवर्तित हो गया जिसने राष्ट्रवाद की एक गहरी भावना को प्रदर्शित किया। यह भारत में औपनिवेशिक शासन के राजनैतिक विरोध की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति थी। इस कला स्कूल के चित्रकारों की प्रतिष्ठा में चित्रकार के अलावा राष्ट्रवादी होने का सम्मान भी जुड़ा हुआ था।

अवनींद्रनाथ द्वारा चित्रित चित्र 'भारतमाता' स्पष्ट रूप में राष्ट्रवादी एवं स्वदेशी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। इसी क्रम में चित्रकार नंदलाल बसु भी एक प्रमुख पुनर्जागरण कालीन चित्रकार के रूप में उभरे। बसु गांधी जी के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे। नंदलाल के चित्रों में राष्ट्रीयता, देश प्रेम तथा स्वदेशी के लिए संघर्ष की अनूठी गूंज प्रतिध्वनि सुनाई दी। गगनेन्द्रनाथ ने भी इस आंदोलन में पूर्ण योगदान दिया ,और तत्कालीन भारतीय समाज की कुरीतियों, प्रचलित अतिवादी धारणाओं तथा अंग्रेज़ों की रीति एवं नीति पर अनेक व्यंग्य चित्र बना कर करारा प्रहार किया। इसी के साथ अन्य तत्कालीन चित्रकारों असित कुमार हालदार, क्षितिन्द्र नाथ मजूमदार, जामिनी रॉय, आदि ने भी भारतीयता के रंग में रंगी व्यापक कला दृष्टि का विस्तार किया।

पुनर्जागरण कालीन कला कारों ने ष्मॉडलष्तथा ष्फोटोग्राफीष् से सहायता लेने के स्थान पर कल्पनाजन्य चित्रण को प्रमुखता दी और उसे फोटोग्राफी के छाया प्रकाश से बहुत दूर ले गए,जिसका कि यूरोपीय प्रभाव की कला शिक्षा में भारी प्रचलन था जिसके लिए इन्होंने स्केचिंग यानी रेखांकन पर जोर दिया। अजंता की भाँति रेखांकन को चित्रों में प्रमुखता दी गई। अपनी उक्त विशेषताओं के कारण बंगाल स्कूल के कला आंदोलन ने देशव्यापी ख्याति अर्जित की तथा समकालीन कला को विदेशी औपनिवेशिक विचारों के बंधन से मुक्त कराने का प्रयास किया ।

संदर्भ :–

1. समकालीन भारतीय चित्रकला–डॉ० ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 172।
2. उपनिवेशवाद की परिभाषा और उसका वर्गीकरण, http://vle.du.ac.in/mod/book/print.php?id=11794&chapterid=23233.
3. उपनिवेशवाद–विकिपीडिया, https://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%89%E0%A4%AA%E0%A4% A8%E0%A4%BF%E0 %A4%B5%E0%A5% 87%E0%A4%B6%E0%A4% B5%E0%A4%BE %E0%A4%A6.
4. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास–डॉ रीता प्रताप, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृष्ठ संख्या 305।
5. समकालीन भारतीय चित्रकला–डॉ० ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृष्ठ संख्या 12।
6. एनसीईआरटी, हमारे अतीत–3, भाग–2, दृश्य कलाओं की बदलती दुनिया, पृष्ठ संख्या 133–137।
7. समकालीन भारतीय चित्रकला–डॉ० ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 16।
8. भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास–डॉ रीता प्रताप, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृष्ठ संख्या 308।
9. समकालीन भारतीय चित्रकला–डॉ० ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 16।
10. समकालीन भारतीय चित्रकला–डॉ० ममता चतुर्वेदी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 18।
11. Art of India- Wikipedia, https://en.m.wikipedia.org/wiki/Indian_art.
12. The Indian Portrait-5 (Colonial Influences on Raja Ravi Varma and his Contemporaries), Anil Relia & Dr. Ratan Parimoo, Archer Art Gallery, 2014, pp. 108-110.
13. आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ– डॉ० प्रेमचंद्र गोस्वामी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण 1995, पृष्ठ संख्या 4।
14. Contemporary Art in India (A Perspective)- Pran Nath Mago, National Book Trust of India, New Delhi, First Edition, 2001, pp. 7.

शोध छात्रा, कला एवं
शिल्प महाविद्यालय,
लखनऊ विश्वविद्यालय

●●●

Modern impact in Kalighat Painting

Anupama Dey

Kalighat is a famous place in Calcutta. And it is famous for Goddess Kali temple known as Kalighat. That's why this style of painting is also known as Kalighat Pata Painting. This is mainly dedicated to goddess Kali. Kalighat Painting or Kalighat pata painting started in the19th century. In this style of painting images of various god and goddess is being painted. In Kalighat Painting we can find the simple brush stroke with watercolour, creating master pieces and elegant Bengali Folk Art with their bold, simple, colours and rhythm. These paintings have a surprising affinity towards modern art.

History:

The Kalighat school or Kalighat Painting originated in 19th century at Calcutta and during that time Calcutta was the capital of British India. A. N. Sarkar and C. Mackay started the first school of painting in India which was truly modern as well as popular. Rural Bengal people had a great relationship with storytelling and mythology. In the villages the folk painters would go from village to village to narrating the stories. They had painted long narrative stories on scrolls of handmade paper or cloth often stretching over 20 feet in length and were known as Patachitra. Each section of the scroll was called 'Pata'. And the painters were called 'Patuas.' The patuas would travel from village to village, unrolling the scroll a section at a time and singing the stories towards their audiences. The patuas were in the neighbourhood of the famous Kali temple. With the rise of popularity and fame of the goddess Kali, many of the artisans and craftsmen moved to Kalighat area to capitalise the new market by selling cheap religious painting to the visitors. Soon after that some skilled artist moved to Kolkata from the rural Bengal, especially from 24 parganas and Midnapore and set up stalls outside the Kali temple. However the visitors to Kalighat did not want to buy long scrolls which take a lot of time to paint. The patuas therefore evolved their work as per the need of the society and started painting single pictures involving just one or two figures that could be painted quickly with simple forms leaving the background plain and did not used non-essential details.

Oriental and Occidental:

After the British came to India Kalighat pata painting slowly developed in two styles:

(i) Oriental style and (ii) Occidental style.

The biggest changes occurred in Kalighat Pata Painting in subject matter and colour style.

Oriental style originated from the location of the Patuas. The early Patachitra focused mainly on religious topics. In this style patuas created the typical paintings of Hindu Gods, mythological characters and the popular religious theme, like- Rama- Sita, tales from Ramayana, Mahabharata and depictions of scenes from Krishna's lifesuch as Krishna milking a cow, KaliyaDaman, Krishna killing the Demon putana, Krishna with Radha, Krishna with Balaram, Krishna with Yashoda, God-kali Devi, Devi Durga as Mahishasuramardini, Shiva in his various avatars, Vishnu in his different incarnations, Ganesha, Goddess-Laxmi, Parvati, and Saraswati among others.

Goddess Durga on her Lions Killing the Demon Mahishasura:

This painting (Fig. no.1) is from Kalighat Pata Painting in oriental style. This painting mainly dedicated to goddess Durga. The Goddess Durga on her lion killing the demon Mahishasura. This painting is basically related to Hindu religion, this is perfect example of kalighat pata painting where patuas painted the god- goddess when started patachitra. Used less colour and flat colour, not used colour shading. Somewhere very few colour shaded used. Durga has ten hands and holding different ashtrays in different hands. In one hand holding hair of Mahishasura. Durga's one leg on chest of Mahishasura and one leg on the back of the lion. This image belongs

that thing whatever myth we studies in religious book. There not much finishing on painting that's the symbol of oriental style of Kalighat Painting.

Occidental style of Kalighat Pata Paintings is more contemporary type of painting. It started after British came to India, after which there was a big change in Kalighat Pata Painting, which is called occidental style pata painting.

After British came in Calcutta their artists started doing lots of experiment with Kalighat Pata Painting. Artist started paintings depicting Daily Life and also religious paintings. The occidental painting included various themes contemporary to that time such as Crime, the evolving role of men and women in the society, women bathing, women's education, depictions of the freedom struggle, such as - women freedom fighter Rani Laxmi Bai, hero's – Tipu Sultan, many more portraying various character.

In this style also created some famous social events like- the famous Elokeshi Mohanta affair or the subsequent murder of Elokeshi by her husband known as the grate Tarakeshawr Scandal. Others like- Wrestler Shyamakanta fighting a tiger, and Bengali Women on a ballon flying in the sky.

Often humorous scenes are also depicted from the "Babuand Bibi Culture", that show the changing Kolkata socio-cultural landscape under colonial influence.

Occidental style in Kalighat painting is also used to depict - pets and other animals such as cats, fish, prawns, birds etc.

A Woman strikes a Man with broom:

In this painting (Fig. no. (2)) we can see the changes of theme. Theme changed from religious to daily life. It included the ordinary people engaging in daily life in painting. In this painting commented on social life. A Woman strikes a Man with a broom, this is our daily life's scene, in family this types incidents are happens, that's captured by artist in this painting. This is the different from oriental style of Kalighat Painting. Here one woman punished her man may be her husband. In that time in 19th century in high class society we found this type situation, fighting. The woman's one leg placed on the man's thigh. Man wear white dhoti, black kurta with red colour shawl, pointed shoos, everything depicted how rich the man. Woman wear beautiful white Saree with black border, without blouse, carried so many ornaments like ankles on foot, bangles on whole hand, heavy neckless, big nose ring, big jhumka on ear, well set hair and also ornament on hair, each and everything are shown richness.

Not only changed theme also lot of evolution can see through this painting which is different from oriental style of Kalighat Painting. Used bold colour with bold line, proper colour shades of whole painting, development of drawings, clear line drawings.

Babu and Bibi series:

Babu and bibi series is an interesting part of Kalighat painting. Among the changes brought in Kalighata painting by coming of British in Calcutta. Babu and bibi was one of the famous series. It is known as babu because they started painting daily life related activities of landlord, high society people and their effluent lifestyle. Since rich and high society men were called babu in Bengali these painting got the name of babu. Bibi means wife, since both babu and their wifes were depicting in these painting. Such paintings got the name Babu and bibi, painting such as babu bringing a big fish from the market, babu and bibi (husband and wife) riding in a hand drawn rickshaw. Even painting such as fight between husband and wife, husband holding hair of wife have also been painted, Paintings of landlords smoking tobacco from the traditional pipe and playing instrument been painted too .

Playing Instrument:

A person playing music instrument, in this painting (Fig. no. (3) a man is sitting on a wooden chair playing with a music instrument called Tanpura or a similar instrument. The man looks very as he is well dressed and wearing a white dhoti and kurta and a colourfull shawl with leather shoes which has a pointed shape.In this painting the colors used are bold, simply fine and bold lines have been used by the artist. The man is sitting on a wooden chair and the chair has been portrayed having a good design. This painting has a lot of difference from the oriental style; color shading has been done instead of flat colors on the face. Colour shade has been

used on leg and clothes also instead of flat colors, which is much different from the oriental style. .

Women in Kalighat Pata Painting :

Women always stand as a tree in a family or iconography, everywhere. Kalighat pata painting mainly dedicated to lord Kali, so women played a very important role in Kalighat Pata Painting. Women symbolise as shelter, fertility, growth, possibility and many more. Women also idolized as goddess like Saraswati- the goddess of knowledge, Laxmi- the goddess of money, Kali- Godess of Sakti.

Women represent as tree:

In this painting (Fig. no. 4) women represent as tree. One baby may be her child and one man may be her husband or lover both holds her tightly. This painting also shows the bonding of human and also shows how a women support her family equally her child and husband. Simple bold water colour applied and although limited colour used still the painting is very beautiful, emotional.

Advent of Oleography in kalighat painting:

When demand for Kalighat painting started to increased their started Oleography. Oleography is a type of painting which is cost effective and takes less time to produce paintings. Since Oleography is a very cheap medium,there is a distinctive glaze in the painting which attracted a lot of viewers and the demand for this type of painting increased because of that. In this process the whole work used to be printed at once and sometimes in parts and then they were hand painted depending on the need. But there was no change in the subject only in the medium. The work which used to be done by hand started to be printed. Since it was cheap for the people to buy such painting, the handmade paintings started losing their demand and the artists started shifting to other types of jobs for their livelihood,and the art started shifting from folk art to commercial art. Now these types of panting can just be seen in museums.

Lady with a peacock:

This is a beautiful work done in Oleography medium, in this painting (Fig. no. 5) there is a peacock sitting on the lady's hand, that's why this painting is called lady with a peacock. From the dress and ornaments of the lady she seems from a rich and affluent family. This is made in kalighat style in which daily life of high society is shown. Work is very colourful.On one hand the lady has a peacock and on the other hand she has a rose. She's portrayed with wearing bangles, heavy necklace, big earrings, big nose ring, wearing a beautiful red sari without any blouse, big eyes and long hairs make her seem more beautiful.

Conclusion:

In Present day Kalighat Painting is one of the most well known Indian modern art painting style known globally. But slowly in modern contemporary age Kalighat Painting has lost its magical identity, although in some villages of Bengal some Patua Artist still practice this rich and vibrant art.

Bibliography:

- https://www.vam.ac.uk/articles/kalighat-painting#slideshow=4207388&slide=0
- https://theculturetrip.com/asia/india/articles/a-brief-history-of-kalighat-paintings-in-kolkata-india/
- https://artsandculture.google.com/exhibit/kalighat-painting-by-kalam-patua-india-queensland-art-gallery-gallery-of-modern-art/JAIiASBpOYt_IA?hl=en-
- www.chitrolekha.com › 02_...PDF
- Kalighat Paintings - The Chitrolekha Journal on Art and Design
  A Review by Sanyal Partha
- https://www.sahapedia.org/rise-and-fall-kalighat-paintings
  - in overview -Published on : 29 June 2020 – by Chaudhury Sharmishtha

Research Scholar
Graphics Department
Indira Kala Sangeet Viswavidyalaya, Khairagarh

Fig. no. (1) Goddess Durga on her Lions Killing the Demon Mahishasura

Fig. no. (2) A Woman strikes a Man with broom

Fig. no. (3) Playing Instrument

Fig. no. (4) Women represent as tree

Fig. no. 5 Lady with a peacock

मध्यप्रदेश के झाबुआ के वनवासियों की वाचिक परम्परा का चित्रांकन
(रवीन्द्र बहादुर संग्रहालय खैरागढ़ के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. आशुतोष चौरे

हमारे देश में चित्रकला का इतिहास बहुत प्राचीन है। चित्रकला के माध्यम से मनुष्य ने अपने दैनिक जीवन के क्रिया–कलापों को साकार किया। चित्र अपने आप में एक सहज अभिव्यक्ति है, जिसमें मानव की कलाप्रियता का संकेत मिलता है। लोक कला (वनवासियों की चित्रकला) में चित्रों के नायक–नायिका हमारे बीच के ही होते हैं। हमारे समान ही उनके वस्त्र,आभूषण और रंगरूप होते हैं। लोक कला का परिवेश सीधे ग्रामीण अंचल से प्रभावित होता है कहीं बनावट, दिखावट या नकल नहीं मिलती है।

मिट्टी,, गेरू से हमारे पूर्वजों ने चित्रों का इतिहास रचा। इस समय का सामाजिक जीवन सादा था। मनुष्य ने गुफा, कंदराओं को अपना आश्रय बनाया। अपने रहन–सहन को पहले उसने मात्र अपनी आवश्यकता माना परन्तु शनैःशनै अपने हर घर की चौखट (द्वार–शाखा) को लेकर भित्तियों और छतों को रेखा चित्रों से सजाया। पूर्व में उसके प्रिय विषय थे आखेट के दृश्य, नदी,पर्वत, पशु–पक्षी, सूर्य, चन्द्र एवं तारे।

भारतीय कला अलंकरण प्रधान है। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र के अनुसार शून्य या रिक्त स्थान में असुरों का वास हो जाता है किन्तु यदि गृहादिक आवास या देवगृह में मांगलिक चिहन् लिखे जाये तो दैवी श्री और रक्षा उस स्थान में अवतीर्ण रहती है।[1]

पिथौरा चित्रकला

भील आदिवासियों का विश्व–प्रसिद्ध चित्रकला ''पिथौरा'' है। पिथौरा जिसे 'पिठोरा' भी कहा जाता है, भील जनजाति की एक विशिष्ट कला है उसमें ध्वनि सुनना एवं उसे आकृति के रूप में उकेरने की अद्‌भूत कला का प्रदर्शन किया जाता है। यह कला भारत में ऐसी कला है, जिसमें विशिष्ट ध्वनि सुनना, उसे समझना और लेखन से चित्र रूप प्रदान करना प्रमुख है।[2]

भील वनवासियों के समाज में पिथौरा सजावट के चित्र नहीं है अपितु यह विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठान है जिसमें चित्रकार अपने मन से कोई रूपांकन नहीं करता। यह उर्वरता और समृद्धि के देवों के आह्‌वान और उनको समर्पित छवियॉ है। स्पष्ट है कि इन छवियों में सौन्दर्य का उतना महत्व नहीं है, जितना कि विधान का। गाँव के पुजारी या बड़वा के चित्रांकन देखकर सन्तुष्ट होने के बाद ही इसे पूर्ण माना जाता है। पिथौरा में सम्मिलित रूपों की पहचान इस प्रकार है – बाबा गणेश, काठिया घोड़ा, चंदा बाबा, सूरज बाबा, तारे, सरग (आकाश) जामी माता, ग्राम्य देवता, पिथौरा, बापजी, रानी काजल हघराजा कुँवर, मेघनी धोड़ी, नाहर, हाथी, पानी वाली बावड़ी, साँप, बिच्छु, भिश्ती, बंदर और पोपट के साथ ही चिन्नाला एक टाग्यां, सुपार कन्या। आयताकार रेखाओं के घेरे में बायें हाथ पर सबसे नीचे हुक्का पीते काले रंग की जो छवि बनाते है, वहीं गणेश बाबा है, उनकी और गणेश की प्रचलित छवि में कोई समानता नहीं होती परन्तु भील आख्यानों में अधिक स्थान पाने वाला घोड़ा पिठोरा (पिथौरा) के केन्द्र में होता है।[3]

इस चित्रकला के चित्रण में ये लोग बहुत धन लगाते है तथा जो अपने घर में अधिकाधिक पिथौरा चित्र रखते है। वे समाज में अति सम्माननीय होते हैं। पिथौरा चित्रकार को लखाड़ा कहा जाता है तथा जो इन चित्रकलाओं का खाता रखते है। उन्हें झोखरा कहा जाता है। सर्वोच्च पद पर आसीन जो पुजारी धार्मिक अनुष्ठान करवाते हैं उसे बड़वा या अध्यक्ष पुजारी कहते हैं। सामान्यतः लखाड़ा किसान होते है। खातो की देख रेख के अतिरिक्त

लखाड़ा सामान्य चित्रण जैसे रंग–भरने का कार्य ही पिथौरा चित्रकारों में सम्मिलित होकर कर सकते हैं। वरिष्ठ कलाकारों के मार्गदर्शन में लखाड़ा अच्छे चित्रकार बन जाते है। महिलाओं के लिए चित्रण निषेध है।

लखाड़ा जब चित्रकारी करता है, बड़वा एवं उसके साथी पारम्परिक गीत गाते रहते है। पिथोरा चित्रकला में अधिकतर चित्रण इनके द्वारा किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों के समय का होता है। इसमें बीच में एक छोटा आयताकार बनाया जाता है, जिसमें नारंगी बिन्दु अंगुलियों से बनाए जाते हैं जिसे टीपना कहा जाता है तथा यह धार्मिक अनुष्ठान के अंत में चित्रकला के पूर्ण होने पर किया जाता है। टीपना के बगल में पिथोरा बाबा एवं पिथोरी (पिथौरा की पत्नी) का चित्र बनाया जाता है। सबसे ऊपर चन्द्र, सूर्य, बंदरों आदि पशुओं के चित्र बनाए जाते है।4 □गुजरात और मध्यप्रदेश के भीलों की रथवा (राठवा) जनजाति का विश्वास है कि संसार की रचना प्रथम वर्षा और पृथ्वी के संयोग से हुई। विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं के समान उनके गीतों में चार महाद्वीप वाली रानी पृथ्वी और इन्दीराजा का वर्णन है जो स्वर्ग में रहता है। इस प्रकार पृथ्वी को माता और आकाश को पिता मानकर उनके साहित्य और कला की रचना हुई है। मिर्जापुर, होशंगाबाद की पाषाण गुफाओं और नावदाटोली के पात्रों पर बने हुए चित्र इन पौराणिक अवधारणाओं के बहुमूल्य ऐतिहासिक प्रमाण है। इन लोक चित्रों में बैल और गाय भी प्रमुखता के साथ चित्रित किये गये हैं।[5]

मध्यप्रदेश के पिथौरा क्षेत्र में इस कला का उद्‌गम स्थल माना जाता है जो भील जनजाति के सबसे बडे त्यौहार पिठौरा पर घर की भित्तियों पर बनायी जाती है। इस कला के विकास में भील जनजाति के लोगों का उल्लेखनीय योगदान है। इस कला में पारंम्परिक रंगों का प्रयोग किया जाता था। प्रायः घरों की दीवारों पर यह चित्रकारी की जाती थी परन्तु आद्यतन यह कागज़, केनवास, कपड़े इत्यादि पर की जाने लगी है। यह चित्रकला बड़ौदा (गुजरात) से 90 कि.मी. दूर पर स्थित तेजगढ़ ग्राम (मध्य गुजरात) में रहने वाली राठवा भील नामक जनजाति के लोगों द्वारा दीवारों पर बनाई जाती है। पिथौरा चित्रकला का इन जनजातीय लोगों में विशेष महत्व है तथा उनका मानना है कि इस चित्रकला को घरों की दीवारों पर चित्रित करने से घर में शांति, प्रसन्नता एवं सौहार्द्र का विकास होता है।

पिथौरा चित्रकला का चित्रण राठवा जाति के लोग ही सबसे अधिक करते है तथा अत्यन्त ही साधारण स्तर के किन्तु धार्मिक वृत्ति के लोग होते हैं इनके लिए पिथौरा बाबा अतिविशिष्ट एवं पूजनीय है।

सामाजिकता का प्रदर्शन–पिथोरा चित्रकला धार्मिक अनुष्ठानों से अधिक प्रभावित रहती है। इन जनजाति के धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन ईश्वर को धन्यवाद स्वरूप या किसी इच्छा पूर्ति आदि प्रदान करने हेतु किये जाते हैं। इस प्रकिया में बड़वा या शीर्ष पुजारी को ही बुलाया जाता है जो उनकी समस्याओं का निराकरण इन अनुष्ठानों के द्वारा करवाते हैं। यह समस्याएँ चाहे किसी पशु गाय, घोड़ा, हिरण, बैल, हाथी आदि की अप्राकृतिक मृत्यु अथवा घर के बच्चों की बीमारी से संबंधित हो सकती है, जिसका समाधान बड़वा द्वारा धार्मिक अनुष्ठान तथा पिथौरा चित्रकला बनाने का परामर्श स्वरूप उन्हे दे दिया जाता है। पिथोरा बाबा की उपस्थिति को ही सबकी समस्याओं का एक मात्र समाधान माना जाता है। पिथोरा चित्रकला सदैव घर के प्रवेश या ओसरी जो कि प्रथम कक्ष के सामने की दीवार या उसकी भीतरी दीवार पर की जाती है। इन दीवारों को विभिन्न आकृतियों द्वारा पूरी तरह चित्रित कर दिया जाता है।[6]

तकनीक– रंग बनाने के लिए रंगीन पाउडर को दूध एवं महुआ (एक प्रकार की मदिरा) का प्रयोग किया जाता है जो कि महुआ के दिव्य वृक्ष से तैयार की जाती है तथा फूलों द्वारा किण्वित करके यह मदिरा बनाई जाती है एवं इसके बीजों द्वारा खाद्य तेल निकाला जाता है। सम्प्रति कपडों के रंग (फेब्रिक कलर) स्थानीय दुकानों मे उपलब्ध है। अतः इनका ही प्रयोग जन साधारण द्वारा किया जाता है। चित्रण हेतु मुख्यतः पीला, नीला, हरा, नारंगी, सिन्दुरी, लाल, आसमानी,काला एवं चाँदनी रंगों का प्रयोग किया जाता है। तूलिका हेतु बेंल या टहनी के छोर को कूटकर बनाया जाता है। परन्तु आज इनका स्थान बाजार में उपलब्ध ब्रश ने ले लिया है।[7]

चित्रण हेतु सामने की दीवार बगल की दो दीवारों को तैयार किया जाता है तथा सामने की दीवार साथ वाली

दीवार से लगभग दो गुनी होती है। सर्वप्रथम इन दीवारों को गाय के गोबर के घोल से दो बार लीपा जाता है, एवं उसके ऊपर सफेद चॉक पाउडर से लीपकर चित्रण की सतह तैयार की जाती है, इस प्रक्रिया को लीपना कहते हैं मुख्य दीवार या बरामदे एवं रसोई घर का स्थान बहुत पवित्र माना जाता है। इस बरामदे की बगल की दो दीवारों का चित्रण भी सामान्य देवताओं एवं पूर्वजों की आकृतियाँ बनाकर किया जाता है।

रवीन्द्र बहादुर संग्रहालय खैरागढ़ की लोक चित्रकला वीथिका में मध्यप्रदेश एवं गुजरात के भील आदिवासियों (वनवासियों) के चित्रों का प्रदर्शन किया गया है जो भील आदिवासियों की वाचिक परम्परा का चित्रांकन है। इन चित्रों का अवलोकन अध्ययन कर हम उनकी वाचिक परम्परा का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। भील वनवासियों ने अपनी परम्पराओं, रीति–रिवाजों को लिखा नहीं अपितु उनकों चित्रों के रूप में भित्तियों पर लिखा। इन चित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें भील वनवासियों के धार्मिक विश्वास, सामाजिक परम्पराएँ, जीवन–शैली इत्यादि का ज्ञान सहज रूप से हो जाता है।

झाबुआ के वनवासियों के लोक चित्र

1. अश्व संचालन – ये चित्र श्री रमेश बारिया ने चित्रित किया है। ये मध्यप्रदेश के झाबुआ की भील जनजाति की लोक चित्रकला को प्रदर्शित करता है। इसका माप 123ग्187 से.मी. है। ये कैनवास पर पीले रंग के आधार पर चित्रित है। इसमें चार अश्वों को दिखाया गया है परन्तु ये पशु अश्व के सदृश्य नहीं है। अश्व के उदर को छोटा या सिकुड़ा हुआ दिखाया गया है एवं गर्दन लम्बी दिखाई जाती है तथा उनके पैरों मे गोल अभिकल्प है। इन्हें एक पेड़ के मध्य में दिखाया गया है जिसके दोनों ओर दो अश्व है। ऊपरी पंक्ति में दाहिनी ओर काला, पीला एवं सफेद अभिकल्प से घोड़े का चित्रण है। जिस पर एक घुड़सवार बैठा तथा उसे हाथ में घनुष लेकर घोडे को हाँकते हुए दिखाया गया है। अश्व की गर्दन के समीप बिना पूँछ के बंदर (वानर) को दिखाया गया है। उसके पीछे बायीं ओर लाल रंग का अश्व लाल,पीली और सफेद बिन्दुओं से अंकित किया गया है। ऊपर एक वानर जैसी आकृति का व्यक्ति उसे हॉक रहा रहा है उसके एक हाथ में लगाम (रास) तथा एक में बाण है।

इसी प्रकार नीचे की पंक्ति में दाहिनी ओर लाल रंग का अश्व है उसे बायीं ओर काला, पीला एवं लाल रंग से सजाया गया है। नीचे वाले दोनों अश्वों के ऊपर दो वानर घुड़सवारी कर रहे है। इन घोड़ों पर बैठे पक्षियों का अंकन है। अश्वों के नीचे हत्थे वाली गोल वस्तु रखी हुई है। ये चित्र मध्यप्रदेश के झाबुआ के वनवासियों का लोक जीवन का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

2. वनवासियों का जन जीवन – ये चित्र झाबुआ के भील वनवासी चित्रकार श्री शेरसिंग ने चित्रित किया है। ये झाबुआ के भील वनवासियों का सुन्दर चित्रण करता है। ये चित्र 124ग्183 से.मी. के कैनवास पर चित्रित है। कैनवास को हल्के पीले रंग का आधार दिया गया है , जिसमें काले, लाल, सफेद हरे रंग तथा नीचे पीले बिन्दुओं के आधार बनाकर चित्रित किया गया है जो सहज रूप से रंगों एवं बिन्दुओं के कारण आकर्षित करता है। चित्र में ढाल को चित्रित कर उसको घुमावदार किरणों के समान चित्रित किया गया है वहीं बायीं ओर अर्द्धचन्द्र तथा तारे को भी पीले सफेद और लाल बिन्दुओ से चित्रित किया गया है।

चित्र के मध्य में चार बन्दुक धारी लम्बी बन्दुकों को बायें हाथ से पकड़े हुए हैं तथा दाहिना हाथ पीछे से ले जाकर बन्दुक को थामे हुए है। चित्र में कुल पाँच अश्वों का अंकन है जिसमें एक पर बन्दुक धारी घुड़सवार बैठा है। वह हाथ में तलवार भी रखे हुए हैं। अश्व लाल, हरे, सफेद एवं चटकीले रंगों से बिन्दुओं से सुसज्जित है। बायें ओर के दो अश्वों की दो–दो गर्दनें बनायी गयी है। इसके मध्य में एक पुरूष लगाम (रास) तथा खड्ग पकड़े हैं एवं एक पुरूष हुक्का गुड़गुड़ा रहा है। एक अन्य पुरूष दोनों घोड़ों की लगाम हाथ मे थामें हुए हैं।

चित्र के दाहिनी ओर एक ताड़ वृक्ष पर एक पुरूष हंसिया (दॉत्र) लेकर चढ़ रहा है। ऊपर पक्षी उड़ रहे हैं। नीचे की ओर बिच्छु, कच्छप, मीन (मछली) एवं आयताकार अभिकल्प युक्त वस्त्र है। उसके नीचे मथनी से मक्खन निकालती युवती चित्रित है तथा एक भारवाहक कावड़ में पानी लिये जा रहा है। दो स्त्रियाँ सिर एवं हाथ में पात्र

पकड़े हुए है, साथ में एक शिशु भी है। इनके बायीं ओर एक आखेट दृश्य है जिसमें एक बारहसिंगा का शिकार कर दो पुरूष उसे डण्डे से बाँध कर उल्टा लटकाते हुए चले जा रहे हैं। बायीं और सूअर, पक्षी, गिरगिट, बारहसिंगा तथा व्याघ्र चित्रित है वहीं एक पेड़ पर गिरगिट को चढ़ते हुए दिखाया गया है इसके बायीं ओर एक पुरूष दोनों ओर चार–चार सिंह का मुखौटा लगाये हाथ में तलवार तथा खड्ग लिये जा रहा है। कृषक बैल की सहायता से हल चला रहा है जो बैल कम तथा अश्व अधिक दिखाई पड़ रहा है। नीचे सर्प, पक्षी,खरगोश का अंकन है। बायीं ओर ऊपर एक लकड़ी पर चार मूषकों को चलते प्रदर्शित किया गया है। वृक्ष पर तोता तथा शाखामृग (वानर) बैठा है। एक अश्व के मध्य उलूक को दिखाया गया है। ऊपर मूषकों के ऊपर मोर का चित्रण है। ये चित्र आदिवासियों के जनजीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है। ये उनकी वाचिक परम्परा के चित्रांकन को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता है।

पिथौरा चित्रकला के बिना शुभ कार्य अधूरे हैं। आदिवासियों के घरों में देवता और पूर्वजों के रूप में चित्राकंन किया जाता है। मध्यप्रदेश का पिथौरा क्षेत्र इस कला का उद्‌गम स्थान माना जाता है। इस कला में राठवा जनजाति का महत्वपूर्ण योगदान है। 8

संदर्भ :–

1. वासुदेव शरण अग्रवाल–भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन,वाराणसी 2016 पृष्ठ – 04।
2. sociale xpress>article विश्व प्रसिद्ध आदिवासी चित्रकार पेमा फत्या का निधन 2020 mrs sushma prajapati
3. ..... वही ..... ।
4. him.wikipedia. org>wiki>
5. http//www abhivyakti- hindi.org/kaladirgha/folkmoot/pithora.htm
6. http//www abhivyakti-hindi/kaladirgha/folkart/pithora.htm
7. ..... वही .....
8. शोथा शर्मा – मालवा एक सांस्कृतिक धरोहर (मालवी बोली में एक सम्पूर्ण हतान्त) एस. डी. आर इनोवेज इंण्डिया प्रा. लि. पुष्ठ– 90।

●●●

देश की ललितकला अकादमियों की वर्तमान प्रासंगिकता

डॉ. कृष्णा महावर

देश में जब ललितकला अकादमियों का उद्‌भव हुआ था तब प्रत्येक अकादमी के साथ एक संविधान भी बनाया गया था। जिसमें अकादमी के उद्देश्यों, कार्यकलाप, गतिविधियों, प्रोत्साहनों का वर्णन किया गया था। प्रत्येक अकादमी का अपना एक कार्य करने का तरीका होता था। उनके उद्देश्यों में यह साफ लिखा होता था कि देश में कला व संस्कृति के प्रचार प्रसार,युवा कलाकारों को मंच प्रदान करने, देश की लोककला, आधुनिक कला व अन्य विधाओं को उन्नत करने और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक सजगता उत्पन्न करने के कार्य अकादमी द्वारा किये जायेंगे। इसके लिये दिल्ली के अतिरिक्त लगभग प्रत्येक राज्य में एक अकादमी गठित की गई। जो अपने अपने कार्यक्षेत्र में कार्यरत रहती है।

प्रत्येक अकादमी के अस्तित्व में आये काफी अर्से बीत चुके हैं, आज उनकी गतिविधियों से सभी वाकिफ हैं। केन्द्रीय सरकार 10 से 15 वर्षों के अन्तराल पर एक समीक्षा समिति गठित कर सकती हैं जो अकादमी के उद्देश्य कहाँ तक अभी भी प्रांसगिक है और अकादमी के कार्यकलापों द्वारा प्राप्त किये जा रहे हैं, उस बात का मूल्यांकन करेगी और सरकार की रिपोर्ट प्रस्तुत करेगी।[1] परंतु इन अकादमियों की वास्तविक हालत क्या हैं? वे आज भी उतनी ही प्रासंगिक है अथवा नहीं जितनी की अपने निर्माण के वर्षों में थी? कुछ इसी तरह के सवालों के जवाब खोजने के क्रम में निम्न महत्वपूर्ण बिंदु उभरकर आते हैं।

1. क्या अकादमी की गतिविधियाँ नियमित हो रही है ?
2. क्या अकादमी में कार्यरत लोगों में कला की गहरी समझ है ?
3. क्या अकादमी का पर्याप्त आर्थिक सहयोग मिलता है ?
4. अकादमी की भौगोलिक स्थिति कैसी है ?
5. क्या अकादमी के पास स्वयं की कला–दीर्घा, ऑडिटोरियम, लाइब्रेरी जैसी सुविधाएँ हैं ?
6. क्या अकादमी के कार्यो में कलाकार व कलाप्रेमी संतुष्ट हैं ?
7. अकादमी के आयोजनों में कलाकारों व जनता की कितनी भागीदारी है ?
8. क्या ये संस्थायें देश में कलात्मक ग्राफ बढ़ा पाने में सक्षम हुई हैं ?
9. संस्थाओं के प्रति लोगों का रवैया कैसा है ?
10. क्या उनका महत्व आज भी वैसा ही है जैसा शुरूआत में था ?
11. क्या वे अपने उद्देश्य को पूरा कर पाने में सफल हुई है, जिनको लेकर उनका गठन किया गया था ?

अकादमियों की स्थापना से देश में आशा की लहर आई थी किंतु यह लहर धीरे धीरे क्षीण होने लगी । अकादमी जिन महान उद्देश्यों को लेकर स्थापित की गई थी, उनकी अवहेलना होने लगी। सही समुचित मदों में अनुदान का उपयोग न करके ऐसी संस्थाओं और ऐसी व्यवस्थाओं में धन का अपव्यय होने लगा जो या तो मात्र कागजों पर केन्द्रित थी या जिन्हें अकादमी के अधिकारी वर्ग के अलावा कोई नहीं जानता था। उदासीनता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता था कि स्थापना के आठ वर्षों बाद तक संगीत नाटक अकादमी का रजिस्ट्रेशन तक नहीं कराया जा सका था। कुछ ऐसी ही अव्यवस्थाऐं ललितकला अकादमियों में भी रही। मनचाहे लोगों को प्रश्रय देने के लिये अकादमी ने नियमों में भी फेरबदल कर डालने में संकोच नहीं

किया। भारत सरकार तक को उसमें हस्तक्षेप करना पड़ा। जाँच समितियाँ बिठायी गई। पुर्नगठन से उसकी कार्यप्रणाली में सुधार तो आया किंतु असंतोष की जो छाया पहले से चली आ रही थी, लालफीताशाही का जो शिकंजा अकादमियों को जकड़ चुका था, उससे पूर्णतया मुक्ति मिल पाना मुश्किल था।[2]

आलोचना :— 20वीं सदी की शुरूआत में अधिकतर चोटी के कलाकार इस बात से सहमत थे, जो कि एफ.टी. मारिनेत्ती ने फ्रेंच अखबार लाफिगारों में 1909 में मुख्य पृष्ठ पर छापा था—''सच में बताता हूँ कि संग्रहालयों, लाइब्रेरियों और अकादमियों की निरन्तर यात्राएँ एक तरह से कलाकारों को समाप्त कर रही है। जैसे कि एक माता—पिता द्वारा बढ़ा चढ़ा कर की गई संरक्षा बच्चे के टेलेंट व महत्वकांक्षाओं को पी जाती है। हम इसका हिस्सा नहीं बनना चाहते। जेम्स मैनेलविसलर ने भी कहा था कि ''अकादमी! जिसको भगवान ने सबसे निकृष्ट बनाने की इच्छा जाहिर की तो अकेडमिशियन्स को बना दिया।''[3] बड़े कला—केन्द्रों में कलाकार और गैलरियों के प्रबन्धन एक दूसरी संधि सी किये रहते है।[4]

बेशक इन संस्थाओं के होने से कलाओं को एक शिखर मिला है परंतु इनका एक अन्य पहलु भी है जिस पर गौर करने की आवश्यकता है। देश में अकादमियों की स्थापना के 60 वर्ष से भी ज्यादा हो चुके है, जहाँ अन्य अकादमियों के मूल संविधानों में कई संशोधन पारित हो कर लागू भी हो गये हैं। वहीं ललितकला अकादमियों के संविधान में महत्वपूर्ण संशोधन साधारण सभाओं से पारित तो हुए किंतु राज्य सरकार की सहमति के अभाव में अभी तक लागू नहीं हो पाये। वस्तुतः आजादी के बाद भी कला व संस्कृति को राज्य सरकार की ओर से जितना प्रश्रय मिलना चाहिये था उतना उपलबध नहीं हुआ। कलाकारों की भी अपनी मजबूरियाँ है, उनमें कई मसलों पर यथोचित जागरूकता का अभाव है, यदि सचेत होते हैं तो एकमत नहीं हो पाते। अपना आकलन इतिहास पर नहीं छोड़कर स्वयं को महान बनाने का प्रयास करते हैं और अपने अलावा सभी को तुच्छ व गौण घोषित करते हैं परिणामतः राज्य व समाज की ओर से जब कोई उत्साहकारी पहल होने लगती है तो वह भी पारस्परिक खींचतान से निरस्त हो जाती है। होना यह चाहिए कि श्रेष्ठता के लिए स्वस्थ मतभेद व प्रतिस्पर्धा तो बनी रहे किंतु व्यवहारगत सद्भाव एवं शालीनता पर भी कोई आंच नही आने पाये।[5]

कला संस्थाओं में भी राजनीतिक पदार्पण हो चुका है प्रशासनिक कार्य प्रणालियों के चलते इन अकादमियों व कला केन्द्रों में भी फाइल संस्कृति आ गई है। कला संबंधी कार्य भी प्रशासनिक कार्यों की तरह अंजाम दिये जा रहे हैं तो समय की देरी भी स्वाभाविक है। परंतु वैश्वीकरण के इस युग में इन सब बातों को भी नजर अंदाज नही किया जा सकता कि कला को भी समय की धारा के साथ आगे बढ़ना है पर ऐसे नही कि वह संवेदन शीलता ही खो दें।

कला के केन्द्र बनेंगे ही पर कला इन केन्द्रों की कैदी क्यों हो जाए ?[6] जनता के पैसे का दुरूपयोग एवं फिजुलखर्ची का भी प्रदर्शन कई बार देखने में आता है। बजट का हमेशा ही अभाव बताया जाता है। ऐसी संस्थाओं की पारदर्शिता बहुत जरूरी है और इसके बारे में हमेशा बहुत सवाल उठाये जाते रहे हैं किंतु न तो सरकार और न उसके प्रशासन के कान पर जरा भी हलचल नही हुई।[7]

राजस्थान ललितकला अकादमी की हालत किसी से छिपी नहीं है। कलात्मक गतिविधियाँ बहुत धीमी गति से चल रही है। कला—मेला भी लम्बे अंतराल के बाद शुरू हुआ। वार्षिक प्रदर्शनी भी समय पर नही हो पाती। किसी तरह का पब्लिकेशन नही हो पा रहा, सचिव पद कई वर्षों से खाली पड़ा है। इसी तरह की अव्यवस्थाऐं अन्य कई अकादमियो में भी बनी हुई हैं।

समसामययिक कला से कलाकार, कला समीक्षक कला अकादमियों इन सब का वास्ता है। भारत में जिन चार महानगरों का तापमान दूरदर्शन के राष्ट्रीय नेटवर्क में प्रदर्शित किया जाता है। कला की दुनिया, कला का तापमान भी इन्हीं नगरों के पैमानों से नापा जा सकता है। कलाकारों की अधिकांश गतिविधियाँ उन्हीं केन्द्रों तक अतिकेन्द्रित है। यहीं फैंसले होते है, फतवे बांचे जाते है और कलाकारों को प्रमाण—पत्र दिये जाते हैं। दूरस्थ अविकसित ग्रामीण

अंचलों में लोककला और उसके कलाकार है जिन्होंने कभी ललितकला अकादमियों का नाम तक नहीं सुना होगा और न कभी अकादमियों ने ही उनकी सुध ली होगी वे आधुनिक कैनवासों की तरह अपने भित्ति चित्रों, भूमि चित्रों को कला अकादमियों की प्रदर्शनियों तक नहीं ले जा सकते न उनके बीच किसी प्रकार की प्रतियोगिता की भावना है। छोटे नगरों में तो हालत और भी खराब है।

आज समूचा संसार एक पतनशील उपभोक्ता संस्कृति की जकड़ में है जिसने भारत में भी पांव पसार लिये हैं। इस उप–संस्कृति के चलते यूरोप में मंदी का संकट मुँहबायें खड़ा है। कई प्रसिद्ध कला–बीथिकाऐं बंद होने की कगार पर है।

ललितकला अकादमियों की प्रदर्शनियों से ही कला की गति का पता चलता है छोटे शहरों के कला संस्थानों में जितना श्रम हो रहा है और उससे समाज में कला चेतना का जो आधार बन रहा है वह बहुत ही निराशा जनक है।

1954 में ललितकला अकादमी की स्थापना हुई और एक स्वस्थ कला वातावरण बनने की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ। तब उसके निश्चित उद्देश्य थे पर खेद की बात यह है कि कला में राजनीति इतनी गहराई से उतर चुकी है व अन्य क्षेत्रों के समान ही इसने कला क्षेत्र को भी ग्रसने की चेष्टा की है। आज कला के मान बदल गये हैं, अब चमत्कार का दौर है प्रचार का दौर है। जो जितना पैसा लगाएगा जो जितना झूठ बोलेगा उतना ही बिकेगा। कला में राजनीति का यह एक पक्ष है।[8]

दुसरा रूप यह है कि आज नौकरशाही का पदार्पण होने से कला को भी एक प्रशासनिक रवैये से हाँका जा रहा हैं। किसी चित्रकार, मूर्तिकार या अन्य कलाकार को अपनी कलाकृतियों की प्रदर्शनी अगर इन अकादमियों में करनी हा तो कई कई प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। उसे प्रार्थना पत्र देने के बाद भी कोई उम्मीद नहीं की गैलरी का आवण्टन हो जाएगा। चयन समितियों में चयन का आधार योग्यता नहीं बल्कि भाई–भतीजावाद होता है।

अगर किसी अन्य को अवसर प्राप्त हो भी जाए तो उसे गैर जिम्मेदाराना ढंग से लिया जाता है। वार्षिक प्रदर्शनियों में भी सिफारिशें ही चलती है पुरस्कार आदि भी राजनीति के चलते पहले ही तय हो जाया करते हैं। निजी कलादीर्घाओं की मिलिभगत से कलाकारों को प्रकाश में लाने व उनकी कलाकृतियों द्वारा पैसा कमाने की होड़ में घटियास्तर की कला को प्रोत्साहन मिलने लगता है। इस तरह की कलाबाजारी के चलते वरिष्ठ व अनुभवी कलाकारों का अकादमियों की प्रदर्शनियों में जाना कम हो गया हैं।[9] हालांकि प्रत्येक कला संस्था में ऐसा नही होता है, ये निर्भर करता है वहाँ पर विराजमान उच्चअधिकारियों की रूचि पर। स्वयं अकादमी के पूर्व में रह चुके आलाअफसरों के बयानों से पता लगता है कि प्रशासनिक कार्यो, फाइलों, बजट व समितियों में अन्दर अन्दर कई धांधलियाँ हो जाया करती हैं। फलस्वरूप जिम्मेदार व्यक्ति अपने आपको ऐसे माहौल में अलग थलग पाते हैं या अलगाव की स्थिति आ जाती है।

इस समय कार्यों की योजनाओं में फेरबदल करने पड़ते हैं। बजट का अकाल तो कलात्मक योजनाओं को काल का ग्रास समझकर निगल जाता है। पिछले कई वर्षों से चले आ रहे निरन्तर कार्यो में व्यवधान आ जाते हैं। प्रकाशन रूक जाते है और कार्यक्रमों में निरतंरता नहीं रह पाती। बजट की समस्या आज लगभग हर संस्था में है। कई जगहों पर स्टाफ की कमी होती है तो जहाँ पर स्टाफ होता है वहाँ अधिकांश पैसा उनकी तनख्वाहो में ही चला जाता है ऐसे में योजनाओं का अमल में आना मुश्किल होता है। कई संस्थाओं और अकादमियों के पास तो अपना निजी भवन भी नही है। किराये के भवनों में यह अकादमियाँ व संस्थाऐं अपना काम चला रही है।[10]

कुछ अकादमियों या संस्थाओं के पास आर्ट गैलरी नहीं होने से प्रदर्शनियाँ भी अन्य म्यूनिसिपल भवनों में मात्र औपचारिकताऐं पूरी करने के लिये की जाती है। अतः कलाअकादमियों, केन्द्रो में समसामयिक कार्यकलापों व प्रासंगिकता पर पुनः गंभीर चेतना की आवश्यकता महसूस होती है।[11] अकादमियो में होने वाली गतिविधियों

की जानकारी भी सही समय पर प्रसारित नही ंहो पाती। कई बार तो अंतिम तिथि निकल जाने पर पता चलता है कि अमुक प्रदर्शनी के लिये प्रार्थना पत्र मांगे जाने थे उसका तो निर्णय भी हो चुका है।

योग्य कलाकार अवसर प्राप्त किये बिना ही रह जाता है। यही हाल छात्रवृत्तियो का भी है और आयोजित किये जाने वाले कार्यशालाओं व केम्पों में भी पहुँच का लाभ लेकर ही भाग लिया जा सकता है।

इन सब बातों को मद्देनजर रखकर व कला समीक्षकों द्वारा पत्रिकाओं में छपने वाले लेखों से भी यही बात का खुलासा होता है कि सब जगह मात्र औपचारिकताएँ हो रही है। कहीं पर भी कोई गंभीर कदम नजर नही ंआ रहे हैं। जो हिम्मत रखता है पैसा खर्च कर सकता है या बड़े लोगो ंमें जिसका उठना–बैठना है वही ंकला क्षेत्र में भी नाम कमा जायेगा। उसका सभी जानेंगे भी। अकादमियों व संस्थाओं द्वारा भी उसे सम्मानित किया जायेगा। दुसरी तरफ किसी छोटे शहर या गाँव में अपनी कला में लीन एक कलाकार अपनी मासूमियत अज्ञानतावश इन अवसरों का लाभ नही ंले पायेगा। इस स्थिति में इन कला संस्थाओं का उद्देश्य कहाँ तक पूरा होता है ?

उद्देश्य पूरा तो वहाँ होता है जहाँ पर कोई प्रक्रिया खत्म हो जाये सभी,परंतु अकादमियों में ये प्रक्रियाऐं निरंतर विकासशील है। सक्रिय है। अतः जरूरत है तो बस एक पुनः सिंहावलोकन की। यह देखने की कि ये संस्थाऐं अभी तक क्या कर चुकी है, क्या करना बाकी है और वर्तमान में क्या और अपेक्षाऐं है, संभावनाऐं है ? यदि इन अकादमियों में कार्य सरकारी नियमों से चलते है तो उन्ही ंनियमो में रहते हुये कुछ गंभीर निर्णयों की आवश्यकता है।

उपरोक्त परिप्रेक्षों के आधारपर एक बार फिर से इन अकादमियों में आज के वर्तमान समय की मांग व आधार पर एक नई शुरूआत करने की आवश्यकता है। संविधानों को पुनः अवलोकन की आवष्यकता है तो अधिकारियों व कर्मचारियों के चयन में भी गंभीरता की जरूरत है और एक होमवर्क की तरह समस्त गतिविधियों के संचालन में भी नयापन लाने की आवश्यकता है। कलाकारों व कलाओं के लिये नये मानदण्ड़ों व जरूरतों को ध्यान रखने की आवश्यकता है। ईमानदारी की व सच्चाई की आवश्कता है।

आज कई भारतीय कलाका भी कला के इस सर्वग्रासी बाजार तंत्र का प्रतिरोध कर रहे है कहीं ऐसा न हो जाऐ कि इन कलासंस्थानों की आवश्यकता ही खत्म हो जाये कलाकारों की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को ये संस्थान आज किस संदर्भ में अभिव्यक्त कर पा रहे है। यह सोचने की जरूरत आन पड़ी है।

पिछले कई वर्षों में महानगरों में सैकड़ों दीर्घायें खुल गई है। दीर्घाओं के संरक्षक, संचालक, शुद्ध व्यवसायी है। इन सब से अकादमियों के अस्तित्व पर भी असर पड़ा है। ऐसा ही व्यवसायी करण कला–अकादमियों में भी आ गया हैं। कृतियों की बिक्री पर कमीशन, कलाकारों के लिए पुरस्कार, फैलोशिप और विदेश यात्राओं की व्यवस्था आदि हो जाया करते है।

तथाकथित भूमण्डलीकरण के प्रभाव से गरीब देशों की विरासत खतरे में पड़ गई है। इसमें कला की व्यवसायिकता सबसे आसान हुई है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव से कला की खरीद फरोख्त और उनके प्रचार कार्य बड़े पैमाने पर ऑक्शनहाउस; नीलामघरों ने संभाल लिया है।

कला में राजनीति का सेतु पैसा है। अन्तर्राष्ट्रीय दबावों से दुनियाभर की कला में इस कुत्सा का जहर फैल गया है। भारत में वह उफान पर है। कला संस्थाऐं इसका समाधान नही ंकर सकती, कला आलोचकों के पास रोकने का कोई मंत्र नही ंहै। कला में राजनीति को रोकने, उसके स्वरूप की रक्षा करने और उसमें समाज की अभिव्यक्तियाँ पाने का उद्यम अन्ततः वे कलाकार ही कर सकते है जिनमें अपनी मेघा का बल है।

स्पष्ट है कि ललितकला अकादमी को जड़बुद्धि, परम्परावाद और समकालिनों की गतिशीलता के बीच समन्वय करके आज कला–शिक्षा की नीति बनानी होगी। प्रतिष्ठान के संस्थानों को लीक से हटाना कठिन है किंतु स्वशासी अकादमी की नवीनतम् पद्धति तकनीक और विचार में प्रशिक्षण और शोध का प्रयोग आरम्भ करना सुगम है।

निष्कर्ष :–कला–संस्थाओं अकादमियों के आज में वर्तमान स्वरूप को इतनी गहराई से समझने वाले और

काफी लम्बे समय तक जुड़े रहने वाले लोग व स्वयं कला आलोचक व कलाकार आज सभी सर्वसम्मति रखते है कि इन संस्थानों ने कला का अपह्रास करना शुरू कर दिया है बाजारीकरण, राजनीतिकरण, भूमण्डलीकरण, तकनीकी प्रचार, इन्टरनेट का प्रयोग, नौकरशाही, घूसखोरी, मिलीभगत आदि ने मिलकर कला को एक व्यवसाय बना दिया है और ये संस्थाऐं अब कला का संरक्षण ना कर व्यवसाय कर रही है।

आज कला का संरक्षण निजी दीर्घाऐं, नीलामघर, इन्टरनेट पर बनी वेबसाइट कर रही है और कलाकारों का रूझान भी उधर ही बढ़ रहा है। कलाकार अकादमियों से दूर होते जा रहे है। यह मात्र परिस्थितियाँ नहीं बल्कि इन की अपनी कुछ कमियाँ है। कई अकादमियों ने अपनी वेबसाइट भी बनाई है परंतु कुछ को छोड़कर ये साइट ऐसे ही बिना अपडेट हुये पड़ी रहती है अगर योजनाओं को बनाते समय कलाकारों की अपेक्षाओं को ध्यान से रखा जाये तो और अच्छा हो सकता है।

आजके युग में अगर इन अकादमियों, कलाकेन्द्रों को प्रासंगिक बने रहना है तो समय के साथ अपने को बदलना पड़ेगा। मुख्य धारा से जुड़ना होगा।

संन्दर्भः–

1. संविधान, ललितकला अकादमी, संशोधन 8 जनवरी 1999, पृ.40।
2. कला के सरोकार ''कन्हैयालाल नन्दन, आज का रंगजीवन–एकान्तर यात्रा, सम्पादन रामानन्द राठी, पृ.72–73।
3. The Acacdemy "Cambridge University".
4. कला, समय, समाज, सम्पादन प्रयाग शुक्ल आर्टिकल विनोद भारद्वाज, पृ.40।
5. आकृति, प्रो. चिनमय मेहता, पृ.1।
6. कला, समय, समाज, सम्पादन प्रयाग शुक्ल, आर्टिकल विनोद भारद्वाज, पृ.40–41। राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, कोटा, 13 दिसम्बर 1996।
7. समकालीन कला, अंक 22, आर्टिकल ज्यातिश जोशी पृ.6।
8. क्रिऐटिवमाइंड, 2005, Heaven of Art, सुधाकर शर्मा, पृ.6।
9 राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, प्रकाशन, कोटा, 13 दिसम्बर 1998, आर्टिकल राधेश्याम तिवारी।
10. कला, समय, समाज, सम्पादनप्रयाग शुक्ल, आर्टिकल विनोद भारद्वाज, पृ.40।

असिस्टेंट प्रोफेसर (चित्रकला)
राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर

●●●

'Darshan' and 'Intervention of gaze to Devotion' in Ragamala Deccan Miniature Painting

Keshawram Dhruw

The unique confluence of visual arts and music has blossomed religiously in Ragamala paintings. It is one of the finest, richest, and devotional art genre of medieval Indian art rooted in 'Ragamala' or 'Garland of Raga'; and a series of miniature paintings represents the various musical melodies of Indian classical music called 'Raga'. Each depiction of the Ragamala series manifests the specific mood and different facets related to Hindu deities such as – an expression of love, reverence, and devotion for God-goddesses.

This article is primarily rooted in 'darshan' and 'intervention of gaze to devotion' in Ragamala Deccan Miniature painting, titled 'Bhairavi Raga: Lord Krishna Enthroned and Adored'(Fig. no. (1)). Through this article I probed and tried to describe - how the artist has depicted the iconic image of Lord Krishna as a divine form and linking it to earthly reality in an unearthly way; how the artist has placed the numbers of female figures in many places with different gazes; what kind of expression is emerging from the gazes of the figures, which rotates the viewer's eyes into the painting; and how the lovers and attendants are devoted in worship of Lord Krishna and how this depiction corresponds to the Hindu Puja?

Ragamala Painting

The Ragamala painting is originated and flourished from the 16th to 19th centuries in provinces of Northern, Western as well as Deccan region of India. Ragamala painting is an amalgamation of art, iconography, classical music, poetry, and elucidates the time (day/night), season (monsoon, autumn, winter, spring, and summer), and specific mood in accordance to the Raga. Most of the paintings are based on the prayer/worship of Hindu deities with ragas such as Sri, Bhairava, Vasanta, Megha, Pancham, and Nat Narayana.

This art genre was popularized in various schools of Indian miniature painting and recognized as Rajput (Rajasthani) Ragamala, Mughal Ragamala, Pahari Ragamala, and Deccan Ragamala. The depiction of narratives related to the hero and heroine are seen in a transcendent form in the paintings through the colors and different moods. In the Ragamala paintings, along with the ragas the depiction of their wives (Ragini), sons (Ragaputra), and daughters (Ragaputri) can also be seen.

Ragamala Painting in Deccan Miniature School

The Ragamala Deccan miniature painting was flourished from the 16th to 19th century in various regional centers of the Deccan region such as – Golkonda, Bijapur, Hyderabad, and Ahmadnagar. This style was influenced by indigenous art forms of the Deccan region, Iranian, and Persian art style. The costume of the women especially the transparent and fine 'orhni' can be seen prominently in Ragamala painting which is an important feature of miniature paintings of the Deccan region. In Ragamala Deccan miniature painting the architecture is usually simple and the background is found to be flat. The geometry also plays an important role in Ragamala paintings for symmetrical arrangement in the depiction of various forms.

The beautiful face, long neck, broad forehead, and open eyes are found in figures of Deccan paintings. The human figures are commonly created precisely by yellow, lapis lazuli, and brown colors with elegant clothes and beautiful jewelry.

Description of the painting

The artist has shown Lord Krishna in Neela Verna (dark - complexion) as a divine form. He is equipped with the yellow 'Dhoti', pearl necklace, bangles, armlets, waistband, earrings, and crown of gold and gemstones. The numbers of female figures (attendants and lovers) are also equipped with elegant clothes and jewellery, and

their costumes especially 'Choli' and 'Orhni' are painted precisely and beautifully.

In Hindu ritual, the god-goddesses are worshiped through the offering of flowers, cloth, fruits, water, food, and incense along with devotional songs (Bhajan). In this painting, Lord Krishna is seated on the throne and worshipping by the lovers and attendants with Bhairavi Raga. The artist has shown the service of attendants and lovers as 'devotion', in other words, the gaze of lovers and attendants are revealing the spirit of the 'Bhakti'. Everyone has a gesture of peace and devotion on their face which appears in clear and natural form in this depiction.

The artist has distinguished the lovers and servants by their placing and services. The lovers' service is placed near the Krishna those are massaging his feet and arms. While the attendants are painted at a short distance from Krishna and engaged in different works for example - two attendants are fanning, one is bringing meal and drink in glassware and another one is preparing the meal and drink for Krishna.

Probably, in this painting, the artist has created the scene of a palace. That's why the artist has tried to depict the majestic splendor. The image of Krishna is placed on the throne and two attendants have been kept on both sides of the throne those are fanning. The depiction of the throne, wall, carpet, and pillars are also showing the majestic atmosphere.

The dark brown carpet is decorated with flower vines and design on which all the figures, throne, and vessels are kept. The glassware is placed systematically on the table at the bottom-right side of the painting. The design of the magnificent throne is made of various precious gemstones in the painting. The brick wall and pillars are painted in a light pink color and the curtain in yellow. In this way, the entire scene is created by the precise depiction of human figures, flower vines, pillars, glassware, window, throne, wall, and decorated carpet in a beautiful and transcendent form.

Analysis of the Painting

(I) Darshan

The word Darshan originates from the Sanskrit word 'darsana' which means 'view' or 'sight'. In Indian mythology Darshan is related to the worship of images of the deities, visiting a holy place and person, and seeing sacred objects. Darshan means to establish mutual contact between the viewer and the person/object. Through the worshiping of deities, a worshiper achieves spiritual pleasure. People go to the temple to darshan the God-Goddesses; many people used to visit the ashram to Darshan the Sadhu or Swami, and Doordarshan is very popular among people its meaning is 'darshan from far away' or 'seeing from afar'. Darshan is a powerful form for human beings which affects both inside and outside. In India, the people celebrate the worship of deities as a religious ceremony such as – Ganesha puja, Durga puja, Shiva puja, Laxmi puja, and Tulsi puja, etc in which a large number of people go for 'darshan' of deities.

In this painting, the artist portrays Krishna as a divine form in Neela Verna. In Indian rituals, all the worshipers gather in the temple and worship the deities through 'Aarti' with the devotional song (Bhajan). Similarly, this depiction is dedicated to Indian tradition and religious rites in which Krishna is worshipping through the various activities by his lovers and attendants with Bhairavi Raga. In this depiction, the artist has shown lovers and attendant's service in various forms such as - lovers are shown near the Krishna and massaging his hand and feet, two attendants are standing on both side of Krishna and fanning, one attendant is shown at the bottom engaged in the preparation of food, and one is shown serving the food. In this way, the artist has tried to depict the service of servants as Bhakti (devotion).

Lord Krishna in Neela Varna (dark complexion): In Indian tradition, Lord Krishna has been represented in blue color (Fig. no.2). He is attractive because of his graceful face and pleading eyes, besides he is irresistibly attractive due to his blue body or blue aura. The thing which exists in the real-world and its structure is so wide and beyond our sight. It usually looks blue, such as as- blue Ocean and blue sky. Perhaps this may be the reason that in the Indian tradition Lord Shiva and Lord Krishna's image is shown in blue color. In Hindu tradition, many deities represent with beautiful eyes and nose which make them beautiful. But, the depictions of Krishna's image in blue make him more unique, attractive and characterize him in divine form.

In this painting, the artist has depicted Lord Krishna in blue color (Neela Varna). The artist has created the

female figures in a more subtle and detailed form as compared to Krishna. But one can see that the figure of Krishna in blue is most attractive and impressive in the whole depiction, the first attention on seeing this painting is on Krishna's body.

Divine Form: In Indian art, the images of god-goddesses are usually created with part of an animal body, with multiple heads, eyes, and arms in a fantastic way to represent as a divine form different from the earthly reality; for example, Shiva is represented with three eyes, Ravana with ten heads, Goddess Durga with ten hands Krishna in Neela Varna, and Hanumana similar to a monkey, etc. This is the reason that the artist has depicted the image of Lord Krishna as a divine form through Neela Verna (dark complexion) while his lovers and attendants have been shown similar to earthly human forms.

Iconic Image: The word 'icon' indicates the idea of 'likeness.' In Indian tradition, the image of Lord Krishna has been manifested in many ways with some common characteristics. He is usually shown in black and dark blue like Lord Vishnu. He is also represented wearing a crown and peacock feather and playing the flute. Sometimes he has shown as shepherds (Govinda) with the cow. One of the icons of Krishna represents him as a young boy with gopis. In Indian art, the icon of Krishna as 'Bala Krishna' is depicted through stealing butter by a baby (child Krishna). Krishna is also shown as the skilled and intelligent charioteer of Arjuna on the battlefield of Mahabharat.

The artist has shown the image of Krishna in the divine form with a dark complexion. Traditionally, Krishna is often depicted and recognized by his representation in murtis (images) as black and is generally shown through painting in the blue skin with peacock feathers and flute. In this way, Krishna has also emerged as an iconic image in this Deccan miniature painting.

Androgynous Body: Possibly, the artist has displayed god Krishna as a male. But there is not fully suggestion of a male in the representation of his body. The manner in which the muscle in the body of man is seen is not in this painting in the body of Krishna. In this depiction, Krishna's waist, nose, Venus-type arms, cheek, elongated eyes, and fingers resemble a women's body.

(II) Intervention of Gaze to Devotion

In this painting (Fig. no.3), the female figures are placed in different gazes as lovers and attendants who are serving Krishna. Here, the artist has tried to show the 'Bhakti (devotion)' through the service of lovers and attendants. In the depiction, Krishna is seated on the throne with one of his lovers. Lord Krishna has placed his right hand on the shoulder of her and looking carefully at her with his loving eyes. This mesmerizing scene is revealing the feeling of deep affection, respect, and believes on her. Nayika (lover) is sitting on the right side of Krishna peacefully and happily. Her face is slightly sloping down and she has placed one hand on her chest respectfully. The gaze and expression are showing her devotion, respect, and reverence to Lord Krishna.

A lover (Nayika), who is dressed in a blue-brown costume and standing on a brown carpet at the left side of the Krishna. She has bowed her head politely and gazing down and massaging lovingly Krishna's left arm with her both hands. A deep attachment and sense of love are clearly visible on her face. She is completely devoted to the service of Lord Krishna.

Similarly, another lover (Fig. no.4) is sitting down on the carpet near the throne and engaged in Krishna's service. Like other lovers (Sakhi) of Krishna, she is also equipped with elegant clothes and jewelry and dressed in a yellow-brown costume. She is massaging Krishna's feet with her both hands. In her face, there is a sense of Bhakti (devotion), which is visible through her service.

The two attendants are standing on the carpet and looking towards the top of the throne. They are fanning in the service of the Krishna from both sides of the throne. One of them is kept the dish of the meal (food) in the right hand and engrossed in the service. At the right edge of the painting, an attendant is holding the plate with both hands. She kept beverages drink in glass vessels and meals on the plate and going to serve the Krishna. That's why the artist has painted the gaze of the attendant towards another attendant who prepared the meal and drink. She is also engaged in the service of Krishna like other attendants and lovers.

In a similar way, a servant is preparing a meal and drink in the bottom part of the painting. She is wearing orange-pink color clothes and jewelry. The artist has created her clothes beautifully with white lines and painted

her face looking at glass-ware of Krishna for which she is engaged with work. In this way, the artist has represented the service of the attendant as 'devotion' to God.

Through this painting, one can see the precise depiction of the various objects which is shown with the different actions and gaze of lovers and attendants. In the whole depiction, the artist has placed a number of figures whose eyes are steady at different places, and they are just gazing at one thing, for example- Krishna is gazing a Nayika's face on the throne, the face of all lovers is towards Krishna's body, and all the attendants are looking towards the glass wares and top of the throne (their attention is on service of Lord Krishna).

Conclusion

A longstanding history of amalgamation and experimentation of visual art and music can be seen in the world of art. A blend of visual and music is beautifully seen in the paintings of Ragamala. It is mainly related to Indian deities and their religious stories. The iconography of Lord Krishna, his religious stories, and idealism have been represented in Ragamala paintings. It also represented the specific mood, meaning, and significance of the Ragas.

Through this painting, the artist has depicted the image of Krishna on the basis of mythological notions. The artist has represented the Krishna in Neela Varna as a divine form. This painting is revealing the female beauty, devotion, conventional observance, royal splendor monarchic, vividness of colors, adoration of Krishna by their lovers or worshipers, and the miscellaneous mixture of styles, etc. The wealth and power of kings, deep affection of patrons in art, the skill of the artists, faith in God, and subjects matter can be easily understood through this Ragamala painting. The faces of lovers and attendants emerge the expression of love, respect, dedication, and reverence for Krishna. In this way, the artist has made a successful attempt to express the 'devotion' in the painting.

List of Figures

Fig. no. 1: "Bhairavi Raga: Lord Krishna Enthroned and Adored c.1650" watercolor, and gold on paper, 17x19cm, ARTNET, http://www.artnet.com/artists/anonymous-indian-17/bhairavi-raga-lord-krishna-enthroned-and-adored

Fig. no. 2: "Krishna in Neela Varna." watercolor, and gold on paper, 17x19cm." ARTNET, http://www.artnet.com/artists/anonymous-indian-17/bhairavi-raga-lord-krishna-enthroned-and-adored

Fig. no. 3: "Krishna and Nayika." watercolor, and gold on paper, 17x19cm." ARTNET, http://www.artnet.com/artists/anonymous-indian-17/bhairavi-raga-lord-krishna-enthroned-and-adored

Fig. no. 4: "Nayika is massaging Krishna's feet." watercolor, and gold on paper, 17x19cm." ARTNET, http://www.artnet.com/artists/anonymous-indian-17/bhairavi-raga-lord-krishna-enthroned-and-adored

Bibliography

Eck, Diana L. "Darshan of the Image." India International Centre Quarterly, vol. 13, no. 1, 1986, pp. 43–53. JSTOR, www.jstor.org/stable/23001674.

Powers, Harold. "Illustrated Inventories of Indian Ragamala Painting." Journal of the American Oriental Society, vol. 100, no. 4, 1980, pp. 473–493. JSTOR, www.jstor.org/stable/602092.

Sadhguru. "Why Is Krishna Blue in Color?" ISHA, Apr 1, 2014, https://isha.sadhguru.org/in/en/wisdom/article/why-is-krishna-blue

BINNEY, EDWIN. "INDIAN PAINTINGS FROM THE DECCAN." Journal of the Royal Society of Arts, vol. 127, no. 5280, 1979, pp. 784–804. JSTOR, www.jstor.org/stable/41373866.

Murti, C. Sivarama. INDIAN PAINTING. National Book Trust, New Delhi, 1970.

Bajpai, Dr. Rajendra. SAUNDARY. Madhyapradesh Hindi Grantha Akademy, Bhopal, 2004.

Bhairavi Raga: Lord Krishna Enthroned and Adored Deccan Miniature, c.1650

Krishna in Neela Varna

Krishna and Nayika

Nayika is massaging Krishna's feet

Research Scholar
Department of History of Arts and Aesthetics
Indira Kala Sangeet Viswavidyalaya, Khairagarh C.G.

●●●

Interpreting Pichhvai Tradition of Miniature Paintings & its artists

Parul Sharma
Prof. S.K. Dwivedi

This paper shall discuss about the tradition of Pichhvai art in Rajasthan, India and also about the present artists working in Nathdwara to preserve this art form. In fact they are practicing this art form in this town of Rajasthan from generations to till date. The purpose of this study is to know about the origin of the tradition of Pichhvai Paintings influenced by Pushtimarg (Vaishnavism) and about the artists in Nathdwara their material, methods and style.

NATHDWARA literally means "The Doorway to Lord" 45kms away from the historic city of lakes, Udaipur, a passage passing through hills is connecting the way to the holy town of Nathdwara where a 351 ft tall statue of Lord Shiva is a sight to admire and stands tall. The Vaishnavas of Vallabh Community visit there to have the Darshan of their deity Lord Shri Nath ji, a 7-8 year old child incarnation of Lord Krishna. The shrine of Shrinath ji is a sanctum for all the Vaishnavas who came here from around the world. Unlike other shrines where the Darshan is open for long hours a day but here according to Pushtimarg the Darshan took place with intervals and total of 8 Darshanas for the devotees to have a divine glimpse of their deity.

Geographically, the town Nathdwara is located on the flat surface in between the Aravali hills on the bank of river Banas, Rajsamand District. The high and wavy hills are a kind of wrap around the town, though the new extension of town is even spreading upon the low wavy hills which are much close to the flat surface. The beauty of this Rajasthani town is the adjoining white washed houses looking bright under the sun and surrounded by sharp hills which are shining like copper under the scorching sun. As local people says, the beauty of this town is defined by the shades of brown under the cerulean blue sky, the brown hills, the brown old ruins and age old heritage with local brown stone. The Shrinath ji temple in Nathdwara is the prime example of white wash and brown heritage of Rajasthani architecture which includes all the Haveli (big mansion) features like Chowk, Jharokha, Gali, kothra and more. After Nandlal ki Haveli (Shrinath ji temple) another high light of Nathdwara is the "Gaushala" (Cowshed). Basically this Gaushala is for the temple purpose only. The milk obtained twice a day from the cows of this Gaushala is the only milk preferable to offer Lord Shrinath ji and also to prepare milk delicacies for offerings. The milk is transported to Temple from Gaushala in a blue van by temple authority and interestingly the van is hand painted with Nathdwara School's cow motifs all around and the work was done under the supervision of Mr. Paramanand Sharma (Chief Artist). The Gaushala is located in Nathuwas area almost 2km from Temple.

The doorway to Gaushala is an arched shape huge gate with painted walls on both sides depicting the "Gwale" (cowboys) with cow and inside is an immensely big courtyard with organic raw clay surface and by the left side some cages for bulls and on the right side sectioned shelters for cows, also there is a special cow "Chandravali" and she is the descendent of the cow from Nand Maharaj's cowshed (Nand the foster father of Krishna), a round stage with roofed shelter at the centre of the courtyard for the Tilkayat Maharaj (high priest) to sit there on the occasion of Gopashthami, a festival to commemorate cows and cowherds, and another sumptuous gate way in the front which looks like a Haveli and makes us to imagine that Krishna's haveli must look like this back as where Krishna used to play in the muddy courtyard of his mansion as a kid and also play with his cows and calves, enjoys utterly sweet milk and butter and also share with friends.

Before the arrival of Shrinath ji, the today's town Nathdwara used to be a small village 'Sinhad' with a very

less population almost 15 to 20 houses, they were based on farming to earn a living. The village Sinhad comes under the region of Mewar. To protect deity's idol from the destructive rage of Aurangzeb against 'But Parasti' i.e. worshiping idol, the head priest decided to migrate from Vraj along with Shrinath ji and eventually they settled down in Mewar. Interestingly Nathdwara was founded by them only because during the time when they were travelling from Vraj, Mewar's King Maharana Raj Singh offers them a village near Udaipur because his mother and the whole family was devotee of Lord Krishna so he wants to have a privilege of having Lord's town near to his. It was a small village 'Sinhad' but the Vraj people named it Nathdwara means the door way to Lord. Vikram Samvat 1726-28 i.e. 1669-71 AD was the time period between travelling to Mewar from Vraj with stoppages like Agra - Dandoti Ghat – Krishnapur - Kota Bundi – Pushkar – Kishangarh - Jodhpur and then reached Mewar which overall took approximately two years with seven stoppages.

The term 'Pichhvai' means 'At the Back'. The large Pichhvai painting on cotton cloth often several meters or feet in height and length which is often made in the traditional techniques and methods of Indian miniature art is the ritual hangings used in Pushtimarg (Vaishnav) temples. These textiles, also maybe embellished with gold, silver, precious jewels, appliqué work, brocade, embroidery, paintings are hanging behind the idol of Shrinath ji (Lord Krishna) at Nathdwara (Rajasthan). The origin of Pichhvai tradition lies in the vaishnavism. The episodes from the life of Lord Krishna are the basis of this tradition. In fact a cult of vaishnavism propounded by Vallabhacharya was named as the Pushtimarg in which the episodes from the childhood of Lord Krishna are the main subject. These episodes are narratives of Krishna's life are transformed into art through paintings and these paintings are executed to adorn in the sanctum of vaishnav temple behind the main deity i.e. lord Krishna. This is the reason these paintings are called Pichhvais. The Hindi term Pichhvai means the object adorn or installed at the back of deity and that is the front wall of the temple's sanctum.

The Origin

The Pichhvai tradition came in existence because of the Tilkayats love and admiration towards art. In Pushtimarg sect art is a way to venerate lord; it is a pure expression of love for the lord. The tradition and antiquity of Pichhvai goes back to the 15th century at Mount Goverdhan, Vraj near Mathura, UP, from where the whole scenario started. It is believed by the Vallabh Sampradaya that Shrinath ji is Krishna and has manifested himself from the mount Goverdhan in the form of an idol known as Svarup. It was Shri Vallabhacharya who installed the idol of Shrinath ji in a temple at Goverdhan hills. It was Vikram Samvat 1466 i.e. 1409 AD, Hindu month of 'Shraavn' i.e. somewhere between mid July to mid August on the day of 'Nag Punchmi' at the mount Goverdhan in Vraj for the very first time the raised hand of Shrinath ji came into vision and that day in Pushtimarg sect is popularly known as 'Bhuja Prakatya', for the very first time Lord himself manifested his hand. On Vikram Samvat 1535 (1478AD), 'Vaishakh' (mid April to mid May) was the day of 'Mukharvind Prakatya' because that was the day when Shrinath ji manifested his face from the hills. The term Mukharvind means face and Prakatya means to be manifest. And the 'Mukharvind Prakatya' was the day when founder of Pushtimarg Shri Vallabhacharya was born to South Indian Brahmin parents Laxman Bhatt and Illamagaru in the forest of Champaranya near today's Raipur, Chhattisgarh. Grew up as an extraordinary child, he spread the devotional knowledge and with the time he developed a very strong devotional movement. He introduced Pushtimarg – The Path of Grace. Also known as Vallabh Sampradaya means the 'sect by Vallabh' for the devotees of Lord Krishna and Vashnav community/sect comes under the same. On Vikram Samvat 1549 (1492 AD) Falgun (mid February to mid March), Shrinath ji gave a dream to Shri Vallabhacharya ji who was then in Jharkhand. The motive behind this calling was that Shri Acharya ji's union time with Lord had come. He headed towards Mount Goverdhan and as soon as he reached Mount Goverdhan that was the time when Shrinath ji manifested his own self completely and they both embraced each other with utmost joy. Shri Acharya ji build a temple there at Goverdhan for Shrinath ji and installed him at the temple there and from there the systematic veneration of Shrinath ji had started by Shri Vallabhacharya ji. Shri Acharya ji himself prepared 'Bhog' to feed Shrinath ji and planned the daily Seva and Shringar of Shrinath ji. The initial Shringar (adornment) of Shrinath ji included a peacock feather for the crown known as 'MOR Chandrika' and beaded necklace of Gunja known as 'Gunja Mala'.

'Tilkayat' this title is for the head priest from the Goswami 'Vallabh Kul'. The direct descendent of Shri Vallabhacharya. The Tilkayat is the in charge of the temple who takes the responsibility of each and every development for the temple and community. Tilkayats have always been patrons for the artist's community as art has always been a crucial part in the Pushtimarg temples. The artists who adorn the walls of the Pushtimarg sanctums and the Pichhvai for the backdrops are all done under the patronage of Tilkayat; the instructions for the compositions of paintings are decided by Tilkayat himself. Artists who prepare Pichhvai paintings for the festivals create the art work when Tilkayat narrates them the 'Bhaav' (feeling) for the composition. Throughout the year, the Pushtimarg temples have a lot of art work to be done on a regular basis and to maintain the art legacy the Tilkayat appoints artists for commissioning the work and also when the Vaishnavas want an art work depicting a particular Shringar of Shrinath ji as it is like inside the shrine, that too also cannot be done without the Agya (permission) of Tilkayat Maharaj.

The Founder of Pichhvai Tradition and its Beginning-

After the demise of Shri Vallabhacharya in Vikram Samvat 1587 (1530 CE) his elder son Shri Gopinath ji {Vik Sam 1567-99 (1510-42 CE)} became successor and due to his untimely demise his younger brother Shri Vallabhacharya's second son Shri Vitthalnath ji {Vik Sam 1572-1642 (1515-85) } famously known as Shri Gosai ji became Tilkayat. Shri Gosai ji was the first one in Vallabh Kul to patronize art related to Vaishnavism. He was the one who started the tradition of Pichhvai. His hand drawn image of the Baal Krishna is still preserved and is a proof of his interest towards art. Initially the Pichhvai tradition started by him was only about a plain colour Pichhvai as a back drop behind the idol of Shrinath ji and those were not the Painted ones. But being a part of Seva the Pichhvai appeared according to season as lighter ones for summers for the cooling effect and heavy fabrics for winters to hold on the warmth. The first Painted Pichhvai mentioned in the history was in the time of Tilkayat Shri Govardhanesh ji {Vikram Samvat 1763-1819 (1706-62CE)}, after he became Tilkayat his birthday was celebrated as 'Handi Utsav' and that was the day when for the very first time 'Chitram ki Pichhvai' i.e. painted Pichhvai was hung behind the idol of Shrinath ji. He started the tradition of 'Chitram ki Pichhvai' and this tradition in Pushtimarg is popularly known as 'Chitra Seva'. The very first composition of 'Chitram ki Pichhvai' was Krishna and his elder brother Balram as cowboys taking their cows for grazing. And from then it became very famous among the Vaishnavas and not only limits up to the temple but also the art reaches at the walls and home temples of wealthy Vaishnavas.

Painted Pichhvai tradition became a culture in the Pushtimarg temples for depicting the chapters from the childhood of Lord Krishna popularly known as "Leela" and the 'Vraj Bhoomi' the land of Vraj is the only place of these Leela. There are 365 Pichhvai for 365 days of a year as each day comes up with a new Pichhvai as a backdrop. Other Pichhvais except the painted ones are the heavily embroidered ones with gold and silver thread Zari, Zardosi, Salma Sitara and Kasida embroidery on Satin or Velvet cloth for winters. Also there is plain white cotton cloth Pichhvai hung behind the idol during the season of spring for celebrating Holi and the white Pichhvai is stained with Gulal, Abeer, Chandan and Chua. Painted Pichhvai depicts 'Krishna Leela' and those Pichhvai hung behind according to festivals. Best examples like 'Daan Leela', 'Nand Mahotsav', 'Raas Leela', 'Cheer Leela', 'Goverdhan Dhari', 'Sharad Poornima', 'Gau Charan', 'Dooj ka Chanda', 'Thakurani Teej' and many more. The growth of Pichhvai tradition can be defined by saying that during the old gone era the artists from Jaipur, Udaipur, Malwa, etc migrated to Nathdwara along with family by looking at the growth possibilities of art in Nathdwara and these artists with their own skills from their respected schools of art had also contributed in the establishment of the School of art of Nathdwara by leaving their influence too. Besides the style of Nathdwara School of art the style of Pichhvai Painting includes art styles from various schools which includes Kishangarh, Kota Bundi, Udaipur because these are the places where Shrinath ji stayed during the journey from Vraj to Mewar and also the Vraj style of art influences the Pichhvai because Vraj was the only place from where it all started. Shrinath ji's paintings were started from Vraj known as Vraj School of art but flourished in Nathdwara. Although the Shringar of Shrinath ji in the Pichhvai is influenced by the Mughal School of art because the 16th, 17th and early 18th century in India was ruled by Mughals and so the trend of their fashion, food, art and architecture fusion up with the Indian style.

Nathdwara School of art is very unique in style and having its own identification. The way to draw and paint objects and motifs in Pichhvai is very remarkable and can be recognized as the Pichhvai Style, let's take some examples; cow drawn in Nathdwara style is different from the others a little bit shorter in height, an absolute adorable face and orange painted palm prints over her body to show the effect of Henna stained palm print in real on cow, lotus being favorite to Shrinath ji is painted with utmost feel of love by shading the pointed curved top of lotus bud with very little amount of crimson shade on top of white coating given to the lotus bud at first because here the concept of more white and less crimson-ish pink gives it a very cooler tone like freshly bloomed in the Yamuna river, Yamuna river is believed to be as Goddess Yamuna in Hindu culture and also situated in Vraj, the land of Krishna where he used to have bath in Yamuna and also in Bhagwat Geeta it is mentioned that Shri Yamuna ji is the fourth Patarani of Lord Krishna so it is painted very realistically with dramatic strokes, a grayish water painted with the pigment 'Kathir ki hal' with force of brush strokes to make waves by using black pigment on a fine brush. Mango tree is the most beautiful among the trees in the landscape of Pichhvai and drawn with a specific brush handling technique achieved after a lot of practice. Similarly human figures also have their own distinctive and individual style in Nathdwara School of art. The women painted in Pichhvai are usually not so tall, indicates good health, almond shape elongated eyes, long hair locks tied as a bun or beautiful long braid whereas somewhere naturally wavy long open hair enhancing the beauty of the female character. Commonly the female figures are shown wearing a Ghagra, Saree or Kachhni with some extraordinary jewels gracing their experience and also it is a point to be noticed that jewellery drawn on female figures in Pichhvai is typically the Rajasthan School jewellery like, bor (on forehead), nath (nose ring), laung (nose pin), karanphool (flower shape earrings), kundal (big ear rings), bhujbandh(armlet), hamel (necklace with hangings), todar (necklace), hathphool (hand flower with rings), hathpaan (single hand flower), paizeb (anklet), kamar bandh (waist belt) etc in gold and silver. Mentioning about the male figure in Pichhvai, there are two similar factors i.e. not so tall in height and women men both are shown in good health and a sun kissed face and body tone which is yellowish fair and caramel-ish shading for showing depth, 'Machhakrat Nayan' elongated beautiful eyes like a fish and the common attire of men in Pichhvai also drawn by inspiring from the local tradition of men's dressing i.e. regional Paag (turban), Angrakha (a kurta but knotted from the side), Dhoti (a cotton, muslin or silk fabric for the bottoms tied around the waist and extended to cover almost full legs and draped in a manner), Khadau (wooden slippers), Uparna (a scarf with pleats worn by men round neck goes up to stomach). Grooms are shown with more ornamentation like- red Paag with gold border and adorned with a Sarpech and Kalangi an Indian turban jewel while the side of Sarpech is complimented with a Lumbh (tassel), rings, bhujh band (armlet), Hasli (necklace), Gujri (thick masculine anklets), whereas in figure of bride some additional ornaments like Matha Patti with bore on forehead, Hasli, different type of bangles like chudha-pochi are noteworthy.

Patronization by Tilkayats

Tilkayats have always been a great support in the establishment of Pichhvai art. It was initiated by Shri Gosai ji and since then the legacy has been carried forwarded by every Tilkayat in Vallabh Kul. Besides Pichhvai tradition the patronization to art by them included mural work on the walls at the residence of Tilkayat as well as on the walls of temple. It came out as a ritual to decorate the walls with murals every year by first washing off the old one and painted new on them. And this proved as an encouragement for the local artist and a way to preserve the art form which is in practice till today. This yearly renovation of murals proved helpful to gather all artists together and make them create art work together and this team work turned out to be productive as the artists together share ideas and common view for compositions and much space for innovation. The compositions for these murals are including the 'Baal Leela' childhood chapters of Lord Krishna's life and religious themes of common believes. Tilkayats have always been very conscious for the growth of artists in Nathdwara and with their time to time instruction and guidance and by the competitive feel amongst the artist to create better than other has been proved helpful in leveling up the skills of artists and quality of mural work year by year, also it encourages the new generation of artists to join and perform with experienced artists to work in the workshop for the emerging talents. The mural art work in 'Nandrai ki Haveli' is completed every year before

Diwali since the beginning till today. Then the next major decision by Tilkayat to organize this yearly work program is to award a designation of "Kalakaro ka Mukhiya" i.e. "Chief Artist" to look for arrangements regarding this work. There, the job of Chief Artist is to supervise the whole process of mural art work at temple and instruct the artists about themes and compositions. Basically a Chief Artist is the team leader who encourages the team to push their limits and give their best and allot the work amongst the team members. A Chief Artist is selected by the majority decision of the artists in Nathdwara and certified by the Tilkayat Maharaj inside the Moti Mahal with all grace and respect. The art material is provided by the temple management and also a room is allotted inside the Haveli for keeping the art stuff safely, the Chief Artist is the in charge of this. Every year on the very next day of festival Dussehra the mural work starts and has to be done within 15dyas prior to Diwali. There are 20 days between Dussehra to Diwali. The works starts with the meeting of all artists on the day one where groups are divided by Mukhiya ji to perform certain tasks and forming groups with allotted work. The next process is to white wash upon the old murals which takes a day to dry. From the next day the day starts at work by preparing pigments and out lining the composition where rest of the days are followed by colour shading and final touches. Both the side walls of 'Suraj Pole' inside temple are decorated by two over sized fine paintings of royal elephants with wrestlers of bronzed tone body sitting upon them. This mural is painted every year at 'Suraj Pole' from so many years. It's a tradition and always been the attention catcher and the grandest of all thus painted by the exceptionally skilled and experienced artists. Similarly all the 'Poles' i.e. 'Gates' in the haveli is painted with some unique compositions.

Profession in Nathdwara

The kind of work availability in a town defines the depending of people on a work to earn a living. Type of work availability is also a way to know about the history of a particular place, and also it helps to get know about the major source of job. Similarly in the town Nathdwara the Shrinath ji Temple is the main source of living for the people of Nathdwara by providing several kinds of work in the society which are related to temple Seva. Since the establishment of town Nathdwara various types of art started developing and have been a crucial part of the popularity of Nathdwara. Art styles proved helpful to distinguish Nathdwara as an independent town which owns variety of art and also earn a living through it. Most importantly, every art here is directly or indirectly related to Shrinath ji or has been established due to Shrinath ji.

Among the popular ones Painting is a medium for the artist community in Nathdwara to learn a living. Traditionally the profession of art was done by the local artists in Nathdwara who came and settled here from Vraj. But then due to the growing popularity of artist of Nathdwara many artists from Udaipur, Jaipur, Kishangarh, Kota, etc, migrated to Nathdwara and present day even people from other background and families became artist to settle a livelihood in Nathdwara. Temple commissions artists for various art work required at temple time to time during the year, which include Pichhvai for Shrinath ji's backdrop, restoration of old art works, murals in temple's walls-doors etc. And the art shops in the market of Nathdwara fulfill the demand of devotees and tourists who too wants the Nathdwara School of art works. With the current trend in jewellery industry of having hand painted Rajasthani miniature images on jewellery pieces the artists in Nathdwara have also being commissioned for the work.

Present Chief Artist of Nathdwara

Mr. Paramanand S Sharma is the present Chief of the artists in Nathdwara. Mr. Sharma along with two elder brothers is carry forwarding the age old authentic techniques of Pichhvai painting and maintaining the seven generation old legacy of their family. Mr. Paramanand Sharma's ancestors came to Nathdwara along with the procession which came with Shrinath ji from Vraj to Mewar and since than his family is producing Pichhvai art work for the temple and commercial art work also for the Vaishnavas. They have records of six generations and since then, they have been working in Pichhvai and miniature paintings.

His 300 years old roof-top has seen the time changing from then to now but one thing that has not changed is his family's devotion towards the lord by keeping the tradition of Pichhvai alive and spreading it all. At his studio on the third floor of his ancestral 'Haveli' Mr. Sharma works passionately on his Pichhvai paintings which are being made to a customer's order or on the temple's order. It is said by Mr. Sharma that making a Pichhvai

is not an easy task; it is a very precise work. A single Pichhvai takes 3 to 6 months to prepare and even a year some times. Preparing a Pichhvai requires a ton of patience and in other words it is a meditation. For mastering the miniature art techniques in Pichhvai, years of practice is required. At Nathdwara, amongst the artists a post of The Chief Artist (Kalakaro Ka Mukhiya) is given to the most dignified and skilled artist by the majority decision of the artists society. Paramanand Sharma is holding the post since 9 years. From last 40 years the post of 'chief artist' is allotted into his family only. At first from his family his father Shyam lal ji Sharma was appointed as the Chief Artist, after him it was his cousin brother Jamanadas Sharma, after Jamanadas ji it was his son Tulsidas Sharma. Then after Tulsidas ji, Paramanand Sharma has been appointed as the 'Mukhiya' of the artist's society.

The current Chief artist's most treasured possession is the 90 years old sketch book of his grandfather Mr. Champalal Sharma, a renowned artist of his time who learnt the master techniques of Pichhvai from his grandfather Mr. Vitthaldas ji. Champalal ji spent much of his life span in Mumbai as an artist at Mota Mandir and there he produced many art works which are preserved even today at the collection of Mota Mandir. Also few eminent art collectors have his work in their private collection. The Shrinath ji temple have Champalal ji's master Pichhvai paintings preserved carefully and is used on special occasions as a backdrop.

Artists can be found in maximum houses of Nathdwara. In fact it should be said like 'The every next house in Nathdwara is producing artists'. Throughout the time in every generation the younger generation got inspirations to pursue art is from the elders of the family who already are fine artists and this unstoppable cycle of producing artists in almost families of Nathdwara is the prominent factor to carry forward this art by passing the age old techniques generation by generation.

The revolution in the art techniques had a huge impact on the Nathdwara art as well. Where the traditional artists in Nathdwara are practicing the age old techniques, there are the young generation of artists who are practicing a new age art with a twist of craft in it which is Shrinath ji's image carved out on an inch or more thick sandal wood and flat from back side then being fixed properly on box board. Afterwards it is painted with bright colours mostly acrylic and fluorescent colours and then to adorn the whole thing fancy little crystals are studded on required areas like jewellery, border of dress, turban and where ever required. It also embellished with gold leaves to make it look more close to the sumptuous effect of Pichhvais. These new age handmade art pieces are being made in some popular Shringar themes of Shrinath ji and those are the Rajbhog Shringar, Mangla Shringar and Sehera Shringar are among the demanding ones amongst the visitors and followers of Shrinath ji and now also being famed among the vaishnav NRIs (Non Residential Indians).

Techniques and Materials for Pichhvai

Commonly the Pichhvai Painting is painted on a cotton cloth and some time on silk. The colours used for painting are the natural mineral pigments prepared by the artists themselves. The natural pigments which are obtained from mineral stones are used for paintings like these because of the long-lasting and cool tone properties of the pigments, even 100 years old Pichhvai reflects the rich property of the pigments as the colour shades still hold the warmth and vibrancy in them. According to artists it takes almost 10 days to even a month time to process and prepare a single pigment but it worth the patience and hard work. The tool for preparing the mineral stones into pigment is Mortar and Pestle made of stone. It helps to grind the mineral stones well to extract the pigment out of it and there is no other way to grind the stones. No synthetic colour is being used in the making of a pure traditional Pichhvai art except the commercial ones which are now very popular in the market and also takes less time to be made. Still the traditional, pure and pious work of preparing a Pichhvai for the temple is done all naturally in the most authentic way. Also, there are few artists in the town who are maintaining the authentic process. Among the steps of authentic process of making a Pichhvai the application of pure gold and silver in the art work is still being practicing in Nathdwara by every artist, either the Gold foil is applied directly on to the art work on the required area or the gold and silver is being applied after liquidizing process with a brush just like any liquid colour. Also the White and the Black is the most prominent shades in the colour palate of the Pichhvai artist because of the respected natures of both pigments, White neutralizes any sharp colour and black can define well any figure and keep intact the motive of a particular figure. The Nathdwara artists often keep

coconut shells as pigment holder each shell for each colour, the inner body of a coconut shell is a kind of scrubber surface to let the artist burnish the pigment well by using the index figure inside the shell and this process have to be done every time before using a pigment as it keep intact the smoothness and fineness of a pigment and prevent any lumps. The brushes for Pichhvai are very precise and are also handmade with great precaution and perfection to suit the requirement of a fine tip for every artist, the variety and variation of brush tip is different from artist to artist, some requires thin but small where as some need thin tip but long strands in order to move the tip of brush in the certain ways and rest colour filling brushes are like most in common choices. Polished round and pointed stones are being used for the burnishing of the Pichhvai from the back side, this process of burnishing binds the coatings of pigments even firmly and avoid any cracks which can happen by the application of colours in layers. Indeed it also polishes the pigments and brings out the vibrancy of the mineral pigments. This process of burnishing contributes to the efforts of making a Pichhvai more long lasting. Amongst the techniques to make the Pichhvai long lasting gracefully and firmly adding natural glue as a binder in the pigment is also an important element, as organic and pure the glue is as long the pigment will last. To avoid any breakage or crack in the pigment adding adequate amount of natural glue is what to keep in mind because excessive amount of glue can also cause crack in the layer of pigment applied on the surface of a painting.

First of all there is never a single Pichhvai for Shrinath ji Ki Haveli but two Pichhvais are required for a day because there is one temple sanctuary for Shrinath ji and another one for Shri Navneetpriya ji also known as 'Laalan'. The idol of Shri Navneetpriya ji is the infant version of Shrinath ji or Lord Krishna and the mini idol of Laalan actually belong to the founder Shri Vallabhacharya ji, he used to venerate Laalan at his home temple. Pichhvai is hung behind both the idols of Lord of same composition and concept.

The process of creating a Pichhvai Painting for temple starts by selecting a fine white cotton cloth and then measuring and cutting it in the required size which is "7 feet 6 inches x 11 feet 6 inches" size for the Pichhvai at Shri Navneetpriya ji and for Shrinath ji it is 8 x 11 feet. The size of Pichhvai with 32 x 56 inches of room left at the centre for Shrinath ji. Moving further after measuring, artists draw margin in the painting for a border. The traditional way to draw an accurate margin by the artists is very important they dip a very thin yarn rope or jute rope in a brown colour and both of the ends is hold by each person onto the cloth at the margin area and this creates an impression of straight line in lesser time. After margining, the artist draws the composition and set every figure required in the composition. The very first layer of colouring is applying the flat base colours all over in every figure followed by wash techniques for shading. They do precise shading with a fine tip brush and finally the figures are defined by very accurate outlining with jet black pigment popularly known as 'Shyahi' made by collecting carbon from earthen lamp and processed till smooth and clear. The border of Pichhvai is designed in some specific Nathdwara School of art style border patterns with poplar motifs like rose sequence or lotus sequence upon the base colours like 'Singhraf' (a red stones gives a very earthy red tone), Pevdi or Gugoli (Indian Yellow), Cellu (an earthy cool tone green can be seen in old paintings only because of unavailability in the current date) and Sindoor (orange pigment with heavy mercury and processed after removing the mercury). The same old school tradition designs of borders are still in practice by the artists and can also be seen as a proof in very old Pichhvais. And as mentioned earlier also that the process of burnishing the Pichhvai from backside popularly known as "Ghutai" is very essential to secure the colours from cracking. According to artists the Pichhvais are not just paintings but is a feeling of showcasing larger than life picture maintaining the traditional values also. Every figure in Pichhvai is traditionally dressed and jeweled, and this shows the reflection of cultures and civilizations of Rajasthan and Vraj. For portraying the authenticity of rich fabrics 24 carat gold is used very evenly to draw the detailing. For jewellery also pure gold is applied on the required area and afterwards outlined with 'Shyahi' to define the design. We have seen in Pichhvais, 6 chariots of God and the Gods Goddesses showering flowers from the above on the Leela played by Lord Krishna or Lord Shrinath ji are Brahma, Lord Vishnu with Goddess Lakshmi, Lord Shiva with Goddess Parvati, Lord Indra with Shachi, Lord Vayu with his consort and Shri Narad Muni. Popular compositions like, Raas leela, Gopashtami, Sharad Poornima, Annakoot, Daan Leela, Nand Mahotsav, Thakurani Teej, Dooj Ka Chanda, etc. The original Pichhvai of Annakoot at temple is very old and Sumptuous of all. Jeweled trees are there on both sides of Shrinath ji in the Pichhvai. Tree

is embellished with all jewels and gems. Interestingly all those precious jewels were the offerings to Shrinath ji by the females of Shri Gosai ji's family back in the 16th century 1566 CE (Vikram Samvat 1623, Fagun) at 'Satgrah', Mathura.

Types of Pichhvai

Basically Pichhvai are of four types according to seasons, the plain white cotton Pichhvai with stains of Gulal for 40 days during the season of 'Falgun' (Spring) till the festival of Holi. Plain Pichhvai of cool tone shades during the regular days of 'Ushna Kaal' i.e. summers, 'Chitram ki Pichhvai', water colour base Painted Pichhvai throughout the year any day except winters because in winters there are embroidered Pichhvais on Satin or velvet. These figures are embroidered with pure Gold & Silver thread Zari Zardosi embroidery and etc.

There are 12 months in an English calendar and there are 6 Ritus (seasons) in the Hindu calendar consisting two or sometimes three months each. Pichhvai are interconnected with several moods of several Ritus. The composition of Pichhvai and theme of Shringar goes accordingly. The detail in the Pichhvai has to be so correct according to the Ritu. The Ritus can be identified in Pichhvai painting clearly when on the occasions. The old Pichhvais were so up to the mark in perfection that it clearly shows the Bhaava of a particular Ritu. Details which make it identifiable are the types of Dress which Shrinath ji wear. There are mainly eight styles of this dressing throughout the year according to season. Type of jewellery worn by the figure and objects around also plays a big role in identification.

I. Vasant Ritu- The spring season falls in the Vedic calendar in the months of 'Falgun' (mid February to mid March) and 'Chaitra' (mid March to mid April).
(Pichhvai- This is the season for plain white Pichhvai with Gulal art on it.)

II. Grishma Ritu- The summer season falls in 'Vaishakh' (mid April to mid May), and 'Jyeshtha' (mid May to mid June) and half 'Aashadh'. Months of Vedic calendar.
(Pichhvai- The cool tone summer hues and also the water colour base painted Pichhvais known as Chitram ki Pichhvai of several compositions with a Bhaava to beat the heat. Such Pichhvai show the mild water of river Yamuna and blooming lotus in it.)

III. Varsha Ritu- The monsoon falls in 'Aashadh' (mid June to mid July), 'Shraavn' (mid July to mid August) and half of 'Bhadrapad' also falls in the same season.
(Pichhvai- All such 'Chitram ki Pichhvais' are composed of the theme of raining and thunder lighting.)

IV. Sharad Ritu- The autumn falls in mild winters near about the Hindu festival of Diwali. It occurs in 'Bhadrapad' (mid August to mid September) and 'Ashwin' (mid September to mid October).
(Pichhvai- All 'Chitram ki Pichhvai' and followed up by the 'Daan Leela' Pichhvais.)

V. Hemant Ritu- It falls in the sunny winters near about the festival of Diwali in the Hindu months of 'Kartik' {the month of Diwali (mid October to mid November)} and Maksar/Margshersh (mid November to mid December).
(Pichhvai- From here the Pichhvais of embroidery on satin and velvet starts.)

VI. Shishir Ritu- It falls in extreme Cold period of winters i.e. 'Pausha' (mid December to mid January) and 'Magh' (mid January to mid February).
Pichhvai- Embroidered ones.

Through the year Pushtimarg temples celebrate many festivals but there are main 24 Utsavas (festival). 24 Pichhvais of 24 Utsavs has been created by the artists at Nathdwara since the beginning. Interestingly many compositions are bordered with the Shringar of Shrinath ji depicting 24 Utsavs. They are following:

1. Pato Utsav- Falgun {Ritu- Vasant}
2. Kunj Ekadashi- Falgun {Ritu- Vasant}
3. Holi- Falgun {Ritu- Vasant}
4. Ram Navami- Falgun {Ritu- Vasant}
5. Maha Prabhu ji ka Utsav- Vaishakh {Ritu- Grishma}
6. Akshay Tritiya- Vaishakh {Ritu- Grishma}
7. Narsingh Chaturdashi- Vaishakh {Ritu- Grishma}

8. Snan Yatra- Jyeshtha {Ritu- Grishma}
9. Rath Yatra- Aashadh {Varsha Ritu}
10. Kasumbha Chhat- Aashadh {Varsha Ritu}
11. Pavitra Ekadashi- Shraavn {Varsha Ritu}
12. Rakshabandhan- Shraavn {Varsha Ritu}
13. Panchamrit Snan- Bhadrapad {Varsha Ritu}
14. Janmashtami- Bhadrapad {Varsha Ritu}
15. Radha Ashtami- Bhadrapad {Varsha Ritu}
16. Daan Ekadashi- Aasoch {Sharad Ritu}
17. Baavan Dwadashi- Aasoch {Sharad Ritu}
18. Dussehra- Aasoch {Sharad Ritu}
19. Sharad Poornima- Aasoch {Sharad Ritu}
20. Diwali- Kartik {Hemant Ritu}
21. Gopashtami- Kartik {Hemant Ritu}
22. Prabodhini Ekadashi- Kartik {Hemant Ritu}
23. Vitthalnath ji/ Gosai ji ka Utsav- Maksar {Hemant Ritu}
24. Vasant Punchami- Magh {Shishir Ritu}

Books Consulted

1. Lyons Tryna (2004); The Artists of Nathdwara, Indiana University Press in association with Mapin Publication, Ahmadabad.
2. Krishna Kalyan and Talwar Kay (2007); In Adoration of Krishna, Tapi Collection, Garden Silk Mills Limited, Surat.
3. Vairagi Prabhudas (2006); Shri Nathdwara Ka Sanskritik Itihas, Mandir Mandal Nathdwara.
4. Lazaro Desmond (2005); Materials Methods & Symbolism In The Pichhvai Painting Tradition of Rajasthan, Mapin Publication Pvt. Ltd. , Ahmadabad.
5. Ambalal Amit (1987); Krishna As Shrinath ji, Mapin International Inc. , New York.
6. Ghose Madhuvanti (2015); Gates of the Lord- The Tradition of Krishna Paintings, Mapin Publication in Association with 'The Art Institute of Chicago'.

*** Research Scholar; Fine arts, Jiwaji University, Gwalior.**
*** Supervisor, Department of AIHC & Archaeology, Jiwaji University, Gwalior.**

●●●

मिथिला का कोहबर–लेखन एक वैज्ञानिक एवं प्रकृति–जन्य चित्रांकन

डॉ. राखी कुमारी

मिथिला का इतिहास प्रारम्भ से ही समुज्जवल रहा है, जो किसी भी देश अथवा जाति को गौरवान्वित करने के लिए काफी है। यहॉ के निवासी अपने व्यवहार, ज्ञान, वैभव एवं न्यायांप्रयता के लिए प्रसिद्धि थे। साथ ही शौर्य, पराक्रम के लिए सुविज्ञ थे। बिहार के गंगा के उत्तर में स्थित विदेह इतिहास के प्रारम्भ से ही ज्ञान एवं संस्कृति का केन्द्र रहा है। प्राचीन ग्रंथों, जैसे– वाल्मीकी द्वारा रचित 'रामायण' को इस जनपद को मिथिला नाम दिया गया है। मिथिला का नामांकरण वाल्मिीकिय 'रामायण' 'विष्णु पुराण' तथा 'श्रीमद्भागवत महापुराण' के अनुसार राजा मिथि के नाम से हुआ है।

कोहबर, कोह और वर दो शब्दों के मेल से बना है। कोह का अर्थ गुफा या कमरा और वर–वधु का निवास स्थान। यह शब्द गुहा चित्र से संबंधित है। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि यह संस्कृत के कोष्ठवर का अपभ्रंश है। जिसका अर्थ वह कमरा जहॉ वर–वधु पहली रात व्यतीत करते है। कोहबर शादी के अवसर पर बनाई जाने वाली लोककला एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्राचीनतम उदाहरण है। यह जन्म से मृत्यु तक के महत्वपुर्ण संस्कारों में आता है, जिसे महिलाओं के द्वारा ही बनाया जाता है और यह हिन्दु धर्म का महत्वपुर्ण संस्कार है। शादी में दो महत्वपुर्ण भाग है– वेदाचार और लोकाचार। लोकाचार के अन्तर्गत कोहबर आता है। कोहबर में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान है।

विवाह मिथिला में ही नहीं सम्पूर्ण भारत में एक महत्वपूर्ण उत्सव के रूप में मनाया जाता है। जिस आँगन में विवाह हो उसके प्रत्येक घर में अन्दर तथा बाहर निश्चित रूप से भित्तिचित्रण किया जाता है। जिसमें प्रयोग होने वाले रंगों में प्रमुख रंग लाल है। भित्तिचित्रण बाहरी दीवारों पर जमीन से लगभग एक डेढ़ फीट ऊपर प्रारंभ किया जाता है। जिसमें फूलों की लता बनायी जाती है, जो यह स्पष्ट कर देता है कि यह दीवार की किनारी है। दीवार के दोनों ओर मुख पर फूलों के पेड़ बनाये जाते हैं।

शादी के समय इसके अतिरिक्त मुख्य रूप से तीन स्थानों पर चित्रण किया जाता हैं–

1. कोहबर में (गोसाई घर)
2. वर–वधु के बैठने के स्थान पर
3. वर–वधु और उनके मित्र जहाँ बैठ कर बातें करते हैं।

मिथिला में कोहबर को कोबर भी कहा जाता है। कोबर को मिथिला चित्र परम्परा में तंत्रराज कहा जाता है। कोबर (क–जल + वर = श्रेष्ठ) अर्थात जल से निर्मित श्रेष्ठ भवन। हिन्दू दन्त कथा के अनुसार ऐसी मान्यता है कि लक्ष्मी विष्णु से पूर्व कुबेर की पत्नी थी। कुबेर शिव के मित्र एवं रावण का सौतेला भाई है, जो देखने में कुरूप है। उसके पास अपार धन एवं बल है। हिन्दु धर्म में कुबेर धन और वैभव के देवता है। इनकों चित्रों में शंख, कमल और धन का थैला लिए चित्रित किया जाता है। समुद्र मन्थन में इन्होंने देवताओं को काफी सहायता की थी फलस्वरूप देवताओं ने लक्ष्मी इन्हें भेट स्वरूप दी। लक्ष्मी इस विवाह से असन्तुष्ट थी और वो रूठ गई। कुबेर ने इनको मनाने के लिए एक भव्य भवन बनाया था। जिसमें पृथ्वी के समस्त जीव–जन्तु , प्राकृतिक अवयव, नक्षत्र मंडल, भवन के मध्य सुखासन पर मणिपद्म और उस पर विराजमान शक्ति सहित शिव और बहुत कुछ। अन्त में लक्ष्मी मान गई। लौकिक व्यवहार में 'योग–योगिनी या शिव–पार्वती का निवास स्थान भी माना जाता है।

कोहबर–लेखन मिथिला की एक ज्यामितीय एवं तांत्रिक पद्धति की चित्रकला है। जिसमें विभिन्न प्रकार के प्रतीक चिन्हों का प्रयोग किया जाता है। विवाह के अवसर पर कुल–देवता की स्थापना की जाती है। यह परम्परा लगभग सम्पूर्ण भारत में है। हिन्दू–परम्परा के अनुसार जिस स्थान पर कुल देवता की स्थापना की जाती है। उसी दीवार पर कुछ चित्रण किया जाता है। यह चित्रण को मिथिला में कोहबर लेखन (कोहबर चित्रण) कहा जाता है। यह चित्रण दीवार की लम्बाई चौड़ाई के अनुसार कुछ चौड़े भाग को घेर कर किया जाता है। वैसे करीब बीस वर्गफुट से लेकर पचास वर्गफुट तक का होता है।

कोहबर–लेखन प्रारम्भ करने से पहले स्त्रियॉ अपने कुल–देवता का स्मरण करती है और नवविवाहित जोड़े के मंगलमय जीवन कामना करती हुई चित्रण करती हुई गाती भी हैं–

नीक नीपु नीक नीपु नीक दुलहिनियाँ
नहि नीक नीपब ते सुनब कहिनियाँ
कुम्हारक बेटी अहॉ थिकहुँ दुलहिनियाँ
माटि आनि नीपू नै तॅ सुनब कहिनियॉ
जोलहाक जनमल थिकहुँ दुलहिनियॉ
पाट आनि नीपू नै तँ सुनब कहिनियाँ
बहियाक बेटी अहॉ थिकहुँ दुलहिनियाँ
पानि आनि नीपु नै तॅ सुनब कहिनिया।

सबसे पहले दीवार पर सीप के काली चूने से सफेदी की जाती है। सुखने के बाद चित्रांकन किया जाता है। चित्रों में रेखाकंन गेरू, लाल रंग अथवा हल्दी से किया जाता है। जो महिलायें इस चित्रांकन में दक्ष होती है, वही रेखांकन करती है। उसके बाद सहयोगी कलाकार उसमें रंग भरते हैं। इस तरह तीन चार महिलायें मिलकर चित्र का निर्माण करती है। इस चित्रण का मुख्य उद्येश्य वर–वधु का भावी जीवन सुख–समृद्धि से परिपूर्ण हो। दसों महाविद्याओं काली या श्रीयंत्र के रूपों को भी धन–धान्य की कामनाओं के साथ अंकित किया जाता है।

कोहबर लेखन में मुख्य रेखांकन बाँस, तोता, कमल का पत्ता, कछुआ, मछली, सूर्य, चन्द्रमा, हंस–मयूर, सिंह, हाथी, घोड़ा, दूल्हा–दूल्हन आदि होता है। बाँस पुरूष लिंग तथा वंश–वृद्धि का प्रतीक, तोता ज्ञान अथवा ज्ञान के विकास का, कमल का पत्ता स्त्री प्रजनन–इन्द्रिय का, कछुआ दूल्हा–दुल्हन की लम्बी उम्र का, मछली पुत्रवान होने का, सुर्य और चन्द्रमा भी दीर्घ जीवन के लिए, सिंह अजस्र शक्ति का, हाथी–घोड़ा ऐश्वर्य का, हंस–मयूर को शान्ति का प्रतीक माना जाता है। इसके अतिरिक्त बेलबूटे का प्रयोग अलंकरण के लिए किया जाता है, जो शुभ और मंगलकारी होता है। इस प्रकार मिथिला का कोहबर–लेखन एक वैज्ञानिक एवं प्रकृति जन्य चित्रांकन है। इसमें दक्ष होना मिथिला की हर महिलाओं के लिए जरूरी होता है। लेकिन अब यह परम्परा टूटती हुई दिखाई देती है। इस परम्परा का पालन प्रायः अर्थ सम्पन्न तथा सुसंस्कृत परिवारों में ही देखने को मिलता है। कोहबर चित्रण में बनी आकृतियों को आसानी से पढ़ा एवं समझा जा सकता है।

हरिसों पूजा

मिथिला में कुल देवता यानी पूजा घर के पूरब दिशा में स्थित भित्ति पर प्रधान दरवाजें के दक्षिण तरफ सिंदूर या लाल रंग से लिखी जाती है या चित्रित की जाती है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में 'गौरीव्रत' का जो वर्णन किया गया है उसी के अनुसार यह परम्परा चली आ रही है।

मिथिला में इस व्रत से सम्बन्धित एक कथा प्रचलित है और भित्तिचित्रण करने की प्रथा भी है। साथ ही सूर्य और चन्द्र की भी पूजा भित्ति पर की जाती है।

सरोबर

सरोबर का चित्र मिथिला में 'गोसाउनि घर' की पश्चिमी भित्ति के मध्य में लिखा जाता है। यह बीच में पूर्वी

भित्ति की मुख्य देहली के ठीक सामने सुहागिनों के द्वारा काला को छोड़ कर शुभ रंगों में लिखा जाता है।

सरोबर नाम से ही स्पष्ट होता है कि तालाब, पोखर आदि की बात हो रही है। एक तालाब जिसमें चारों तरफ से सीढ़ियाँ बनी होती है, और पानी में विभिन्न प्रकार के रहने वाले जीव–जन्तु, कमल के फूल, कमल के पत्ते आदि लिखा जाता है। तालाब के मध्य में दश हाथ के पंजे के छापे होते हैं। ये पंजे के छापे दश कर्मों के प्रतीक के रूप में लिखे जाते हैं। इन हाथों के पंजों के मध्य में गोल आकृति होती है, जिसमें सफेद धब्बा होता है और उसमें आरत का पत्ता, गोबर और बड़ा घोघा लिखा होता है।

सरोबर चित्र लिखने के पीछे एक मान्यता यह भी है कि सरोवर में बने चार घाट चार वर्णाश्रम के प्रतीक है। सरोवर के जल में फलने–फूलने वाला कमल, मछली, कछुआ आदि हमें विभिन्न तरह से जीवन के शिक्षा देते हैं। सरोवर अपने जल में आश्रित जीव–जन्तुओं एवं फल–फलों को आश्रय देता है। उसी प्रकार तुम भी अपने आश्रितों को सरोवर के जैसा आश्रय दो और उन्हें फलने–फूलने का मोका दो। उनके अपराधों को क्षमा कर देना, शीतल जल के जैसा उन्हें मीठी वाणी से सद्बुद्धि देना, जिससे वे प्रगति के रास्ते पर चलें।

बाँस

कोहबर चित्रण में बाँस एक महत्वपूर्ण चीज है। जिसके बगैर कोहबर चित्र अधूरा माना जाता है। बाँस का चित्र कोहबर घर में लिखनें का मुख्य कारण है बाँस वंश वृद्धि का प्रतीक माना जाता है। एक बॉस से कई बॉस पैदा हो जाते है। यह अपनी लम्बाई तथा मोटाई दोनों को लगातार बढ़ाता रहता है। इसी तरह वर–वधू का वंश भी दिन–दूना रात चौगुना बढ़ाता रहे।

पुरैन

कोहबर चित्रण में पुरैन के पन्ने का चित्रण भी विशेष महत्व रखता है। इसके सबसे उपर चन्द्रमा का चित्र लिखा जाता है। दोनों तरफ मोर लिखने की भी परम्परा है और बीच में मछली, कछुआ घोघें आदि, जलीये जीवों को लिखा जाता है। पुरैन कमल के वृक्ष को कहा जाता है। मिथिला चारों तरफ से नदियों से तो घीरा है, यहॉ तालाब, पोखरों को भरमार है। जिसमें कमल काफी मात्रा में पाए जाते है। अतः ज्यादातर चित्रों में कमल का दृश्य देखने को मिलता है। मिथिला में जहॉ गौरी पूजा होती है वहॉ विशेषकर इसको लिखने की परम्परा है। क्योंकि गौरी को कमल पुष्प बहुत पसन्द है और साथ ही यह पुष्पों में श्रेष्ठ भी है।

इस चित्र को कोहबर घर मे लिखने का एक महत्वपूर्ण कारण है। एक कमल का वृक्ष तालाब में लगाने से कुछ ही दिनों में पुरा तालाब कमल के वृक्षों से भर जाता है। अतः वर–वधु का वंश इसी तरह फैलता रहे और दिन–दूनी रात चौगुनी बढ़ता रहे। मछली, कछुआ, आदि जलीय जीव कमल के वृक्षों से ढ़के तालाब के जल में नीडर भ्रमण करते रहते हैं उसी तरह वधु अपने वर के भुजाओं की छाया में इस संसार में आनन्द एवं खुशी से रहे।

सुर्य एवं चन्द्रमा

चन्द्रमा को लिखने का तात्पर्य है चॉद की मीठी रोशनी समुन्द्र के जल को अपनी ओर खींचती है। उसी तरह वधु का प्यार वर को अपनी ओर आकर्षित करें और चन्द्रमा धीर–धीरे अपनी पुर्णता को पाती है उसी तरह वर–वधु का प्यार भी धीरे–धीरे पूर्णता को प्राप्त करें।

सूर्य को लिखने का तात्पर्य है। सुर्य के समान वर–वधु का यश हमेशा प्रकाशमान हो। वे दोनों युगों–युगों तक अमर रहें।

आम के वृक्ष

कोहबर घर में जहॉ वर को बैठाया जाता है उसके सामने की दीवार पर आम के पेड़ को चित्रित यानी लिखने की परम्परा है। आम को सभी फलों का राजा कहा जाता है। यह एक मीठा और सभी का प्रिय फल है। मिथिला में सभी जगह आम का बगीचा देखने को मिलता है। जिसके कारण सभी वर्ग के लोग इसे आसानी से प्राप्त कर लेते है, शायद इसी कारण इसका नाम आम है। वर के सामने की दीवार पर इसे चित्रित करने का मुख्य कारण

पेड़ की शोभा सन्तान उत्पन्न करने में है, जो देश एवं समाज में अपना नाम रौशन करे और समाज कल्याण में जीवन–यापन करें। साथ ही वर–वधु को दामपत्य जीवन भी आम के मीठे फल की तरह मधुर हो। प्राचीन काल से ही मांगलिक कार्यो में आम का पत्ता, लकड़ियों का प्रयोग होता रहा है।

अनार के वृक्ष

अनार के वृक्ष को मिथिला में 'दारिमक गाछक' कहा जाता है, इसे भी वर के बैठने के सामने की दीवार पर चित्रित किया जाता है। चित्रण का मुख्य उद्देश्य अनार रस से भरा होता है और खाने वाले की तरह आहलादित और आतृप्त करता है। उसी तरह लड़कियॉ पूर्ण विकसित होने पर ही स्वयं उपभोग के लिए खुशी से पुरूष का आहवान करेंगी। अतः वर को प्रतीक्षा करनी चाहिए, अपनी वधु के पूर्ण विकसित होने का। तभी दामपत्य जीवन का सुखमय और रसपूर्ण होगा। शावर तंत्र के अनुसार यह मान्यता है कि अनार की लकड़ी में वशीकरण की क्षमता होती है अतः इसकी लकड़ी की छड़ी का प्रयोग वशीकरण करने वाले व्यक्ति करते है।

केला के वृक्ष

मिथिला मे कोहबर घर के कोनिया पर केराक भरिया यानी केला को कंधे पर ले जाते हुए व्यक्ति का चित्रण देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य चित्रों में भी केला के वृक्ष का चित्रण मिलता है। केला का वृक्ष मिथिला में लगभग सभी घरों में देखने को मिलता है। यह हर त्योहार में अपने सगे संबंधियों के यहॉ केला भेजने का प्रचलन है। इसे मिथिलावासी भार के माध्यम से भेजते है। साथ ही यह मान्यता भी है कि केले के वृक्ष में साक्षात भगवान विष्णु का वास होता है, गुरूवार के दिन केले के वृक्ष की पूजा का विधान है। भाद्रमास की शुक्ला चतुर्दशी के दिन कदली व्रत यानी केले के वृक्ष की पूजा का विधान है। इस दिन व्रतधारिणी अपने हाथो से केले की वृक्ष को लगाती है और जब उसमें फल आता है तो व्रत का विशेष अनुष्ठान किया जाता है। भगवान श्री कृष्ण ने इसे अक्षय सौभाग्य एवं सुख समृद्धि की आकांक्षा रखने वाली सत्रियों का व्रत कहा है। यदि कोई व्यक्ति मांगलिक दोष से पीड़ित है तो ऐसे व्यक्ति को यदि केले के पेड़ से शादी करा दी जाए तो उसका मांगलिक दोष खत्म हो जाता है। केले के वृक्ष का प्रत्येक भाग उपयोगी होता है जैसे– जड़, तना, फल आदि

कदम्ब के वृक्ष

कदम्ब वृक्ष का सम्बन्ध श्री कृष्ण से है। श्रीमद्भागवत पुराण में श्री कृष्ण द्वारा गोपियॉ की चीरहरण की चर्चा की गई है। इस दृश्य के चित्रण वर के बैठने के सामने किया जाता है। इस चित्र में जब गोपियॉ यमुना में नहा रही होती है तब श्री कृष्ण उनके वस्त्र कदम्ब के वृक्ष पर छुपा देते है। इसके चित्रण का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मचर्यआश्रम से आए प्रणय के शिक्षा से अज्ञान वर को संसारिक प्रणय क्रियाओ की जानकारी प्राप्त हो। इसमें गोपियॉ जो स्त्रियों का प्रतिनिधित्व कर रही है। यमुना नदी प्रेम सागर का प्रतीक है। प्रेमरूपी लज्जा से मुक्त अपने स्वामी जिसे भगवान श्री कृष्ण के रूप में चित्रित किया गया है, के चरणों में कदम्ब का वृक्ष (गृहस्थ आश्रम) में अपना सुखमय दाम्पत्य जीवन व्यतित करें।

नैना योगिन

मिथिला में विवाह के अवसर पर नैना–योगिन के चित्रांकन का भी प्रचलन है। मिथिला के सामाजिक जीवन में नैना यागिन एक बहुत ही आकर्षक और रोमांचक युग्म शब्द है। नैना–यागिन का अर्थ होता है, जो आँखों से योग करें, यानी इसके आँखों में ऐसा जादू है जो हम सभी को मुग्ध करने की क्षमता रखती है। इसमें अप्सरा जैसी सुन्दर स्त्रियों का चित्रांकन किया जाता है जिसकी आँखें बहुत ही सुन्दर होती है। मिथिला की परम्परा के अनुसार कोहबर घर के चारों कोने परे नैना–योगिन का चित्रांकन किया जाता है।

नयना–योगिन के चित्रों के माथे पर, कच्ची मिट्टी का सरवा, आरत का पत्ता और सीरी सामा आदि वेसन के सहारे कोहबर में आए वर के द्वारा सटवाया जाता है। इस समय यहाँ की महिलायें लोकगीत भी गाती है और एक नव–विवाहित कन्या नयना योगिन करती हुई कमचियों की डाला लेकर वर के साथ चलती है। यह विवाह के

महत्वपूर्ण विधियों में से एक है। इस विधि में वर का वशीकरण किया जाता है, जो ब्रह्मचर्य आश्रम को छोड़कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने जा रहा है। वर के मन में संसार से विरक्त होने की भावना न जागे इसलिए माया के प्रतिनिधि ा के रूप में चारों कोनों पर चार स्त्रियों को लिखने की परम्परा है, जो वर को अपनी माया से वशीभूत करे और माथे पर निम्न चीजों को सटवाने का तात्पर्य है अब उसकी पत्नी गृहकार्य का भार अपने सर पर लेकर पति के साथ चलेगी। इस तरह मिथिला के सांस्कृतिक कार्यों में चित्रित चित्र परपंरा के पीछे कुछ न कुछ उद्देश्य है।

कोहबर लेखन हमारी एक अमूल्य धरोहर है, जो सदियों से हमारी सभ्यता और संस्कृति का वहन करती आ रही है, पर आज इस कला परम्परा पर कई तरह के खतरे मंडराने लगे हैं। विकास और आधुनिकता की छाया यहां पहुंचने लगी है। मिट्टी के घरों ने अब ईट के बने पक्के मकानों में बदल गए है। लोग पक्के मकानों के दीवार पर चित्र बनाना पसंद नहीं करते। इस कला परम्परा को बचाने की एवं इसे बढ़ावा देने की जरूरत है, जिससे इसे संरक्षण एवं सुरक्षा के साथ–साथ प्रवाह भी प्राप्त हो और सृजन की निरन्तरता भी बनी रहे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. 'कुमारी राखी' मिथिला की भित्ति चित्रण परम्परा का अनुशीलन (राजा सल्हेस के कथानक–चित्रण के विशेष संदर्भ में) शोध–प्रबन्ध इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)।
2. 'अमन अवधेश' मिथिला की लोक चित्रकला सफलताएँ–असफलताएँ ललित कला अकादेमी 'न्यु देल्ही' पृष्ठ संख्या– 47, 48 ।
3. 'शर्मा श्याम' बिहार की कला और शिल्प शिक्षा विभाग, बिहार, पटना, पृष्ठ संख्या– 26 ।
4. 'ठाकुर डॉ0 उपेन्द्र' मिथिलाक चित्रकला वो शिल्पकला मैथिली अकादमी, पटना, पृष्ठ संख्या– 43, 44 ।
5. ' मिश्र डॉ0 शिव कुमार' मिथिला राज्य एक ऐतिहासिक तथ्य सावित्री प्रकाशन, पटना, पृष्ठ ।
6. 'कश्यप कृष्ण कुमार', 'श्रीमती शशिबाला' मिथिला लोकचित्र राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत रैक्मो प्रेस प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली–110020, पृष्ठ संख्या– 85, 86, 133 ।
7. 'देवी श्रीमती कामेशवरी' मिथिला संस्कार गति मैथिली अकादमी, पटना, पृष्ठ संख्या–93 ।
8. https://2bajaysharma.wordpress.com/2014/06/25%EO%A4%95%EO%A5%8B%EO% A4%BO/am/
9. 'शर्मा श्याम' बिहार की लोक–संस्कृति सम्पादक विजय अमरेश, श्री कृष्ण ज्ञान मंदिर छज्जूबाग, पटना– 800001, पृष्ठ संख्या– 83 ।
10. 'नीलिमा' साक्ष्य कला का समय संपादक जाबिर हुसैन बिहार विधान परिषद, पृष्ठ संख्या– 250 ।

पद्मश्री शान्ति देवी के द्वारा चित्रित कोहबर चित्र

सहायक प्राध्यापिका
छापाकला विभाग
कला एवं शिल्प महाविद्यालय
पटना विश्वविद्यालय, पटना

With Special reference to Bharat Kala Bhavan Collection

Dr. Shailendra Kumar

Bharat Kala Bhavan, a reputed museum of Banaras Hindu University, Varanasi is well known for its great treasure of antiquities of varied nature. The Institution possesses a magnificent collection of miniatures and illustrated manuscripts belonging to different sects, pantheon and period. This painting of note deals with some of the important characteristics of a Buddhist text Ashtashasrika Prajnaparamita (Acc. No. 4799-4793). Ashtashasrika Prajnaparamita , or book of Perfection of Wisdom, widely known only as Prajnaparamita. Comprising 8,000 sections, is considered the great landmark in the growth of miniature Painting. The Prajnaparamita, a large sized second century C.E text , is one of the earliest works of Mahayana Buddhism. 1 which is unique on many counts. This painted Pothi (manuscript) sheds valuable light on religious, cultural and artistic aspects. It belongs to Pala period.

This palm leaf pothi contains only four leaves. It has twelve illustrations- Birth of Buddha at Lumbini, Sambodhi at Bodh Gaya, Dharma Chakrapravartana at Mrigadava (Risipattama, Sarnath) and Mahaparinirvana at Kushinagar and four miracles of Buddha-Subjugation of elephant, Nalagiri at Rajgrih, the offering of monkeys at Vaishali and descent of Buddha from the Trayastrimsas heaven at Sravasti after preaching his mother and showing his thousand forms at Sravasti. The artist has also painted a figure of Bodhisattva Avalokitesvara along with a scene. A stone panel from sarnath of seventh century CE is important. It has eight panels' depicting scenes from Buddhas life and miracles.[2]

Both the sides of each leaf are bound by a narrow red band with geometrical decorations, probably the religious symbols. Further, the leaf is divided in three sections by two slightly broader red bands. These two dividing bands have some Tantric symbols in the upper half of the leaf and a standing or sitting devotee in the lower half with an exception in one band, where three devotees are painted. All the painted rectangle-spaces separated from the text part by a thin red or white band with black (khatkasi) towards the text side. The text is written with black ink. These palm leaves are 54 cms X 6 and ½ cms in size, covered by two wooden covers, 55 cms X 7, and ½ cms in size, for the protection. They also have nine illustrations. None of these illustrations is related to the theme of the pothi. S.K. Saraswati is of the opinion that the dochasmi female figure in the Mrigadava scene could be Pranaparmita.[3]

The scribe of Pala period has copied these texts with utmost care and precisely on palm leaf in Devanagari script (kutil). The letters are well arranged and are in proper alignment, which rarely appear in the contemporary western Indian paintings, Generally, in Pala manuscripts, the text and the illustrated rectangular panels are arranged alternatively and each leaf carries two or three painted illustrations.

This Ashtashasrika Prajnaparmita manuscript has a colophon which provides some interesting information about the aim of the donors to get them copied and illustrated. For instance, the donor says that he got it copied with a belief in mind that it would provide supreme knowledge not only to his parents and teachers but also to all living beings.[4]

Prajnaparmita, a supreme goddess of learning is the most popularly worshiped deity of Mahayana Buddhist traditions. Buddhist text repeatedly stated the verses in her praise. 'Astasahasrika Prajnaparmita' is a creation of great philosopher Nagarjuna, complied in eight thousand verses in the praise of this great goddess of learning. According to the Buddhists traditions, these are the timeless creations, which were lost as the time passes and collected by Nagarjuna in the Gupta period. The Buddhist chronicles further referes to the merit of

these verses that by studying, reciting, or even listening them, one gains more goods fortunes (merits) than constructing a stupa of Tathagata. According to Mahayana traditions Prajnaparmita protects the writers, the listeners, and the donors of 'Astasahasrik' from all bad effects and evils. Tathagata himself acknowledges the merits of merits of Prajnaparmita at one place that by the donation, reciting, listening and worshipping of this pious book, one can be relieved from all types of evils and bad effects of his previous life and no one can harm him. It is believed by the Buddhists that it was more meritorious to get them copied for others, which provide them protection. The book was even more efficacious if it was illustrated with Buddhist subjects. According to the Indian traditions, the writer enjoyed the respectable position as he protected the religious text by copying them. Generally, Buddhist books like Prajnaparmita were given away to other devotees or the monasteries, with the belief that it was more meritorious to donate its copy than to own himself. It is also mentioned that the possession of such a book can avert all sorts of physical and spiritual evils.

Pancharaksa and Ashtasahasrika Prajnaparmita are the most popular and worshipped manuscripts among the Mahayana Buddhists as the possession of Buddhists texts are regarded to avert sorts of physical and spiritual evils. There was no tradition to keep Ashtasahasrika Prajnaparmita in the house. These were donated generally to the monasteries after being copied. However, devotees are permitted to keep a copy of Pancharaksa in the house which protects them. Ashtasahasrika carries the depictions of the deities of Mahayana/Vajrayana sects and the important eight events life of Buddha's- Birth, Sambodhi, Dharma chakra pravartant, Madhudana, Preaching mother in heaven and Mahaparinirvana etc. It is worth mentioning here that the scene of Mahabhinishkramana a very important event of Buddhist's life is conspicuously missing. It appears that to present the greatness of Buddha, only the popular scenes have been selected. Probably, it was because of the instructions of Buddha to Anand to depict only these scenes- Birth, Sambodhi, Dharmachakrapravartana, and Mahaparnivana.

The depiction of the deities and Jataka stories has been painted on the wooden covers, which were used for the safety and protection of the manuscripts. It is not certain whether this tradition was started by the Buddhists or already prevalent in Hindu or Jaina traditions. It appears that depiction of gods and goddesses on these pious texts have been started with the belief that deities have their abode there and they dwell in it. These manuscripts have been worshipped, which is also corroborated by the presence of roli (red power) and sandalwood (Chandana powder).

The colophon (puspika) reads as follows:

"Rajno Gomindrapalaysa samvatasar-chatustaye Srimata Kasypeyeneyam Likhitastasaharika"

This provides the significant clue about the patronage of manuscript in question. It was copied (likhita) in the 4th regnal year of Raja (rajno) Gomindrapala. The colophon also states a name 'Srimata Kasyapa', who could be a donor. The title "rajno" suggests the Gomindrapal was a feudatory king, who was ruling under the Palas as his name does not occur in the geonology of the main ruling branch. S.K. Sarawati has suggested that probably, he was a feudatory in Bihar, sometimes in the 12th century A.D. Similar epithet is also used for Laksamanasen in the Pala Manuscripts, preserved in the Bharat Kala Bhavan, Varanasi and Asiatic Society of Bengal, Calcutta. Generally, the epithet "Paramesvara Paramabhattaraka Maharjadhiraja Parmasaugata" is used for the ruling Pala kings of main branch. However, in some of the Pothis such as 'Pancharacksa'5 refer to the regenal years of 'Srimad Ramapaladeva'. The question now arises about the identity of Ramapaladeva, whether he was the king of main ruling branch or was only a feudatory. If we accept the suggestion of S.K. Saraswati6 that Gomindrapal was ruling in Bihar, it can be suggested that the present manuscript was prepared either in Nalanda or Vikramasila. Both the centres were producing illustrated Buddhist manuscripts. Ashtasaharika Prajnaparmita pothi was copied and illustrated in the 15th regenal year of Ramapala in Nalanda (Bodlien Library) and the copy of manuscript housed in the British Museum London was copied in the 15th regnal year of Gopaldeva at Vikramsila. Pratapaditya Pal7 has rightly pointed out that the pothis painted in Bihara are richer in style than the pothis painted in Bengal. The works of Magadha artists portray strong line and delineation of emotions and the details of the figures. In the present pothi the artist has succeeded in depicting the rhythm in the birth scene of Buddha in illustrating the movement of Maya and her sister and the bhangima (posture) of both

figures standing under the Sala tree. Similarly, the artist has successfully shown he violent and subdued attitude of Nalgiri Elephant, depicted twice. The artist also took liberty in depicting these scenes symbolically which is evident from the scene of Dharmachakrapravartana and the miracle at Sravasti, in the first illustration he showed four pupils instead of five. It has been done due to the limitation of space. It is surprising to note that the illustrations on the wooden patalis (wooden covers) are more charming and livelier in comparison with the illustrations in the pothis. It is difficult to say that the artist of wooden covers and manuscript illustrations was the same or different person. Though the present pothi is a fine example of Pala painting tradition yet the mediaeval trend of decadence is clearly visible in Savachasmi subordinate figures. The main figures still preserve the old tradition and as their background areked with vegetation. Perhaps, it was the last phase that Magdhon artists could prevent medieval trend. However, the antiquity of illustrated manuscript has been a long debate among the scholars. Neither, any illustrated example prior to Pala period has survived, nor reference in texts have yet come to light except for one vague reference in the travel accounts of the Chinese pilgrim Fa-hein in 5th century, who was collecting Buddhist manuscripts in India. He found manuscripts in the Viharas at Patliputra and other centers but he did not mention specially whether these, are illustrated or not. However, his accounts of manuscript being copied in Tamralipti, hardly suggest the presence of any painting.8 probably, this is the earliest reference of painted manuscript. The question now arises whether the manuscript painting is an innovation of Buddhism or it was already prevalent at that time. Some ancient Sanskrit texts refer Patas (cloth painting) with depiction of deities which could be taken as the source of manuscript paintings.

Buddhism was flourished under royal patronage during the Pala period. Nalanda and Vikramasila became important centres of learning of Buddhism Rishipattan, (Mrigadeva, Sarnatha), and Bodhgaya were also the important, centres of Buddhism. In addition to these, Pataliputra, Tamralipti, Vikramasila, Vikramapura had also developed as Buddhist centres, though the available Pala pothis have evidence only for Nalanda and Vikramasila as copying and illustrating centres of Buddhist manuscripts. Unfortunately, only few Pala Pothis have colophon with the information about the place and scribe but the name of the artist is not mentioned in any of them.

REFERENCES:

1. Daljeet & P.C.Jain, Indian Miniature Painting, New Delhi, 2006,p.19
2. Pratapaditya Pal & Julia Meech, Buddhist Book Illumination, England, 1988, p. 63, fig, 16
3. S.K. Saraswati, "East Indian Manuscript Painting" Chhavi, Vol. I (ed.) Anand Krishna, Varanasi, 1971, p. 256
4. Ibid, p. 256
5. Ibid, p. 245
6. Ibid, p. 261
7. Pratapaditya Pal & Julia Meech, op,cit, p. 70
8. Sameual Bell. Travels of Buddhist Pilgrims from China to India (400 to 518 A.D.), New Delhi, 2003, p. 147-148

Ashtasahasrika Prajnaparmita Manuscript

Assistsnt Professor
Dept. Of History of Art, MMV
Banaras Hindu University
Varanasi

SCIENTIFIC APPROACHES FOR THE CONSERVATION OF MURAL PAINTINGS AT BAGAN IN MYANMAR

Vimal Kumar Jaiswal
Dr. Kyi Lin

Conservation of heritage building materials is an important task and no doubt climatic condition seriously affects the health of monumental building materials. Conservation of monument, at Bagan in Myanmar, was initiated first time in 2012 by the Archaeological Survey of India, in cooperation with the Department of Archaeology and National Museum, Bagan, Myanmar. Till then several monuments have been taken up for restoration and chemical conservation work including conservation and preservation of mural paintings. Monuments of Bagan are mostly made up of bricks and plastered with lime/ mud mortar. Mural paintings and stucco moldings are the 'skin' of the ancient monuments of Bagan that specifically define, characterize and differentiate each one from another. Their value is inherent to all of the ancient living monuments of Bagan since these correspond to a place of worship. The rarity and uniqueness of the mural paintings are of paramount importance in all of the South East of Asia and the entire World.

This paper is focused on the conservation and preservation of mural paintings of Bagan in Myanmar. Before initiating structural conservation and chemical preservation of mural paintings, essential field surveys, studies, and investigations including, collection of field data, condition mapping, drawings, photographs, for conservation of earthquake-damaged pagodas have been done by the technical experts in respective fields. It also included a collection of materials samples which were further analyzed to find out their mechanical and physical property as well as the composition of materials. The detailed studies of structural components such as substructure and superstructure were also conducted to see for necessary remedial measures. After going through all these conservation requirements suitable remedial measures have been planned and executed for the fitment and betterment of the cultural heritage of Myanmar.

The foundation of Bagan is attributed to the Pyu king Thamudrit in 107 AD 'would be that this date is entirely mythological' (Hudson 2002: 49) but according to other sources and to legend, the city was founded by king Pyinbya in 849 AD. However, the Archaeological evidence indicates that a settlement was forming at Bagan during the last centuries of the first millennium AD. By the mid-11th century, Bagan began to dominate Upper Burma, and the region began a transition from a system of largely autonomous city-states to a centralized kingdom. Inscriptions from the 11th to the 13th centuries indicate that as the Bagan Empire expanded it subsumed the agricultural lands that had been developed by the Pyu (Hudson 2004: 2) [1]. The historical evidence relatively supported by epigraphy attests its existence during the reign of Anawratha (1044-77). Thus, it was the capital of the first Myanmar kingdom since then, after 1044 AD, until it ceased to be in 1297 as customarily has been explained; as a consequence of the Mongol invasions commanded by Kublai Khan in 1287 CE and to the decayed state in which, the monarchy had fallen [2]. Though the site was never since then, completely abandoned and other significant buildings were constructed during the following centuries until present times. The site of Bagan is located in the central dry region of Myanmar, called Tatadessa, this covers an extensive area of 16 square miles (about 41 ½ square kilometers) and includes 18 villages, agricultural fields containing many temples, stupas, monasteries, shrines, etc. that count over 3500 monuments mainly built in brick masonry.

MURAL PAINTINGS:

The mural paintings found inside the temples, monasteries, image houses, shrines, etc. of Bagan, belong to composite typologies given those two mineral binders in use since antiquity (mud and lime) were employed for

manufacturing the plasters on which the paintings were executed. Therefore, different mixtures of these binders with aggregates and additives formed a variety of strata when applied [1]. The interior of the monuments was plastered and customarily were painted enhancing only the architecture or, with more elaborate ornamentation, completely decorating the surfaces with geometrical & vegetable elements, depictions of figures and scenes, etc. The combinations of plasters employed for the execution of mural paintings after drying, were mainly five:

2.1) Mud plaster & priming layer: The mud-based plaster was applied directly onto the wall at different thickness in order to render the architectural surface homogeneous, a white coating (as a primer) was spread all over on which the painting was executed.

2.2) Mud-lime plaster: The mud-based plaster was applied on the support (wall), covered with a thin lime-based plaster layer (1-2 mm thick), a priming layer was applied and the painting then, executed.

2.3) Lime-mud-lime plaster: An irregular roughing-in layer made out of lime putty was applied very liquid with a brush, as a rendering, directly to the surface of the wall. Upon drying, the mud-based plaster was spread and compacted, then, covered by a very thin polished-compressed lime-based plaster (1-2.5 mm thick) on which a priming layer was spread by brush and, painted on top.

2.4) Lime plaster: Lime-based plasters were mixed usually with sand and other aggregates and additives and were applied internally and externally to the monuments of Bagan, from one to several layers, usually up to 3, these were coated with a primer and painted.

2.5) Lime plaster & cloth: This was not a common practice but in order to avoid the formation of cracks while lime-based plasters were setting and drying, a thin textile or cloth was stuck on the surface and then spread on with the priming layer.

However, certain sections of the temples for example; the porches, lower areas or upper floor storeys, were plastered with more resistant plasters that could bare abrasion and wear, such as those made out of lime and sand. The mud-based plasters (more sensitive to water) were employed in the deepness of the interior. The technique of execution of the mural paintings followed a series of rules that are found almost everywhere in the World. Once the plasters have dried and the priming layer was applied, the surfaces (vaults & walls) were divided according to the decorative programme and layout the client had ordered to the painter(s) to carry out. The division of the sections to be painted with scenes or merely with decorative elements was done employing a cord soaked with paint, held at both extremities, and then snapped on the surface to obtain, vertical, horizontal & diagonal lines, the best examples to be found are in Sula-mani-gu-hpaya. In order to transpose a small scale drawing of a figure into a large one, a tracing grid made of vertical and horizontal lines snapped on the wall was used for maintaining the same proportions while drawing; a good example is found in Temple no. 1244. Once the spaces were defined a preparatory drawing was done primarily by the painter master so the assistants & helpers would have filled with the respective colors and, final highlights and outlines were achieved usually by the master. The paintings were probably coated with a protective varnish made out of gums or resins.

Conservation of prestigious monument, Ananda Temple at Bagan in Myanmar was initiated first time in 2012 by Archaeological Survey of India, an esteemed organization under the ministry of culture Government of India in cooperation with Department of Archaeology and National Museum, Bagan Myanmar [3]. Till then several monuments have been taken up for restoration and chemical conservation work. Conservation of prestigious monument, Ananda Temple at Bagan in Myanmar was initiated first time in 2012 by Archaeological Survey of India, an esteemed organization under the ministry of culture Government of India in cooperation with Department of Archaeology and National Museum, Bagan Myanmar. Till then a number of monuments have been taken up for restoration and chemical conservation work.

A severe earthquake took place at Bagan in Myanmar on 24th August 2016 causing damage to the Stupas and Pagodas. Subsequently, during the higher-level meeting, it was decided to extend the technical and financial support to the Government of Myanmar for conservation and restoration of damaged structures including chemical preservation of Mural paintings. The ASI team who was deputed for conservation work of Ananda Temple at Bagan for work season during 2016-17, the team have been conducted the preliminary assessment of damaged structure in coordination with the Department of Archaeology and National Museum, Bagan for 92 monuments

[4]. The identified Pagodas and Stupas were documented with relevant details and complied in the form of a Preliminary Assessment Report. The same was approved by the Ministry of External Affairs, Government of India.

The chemical conservation and preservation mural paintings and stucco moldings were executed in addition to the structural conservation of monument number 2095 (Tan- Hsaung- Hpaya), 2013 (Mon-Gu), 1600 (Nat- Hlaung- Kyaung) 1401 in the first phase. The chemical conservation and preservation comprised mainly superficial cleaning of mural paintings, removal of dust and dirt from the interior surface of the temples. The major defects and possible remedial measures are listed below:

3. MAJOR DEFECTS IDENTIFIED/CONSERVATION ISSUES:

i) Accumulation of dust, dirt, water marks, mud marks, cement slurry, smoke and shoot deposited on the plastered surface and Idols.

ii) Multiple cracks, fractures on the painting ground.

iii) Bulging of plaster was observed at various locations.

iv) In previous conservation, some foreign, incompatible materials were used for the crack filling, edging and other similar conservation works.

v) Splashes of lime, lime coating and seen at various locations, on the lower portion of east wall lime coating over painting ground easily visible.

vi) Pigeon drooping over the painting ground astatically affecting the interior surface of the temple.

vii) Insect infestation was also observed at many places and severally affected the mural ground.

viii) At many locations paint layer almost peeled off.

4 . MATERIALS:

The conservation of mural paintings essentially consists of five steps: consolidation(including the fixing of loose and bulged portion and filling of free edges), cleaning (involving the removal of a variety of accretions), reintegration of lacunae and missing parts, application of preservative coating whenever found necessary and transfer when called for [5].

4.1) CONSOLIDATION:

The materials used in this process may be divided into two groups: adhesive and consolidants. The function of an adhesive is to join two components together. The function of a consolidant is to strengthen the entire body of a fragile ground through impregnation.

4.1.1) Fixing: The process may be divided into two groups:

4.1.2) Fixing of the paint layer to the ground: A good adhesive for conservation treatment should have certain essential properties besides adequate adhesive strength. It should be colorless, chemically stable, flexible, and free from shrinkage, and not susceptible to biological attack. The traditional material used for this purpose was a solution of shellac in alcohol. A notable example of its use is by the Italian restorers, Cecconi and Orsini for fixing and also as a surface coating of the Ajanta murals in 1920-21.

4.1.3) Fixing of loose or bulged painted plaster to the support: When the space between the detached plaster and the wall is very narrow, a concentrated PVA solution (10-20%) is injected into the space and the painted plaster kept pressed against the wall with a suitable device until the adhesive set. However, when this space is wider, a thicker, paste-like adhesive material is required to re-established the bonding between the detached plaster and the wall. In the Archaeological Survey of India, both thin plaster of Paris and paste of lime –casein have been used for this purpose [6].

4.1.4) Impregnation: When the ground has become weakened and friable because of the action of salt, it becomes necessary to strengthen it by impregnating it with a suitable consolidant. A consolidant material has to be of low viscosity to permit its easy mobility. The solvent used for dissolving a solid should be Non-polar because non-polar solvents have low surface tension which facilitates easy movement and deep penetration of the liquid. Polyvinyl acetate (PVA) solution (5-10%) has been successfully used due to its reversible nature .its remains soluble even after many years of application. PVA has good adhesive strength, elasticity and chemical stability.

4.2) CLEANING: Mostly organic solvents are used for cleaning of mural painting, a variety of solvents have been employed depending upon the type of accretion. A mixture of ammonium bicarbonate and sodium bicarbonate solutions has been successfully used for the removal of hard sooty deposits. Filter paper technique has been used for the removal of shellac coat. A filter paper sheet of suitable size is soaked in the solvent mixture and applied to the paint surface, after 10-15 minutes the filter paper sheet is removed. It is found to have absorbed the dissolved shellac [7].

4.3) REINTEGRATION: Patches and cracks which are filled have also to be suitably tinted in order to match with the surrounding areas. This has to be executed in a perfect way not only to make patches unobtrusive but to keep the retouched area distinguishable on close examination. This process is referred to reintegration.

4.4) APPLICATION OF PRESERVATIVE: As preservative coating 1% PVA solution has been used. Paraloid B-72 may also be used.

4.5) MURAL TRANSFER: In mural transfer, the first step is application of cloth facing. Correct facing is crucial for the successful detachment of the painting from the wall. Hence the choice of adhesive for facing is very important. It has been noticed that 20% solution of PVA worked very well as an adhesive. The final removal of facing is also achieved easily by brushing on toluene mixed with a little acetone. In the re-mounting of the detached mural, lime-casein is used as an adhesive.

5. METHODOLOGY ADOPTED DURING THE CONSERVATION OF MURAL PAINTINGS / REMEDIAL MEASURES:

i) First of all interior surface of the temple is superficially cleaned to remove dust, dirt, and other unwanted accretionary deposits with the help of soft brushes like paint and feather brushes. To make the surface free from dust, and air blower is also used for this purpose.

ii) For filling of cracks, fractures similar compatible mortar has been prepared and used, for this purpose only natural products utilized like silica and mud powder having similar granular size, for adhesive jaggery and neem glue solution has been used.

iii) Weakened and fragile portions of the mural ground have been consolidated by injection of mud /lime mortar in the liquid form until saturation of the ground.

iv) Removal of foreign materials used earlier for edging removed first and re-edging has been done with same compatible materials.

v) Lime coating at the lower portion of east wall removed with chemico- mechanical means, surface coated with lime first treated with 3% of acetic acid solution and further neutralized with ammonia solution finally treated surface cleaned with deionized water.

vi) Some of the buldged painted surfaces are first of all given support from the bottom and injected liquid mortar to regain its shape and strengthening.

vii) Mural paintings at east side arch area having problem of smoke and soot cleaned with 3% solution of ammonium bicarbonate solution.

viii) Mud pockets formed due to insect activity removed with full care and after the removal of insect habitat insecticidal treatment has given to severally affected area.

ix) Marks created due to birds droppings chemically cleaned with the help of cotton swab wetted with ammonium bicarbonate finally washed with deionized water.

6. EXPERIMENTAL:

Besides, the conventional method of analysis, certain modern methods of analysis has been used for the detailed analysis so as to get the desired information. All the methods have not been used for the analysis of every sample. For experimental purposes, the sample collected very carefully, marked with a specific sample number, and examined at the laboratory. Sample of the following materials have been collected from the different monuments which were analyzed to find out their composition, physical and mechanical properties which will be beneficial for future conservation:

I) pH, TDS, and conductivity was evaluated, the sample was soaked in distilled water for 48 hours and the decanted water was analyzed for pH, TDS, and conductivity. These parameters were measured with Multi-

parameter PCS tester35.

II) X-ray diffraction (XRD) the mineralogical composition of the samples were determined by X-ray diffraction analysis. The studies were conducted on Ultima IV X-ray diffractometer, Make Rigaku 40kv, Anode material: Copper.

III) X-ray fluorescence (XRF) the elemental composition were identified by using X-ray fluorescence analysis. The studies were conducted on Zetium 4.0 kW XRF, Make Malvern Panalytical, Anode material Rhodium.

6.1) Analysis of Plaster sample no. MYML5:

6.1.1) Visual observation: The lime plaster is thick, compact, greyish white, covered with black dead microflora. The thickness of the sample is approximately 40 mm. black fine particles are observed embedded in the plaster, no distinct layers are seen.

6.1.2) Salt analysis, pH, TDS, and conductivity measurement: The soluble salt was tested and the results are tabulated as:

Sample No.	pH	TDS	Conductivity	CO_3^{--}	Cl^-	SO_4^{--}	NO_3
MYML5	7.65	212 ppm	298 µs	++	–	+	–

++ Indicates the presence of ions in large amount, + indicates the presence in small amount, – indicates the absence of ions.

6.1.3) Instrumental analysis: XRF analysis

Sample No.	Na_2O %	MgO %	Al_2O_3 %	SiO_2 %	P_2O_5 %	K_2O %	CaO %	TiO_2 %	MnO %	Fe_2O_3 %	LOI %
MYML5	0.61	3.35	4.97	40.90	0.58	1.77	22.27	0.27	0.06	1.57	22.84

6.2) Analysis of Plaster sample no. MYBL2:

6.2.1) Visual observation: The white plaster has a rough finished surface with brown color mud adhered on the reverse side in isolated areas. The plaster is compact, no pores or cracks are observed. Very fine white inclusions, fine silica particles; brown and gray fine gravels are visible. The average thickness of the plaster is 13mm.

6.2.2) Salt analysis, pH, TDS, and conductivity measurement: The soluble salt was tested and the results are tabulated as:

Sample No.	pH	TDS	Conductivity	CO_3^{--}	Cl^-	SO_4^{--}	NO_3
MYBL2	7.34	739 ppm	1016 µs	++	+	–	–

++ Indicates the presence of ions in large amount, + indicates the presence in small amount, – indicates the absence of ions.

6.2.3) Instrumental analysis: XRF analysis

Sample No.	Na_2O %	MgO %	Al_2O_3 %	SiO_2 %	P_2O_5 %	K_2O %	CaO %	TiO_2 %	MnO %	Fe_2O_3 %	LOI %
MYBL2	0.586	--	4.48	53.42	0.21	2.05	17.70	0.32	0.03	1.13	17.14

6.3) Observations:

6.3.1) Sample MYML5: The wet analysis of the plaster sample reveals a lime-rich plaster, the XRF elemental analysis revealed plaster's composition of approx. 40% of Silica, 22% of Calcium oxide, and 3% Magnesium oxide with a corresponding loss of ignition of 22% indicative of a high degree of carbonation. The mineralogical analysis XRD revealed Quartz and Calcite confirming the carbonation of lime. The quantitative salt analysis of the sample indicates the presence of carbonate and sulphate ions and the absence of nitrate ions. The top layer surface of the plaster sample reveals that the plaster is still in sound condition. Organic matter seen on the surface may have increased the loss of ignition correspondingly.

6.3.2) Sample MYBL2: The wet analysis of the plaster sample reveals a lime-rich plaster, the XRF elemental analysis revealed plaster's composition of approx. 53% of Silica, 17% of Calcium oxide with a corresponding loss of ignition of 17% indicative of a high degree of carbonation. The mineralogical analysis XRD revealed Quartz and Calcite in the sample, Calcite confirming the carbonation of lime. The quantitative salt analysis of the sample indicates the presence of carbonate, sulphate, and chloride ions and the absence of nitrate ions in the plaster sample. The top layer surface of the plaster sample reveals that the plaster is still in sound condition. Organic fibrous material which is generally used for reinforcement was not seen, the loss of ignition corresponding to calcium oxide content also rules out the presence of organic matter.

7. CONCLUSIONS:

In this project, the mural ground (plaster) in elemental analysis revealed sound quantity of Silica and Calcium oxide which express that the mural ground having good strength, although due to seepage of water inside the temple, it became bulged. Grouting liquid prepared by natural adhesive and compatible clay powder is injected through injection method up to saturation of the ground provide stability and strength to the mural base. For the fixing of bulged painted plaster to the support, naturally available product, Neem glue solution, and Bel (Aegle marmelos) glue solution gave satisfactory results. However, in the preservation of the paint layer 1% solution of poly vinyl acetate (PVA) in sulphur free toluene provided a favorable outcome.

8. ACKNOWLEDGEMENT:

The author appreciates and acknowledges the opportunity given by the Director General Archaeological Survey India, New Delhi for selecting me as a technical team member. The assistance and support of Chemical conservation laboratories of Science Branch of Archaeological Survey India. Also the author acknowledge the guidance of Shri Janhwij Sharma, Director (conservation), Shri R. S. Jamwal Rtd. Director (conservation) Shri Ramji Nigam, Director (Science), the suggestions and fruitful discussion with Shri D. A. Gupta, Assistant Suptdg. Archaeological Chemist, Archaeological Survey of India, Science Branch, Aurangabad, technical team of department of Archaeology and National museum Bagan, Myanmar, Dr. G. R. Sinha Adjunct Professor, IIIT Banglore & Professor At Myanmar Institute of information Technology (MIIT) Mandaly, Myanmar.

REFERENCES:

1. Rodolfo Lujan-Lunsford- Guidance note in approaches for conservation of mural paintings and architectural decorative works at Bagan, page no. 5
2. Hudson, B. et al., "The Origins of Bagan: New Dates and Old Inhabitants", Asian Perspectives, Vol. 40, N° 1 © by University of Hawai'i Press, 2002.
3. Project Report of Archaeological Survey of India- Structural conservation & Chemical preservation of Ananda temple, Bagan.
4. Project Report of Archaeological Survey of India for the conservation & Preservation of Earthquake damaged monument Phase I (2019-20)
5. O. P. Agrawal,conservation of wall paintings in India- achievements and problems, page no. 59-65
6. Mora, P., Mora, L. & Philippot, P., "Conservation of Wall Paintings", Butterworths,1984.
7. ICCROM- Conservation of mural paintings Pagan, January29- February 21-1983

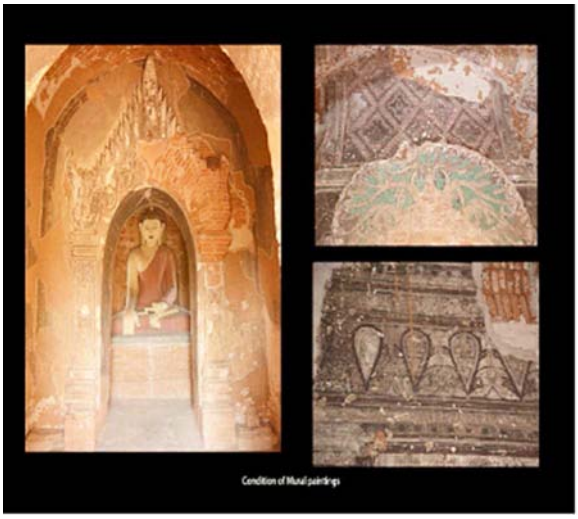

Natural Products used in the conservation process foreign materials previously used

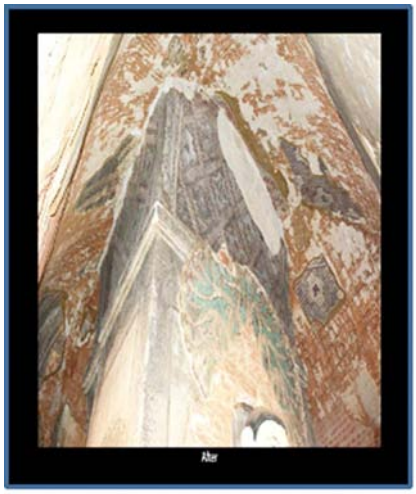

Asstt. Archaeological Chemist, Archaeological Survey of India, Raipur Circle, Raipur, Chhattisgarh

Assistant Director, Department of Archaeology and National museum, Bagan, Myanmar.

कला का– "बाज़ारीकरण" – की कला

विपिन सिंह

संस्कृति की विशालतम् दुनिया और उसके बीच ललित कलाओं में सम्प्रेषण के लिहाज से जटिलतम् विधा 'चित्रकला' अन्य विधाओं की तुलना में आज सबसे अधिक चर्चा में है। बीसवीं सदी, कला के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण रही। यह समय चित्रकला में आंदोलनों, परिवर्तनों, नई–नई प्रवृत्तियों के उत्थानों और पतनों से भरा पड़ा है। भारतीय कला भी इससे अछूती नहीं थी। एक ओर पाश्चात्य संस्कृति का प्रवेश और दूसरी ओर भारतीय राजतंत्र और सामाजिक संरचना में हो रहे वैश्वविक बदलावों ने कला को अत्यधिक प्रभावित किया। विषय पर चर्चा से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि यहाँ 'कला' से तात्पर्य 'चित्रकला' से है। पिछले कुछ वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियों में भारतीय कला का प्रदर्शन उल्लेखनीय रहा है। भारतीय चित्रकारों की कृतियाँ करोड़ो में निलाम हुईं। इसी के साथ–साथ कला का एक नया मापदण्ड भी तैयार हुआ। इस विषय में बहुतेरे समीक्षकों ने भारतीय कला को वैश्विक स्तर पर शीर्षस्थ स्थान प्राप्त होने की बात भी कही। इस बात का सीधे तौर पर अर्थ यही निकलता है, कि यदि किसी कलाकार की कृति अच्छे दामों में निलाम हो, तो कला और कलाकार दोनों ही प्रसिद्ध व चर्चित मान लिये जाते हैं। कला के क्षेत्र में 'बाज़ार' की शुरूआत आधुनिक काल में हुई। इससे पूर्व प्रायः कला के निलाम होने की कोई ख़बर या प्रमाण प्राप्त नहीं होता, विशेष रूप से भारतीय कला से संबंध में। भारत में कला का आधार आध्यात्म रहा है, किन्तु यह बात भी समकालीन कला के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती। क्योंकि समकालीन कला का दौर अभिव्यक्ति और आकर्षण का है न कि आध्यात्म का। कहने का तात्पर्य यह है, आज का कलाकार माँग के अनुरूप या समकालीन कला प्रवृत्ति के आधार पर अपनी कृतियाँ तैयार करता है। प्रत्येक कलाकार कला के प्रति अपनी निजी भावना को प्रमुखता तो देता है, परन्तु कहीं–न–कहीं वह ख़ुद को बाज़ार की प्रतिस्पर्धा से दूर नहीं रख पाता। इन परिस्थितियों में कलाकारों को प्रायः दो वर्ग में विभाजित किया जा सकता है– पहले स्थान पर वे कलाकार हैं, जिनकी कला की माँग बाज़ार में है। ऐसे कलाकार कला में बाज़ारवाद को एक सकारात्मक पहल या अनिवार्य घटक के रूप में देखते हैं। लेकिन, दूसरा वर्ग वह है, जो कला के प्रति समर्पित भी है और समकालीन कला प्रवृत्ति का अनुसरण भी करता है, लेकिन फिर भी बाज़ार में उनकी कला की माँग या तो कम है, या है ही नहीं या फिर इतनी अधिक है, कि उसकी निलामी अप्रत्याशित दामों में होती है। शुरुआती दिनों में चित्रकारों ने अपनी–अपनी रचनाओं को कला–वीथिकाओं में प्रस्तुत करना प्रारंभ किया और उसके विक्रय से उन्हें आर्थिक रूप से लाभ भी प्राप्त होने लगा। इस समाज में चित्रकारों को कला–बाज़ार के ज़रिए एक ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत स्थान मिल गया था, जो उनकी कलाधर्मिता का भी सम्मान करती है और साथ ही आम ज़रूरतों की पूर्ति भी। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले आर्थिक वैश्वीकरण ने इस व्यवस्था को बल दिया। साथ ही, चित्रकला और चित्रकार की पहचान भी बदलने लगी। धीरे–धीरे देश के बड़े नगरों और महानगरों में कला–वीथिकाओं की बढ़ती संख्या ने कहीं–न–कहीं बाज़ारवाद को बढ़ावा दिया, जिसके परिणाम दूरगामी थे। चूँकि देश की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पाश्चात्य देश के हाथ में थी, अतः भारतीय चित्रकारों ने अपनी दैनिक और कलागत ज़रूरतों की पूर्ति हेतु तत्कालीन परिवेश के अनुसार खुद को ढालना भी सीख लिया। इस प्रकार भारत में कला का बाज़ार प्रारंभ हुआ और अपने शुरुआती दिनों से ही अच्छी रफ़्तार भी पकड़ ली। कला समीक्षकों के बीच यह चर्चा आमतौर पर होती रही है, कि कला का बाज़ार है या बाज़ार से कला है। अंतर्जाल पर संजय द्विवेदी का लेख है, जिसमें उन्होंने

कला और उसके बाज़ारीकरण पर गंभीरता से चर्चा की है। द्विवेदी जी का कहना है कि देर से ही सही भारतीय ललित कलाएँ विश्व की कला दुनिया में अपनी जगह बना रही हैं। इस दौर में भारतीय कला ने न सिर्फ नए मानक गढ़े, वरन् वैश्विक परिप्रेक्ष्य में अपना सार्थक हस्तक्षेप भी किया। विदेशों में जहाँ पहले भारतीय पारंपरिक कला की माँग थी और उनका ही बाज़ार था। अब गणित उलट रहा है। विदेशी कलाबाज़ार में भारतीय कलाकारों की जगह बनी है। कुछ कलाकार मानते हैं, कि पश्चिम में भारतीय कलाकारों की बढ़ती माँग के पीछे अनिवासी भारतीयों का एक बड़ा वर्ग भी है, जो दर्शक ही नहीं कला का खरीददार भी है।'[1] डॉ.आर.वी.वैद्यनाथ के अनुसार– 'भारत में कला के यह सबसे अच्छा और सबसे खराब दोनों तरह का समय है। अच्छा इसलिए कि कला के लिए बढ़िया 'बाज़ार' पहले कभी नहीं रहा। महानगरों में कला दीर्घाएँ अंधाधुंध खुल रही हैं, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय 'चर्चा का केन्द्र' बना हुआ है। व्यापारिक संगठनों के कार्यालयों तथा पुश्तैनी अमीरों व नव–धनाढ्यों के घरों में किसी पेंटिंग या मूर्तिशिल्प को सजाकर रखना आज के शिष्टाचार का हिस्सा बन चुका है– जितनी ज़्यादा कलाकृतियाँ, उतनी ज्यादा शान। इससे अनेक कलाकारों को लाभ होता है। लेकिन यह सबसे खराब समय भी है, क्योंकि आज घरों में सांस्कृतिक धरोहरों को एक पीढ़ी स`दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करने की परम्परा का ह्रास हो रहा है तथा शिक्षा और संस्कृति की परम्परा सम्बन्ध–विच्छेद हो चुका है। परिणाम स्वरूप जिस संवेदना को आज अपनाया जा रहा है, वह सर्वव्यापी व अपरिहार्य बाज़ार, राजनीति और व्यावसायिक सिनेमा से उधार ली गई संवेदना है। अतएव कला की 'माँग' अक्सर उस विवेक या समझदारी पर आधारित नहीं होती, जो यह जताए कि कला और संस्कृति वास्तव में है क्या। यहीं वह खतरा भी छिपा है, कि आज दर्शक ही कलाकार को बना रहा है और चालू अभिरुचि में कलाकार की कलात्मक स्वतंत्राता व अभिव्यक्ति नियंत्रित हो रही है।'[2] कला और बाज़ार के बीच 'खरीददार' एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। समाज में बहुतेरे खरीददार ऐसे हैं, जो कला के प्रति अपनी रुचि के कारण न केवल कला–दीर्घाओं में प्रदर्शनियों को देखने जाते हैं, बल्कि उन्हें खरीदते भी हैं। लेकिन खरीददारों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो विशेष रूप से प्रसिद्ध या नामचीन कलाकारों की कृतियों को ख़रीदने के उद्देश्य से ही जाते है। निश्चित रूप से यहाँ कला के प्रति रुचि का अभाव रहता है, किन्तु कलाकृति को कुछ समय बाद बढ़े दामों में निलाम कर 'बाज़ार की कला' को गति देते रहते हैं। भारतीय समाज में भी अब ऐसे व्यवसिक मानसिकता वाले ख़रीददारों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। शुरुआती दिनों में चित्रकारों ने अपनी–अपनी रचनाओं को कला–वीथिकाओं में प्रस्तुत करना प्रारंभ किया और उसके विक्रय से उन्हें आर्थिक रूप से लाभ भी प्राप्त होने लगा। इस समाज में चित्रकारों को कला–बाज़ार के ज़रिए एक ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत स्थान मिल गया था, जो उनकी कलाधर्मिता का भी सम्मान करती है और साथ ही आम ज़रूरतों की पूर्ति भी। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले आर्थिक वैश्वीकरण ने इस व्यवस्था को बल दिया। साथ ही, चित्रकला और चित्रकार की पहचान भी बदलने लगी। धीरे–धीरे देश के बड़े नगरों और महानगरों में कला–वीथिकाओं की बढ़ती संख्या ने कहीं–न–कहीं बाज़ारवाद को बढ़ावा दिया, जिसके परिणाम दूरगामी थे। 20वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में 'कला–बाज़ार' विशेष रूप से उभरकर सामने आया। इससे पूर्व भी कला–बाज़ार स्थापित था और कार्य कर रहा था, किन्तु भारतीय चित्रकारों की अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में बढ़ती माँग और इनके द्वारा बनाई गई कृतियों की अच्छी–ख़ासी क़ीमत मिलने लगी। इनमें प्रसिद्ध चित्रकारों के अतिरिक्त समकालीन चित्रकार की कृतियों को तो स्थान मिला ही, साथ–साथ एक ऐसा वर्ग भी प्रकाश में आने लगा, जिनके पास स्वतंत्राता से पूर्व के या इससे भी पहले के प्रसिद्ध चित्रकारों की कृतियों को संग्रहित कर रखा था। ऐसी कृतियों को पुनः बाज़ार के ज़रिए ऊँची क़ीमत में नीलाम करने लगे। भारतीय चित्रकार भी विदेशों में इस दशक में लगभग स्थापित हो चुके थे। इन चित्रकारों में सैयद हैदर रज़ा, न्यूटन सूज़ा, एम.एफ.हुसैन, तैयब मेहता, किशनजी आरा, अकबर पदमसी, के.जी.सुब्रमण्यम, श्रीकृष्ण खन्नाा, रामकुमार, एन.एस.बेन्द्रे, वी.एस.गायतोण्डे आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। अतएव अंतर्राष्ट्रीयवाद के साथ भारतीय कला क्षेत्रा में अमूर्त शैली की बढ़ती माँग और भारतीय चित्रकारों के दृष्टिकोण ने इन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी स्थापित कर दिया। कुछ भारतीय चित्रकारों की

कृतियाँ अप्रत्याशित दामों में नीलाम हुईं। यदि किसी कलाकार की कृतियों की माँग बढ़ती है, तो कलाकार को कला–समाज में भी उचित स्थान प्राप्त होने लगता है। यह सामान्य रूप से चलने वाली प्रक्रिया है, किन्तु इसमें जटिलताएँ भी हैं। कभी–कभी कलाकार को उसकी कृतियों के सही दाम नहीं मिलते अथवा उसकी कृति का कोई खरीददार ही नहीं मिलता, या फिर कभी एकाएक निश्चित कीमत से अधिक राशि में कृति बिक जाती है। इस प्रकार कला–बाज़ार की आर्थिक स्थितियाँ निश्चित नहीं होती। प्रायः इनका कोई मापदण्ड नहीं है। सामान्य रूप से यह देखा गया है, कि जिस कलाकार की कृतियाँ सदैव बिकती रही हों, उनकी माँग भी लगातार बढ़ती जाती है, तथा उसे कला–समाज स्थापित कलाकार मानता है। यहाँ निश्चित रूप से उस कलाकार की कृतियों का ही आकर्षण है, किन्तु आधुनिक समाज में सफल कलाकार के लिए, कला–बाज़ार में प्रसिद्धि भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष बन चुका है। निश्चित रूप से भारतीय कला–बाज़ार ने भले ही भारतीय चित्रकारों को प्रोफेशनल बना दिया हो, किन्तु विश्व पटल पर उन्हें स्थापित करने का कुछ श्रेय भी इसे ही दिया जाना चाहिए। यह भी एक सत्य है, कलाकार का जीवन भी सामान्य मनुष्य के जीवन जैसा ही होता है, उसकी भी अपनी व्यक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक ज़रूरते हैं, जिसे पूरा करने के लिए कलाकार के पास 'कला' ही माध्यम के रूप में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त अब कला का भी अपना अस्तित्व है और कलाकार, कला के अस्तित्व को बनाये रखते हुए अपनी ज़रूरतों को पूरा करता है और इन्हीं कारणों के आधार पर कला के बाज़ार की आवश्यकता महसूस की गई। परन्तु कलाकार में सामान्य मनुष्य की अपेक्षा कल्पना करने की शक्ति अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है। यद्यपि कलाकार कल्पना के माध्यम से एक नये परिवेश या एक नई दुनिया बनाने की अुँत क्षमता रखता है तथापि कला अपनी निर्मिति में सार्वजनिकता का आग्रह ही होती है, चाहे वह कितनी भी व्यक्तिक अनुभूतियों से प्ररित ही क्यों न हो। कलाकार का 'कलाकार' होना एक बात है और उसी कलाकार का 'व्यवसायी' होना दूसरी बात। दोनों ही बातें भले ही किसी कलाकार से सम्बद्ध भले ही हों, किन्तु दोनों का ध्येय पृथक् है। चित्रकार अपनी कल्पना को रंगो और रेखाओं के माध्यम से कैनवास पर एक उद्देश्य के साथ उकेरता है। उसका ध्येय, मन में चल रहे किसी विषय के आत्म मंथन से उपजी भावनाओं की अभिव्यक्ति को कैनवास के माध्यम से समाज के बीच रखना है, यहाँ कलाकार, सिर्फ़ एक 'कलाकार' है। अपनी सामान्य दिनचर्या में, सामान्य मनुष्य की भाँति अपने चित्रकर्म को विळय कर प्राप्त होने वाली राशि से अपना और अपने परिवार का पालन–पोषण भी करता है, जो कलाकार का दूसरा पक्ष है। इस दूसरे पक्ष में कलाकार को व्यवसायी माना जा सकता है, किन्तु कला की दृष्टि से व्यवसायिकता का स्थान गौण हो जाता है।

'समकालीन कला' के संपादक डॉ.ज्योतिष जोशी ने कला में होने वाले 'सृजन' और 'उत्पाद' का उल्लेख किया है, जो निश्चित रूप से विचारणीय है– 'कला अँधेरे में 'आत्म' को रोशन करती है। कलाकार अपनी कला में जगत से, जीवन से और स्वयं अपने से सम्बोधित होता है। उसके इस सम्बोधन में ही उसके हाने का भाव छुपा है और कदाचित् उसकी भूमिका भी। चाहे वह किसी भी माध्यम में सृजन करता हो, अगर वह कलाकार है, तो उसका होना इसी बात पर निर्भर करता है, कि 'वह अपने में कितना है'। वह यदि अपने कलारूप में 'स्व' का विलयन नहीं करता, तो वह चाहे जिस कृति का सृजन करे, उसका सृजन उत्पाद होगा। जिस कृति में आत्म का विसर्जन न हो, वह सृजन नहीं, उत्पाद ही होगी और तब उसे कला नहीं शिल्प कहना होगा– कला और शिल्प में बुनियादी अन्तर भी यही है।'[3] यह तथ्य भी विशेष उल्लेखनीय रहा है, कि भारतीय चित्रकार भले ही पाश्चात्य तकनीकों से प्रभावित रहा, भले बाज़ारवाद से प्रभावित रहा हो, किन्तु इतना अवश्य है कि वह नैसर्गिक रूप भारतीय ही रहा है, उसने भारतीयता का साथ कभी नहीं छोड़ा। फिर चाहे वह अमृता शेरगिल, लक्ष्मा गौड़, रामकुमार, सूज़ा, आरा, रज़ा, हुसैन, अकबर पद्मसी, व्ही.एस.गायतोण्डे, तैयब मेहता जैसे देश के वरिष्ठ कलाकार हों, या फिर अन्य समकालीन चित्रकार हों अथवा नवचितेरे हों, सभी में भारतीयता की झलक कहीं–न–कहीं, किसी–न–किसी रूप में दिख ही जाती है और यह आवश्यक भी है। उक्त कलाकारों ने भारतीय कला–बाज़ार के साथ–साथ अंतर्राष्ट्रीय कला–बाज़ार में सम्मानजनक स्थान, मात्र अपनी कला–धर्मिता के आधार पर प्राप्त किया है। इन वरिष्ठ चित्रकारों के चित्रों में

भारतीयता विशेष रूप से लक्षित होती है। भले ही वर्तमान में कला–बाज़ार, कला एवं कलाकार की प्रसिद्धि को उसकी क़ीमत के आधार पर तय करने की प्रथा आरंभ हो गयी हो, किन्तु कलाकार की कला–प्रवृत्ति का स्थान ही विशिष्ट है। वर्तमान में कला–बाज़ार के विषय में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही पक्ष सुनने, देखने अथवा उल्लिखित प्राप्त होता है, जैसा कि प्रायः कला के अन्य क्षेत्रों में भी देखा गया है। जिस प्रकार भारतीय चित्रकला में पाश्चात्य के प्रभाव को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में देखा गया और स्वीकार भी किया गया है, ठीक उसी प्रकार कला–बाज़ार के क्षेत्रा में कला–समीक्षकों एवं विद्वानों की राय समान रूप से प्राप्त होती है। कला–बाज़ार के सकारात्मक पक्ष की यदि बात करें, तो वर्तमान में 'चित्रकला' केवल मानव की आत्माभिव्यक्ति का माध्यम, मनोरंजन या रोमांच की क्रिया अथवा धार्मिक या सामाजिक रूप से प्रयोग की जाने वाली कोई कलात्मक क्रिया तक सीमित नहीं है। जहाँ एक ओर कला के प्रति समाज की अवधारणा में परिवर्तन आया है, वहीं दूसरी कलाओं राज़ेगार और जीवन–यापन सशक्त माध्यम बन चुके हैं। इस सम्बन्ध में पूर्व भी चर्चा की गई है, कि कलाकार या चित्रकार की दैनिक मूलभूत ज़रूरतें हैं, जिन्हें वह कला–कर्म के माध्यम से ही पूर्ण कर सकता है। अतः वर्तमान में कला–बाज़ार के एक कलाकार को आर्थिक रूप से सक्षम बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। जैसा कि कला के अन्य क्षेत्राों में भी देखा जा सकता है। जहाँ तक बात कला–बाज़ार के नकारात्मक पक्ष की है, आधुनिक समय या 21वीं सदी में तो इसका एक नया ही रुख देखने को मिलता है। क्योंकि इस बाज़ार में चित्रकार की रचनाएँ 'बिकती नहीं' बल्कि 'नीलाम' होती हैं। अक्सर ऐसी ख़बर किसी–न–किसी माध्यम से मिल ही जाती है, कि अमुक चित्रकार या मूर्तिकार या छापाकार की रचनाएँ देश–विदेश की किसी बड़ी गैलरी में काफ़ी अच्छे दामों पर 'नीलाम' हो गयी। वर्तमान में प्रचलित धारणा तो यह है, कि ऑक्शन में जिसके काम की जितनी ज़्यादा बोली लगाई जाएगी, वह उस चित्रकार के लिए उतना ही सम्मानजनक होगा। अर्थात् कला की सजग संरक्षण परम्परा का स्थान प्रतिस्पध र्ी माँग ने ले लिया। इस सम्बन्ध में कला समीक्षक मनमोहन सरल लिखते हैं– 'शायद 1987 की शाम थी, जब पानी के जहाज पर नीलामी हुई थी। 'टाईम्स ऑफ़ इण्डिया' के 75 वर्ष पूरे होने पर 'टाइमलेस आर्ट' के सिलसिले में थी, जिसमें अनेक कालातीत चित्रों की नीलामी हुई थी। इस नीलामी में पहली बार हुसैन के एक चित्र के लिए 10 लाख की बोली लगी थी। इससे कुछ पहले 'हेल्पेज' के एक नीलामी में भी हुसैन की पेंटिग 5 लाख में बिकी थी। बस ये शुरुआत थी चित्रें की क़ीमते बढ़ने की। इसी के बाद दूसरे चित्रकारों ने भी अपने क़ीमतें बढ़ानी शुरू कर दी। पर करोड़ की सीमा रेखा पार करने का सिलसिला बहुत बाद में शुरू हो पाया।'[4] प्रचार–प्रसार करने वाली सामाजिक व्यवस्थाओं ने भी ऐसे ही कला का समर्थन किया, जिसकी नीलामी अधिक से अधिक दामों पर हो सके। अब क्रय करने वालों का ध्यान भी गणितीय आंकलन के आधार पर होने लगा। कहीं–न–कहीं इसका नकारात्मक प्रभाव वर्तमान कला–जगत में नज़र आता है। प्रत्येक कलाकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में अपनी कृतियों को नीलाम करने की प्रबल इच्छा रखने लगा है और यह धारणा कला–क्षेत्रा में अपने पैर–पसार चुकी है। प्रसिद्ध चित्रकार सतीश गुजराल ने अपने साक्षात्कार में अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में कला की स्थिति एवं स्तर पर चर्चा करते हुए कहते हैं, कि– 'यह सबसे बड़ी ग़लतफहमी है, कि भारतीय कला अन्तर्राष्ट्रीय हो रही है। बाहर जितनी बिक्री हो रही है वह प्रवासी भारतीयों के कारण हो रही है। मुख्य धारा में वहाँ पर भारतीय कला में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस तरह उन लोगों की सरपरस्ती मिल रही है। लेकिन मीडिया आमतौर पर किसी भी तथ्य को अपनी ही तरह से प्रोजेक्ट कर देता है। मैंने ऐसा आज तक नहीं सुना कि किसी यूरोपीयन अथवा अमेरिकन संग्रहालय में समकालीन भारतीय कला को ख़रीदा हो। सिर्फ़ पैसे वाले प्रवासी भारतीय खरीददार हैं। अमेरिका में कानून है, कि आप जितने पैसे में चित्र ख़रीदो उतने पैसे की टैक्स से कटौती हो सकती है। इसलिए उनके लिए यह एक तरह से मुफ़्त है। इसीलिए वे ख़रीद रहे हैं। इसी वजह से क़ीमतें बढ़ी हैं और कलाकार को भी फ़ायदा हो रहा है। उनको ज़्यादा पैसे मिल रहे हैं। नुकसान यह हुआ है, कि जो कलाकार निलामी में ऊपर नहीं जाता, लोग समझते हैं, कि वह अच्छा नहीं है। इसीलिए उसका महत्त्व कम हो जाता है। इस प्रकार सही कला का मूल्यांकन कठिन हो जाता

है। यह आधुनिक कला की विडम्बना है।'5 वस्तुतः व्यवसायिक दौर में जहाँ "कला का बाज़ारीकरण" तेजी से हुआ है, वहीं "बाज़ारीकरण की कला" भी अपने चरम पर है। बाज़ारीकरण की कला में 'कला' शब्द का चित्रकला नहीं, बल्कि चित्रकला को बाज़ार के ज़रिए बारम्बार निलाम कर उसकी माँग को बरकरार रखने की व्यवसायिक कला या मानसिकता से है। अतएव ख़रीददार उसी चित्रकार की कला को नीलामी में ख़रीदना पसन्द करने लगे हैं, जिनकी 'मार्केट वेल्यू' अन्य से बहेतर हो। आज कलाकार रातोरात प्रसिद्धी भी हासिल कर सकता है, क्योंकि कला के बाज़ारीकरण की प्रवृत्ति के बीच मूल चित्रकार की कल्पना शक्ति, रचनात्मकता और शास्त्रीय अवधारणाओं में निहित सिद्धान्तों का स्थान कहीं–न–कहीं गौण हो गया है।

संदर्भ सूची–

1. द्विवेदी, संजय, विश्व मंच पर पहचान बनाती भारतीय कला।
2 मागो, प्राणनाथ, भारत की समकालीन कला एक परिप्रेक्ष्य, अनुवादक – सौमित्रा मोहन, प्रका. नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2011, प्राक्कथन, पृ.10
3 जोशी, डॉ.ज्योतिष (संपादक), समकालीन कला, संवाद (सम्पादकीय), ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, अंक 38–39,पृ. 05
4 सरल, मनमोहन, कवर स्टोरी, दैनिक भास्कर समाचार पत्रा, रसरंग, रविवार, 10 जनवरी 2010, पृ.01 5

शोधार्थी
चित्रकला विभाग ग्वालियर

•••

अक्षरविज्ञानम्

डॉ. पूर्णिमा केलकर

शब्दान्तरेण कस्यामपि भाषायां पाटवमधिगन्तुं न शक्यमिति विदितमेव सर्वेषाम्। भर्तृहरिणा शब्दतत्वम् अक्षरब्रह्म पदेनाभिहितम्। (अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरं। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।)[1] महाभाष्यकर्त्रा पतञ्जलिना वर्णसमाम्नायोपदेश प्रसङ्गे वर्णाक्षरयोः पर्यायत्वं प्रतिपाद्य अक्षरशब्दस्य व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता। तदुक्तम् ्–अक्षरं न क्षरं विद्यात् अश्नुते वा सरोऽक्षरम् ।वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते।[2] अत्र हि यन्न नश्यति, यच्च सर्वत्र व्याप्नोति तदेवाक्षरपदेनाभिधीयते।

अक्षराणां वैशिष्ट्यम्– अकारः–विभूतिः कृष्णस्य। अकार, इकार, उकारश्चेति त्रय एव मूलभूताः स्वराः। वर्णसमाम्नाये (माहेश्वरसूत्रेषु हकारमारभ्य पुनः हकारपर्यन्तमेव व्यंजनान्युपदिष्टानि।

आंग्लभाषायां ये वर्णाः नोच्चार्यन्ते, अथ च शब्दे लिख्यन्ते, तेषां का स्थितिः। यथा ौवनसकए ब्वनसकए ॅवनसक इत्यादिषु L इति लिख्यते, उच्चरिते शब्दे न स श्रूयते। एतादृशाः वर्णाः ैपसमदज वर्णा इति उच्यन्ते ।किं तेषामौचित्यम्, महत्त्वं वा। किं संस्कृतेऽपि एतादृशाः वर्णाः सन्ति, इति विचारणीयम।

ऋकारोच्चारणम्? स्वरभक्तिः, शब्दनित्यत्वम्, तत्र नित्यत्वे किं विज्ञानम् ,वर्णानां तरंग–दैर्घ्यम् ;अम.समदजी) इत्यादयो विषयाः अत्र चिन्तनविषयीकृताः।

शब्दानां कः प्रभावः?, तद्गताक्षराणां किं वैशिष्ट्यम् ? अक्षरब्रह्मपदेन यदभिधीयते तस्य स्वरूपं कथमन्वेषणीयम्, केनोपायेन तस्याधिगमः कर्तव्य इति चिन्तनस्य विषयः। सम्प्रति शब्दशास्त्रमाध्यमेन अक्षरब्रह्मणः साक्षात्कारं कर्तुं यतमानाहं तत्वजिज्ञासां चिकीर्षमाणा लेखने प्रवृत्ता।

अयं विज्ञानयुगः। ऐदंयुगीनैराविष्कारैः नित्यं मानुषजीवनं सर्वथा परिवर्तितम्। संशोधकैः अखिलब्रह्माण्डमेव स्वायत्तीकृतमिव दृश्यते। पंचमहाभूतान्यपि स्वाधीनमिव स्वकीयगुणैः लोकाननुहरन्ति। शब्द–स्पर्श– रूप–रस–गन्धेषु आकाशादीनां प्रभुत्वमिव मनुष्याणामपि स्वामित्वं स्थापितकल्पम् ।सर्वप्रथमं शब्दगुणकमाकाशमित्येव विमृश्य मनीषिभिः आकाशतत्वं पर्यालोचितम्। तत्र शब्दतत्त्वं विचार्य स्वाधीतविषयस्य निष्कृष्टार्थः प्रस्थापितः। स एवार्थः शब्दशास्त्रिभिः भर्तृहरिरित्यादिभिः अक्षरब्रह्मपदेनाभिहितः।

आदौ पाणिनीये व्याकरणे वर्णानां का स्थितिरिति विचार्यते। चतुर्दशसु माहेष्वरसूत्रेषु वर्णसमाम्नाये स्वरूपतः नव स्वराः निर्दिष्टाः। तैः ये अपरे प्रत्याय्यन्ते ते द्वाविंशतिः ।कादयो मावसानाः स्पर्शाः पंचविंशतिः। चत्वारोऽन्तःस्थाः (यरलवाः) चत्वारश्चोष्माणः ।(शषसहाः) एवम् संकलनया (22+ 25+ 4+ 4त्र 55) पञ्चपञ्चाशद् वर्णाः। अनुपदिष्टा अपि केचन वर्णाः भाषासु प्रयुज्यमानाः श्रूयन्ते।[4] ते हि अयोगवाहा इत्युच्यन्ते। अयुक्ता वहन्ति , अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते, ते अयोगवाहा इति भाष्ये उक्तम्। ते च विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वार नासिक्ययमाः। अट्प्रत्याहारे , शर् प्रत्याहारे च एतेषामुपदेशः कर्तव्यः। अट्सूपदेशे सति उरःकेण इत्यादौ अडव्यवाये इति णत्वादि कार्यं सिद्ध्यति। शर्शूपदेशे उब्जिता इत्यादौ जश्त्वं सिद्ध्यति। यमाश्चत्वारः सन्ति। तदेवं नव अयोगवाहाः भवन्ति। तदुदाह्रियन्ते–अः इति विसर्जनीयः। क इति जिह्वामूलीयः। प इति उपध्मानीयः। हुं इति अनुनासिकः। कुं खुं गुं घुं इति यमाश्चत्वारः। अं इति अनुस्वारः ।(5) इदानीमयोगवाहानां विवेकं ्कृत्वा हकारविषये किचिद् विमर्शनीयम्।

माहेश्वरसूत्रेषु हकारो द्विरुपदिष्टः। एकः हयवरट् सूत्रे अपरश्च हल् सूत्रे। महाभाष्ये उभयोः हकारयोः समानं

रूपं मत्वा द्वयोः वार्त्तिकयोः प्रयोजनं प्रकटितम्। (अयोगवाहानामट्सु णत्वम्।शर्षु जश्भावषत्वे) तथापि पाणिनीय–''शिक्षानुसारेण एको हकारः उरस्यः, अपरश्च कण्ठ्य इति गम्यते। तदुच्यते पाणिनीयशिक्षायाम्–हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्। औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्।''[6] अत्र विषये गवेषकैरिदं चिन्त्यते यत् उभयोर्हकारयो स्थान भेदात् वर्णभेदोऽपि अंगीकार्यः। देवनागरी लिप्यां विसर्गस्य लेखनं द्वयोः बिन्दुरूपेण भवति। वैष्णवमन्त्रानुसारेण नाद एव उन्मेषं प्राप्य बिन्दुर्भवति। अयं हि नादः शब्दब्रह्मपदेनभिधीयते। किमयं बिन्दुद्वयेनाभिव्यक्तो हकारः विसर्गरूपेण नामरूपात्मकस्य ब्रह्मणः प्रतीकः भवेदिति। शैवशाक्ततन्त्रानुसारेण तुरीयं ब्रह्म बिन्दुरित्युच्यते। प्रकाशविमर्श–मयी परा शक्ति सा विसर्गस्थितबिन्दुना अभिव्यज्यते।[7]

तत्त्वदृष्ट्या विसर्गः अच्परःसन् तदनुषंगेणोच्चार्यते। यथा रामः इत्यत्र अकारपूर्वको हकारः, हरिः इत्यत्र इकारपूर्वकः भानुः इति उकारपूर्वको हकारः ,एवमग्रेऽपि उच्चरितव्यः।

ऋकारोच्चारणम्–इदानीमार्यभाषासु ऋकारोच्चारणं नैकविधं परिलक्ष्यते।यथा कृष्ण शब्दे उच्चार्यमाणः ऋकारः क्रिष्ण इति क्वचित् क्रष्ण इति अन्यत्र क्रुष्ण इति त्रिविधमुच्चारणं श्रूयते। तत्त्वतः ऋ कारे रेफस्य सत्ता वर्तत एव। भट्टोजी दीक्षित महोदयेन ऋकार–लृकार विषये स्पष्टमुक्तम्–ऋलृ इत्यत्र द्वौ रेफौ, तयोरेका मात्रा, अभितोरज्भक्तिरपरा। द्वयोरेफयोरभितः अज्भक्तिर्वर्तते।[8]

अत्र अज्भक्तिरित्यनेन अ,इ,उ इत्येतेषां ग्रहणमभीष्टम्। एते त्रयः अच एव ऋकारस्य अभितः उच्चारणसमये श्रूयन्ते। भाषासु प्रयुज्यमानऽ य ऋकारः अन्यवर्णसंयोगे सति कदाचित् रेफ रूपेण, कदाचिच्च स्वररूपेण परिणमते।यदायं ऋकारः रेफरूपतामाधत्ते तदा तद्योगे कश्चित् स्वरो विद्यत एव। यथा इको यणचि इति सूत्रेण अचि पर एव ऋकारस्य स्थाने रेफो विधीयते। यथा धातृ अंश–धात्र अंश– धात्रंशः। व्याकरणशास्त्रेऽपि ऋकारस्योच्चारणविषये सूत्रेषु संकेतः कृतः। अच्संधिषु यणादेशे इकोयणचि इत्यत्र इकः स्थाने यणादेशो भवति, अचि परे। अत्र ऋकारस्य स्थाने अचि परे रेफादेशो भवति। यथा धातृ–अंषः इत्यत्र ऋकार–अकारयोः संयोगे ऋकारस्य स्थाने रेफः सन् ध ात्–र्–अंशः –धात्रंशः इति रूपम्। यदि ऋकारोत्तरम् इकारः स्यात् , तर्हि धातृ–ईश––धात्र् –ईश– धात्रीशः, इति उकाररूपे अचि परे ऋकारस्य रेफे तदुत्तरं स उकारेण संप्रयुज्येत। तात्पर्यमिदम् यत् ऋकारः रेफरूपेण परिणतः सन् अ इ,उ इत्येतेषु अन्यतमेन अचा अनुगम्यते।

अचि र ऋतः इति सूत्रेऽपि अचि परतः ऋकारस्य रेफादेशो विधीयते। तथा च तिसृ–अस्(जस्) इत्यत्र ऋकारस्य रेफादेशे तिस्र्–अस्–तिस्र इति रूपम्।[9]

ऋकारस्य स्थाने अजादेशे सति ऋकारस्य स्वरूपं उरण् रपरः इति सूत्रसाहाय्येन निर्धारणीयम। ऋकारस्य गुणप्रसंगे, वृद्धिप्रसंगे वा तत्स्थाने जायमानः अण् रपरः सन्नेव प्रवर्तते। यथा कृष्ण–ऋद्धि कृष्णर्द्धिः। (कृष्णर्द्धि)।उप–ऋच्छति–उपार्च्छति।(उपार्च्छति) ऋत इद् धातोः इति सूत्रेण ऋकारान्तस्य धातोः इद् आदेशे, तस्य रपरत्वे इर् इति स्वरूपं जायते। यथा– कृति, इत्यत्र ऋकारस्य स्थाने इकारादेशे तस्य रपरत्वे किर्ति –किरति इति रूपम्।

(अ,इ,उ,ऋ इति चत्वारो वर्णाः , ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेन द्वादश। ह्रस्वप्लुतभेदेन लृकारो द्विविधः। दीर्घप्लुतभेदेन एचोऽष्टौ। दीर्घप्लुतभेदेन ईशत्स्पृष्टयोः ऋकारलृकारयोः पुनः चत्वारो भेदाः। तदेवं संकलनया अष्टाविंशतिः स्वराः।

सन्दर्भाः

1–वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे श्लोक–1।

2–महाभाष्य–पस्पशाह्निक।

3–माहेश्वरसूत्राणि (5)।

4–महाभाष्य–पस्पशाह्निक।

5–पाणिनि शिक्षा, श्लोक–18।

6–पाणिनि शिक्षा–श्लोक–22।
7–वाक्यपदीये–ब्रह्मकाण्डे, श्लोक 124।
8–सिद्धान्कौमुदी,संज्ञाप्रकरणम्।
9–अष्टाध्यायी सूत्र उरण् रपरः 1.1.51।

सहायक प्राध्यापक
संस्कृत विभाग,
इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़

●●●

भट्टिकाव्ये रूपकालङ्कार

डॉ. प्रशान्त कुमार सेठी

इह खलु संस्कृतसाहित्ये जगति ये ये महाकवयरू परिदृश्यन्ते तेषु महाकविरू भट्टिरू अन्यतमरू । महाकाव्यक्षेत्रे महाकवेरू भारवेरनन्तरं साहित्यमर्मज्ञस्य महावैयाकरणस्य भट्टिमहाकवेरू स्थानं कोऽपि वारयितुं न पारयति। तेन कृतं रावणवधमहाकाव्यमिदं यथा महाकविमाघकृतत्वात् शिशुपालवधं महाकाव्यं माघमहाकाव्यमिति प्रसिद्घं तथैव महाकवि भट्टिकृतत्वात् भट्टिमहाकाव्यमिति प्रसिद्घिं अवाप। संस्कृतालङ्कारिकासु भामहस्य स्थानमपि सुविदितम्। परन्तु भट्टिभामहयोरू कालनिरूपणस्य चर्चायां एतत् शङ्का जायते यत् एतर्योमध्ये करू पूर्वरू इति। राजवंशसहाय हीरा तस्य अलङ्कार शास्त्रस्य परम्परा पुस्तके वदति यत् भामहात् पूर्वं भट्टिरू प्रायशरू सर्वेषां अलङ्काराणां वर्णनम् अकरोत्। अस्मात् ज्ञायते भट्टिरू भामहात् पूर्वम् इति। अस्मिन् लघुशोध प्रवन्धे भट्टिकृतानां दीपकालङ्काराणां यत् वर्णना भवति तत् मया अत्र उपस्थाप्यते।

यरू अलङ्काररू अर्थविशेषं चमत्कारं प्रकटयति अर्थात् यत्र अर्थस्य प्राधान्यं भवति सरू अर्थालङ्कार भवति । दशमसर्गेऽस्मिन् ये रूपकालङ्कारारू वर्तन्ते ते अत्र उल्लिखिताः।

रूपकालङ्कारः

अलङ्कारस्य प्रवक्ता भामहरू तथा जयमङ्गला रुपकालारस्य लक्षणं एवमेव ददाति। यथा –

लक्षणं – उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुछ।।

उपमानोपमेयोरू यत् अभेद वर्णनं भवति तत् रूपकालङ्काररू उच्यते गुणानां समानतां दृष्ट्वा उपमानेन साकं उपमेयस्य यत् अभेदरू निरुपितरू क्रियते तथा उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपरू तयोरू अभेद कथनं रुपकालङ्काररू इति उच्यते। अपि च तद्रूपकमभेदो यः उपमानोपमेयोरू । अथात् उपमानोपमेयोरू यत् अभेद वर्णनं भवति तत् रुपकालङ्काररू उच्यते। साहित्यदर्पणेऽपि लिखितं यथा–

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे
तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा।

अर्थात् निषेधरहितो उपमेये यत्र उपमानस्य अभेदारोपरू तत्र रूपकम्। उपमानेन उपमेयस्य उपरञ्जनमेव अस्य अलङ्कारस्य प्रामुख्यम् । इदं रूपकं मूलतरू त्रिधा ।

१ साङ्गरूपकम
२ निरङ्गरूपकम
३ परम्परितरूपकम

यत्र उपमानस्य सर्वाणि अङ्गानि उपमेयस्य सर्वाणां अङ्गानाम् उपरि आरोपितानि भवति तत् साङ्गरुपकमीति उच्यते।

यत्र उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपरू भवति परन्तु तस्य अङ्गस्य आरोप न भवति तत् निरङ्गरूपकमीति उच्यते।

यत्र एकरू आरोपरू अपरस्य आरोपस्य हेतुरू –वति तत् परम्परितरूपकमीति उच्यते।

परन्तु कुवलयानन्दानुसारं रूपकं द्विविधम् । पुनः च प्रत्येकं त्रिविधम् । यथा –

१ अभेद रूपकम् – क – न्यूनाभेदरूपकम
ख – अधिकाभेदरूपकम
ग – अनुभयाभेदरूपकम्
२ ताद्रूप्यरूपकम् – क – न्युनताद्रूप्यरूपकम
ख – अधिकताद्रूप्यरूपकम
ग – अनुभयताद्रूप्यरूपकम
भामहः रूपकालङ्कारं भेद द्वयेन विभजितवान् । यथा –
क – समस्तवस्तुविषयः
ख – एकदेशविवर्ती

यदा सर्वारू विषयारू शब्दैरू कथितारू भवन्ति तत् समस्तवस्तुविषय इति उच्यते।

अपि च यत्र समस्तारोपारू शब्दैरू कथितारू न भवन्ति। अपि तु किंचित् अर्थैरू भवति तत् एकदेशविवर्ती रुपकालङ्काररू भवति।

परन्तु भट्टिकाव्ये भट्टिः रुपकं पञ्चविधा विभजते। यथा

क परम्परितरूपकालङ्कारः
ख कमलकं रूपकालङ्कारः
ग खण्डरूपकालङ्कारः
घ अर्धरूपकालङ्कारः
ङ ललामकरूपकालङ्कारः
परम्परितरूपकालङ्कारः

लक्षणं – कस्यचिदारोपरू परारोपणकारणं परम्परितरूपकम् इति।

अर्थात् एकः आरोपः अपरस्य आरोपस्य कारणं भवति तत् परम्परित रूपकं अलङ्काररू उच्यते।

उदाहरणं – व्रणकन्दरलीनशस्त्रसर्पः
पृथुवक्षः स्थलकर्कशोरुभित्तिः।
च्युतशोणितबद्घधातुरागरू
शुशुभे वानरभूधरस्तदासौ

तस्मिन् समये यस्य व्रण एव गह्वरव्याप्य शस्त्राण्यैव सर्पाः। यस्य विस्तृतवक्षस्थल एव कठोररू तथा विपुलरू कुड्य। पतितरुधिरक्लिष्टगौरिकादि राम एव अयं वानररूप पर्वतः शोभते स्म। अत्र एकरू आरोपः अपरस्य आरेपस्य कारणं भवति।

अत्र हनुमतरू क्षतविक्षतशरीरे पर्वतस्य आरोप भवति यथा शस्त्र– सर्पाः। रुधिर–गौरिकादि रागरू। व्रण–गह्वर। विस्तृत वक्षस्थले कर्कश। विपुल कुड्यस्य आरोपरू भवति।

अतरू अत्र एकः आरोपः अपरस्य आरोपस्य कारणं भवति इति कारणात् एतद् परम्परितःपकालङ्कारः अभवत्। परन्तु मल्लिनाथरू एनं साववय साङ्गरूपकम् इति वदति।

कमलकरूपकम्

लक्षणं – उपमानेन तुल्यत्वं उपमेयस्य । अस्य अलङ्कारस्य लक्षणं केनापि न दीयते। केवलं अस्य नाम तथा उदाहरणं दीयते।

उदाहरणं – चलपिङ्गकेसरहिरण्यलताः
स्फुटनेत्रपङ्क्तिमणिसंहतयः।

कलधौतसानव इवाथ गिरेः
कपयो बभुरू पवनजागमने

हनुमद् भूधरशोभनात् पश्चात् तथा तस्य आगमने अङ्गदप्रभृतयो वानरारू चञ्चलपीतसटा इव सुवर्णलता युक्त उज्जल लोचनपंक्ति रत्नवृन्दारू पर्वतस्य सुवर्णप्रस्था शोभितवन्त। अस्मिन् श्लोके उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपरू भवति। अत्र पिङ्गकेसराणां हिरण्यलतात्वेन तथा नेत्रपंक्तेः मणिसंहतित्वेन आरोपितरू रूपकं परन्तु सुवर्णप्रस्थ इव वर्णनया एतद् विशेषोपमायुक्तं कमलकरूपकं भवति ।

अस्मात् ज्ञायते यत्र उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोप परन्तु यदि विशेष वर्णना भवति तत् कमलकं नाम रूपकं भवति। जयमङ्गलानुसारं अत्र विशिष्टयुक्तं रूपकम् इति अिभहितम्। मल्लिनाथस्तु अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्काररू इति वदति।

खण्डरूपकम्

लक्षणं – उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपरू। अत्रापि न कोऽपि अस्य अलङ्कारस्य लक्षणं ददाति।

उदाहरणं – कति तोयनिधीन् प्लवङ्गवमेदु
मदयित्वा मधुरेण दर्शनेन।
वचनामृतदीधितीर्वितन्व–
न्नकृतानन्दपरीतनेत्रवारीन्

अर्थात् चन्द्रोदयेन समुद्रान् मदयित्वा पीयूषमयकिरणान् विस्तार्य तत् जलवृद्घिं करोति तथैव हनुमान स्वस्य आगमनेन अङ्गदादि वानरान् प्रमोद्य वचनानि वितत्य तत् आनन्दाश्रुवृद्घिं करोति। अस्मिन् श्लोके उपमेयस्य उपरि उपमानेन आरोपरू –वति।

अत्र आनन्दपरीतनेत्रवारीन् इति आनन्दाश्रुपूर्णरू नेत्रयुक्तरू अङ्गदादि वानराणां वर्णनं भवति। अनया वर्णनया खण्डरूपकम् अभवत।

अस्मात् ज्ञायते यत् उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपरू तथा यदि केनाप्यर्थेन न केवलं शब्देन प्रतीतं भवति। तत् खण्डरूपकालङ्कार उच्यते।

अस्य अपरनाम अवतंसक रूपकालङ्काररू इति। मल्लिनाथरू अमुं अलङ्कारं अतिशोयक्तिः तथा रूपकस्य संयोगात् सङ्कररू इति वदति।

भामहरू वदति एतद् एकदेशविवर्तिनी रुपकस्य अपररू भेदरू। समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च । दण्डी वदति एतद् अवयव रूपकमिति ।

अर्धरूपकम

लक्षणं – उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपः।

अत्रापि न कोऽपि अस्य अलङ्कारस्य लक्षणं ददति। केवलं नाम तथा उदाहरणं दत्तम।

उदाहरणं – परिखेदितविन्ध्यवीरुधरू
परिपीतामलनिर्झराम्भसः।
दुधुवुर्मधुकाननं ततरू
कपिनागा मुदिताङ्गदाज्ञया

अनन्तरं हर्षिता अङ्गदादेशेन विन्ध्यगिरि पर्वते विस्तारित लता मर्दमान् । निर्झर जलं पीतवन्तरू वानरहस्तिनः सुग्रीवस्य क्रीडोद्यानं कम्पितवन्तः।

अत्रापि उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोप भवति। अत्र श्लोकस्य पश्चिमार्धे कपिनागारू अर्थात् वानरारू एव हस्तिनरू सुग्रीवस्य मधुवनं कम्पितवन्तरू। अतरू वानराणां उपरि वानराणां आरेपात् अत्र अर्धरूपकालाररू अभवत्।

ललामकरूपकम

लक्षणं – यत्रान्वर्थयोपमया तदुपमायुक्तमेव ललामक रूपकं द्रष्टव्यम।

उदाहरणं – विटपिमृगविषादध्वान्तनुद्वानरार्कः
प्रियवचनमयूराखैर्बोधितार्थारविन्दरू।
उदयगिरिमिवाद्रिं सम्प्रमुच्याभ्यगात्खं
नृपहृदयगुहास्थं घ्नन् प्रमोहान्धकारम्

सीतान्वेषणं कथं सम्पादनीयं इति वानराणां खेदाख्यान्धकारस्यविनाशं कुर्वन् । प्रियवचन किरणैरू अर्थरूप कमलं। विकासयन् रामहृदय गह्वरे विद्यमान विषादरूपं अन्धकारं दूरीकुर्वन् सूर्यरूपेरू हनुमान् पूर्वगिरि रूप महेन्द्रपर्वतं परित्यज्य आकाशं अभिगतः।

अस्मिन् श्लोके उपमेयस्य उपरि उपमानस्य आरोपः तथा अन्वर्थतोपमया युक्त भवति।

अत्र सूर्यसम हनुमतः आकाशगमने रुपकालङ्कारः भवति। यथा वानराणां विषादे–अन्धकाररू। सृहुद्वचने – किरणारू। रामस्य हृदये – गह्वर आदीनां वर्णनया पुनरू सुर्यतुल्य आरोपरू भवति।

अतः उपमेयस्य उपरि उपमानस्य तथा अन्वर्थोपमया युक्ततया ललामक रूपकालङ्काररू भवति।

संदर्भ : –

1. काव्यालङ्कार(भामहः). 2.21।
2. काव्यप्रकाश. 10.138।
3. साहित्यदर्पण. 10.28।
4. भट्टिकाव्यम्. 10.26।
5. भट्टिकाव्यम्.10.27।
6. भट्टिकाव्यम्. 10.28।
7. काव्यालङ्कार(भामहः). 2.22।
8. काव्यादर्श. 2.71।
9. भट्टिकाव्यम्. 10.29।
10. भट्टिकाव्यम्. 10.30।

सहायक ग्रन्थ सरणी

१. चौधरी, ड. सत्यदेव, काव्यालङ्काररू, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९९०।

२. पाण्डेयरू, प्रो. गोपलदत्त, भट्टिकाव्यम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, २००९।

३. मिश्ररू, आचार्य श्रीरामचन्द्र, काव्यादर्शरू, चौखम्बाविद्याभवन प्रकाशन वारणसी,१९९६ ।

४. मिश्ररू, ड.जगदीशचन्द्र, अलङ्कारशास्त्रस्येतिहासरू, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

५. रेग्मी,आचार्य शेषराजशर्मा,साहित्यदर्पणरू, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१० ।

६. रेग्मी, पं. शेषराज शर्मा, भट्टिकाव्यम्, चौखम्बा संस्कृत सीरजि आफिस वाराणसी, १९९८ ।

७ शर्मा, ड. रमण कुमार,काव्यालङ्काररू,विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, २००८।

८ सिंह, सत्यव्रत, काव्यप्रकाशरू, चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी , १९९५।

सहायक प्राध्यापक
संस्कृतविभागः
गङ्गाधर मेहेर विश्वविद्यालयः, उड़िशा

●●●

नरेश मेहता के उपन्यासों में गाँधीवादी विचारधारा

आशा राम साहू

सदियों में कोई एक ऐसा होता है। जो अपने विचारधाराओं, कर्मो और दार्शनिक चिंतनों से संपूर्ण जगत को इतना प्रभावित कर देता है कि समस्त मानवीय चेष्टाएँ उनके दिखाए रास्तों पर बेधड़क निकल पड़ती है। ऐसे महापुरूष युगों –युगों तक श्रृद्धापूर्वक स्मरण किये जाते हैं। उनकी प्रासंगिकता लोगो में सदा बनी रहती है। ऐसे ही एक महापुरूष ने भारत वर्ष में जन्म लिया। जिन्हें हम महात्मा गांधी के नाम से जानते हैं। जिन्होने 'सत्य और अहिंसा' नाम अमोघ शक्ति से मानव धर्म की स्थापना का प्रण किया और जीवन पर्यन्त अन्याय के खिलाफ लड़ते रहे। अनेक विचारधाराएँ भारत वर्ष के गोद में पले–बढ़े और इनका विकास भी हुआ। इन्हीं विचारधाराओं में गांधीवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब संपूर्ण भारत वर्ष स्वाधीनता के लिए लड़ रहा था। इस विचार धारा ने सोयी हुई जनचेतना को जगाने का प्रयास किया और समस्त जनता को एक नई दिशा की ओर आगे बढ़ने में प्रेरणा प्रदान की। किसी भी एक निश्चित परिपाटी में चलना या किसी विचारधाराओं में बंधकर रहना गांधी जी का कभी कोई लक्ष्य नही रहा। गांधीवादी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए डॉ. मंदाकिनी मीणा लिखती हैं – ''गांधीवादी वस्तुतः गांधी जी के चिन्तन क्रम का ही दूसरा नाम है। यद्यपि गांधी जी ने कभी यह नही कहा कि उन्होंने किसी नई दार्शनिक वैचारिक परम्परा को जन्म दिया है जो गांधीवाद कहलाए तो भी उनका व्यक्तित्व इतना महान था कि उन्होने जिन जन –जीवन आदर्शो, और व्यापक मानवीय विश्वासों को अपनाया वे ही कालान्तर में गांधीवाद की संज्ञा पा गये''। [01] गांधीवादी चिन्तन धारा के प्रमुख आयामों में सत्य, अहिंसा सत्याग्रह, अश्पृश्यता निवारण, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक आचरण, स्वावलंबन, राष्ट्रप्रेम आदि उदात्त आदर्श तत्व समाहित है। साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति हिन्दी उपन्यासों में भी गांधीवादी विचारधारा ने अभिव्यक्ति पायी है। कुछ प्रमुख उपन्यास है जिनमें इस विचारधारा को केन्द्र में रखकर कथा गढ़ी गयी है– जैसे प्रेमचंद की रंगभूमि, यशपाल का झूठा–सच, फणीश्वरनाथ 'रेणु' का मैला आँचल, गिरिराज किशोर का पहला गिरमटिया तथा उदयप्रकाश द्वारा लिखित कहानी, मोहनदास आदि जिनके कथानक गांधीवादी विचारधारा से सम्बद्ध है।

अतः हिन्दी उपन्यासों में गांधीवादी विचाारा के सटीक सन्निवेश की परम्परा दिखाई देती है। इसी क्रम में आधुनिक युग के शीर्षस्थ उपन्यासकार नरेश मेहता के उपन्यासों में भी गांधीवादी विचारधारा ने अभिव्यक्ति पायी है। खास तौर पर 'यह पथ बन्धु था' 'उत्तरकथा' तथा 'नदी यशवस्वी है'। जैसे उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। हिन्दी उपन्यासों में गांधीवादी विचाारधारा की महत्ता को बतलाते हुऐ– डॉ. नवीन कलार्थी लिखते हैं, ''गांधीवादी विचारधारा ने हिन्दी उपन्यास को नया जीवन देकर, नयी साहित्यिक पृष्ठभूमि प्रदान की। इसे जानने, समझने के लिए सत्य के प्रयोगों की एक–एक तक को उलटना होगा तथा गांधी पूर्व युगीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक स्थिति को परखना होगा''। [02] अर्थात वर्तमान को समझने के लिए अतीत के गर्त में हमें पुनः उतरना होगा और सत्य की कसौटी पर रखकर उन तथ्यों को कसना होगा। तभी सार तत्व हमारे समक्ष आ सकेगा।

सैद्धधांतिक दृष्टि से सत्य और अहिंसा गांधीवादी विचारधारा के प्रमुख आधार–स्तम्भ है। प्राचीन धर्मग्रंथों में सत्य की महत्ता को सर्वविदित एवं सर्वकालिक बताया गया है। सभी युगों में चाहे वो सतयुग हो या द्वापर या कलियुग सत्य की विजय हमेशा ही होती रही है। जहाँ तक अहिंसा की बात है गांधी जी अपने विचार व्यक्त करते

हुए कहते हैं, ''मैने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है, केवल व्यक्तिगत नहीं ..... जो धर्म व्यक्ति के साथ खत्म हो जाता है। वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह एक दावा कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है। और आज भी कर रहा है।''[03] गांधी का ये मानना था की जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में तथा राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय किसी भी स्तर पर सत्य और अहिंसा का सफल प्रयोग किया जा सकता है। इसका सफल प्रयोग उन्होंने भारत जैसे पराधीन देश में कर के यह सिद्ध कर दिया कि सैनिक दृष्टि से दुर्बल देश भी अहिंसक साधनों से स्वाधीनता स्थापित कर सकता है। इसी संदर्भ में नरेश मेहता का उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' भी उल्लेखनीय है। इस उपन्यास के प्रमुख शीर्षक पात्र श्रीधर और सरस्वती अपने ढंग से अपनी–अपनी लड़ाई लड़ते हैं। श्रीधर शासन की गलत नीतियों का शिकार होकर जीवन पर्यन्त सत्य के पक्ष में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है। यहाँ तक कि अपने माता –पिता पत्नी और बच्चों को अकेला सोता छोड़ जीवन संग्राम में अकेले कूद पड़ता है। नारायण बाबू जो श्रीधर का मित्र है, वह उसे समझाने का बहुत प्रयत्न करता है कि वह अपना अध्यापन कार्य न छोड़े ''श्रीध ार कोई चिन्ता नहीं तुम सच ही छोड़ना चाहते हो लेकिन यह मान लो कि तुम सरकार की आँखों में हमेशा के लिए चुभ जाओगे। कोई साथ नहीं देगा। अपने घर की स्थिति देखो। मैं पूछता हूँ कब तुम्हें समझदारी आयेगी ? यह आदर्शवाद तुम्हें कब से लग गया श्रीधर''[04] लेकिन श्रीधर अपने निर्णय पर अडिग रहता है और अपनी लड़ाई अकेले लड़ता है। श्रीधर के चरित्र में गांधीवादी विचारधारा को स्पष्टतः देखा जा सकता है। उधर श्रीधर की पत्नी सरस्वती (सरो) अकेली अपने सास–ससुर की सेवा तथा बच्चों का भरण– पोषण करती है। श्रीधर के निर्णय से नाराज इनके भैया– भाभी बँटवारा ले लेते हैं और अपना खुद का नया मकान बनाकर रहने लगते हैं। श्रीधर की भाभी और सरस्वती की जेठानी सावित्री बात–बात पर ताने देती है। तरह–तरह से सताती है। किन्तु इतना कुछ होने के बाद भी सरस्वती के मन में कभी कोई हिंसात्मक भावना उत्पन्न नहीं होती, ना ही कभी प्रतिशोध की अग्नि इनकी आँखों में दिखाई पड़ती है। आलोच्य उपन्यास के अन्य पात्र जैसे बिसनबाबू, इंदू,पुस्तके साहब, किसी ना किसी रूप में गांधी जी के विचारों को वहन करने वाले पात्र हैं। क्योकि आलोच्य उपन्यास का कथानक परिवारिक समस्याओं के साथ–साथ राजनीतिक आंदोलनों से भी जुड़ी हुई है। इस प्रकार यह पथ बन्धु था उपन्यास गांधीवादी विचारधाराओं से अछूता नहीं है। 'नदी यशस्वी है' उपन्यासकार का एक और महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें भी स्वदेशी चीजों की उपयोगिता, और विदेशी चीजों की बहिष्कार की बात कही गई है। चूंकि नरेश मेहता जी 1942 ई. के आंदोलन में शामिल थे अतः इनका प्रभाव भी इनके उपन्यासों में स्पष्टतः दिखाई देती है। स्वदेशी चीजों की महता पर प्रकाश डालते हुए 'रावसॉब' शीर्षक पात्र के माध्यम से उपन्यासकार अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं – ''किसी भी अंग्रेज को कभी 'मेड इन इंगलैण्ड' के अलावा दूसरे की बनी चीज खरीदते नहीं देखोगे पर एक हम हैं कि पेंसिल, सुई तक तो अपने देश में बना नही पाते है।''[05] यहाँ पर स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम के साथ–साथ स्वावलम्बन की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'उत्तरकथा' उपन्यास नरेश मेहता का एक और महत्वपूर्ण उपन्यास है, जो दो भागों में विभाजित है। गांधीजी के विचारों का ताना –बाना इस उपन्यास में भी देखने को मिलती है, ''कहने को तो 'गांध ी –जयंती' का सारा कार्यक्रम बहुत सफल रहा। प्रभात–फेरी में आशा से अधिक ही लोग आये। गांधी– जयंती के सिलसिले में एक सप्ताह पहले से जो प्रभात फेरी निकलती थी उसमें सौ से अधिक व्यक्ति कभी नहीं आये होगें 'सार्वजनिक' सभा के कार्यालय में चरखा कातने का कार्यक्रम प्रतिदिन रखा गया था ..... इस पूरे सप्ताह खादी खरीदने काफी लोग जरूर आये और शायद वे ही लोग गांधी–जयंती के कार्यक्रम में भी आये।''[6] अतः गांधी जी के खादी संबंधी विचार तथा स्वदेशी अपनाने के पीछे प्रमुख कारणों को भी आलोच्य कृति में रेखांकित किया है। साथ ही सत्याग्रह,साम्प्रादायिक सद्भावना, जातिगत वैमनस्य आदि ज्वलंत बिन्दुओं पर भी उपन्यासकार का ध्यान गया है जाति गत विषमताओं को रेखांकित करते हुए उत्तरकथा के उपन्यास भाग 01 में उपन्यासकार ने हमारा ध्यान इस ओर भी आकृष्ट करने का प्रयास किया है। ''इन छोटी सभावालों का खान–पान आरम्भ करवाकर आप लोग अच्छा नहीं कर रहे हैं। मैं कहता हूँ भेद पड़ जायेगी।'' [07] अर्थात छोटे बड़े जाति के आधार पर समाज में जो

वर्ग विभाजन हो गया था इस उपन्यास में इनका भी चित्रण है। गांधी के धर्म एवं दर्शन संबंधी विचार बहुत ही व्यापक एवं विशाल हैं और धर्म को आदर्श समाज की आधारशीला मानता है। धार्मिक चेतना ही एक सुदृढ़ सामाजिक और राजनीतिक संरचना का विश्वसनीय आधार हो सकती है। गांधी जी ने धर्म के संकीर्ण अर्थ को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार धर्म शाश्वत और सार्वभौम नैतिक नियमों का संग्रह है। उपन्यासकार ने इसी शाश्वत सत्य को 'यह पथ बन्धु था' उपन्यास में भी व्यक्त किया है – ''सारे धर्म का प्रयोजन है कि व्यक्ति निर्भय बने सारी तांत्रिक साध ाना का एक मात्र उद्देश्य है कि व्यक्ति पूर्ण रूपेण सब प्रकार के भय से मुक्त हो और यह भय वस्तुतः बाहर नहीं बल्कि हम में होता है।''08 नरेश मेहता के उपन्यासों में गांधीवादी विचारधाराओं के सभी पक्षों का निर्वहन हुआ है। यहाँ तक कि जिन नीतियों को लेकर गांधी जी का विरोध हुआ उसका भी चित्रण उपन्यास 'उत्तरकथा' में हुआ है। विशेषकर उनकी अहिंसात्मक नीति को लेकर। गांधी जी सत्य और अहिंसा के प्रति जीवन पर समर्पित रहे और मरते दम का इन्होंने इनका दामन नही छोड़ा। चाहे परिस्थिति कितनी ही विषम क्यों ना रही हो। उपन्यासकार इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए उत्तरकथा उपन्यास में लिखते हैं – सत्य के पीछे तब तक लगे रहो जब तक कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित नहीं करता। जिस दिन सत्य के मूल रूप या आदि स्रोत को देख लोगे उसके बाद फिर कुछ देखने जानने और प्राप्त करने को शेष नही रह जाता सारी तलाशें सारी जिज्ञासाएँ समाप्त हो जाती है। ''9 अतः सत्य की महत्ता के साथ–साथ जीवन के सभी पक्षों को बड़ी ही विविधता के साथ नरेश मेहता ने अपने उपन्यासों में प्रतिपादित किया है। गांधी जी के दार्शनिक एवं धार्मिक विचाारों को बारीकियों के साथ चित्रित किया है। एक तरफ लेखक ने मानवतावादी धर्म का प्रतिपादन किया है, तो दूसरी तरफ धर्म की परम्परागत अंधी मान्याताओं का पर्दाफाश करके उसकी अधिक विराट और व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार गांधीवादी विचारधाराओं का सूक्ष्मता से अंकन नरेश मेहता के उपन्यासों में हुआ है।

संदर्भ सूची –

01 डॉ. मीणा मंदाकिनी, 'नरेश मेहता का उपन्यास साहित्य' पृष्ठ 45, दी रीडर्स पैराडाइज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2012 ई.।

02 डॉ. कलार्थी नवीन 'हिन्दी गुजराती उपन्यासों में गांधीवाद' भूमिका ज्ञान प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करणः 2003 ई. ।

03 डॉ. मीणा मंदाकिनी, नरेश मेहता का उपन्यास साहित्य, पृष्ठ 50, दी रीडर्स पैराडाइज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2013 ई. ।

04. मेहता नरेश, 'यह पथ बन्धु था' पृष्ठ 118. लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, छठवां संस्करणः 2011 ई. ।

05. मेहता नरेश, 'नदी यशस्वी है' पृष्ठ 152. मयूर पेपर बैक्स नोएडा दिल्ली, प्रथम संस्करणः 1968 ई. ।

06. मेहता नरेश 'उत्तरकथा भाग 02' पृष्ठ 256, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण : 2011 ई. ।

07. मेहता नरेश, 'उत्तरकथा भाग 01' पृष्ठ 315 लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करणः 2011 ई. ।

08. मेहता नरेश 'यह पथ बन्धु था' पृष्ठ 215 लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करणः 2011 ई. ।

09. मेहता नरेश, 'उत्तरकथा भाग 02' पृष्ठ 137 लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करणः 2011 ई. ।

शोधार्थी

हिन्दी विभाग (कला संकाय)

इं.क.सं.वि.खैरागढ़ (छ.ग.) पिन नं. 491881

●●●

भूमंडलीकरण और नई कहानीकार

अनवर खान
डॉ. बी. एन. जागृत

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में परिवर्तन और विकास की जिस प्रक्रिया में लोगों का ध्यान आकर्षित किया, वह था भारत में सन् 1991 के बाद शुरू हआ आर्थिक श्उदारीकरण और भूमंडलीकरण का दौरश । इसका स्पष्ट और मुखर प्रभाव आज जीवन के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है । विश्व भर के इतिहास में भूमंडलीकरण सर्वथा नई परिघटना का संकेत दे रहा है । इस परिघटना के तहत दुनिया अपने राजनैतिक, आर्थिक,सामाजिक, सांस्कृतिक संगठनों में सर्वथा नए रूप में उभर रही है । भूमंडलीकरण के विकास की प्रक्रियाओं में समकालीन और समाज को गहराई के साथ प्रभावित कर यथार्थ में परिवर्तन किया, जिसे आखिरी दशक के नई पीढ़ी के समकालीन रचनाकारों ने गंभीरता के साथ अपने कहानियों में उभारा है । भारतीय समाज एवं व्यवस्था व यथार्थ में परिवर्तन के अनेक तात्कालीन एवं ऐतिहासिक कारण थे, परंतु भूमंडलीकरण और बाजारवाद में उसे एक निश्चित दिशा देने में अहम भूमिका निभाई।[1]

भूमंडलीकरण के प्रभावों, परिवर्तनों से हिंदी साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। भूमंडलीकरण के कारण जहॉ हमारे परिवेश और चिंतन में बड़े बदलाव आए हैं, वैज्ञानिक क्रांति के साथ आधुनिकता की आहटें सुनाई देने से लेकर उत्तर आधुनिकता और उससे जुड़े विमर्शों तक की यात्रा ने हमें आज जिस मुकाम पर ला खड़ा किया है, वहां हम सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक मोर्चों पर नए–नए चुनौतियों का सामना कर रहे हैं । इक्कीसवीं सदी भूमंडलीकरण के आरंभ के साथ, रचनात्मक सफर शुरू करने वाली हिंदी कहानीकारों की नई युवा पीढ़ी के रचनाकारों में आज के विकास के इन प्रक्रियाओं से गुजर रहे समाज और उसमें मनुष्य के अलग–थलग पड़ने की पीड़ा एवं युग जीवन के बदलते नए यथार्थ रूढ़ियों और मान्यताओं का विघटन जीवन की विडंबना, खंडित पारिवारिक संबंध आदि को अपनी रचनाओं में स्थान देकर भूमंडलीकरण के यथार्थ को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

हिंदी कहानीकारों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम यह किया कि भूमंडलीकरण के विकास की इन प्रक्रियाओं से गुजर रहे समाज और उसमें मनुष्य की पीड़ा के उस मार्मिक यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की। उदाहरण के लिए प्रेम कुमार मणि की "खोज" , हरि भटनागर की "संगीर" , उदय प्रकाश की "पालगोमरा की स्कूटर" , संजय खाटी की "पिंटी का साबुन" आदि इस सदी के पहले दशक में स्थापित भूमंडलीकृत व्यापार और बड़े–बड़े मालों की चकाचौंध के पीछे गरीबों के धीरे–धीरे खत्म हो रहे यथार्थ को जितनी संजीदगी के साथ नए कहानीकारों ने हाल ही में प्रकाशित कहानियों में उठाया है, उसमें भूमंडलीकरण और बाजारवाद के प्रभाव में हो रहे नई सदी के भारतीय समाज के यथार्थ को आसानी से देखा एवं पहचाना जा सकता है । इसी प्रकार भूमंडलीकरण की गई ऐसी प्रक्रियाएॅ हैं जो इधर के हिंदी के नए कहानीकारों में साफ–साफ दिखलाई पड़ती है । यह इंटरनेट की दुनिया से लेकर एक सुविधाभोगी भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नवनिर्मित उत्पादनों की भरमार है, जिसमें आज की जिंदगी के यथार्थ को एक नए ढंग से रचा जा रहा है। उदाहरण के लिए पंकज षिष्ट ने "बच्चे गवाह नहीं हो सकतेश, उदय प्रकाश ने "तिरिछ" , संजीव ने "अपराध", चित्रा मुदगल ने "लकड़बग्घा", ओमप्रकाश वाल्मिकी ने "सलाम" , अवध ेश प्रीत ने "नृशंस" में समकालीन समाज, राजनीतिक के यथार्थ तथा बाजारवाद के मायाजाल में फंसे मनुष्य एवं

उसके अंतर्मन की बेचैनी, भय, अंतर्द्वन्द्व हिन्दी कहानीकारों ने जिन विषयों को केन्द्र में रखकर कहानियॉ लिखी है । उनमें भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के कारण उभरता नया भारतीय समाज आदि प्रमुख है।[2]

समकालीन हिंदी कहानी समकालीन समय के दबाव से निर्मित मनुष्य और समाज की कलात्मक एवं वैचारिक निर्मित है । समकालीन कहानी का अध्ययन अपने समय और समाज का भी अध्ययन है । समकालीन कहानी जीवन के यथार्थ को बड़ी गहराई से रूपायित करती है इसलिए समकालीन कहानियों में वर्तमान युग की सभी विसंगतियों को बड़ा हृदय विदारक वर्णन हुआ है । फलतः कहानी की नई पीढ़ी ने जिस यथार्थ को अभिव्यक्त किया, वहीं नई कहानी की मुख्य विभाजक भूमि थी । यथार्थ चित्रण के इस बदलाव को मुख्य विभाजक रेखा मानते हुए यह उन प्रमुख बिंदुओं समकालीन पीढ़ी के कुछ नई कहानीकारों को व्यक्त किया जा रहा है । अस्सी के दशक के समकालीन पीढ़ियों को देखें तो दूधनाथसिंह, ज्ञानरंजन, दीप्ति खण्डेलवाल, शेखर जोशी, अमरकांत, अरविंद कुमार जैसे कहानीकारों ने परिवर्तित जीवन मूल्यों एवं युगीन समस्याओं को कहानी का विषय वस्तु बनाया । कहानियों की समकालीन पीढ़ी की बात करें तो हम देखते हैं कि नब्बे के दशक में समकालीन पीढ़ियों में उदयप्रकाश, स्वयंप्रकाश, शिवमूर्ति, संजीव, असगर वजाहत, ओमप्रकाश वाल्मिकी आदि कहानीकार इस दशक में चर्चित रहे । समकालीन हिंदी कहानियों में नए यथार्थ का चित्रण वास्तव में यह बदलाव हमें उदयप्रकाश की कहानियों से मिलना शुरू हो जाता है । नब्बे के दशक में प्रकाशित इनकी कहानी श्पालगोमरा का स्कूटरश में भूमंडलीकरण के प्रभाव को अच्छी तरह से समझा जा सकता है । इस कहानी में उदयप्रकाश ने पालगोमर (नायक) के बहाने इस नये यथार्थ में मनुष्य की नियति और उसके संघर्षों तथा उसके पराजय को चित्रित किया है । इस तेजी से बदलते हुए समय में जहॉ "उपभोक्तावाद" , मानवीय संबंधों की परंपरागत समय पर हावी होता है । पालगोमरा की बेचैनी जैसे हमारे इस नए समय की बेचैनी बन जाती है । उदयप्रकाश का प्रभाव समकालीन कहानी लेखकों पर सर्वाधिक दिखाई देता है । उनकी अन्य कहानियॉ श्वारेनहेस्टिगंज का सांडश , श्मोहनदासश आदि कहानियों में जिस तरीके से नए यथार्थ को अभिव्यक्त किया गया है, वह हिंदी कहानी में नई दिशा है ।

तत्पश्चात् 1990 के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण, नई पूंजी संरचना, भूमंडलीकरण, बाबरी मस्जिद के ध वंस आदि संदर्भ समकालीन हिन्दी कहानी की संरचना ने जिस तरह का दुष्चक्र रचा है उससे फॅसी नई पीढ़ी के सपनों को पूंजी जिस ढंग से आकर्षित कर रही है, उसकी कथा नई पीढ़ी ही रच सकती है । नव–लेखन और युवा विशेषांकों पर नजर डालते हैं तो इस श्रृंखला में जो कथाकार शामिल थे उनमें प्रमुख अल्का सारावंगी, आनंद संगीत, जयनंदन, मीराकांत, प्रेमलाल शर्मा, संजय सहाय, प्रियदर्शन आदि इन्हें हम भूमंडलोत्तर कथा–पीढ़ी के शुरूआती कथाकार के रूप में देख सकते हैं । चूंकि इन पंक्तियों को लिखने का उद्देश्य इस पीढ़ी के महत्वपूर्ण लेखकों की कोई मुकम्मल सूची तैयार करना नहीं, बल्कि भूमंडलोत्तर कथा–पीढ़ी की निर्माण–प्रक्रिया पर एक निगाह डालना है, इसलिए इसमें बहुत से कथाकारों का नाम छूट जाना स्वाभाविक है ।

नवलेखन अंकों की सुदीर्घ परंपरा से चुन छनकर आए हैं । इन्हीं कथाकारों की परत दर परद बनती है भूमंडलोत्तर समय की कथा–पीढ़ी अक्टूबर 2004 में प्रकाशित "वागर्थ" के नव–लेखक अंक के माध्यम से आई कथाकारों की नई खेप इस पीढ़ी की अगली परत थी, जिसके महत्वपूर्ण नामों में मनोज कुमार पांडे, चंदन पांडे, विमलचंद्र, आशुतोष मिश्र, कैलाश बनवासी, पंकज सुबीर, राकेश मिश्र, विमलेश त्रिपाठी, दीपक श्रीवास्तव, मो. आरिफ, कुणालसिंह आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है । जिनकी रचनाओं में भूमंडलीकरण के बदलते यथार्थ पर काफी गहराई से चर्चा किया गया है । 1990 के बाद तथाकथित भूमंडलीकरण व नवउदारवादी समय में जीते हुए रचनाकारों ने कुछ विशिष्ट रचनाऍ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है, जो पूर्वोक्त सारी आशंकाओं व नए यथार्थ को साक्षात करती है । उनकी रचनाओं में जो नयापन है उसमें सामान्य मानवीय–जीवन के बदलते सदभरे तथा उसकी आसंगति करीब खींच ले आने की क्षमता है, अपने संपूर्ण प्रतीकात्मक संगठन के साथ वे जीवन की गत्वरता तथा मूल्यों के संघर्ष के अधिक समीप है । यहीं आकर इन नई कहानीकारों की कहानियों से निर्मित भूमंडलीकृत

कहानी पढ़ने का शौकीन पाठक इन कहानियों से खुद को जोड़ पा रहा है ? या बुद्धिजीवियों के लिए ही लिखी कहानियॉ बनकर तो नहीं रह जा रही है ? इस प्रकार नई कहानीकारों के रचनाओं में भूमंडलीकरण के कारण होने वाले बदलाव को ज्ञात कराकर कहानी के माध्यम से समाज को एक दर्पण की तरह मार्गदर्शन करती है। साथ ही आज के लोगों को समाज व जीवन के बारे में सोचने की प्रेरणा देती है।[3]

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. खेतान, प्रभा. बाजार के बीच बाजार के खिलाफ, दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2004, 11।
2. पालीवाल, सूरज. हिंदी में भूमंडलीकरण का प्रभाव व प्रतिरोध, दिल्ली : शिल्पायन 2008, 82।
3. जयनंदन (संपा.), युवा कहानी गति–प्रगति, इलाहाबाद :साहित्य भंडार, 2009, 269।

शोध छात्र

शा.दिग्विजय स्वशासी स्नातकोत्तर

महाविद्यालय राजनांदगांव, (छ.ग.)

●●●

अमरकांत के 'ग्रामसेविका'उपन्यास में अभिव्यक्त प्रगतिशील चेतना

गौरव रस्तोगी

अमरकांत द्वारा विरचित 'ग्रामसेविका' उपन्यास स्वातंष्योत्तर भारत के ग्रामीण परिवेश में व्याप्त अज्ञान, अंधविश्वास, शोषण और नारी जीवन की विसंगतियों को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करने वाला सशक्त दस्तावेज है। अमरकांत ने प्रस्तुत उपन्यास को ग्रामसेविकाओं द्वारा दिए गए साक्षात्कार के साक्ष्यों के आधार पर अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के माध्यम से सुरुचिपूर्ण एवं कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। नारी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया आलोच्य उपन्यास विशुनपुर गाँव की अनेक सामाजिक समस्याओं की मार्मिक अभिव्यक्ति करता है।

विशुनपुर ऐसा गाँव है, जहाँ ग्रामीण अज्ञानता, अशिक्षा, अंधविश्वास से ग्रसित जीवन जीने के लिए मानो संकल्पबद्ध हैं। उनकी सीमित, संकुचित एवं संकीर्ण मनः स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपनी यथास्थिति से पूर्ण संतुष्ट हैं और यदि कोई उनकी शान्ति, संतुष्टि में खलल डालने का प्रयास करता है, उनको नई दिशा की ओर मोड़ना चाहता है तो वे असहज और उग्र हो उठते हैं। अमरकांत ने ग्रामीणों की इस पिछड़ी मानसिकता का अनुशीलन कर दमयन्ती के माध्यम से अपने प्रगतिशील विचारों से ग्रामीण परिवेश में शिक्षा, ज्ञान, गरिमा की अलख जगाने का स्तुत्य कार्य किया है। इस तरह अमरकांत ने 'ग्रामसेविका' उपन्यास में उन ग्रामीण परिस्थितियों को उजागर किया है, जिनके कारण विकास की धारा प्रवाहित होने में मुश्किलें आ रहीं हैं।'[1]

अमरकांत ने 'ग्रामसेविका' उपन्यास में नारी जीवन तथा उसके यथास्थिति अनुरूप असंघर्षमयी जीवन को उपन्यास के केन्द्र में रखा है। आलोच्य उपन्यास का आरम्भ होता है, जब गाँव में दमयन्ती ग्रामसेविका बनकर आती हैं। वह ग्रामीणों से प्रथम परिचय करने तथा ग्राम नारियों को स्कूल आने का आमंत्रण देने हेतु ग्राम–भ्रमण पर निकलती है। परन्तु गाँव में दूसरी ही हवा प्रवाहित है, ग्रामीण स्त्रियाँ ग्रामसेविका के सन्दर्भ में विचित्र मत रखती हैं और भेंट होने पर कह उठती हैं, "अरे मिसिराइन जी, चलो चलें। मुझको घर पर बहुत काम है... मैं दूसरों की तरह फालतू थोड़े ही हूँ कि सारा गाँव नाचती फिरूँ...ये बहिन जी तो हवा–पानी बदलने आई हैं...।"[2] वस्तुतः ये वे नारियाँ हैं जिन्हें शताब्दियों से चार दीवारी में कैद करके रखा गया है। वे इन परिस्थितियों में इतनी रच–पच गयी हैं कि वे अपने भले–बुरे का स्वयं निर्णय नहीं कर पाती हैं। परतंत्र मानसिकता से ग्रस्त ये अबोध बालाएँ शिक्षित, सक्षम तथा नौकरी पेशा नारियों को पतित समझती हैं। इनका विश्वास है कि ऐसी स्त्रियाँ व्याभिचारिणी और पददलित होती हैं। इस तरह की नारी के पास वे पढ़ने कैसे जा सकती हैं? वे स्वयं तो जाएँगी नहीं, भला अपने बच्चों को क्यों भेजने लगीं?

फिर ग्रामीणों में शिक्षा को लेकर अविश्वसनीय मत–मतान्तर हैं। वे मानते हैं कि शिक्षा प्राप्त करना सबका नसीब नहीं होता। कुछ का मानना है कि जब उनके परिजन–गुरुजन ही शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके तो वे क्यों ओखली में सिर दें? अहीर टोले की छकौड़ी की स्त्री अशिक्षा को अपने पुत्र की नियति मान बैठी है, उसका कुर्तक है, "इसके बाबू दो बार इसको रामगढ़ के स्कूल में बैठा आए और दोनों बार इसने चारपाई पकड़ ली। ढेलू पंडित ने इसका हाथ देखकर कहा कि इसकी तकदीर में विद्या ही नही तो यह पढ़ेगा क्या खाक?"[3] सुमिरनी दाई ने तो हद ही कर दी, दमयन्ती को झिड़कते हुए वह चिल्ला उठती है, "कैसी बात करती हो, बहिन जी? पढ़ाई जाए चूल्हा में। मेरा लड़का आवारा ही रहेगा। बाबा रे, उस साल लड़के को स्कूल भेजा तो छह ही दिन बाद उसके चाचा को क्या हो गया कि शाम होते–होते...। चलो चलो, बहुत देखें हैं तुम्हारे जैसे।"[4] सभी ग्रामीणों के अपने–अपने मत हैं। कोई कहता हैं, पढ़ाई से निर्धनता आती है तो कोई कहता, लड़का मजदूरी करके घर के पालन–संचालन में सहयोग देगा, आखिर पढ़ाई से क्या लाभ होने वाला है? पढ़ाई रोटी दे सकती है?

दूसरी ओर स्त्री शिक्षा के सन्दर्भ में तो ग्रामीणों का मत और भी विचित्र है। उनका मानना है कि स्त्री को क्यों पढ़ाया जाएगा? उसे तो घर पर रहना है, यदि महिलाओं को पढ़ाया गया, उन्हें शिक्षा दी गई तो वे हाथ से निकल

जायेंगी और घर–के–घर तबाह हो जायेंगे। अमरकांत लिखते हैं, "औरतों के स्कूल के तो लोग सख्त खिलाफ हैं। पढ़–लिखकर औरतें आजाद हो जाएँगी। ऐसा कभी हुआ है आज तक? अब यही तो रह गया है कि औरतों को बाजार में नचाया जाए?"5 किन्तु उसी गाँव में दमयन्ती को जंगी अहीर मिलता है जो प्रगतिशील विचारों का समर्थक होता है तथा जेलयात्रा के फलस्वरूप गांधीवादी विचारधारा के सम्बन्ध में अल्पज्ञान रखता है। गाँव में जंगी अहीर ही दमयन्ती की सर्वप्रथम सहायता करता है और उसके घर–आँगन में ही स्कूल लगना शुरू हो जाता है क्योंकि उसका विचार है कि ग्रामसेविका महात्मा जी का पवित्र काम करने आई है। वह अपनी पुत्री कनिया को पढ़ाने के लिए भी सहर्ष सहमति प्रदान कर पवित्र कार्य में अपना सहयोग देता है। इस तरह दमयन्ती ग्रामीणों के व्यंग्य बाणों को सहती हुई किसी तरह स्कूल चलाने लगती है। शनैः–शनैः स्कूल ग्रामीण बालकों तथा महिलाओं के आने से लगने लगता है और इस तरह दमयन्ती ग्रामीण परिवेश में शिक्षा की अलख जगाने में सफल हो जाती है। दमयन्ती के प्रयासों के प्रतिफल से जमुना और हरचरण जो गाँव के ही सदस्य होते हैं, वे भी शिक्षा का प्रसार करने में सहयोग करते हैं। दमयन्ती से प्रेरणा पाकर हरचरण तो अलग से अपने संगी नौजवानों को पढ़ाने का कार्य करने लगता है। दमयन्ती के साहसिक प्रगतिशील कार्य की प्रशंसा करते हुए लेखिका रुचि मिश्रा लिखती हैं, "वह गाँव की औरतों में चेतना जगाती है। वह ताने सुनती है फिर भी पूरी लगन व कर्मठता के साथ अपना कार्य करती है। किसी भी परिस्थिति में पीछे नहीं हटती है।"[6] दमयन्ती ने इस प्रकार अपने–आप को स्थापित तो कर लिया, लेकिन यहाँ स्कूल संचालन और व्यवस्था को बनाए रखना अत्यंत कठिन कार्य था। स्कूल जंगी अहीर के आंगन में चलता है, जहाँ कुछ पासी टोले की औरतें एवं कुछ अहीर महिलाएँ आती हैं। किन्तु स्कूल में आने वाली औरतों में भी जातीय भेदभाव होता, वे एक–दूसरे से दूरी बनाए रखतीं। दमयन्ती ने उन्हें कई बार समझाया था कि जाति–बिरादरी कुछ नहीं होती, सब एक समान हैं। व्यक्ति अपने विचारों से छोटा–बड़ा होता है किन्तु इस विषय में उनके अपने मत हैं। अहीर की कोई स्त्री कहती, "आपके कहने से कोई धर्म और जाति छोड़ देगा, बहिन जी?"[7] तो पासी टोले की महिलाएँ दमयन्ती से अपना रोष व्यक्त करते हुए कहती हैं कि आप हमें यहाँ क्यों बुलाती हैं, जब वे अपने को बड़ा मानती हैं तो बैठें अपने घर। इस पर दमयन्ती समझाती है, "इस तरह नहीं सोचना चाहिए। वे धीर–धीरे समझ जाएँगी। जाति से कोई बड़ा नहीं होता। अपने काम से कोई बड़ा और कोई छोटा हुआ करता है...।"[8] वास्तव में हमारे ग्रामीण समाज में जाति–प्रथा की रूढ़ियाँ इतनी गहराई में समाहित हैं जो शीघ्रता से उखाड़ी नहीं जा सकतीं। यही कारण है, स्वतंत्रता से लेकर आज तक हमारे सामने जाति–भेद का मामला जब–तब प्रकाश में आता रहता है। अमरकांत ने इस सन्दर्भ में अपना प्रगतिशील मत प्रस्तुत किया है जो दमयन्ती के उक्त कथन से स्पष्ट होता है।

ग्रामीण क्षेत्र के पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण है कि वे तथाकथित धर्माडम्बरों तथा अंधविश्वासों से जकड़े हुए हैं जिससे वे आधुनिक सुविधाओं से न सिर्फ वंचित रह जाते हैं अपितु अकाल ही काल के गाल में समाहित हो जाते हैं। वे इस वैज्ञानिक युग में भी टोने–टुटके, हवा–बतास, भूत–प्रेत आदि पर विश्वास करते हैं। अमरकांत ने प्रस्तुत उपन्यास में ग्रामीण परिवेश में फैले अंधविश्वास और उसके प्रभाव से जन–धन की क्षति का सजीव चित्रण किया है। जमुना की नवजात बच्ची को जब बुखार आ जाता है तो मिसिराइन उसकी नवजात बच्ची का उपचार करती है। अमरकांत ने उसकी उपचार विधि को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है, 'मिसिराइन पहले तो खुरपी के फल को नवजात के पेट पर लगाती है। तत्–पश्चात् एक काला धागा बाँधने को देती है। साथ ही वह आदेश देती है, दोपहर बाद सिरहाने साँप की केंचुल का धुआँ देव। दरवाजा और खिड़की खुली न रहे। बच्ची का पूरा शरीर ढका रहे। दालान में एक बोरसी रखवा दो। कोई बाहरी आदमी बिना पैर सेंके और कपड़ा झाड़े भीतर न आए।'[9]

मिसिराइन के बाद ऐसी ही कला में निपुण ग्राम के अहीर झींगुर सोखा को बुलाया गया। लेकिन बच्ची का बुखार ठीक न हुआ। बावजूद इसके जमुना की सास ने बच्ची के स्वास्थ्य को लेकर कोई उत्साह नहीं दिखाया, जबकि जमुना का विश्वास इन टोने–टोटकों से टूट चुका था। अन्ततः उसने दमयन्ती को बुला लिया। दमयन्ती ने बच्ची को वैज्ञानिक पद्धतियों से जाँचा–परखा और उसके शरीर पर पानी की पट्टी रखनी शुरू की तथा अपने भाई

विनय को रामगढ़ भेजकर दवा मँगवाई। साथ ही सौरग्रह या कहा जाए बच्ची का जो मृत्य गृह अंध–विश्वाससियों द्वारा बनाया गया था उसको दमयन्ती ने निर्दयता से नष्ट कर दिया। जिससे जमुना की सास रमैनी सहुआइन अत्यंत कुपित हुई क्योंकि उसने उसकी पुरानी मान्यताओं को चुनौती दी थी। लेकिन बुढ़िया कुछ बोली नहीं, वह रधिया मिसिराइन और झींगुर सोखा के उपचार का प्रतिफल देख चुकी थी। यद्यपि दमयन्ती जानती थी इससे जमुना तथा उसकी सास के मध्य संघर्ष बढ़ सकता है तथापि उसने इस विशेष अवसर पर सोचा कि "हर समय अंध–विश्वासों पर हमला नहीं किया जा सकता। गलत मौके पर प्रहार करने से दुश्मन और प्रबल हो जाता है उस पर उसी समय हमला करना चाहिए जब उसके पास कोई जवाब न हो। दुश्मन पर हमेशा कमजोरी की हालत में ही हमला करना उचित होता है।"[10] इस तरह विशुनपुर में अंधविश्वास पर यह पहली चोट थी, जो कम–से–कम उसकी हमउम्र जमुना के लिए एक बेहतर सुविधा–सम्पन्न भविष्य की आशा की किरण थी।

इस तरह अमरकांत आधुनिक शिक्षा और सुविधाओं को पहले–पहल युवा जगत् तक प्रेषित करते हैं। वस्तुतः वे जानते हैं कि पुरानी पीढ़ी में बदलाव शीघ्रता से नहीं होते। किन्तु जब वह सुविधाओं के परिणाम देखती है तो धीरे–धीरे इस परिवर्तन को स्वीकार कर लेती है। यही कारण है जिस रमैनी सहुआइन ने बच्ची के उपचार, हरिया (जमुना का पुत्र) तथा जमुना के स्कूल जाने के लिए घर–भर में तमाशा किया था। वही बाद में जब देखती है कि बहू ने उसके लिए ब्लाउज सिला है, उसकी निस्वार्थ भाव से सेवा की है और उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया है, अपितु उसकी बहू सलीके से रहना सीख गई है, तब रमैनी सहुआइन इस परिवर्तन को स्वीकृति प्रदान करती है। रमैनी सहुआइन की तरह ही मिसिराइन और अधिकांश ग्रामीणों की विचारधारा में समयान्तराल से बदलाव आता है। इस प्रकार अमरकांत ने स्पष्ट किया है कि परिवर्तन शीघ्रता से नहीं होते। समाज के दृष्टिकोण में बदलाव धीरे–धीरे आता है। अमरकांत ने गाँव के सम्पन्न व्यक्ति प्रधानजी के माध्यम से ग्रामीण जगत् में होने वाले शोषण को अपनी चिर–परिचित व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं, "प्रधान जी ने गाँव की जनता के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया था। मसलन वह गरीबों को रुपये सूद पर देते। वह प्रेमपूर्वक कर्ज को उस हद तक चढ़ जाने देते थे, जब गरीब लोग पूरा चुकता कर ही नहीं सकते थे। वे चुकाते भी जाते थे और कर्ज बना भी रहता था। इस तरह गाँव के लोगों की एक अच्छी–खासी संख्या उन पर आश्रित थी। जिनकी आर्थिक स्थिति खराब थी उनमें से कोई खेत–खलिहान देखता था, कोई गाय–बैलों को सानी–पानी चला देता था और कोई रात को पहरा दे देता।"11 इसके अतिरिक्त प्रधान जी ग्रामीण लोगों को आपस में लड़ाकर खुद ही सलाह कराते और कभी तो शहर ले जाकर उन्हें मुकदमेंबाजी के दलदल में धकेल देते थे। इस उपक्रम में उनका वकीलों से मोटा कमीशन बंधा रहता। इस प्रकार वह ग्रामीण अशिक्षित, भोली–भाली जनता का शोषण करते थे। वे न सिर्फ ग्रामीणों का शोषण करते अपितु जो स्त्री उन्हें सुन्दर लग जाती थी। उसको भी वे अपने जाल में फंसाने के लिए चाले चलना शुरू कर देते थे। इस प्रकार अमरकांत ने प्रधान की राजनीतिक कुटिलता को उद्घाटित करने के साथ–साथ गाँव में रहने वाले ऐसे भेड़ियों की ओर भी संकेत किया है जो निर्धन परिवारों की बहू–बेटियों पर दूषित दृष्टि रखते हैं और साम, दाम, दण्ड, भेद से ग्रामीण नारियों की आबरू से खेलते हैं।

उपन्यास के अन्त में अमरकांत के प्रगतिशील विचारों की अभिव्यक्ति हरचरण के माध्यम से हुई है। हरचरण समाज में होने वाले शोषण से ग्रामीणों को छुटकारा दिलाने के लिए संदेश देता है कि "हमको एक नया प्रधान चुनना चाहिए। वह प्रधान गरीबों का आदमी होगा। वह अपने नेतृत्व में पूरे गाँव को तरक्की के रास्ते पर ले जाएगा। गाँव के लोगों को अब अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। उनको पढ़ना–लिखना चाहिए"[12] वस्तुतः लेखक का मानना है कि अपने पिछड़ेपन को हमें स्वयं शिक्षित एवं सजग होकर दूर करना होगा। इस प्रकार अमरकांत ने अपने उपन्यास 'ग्रामसेविका' में विशुनपुर– जो भारतीय ग्राम का प्रतीक है, के माध्यम से गाँव की वास्तविक दशा को प्रकट किया है। गाँवों में फैली अशिक्षा, अंधविश्वास, शोषण प्रवृत्ति को अमरकांत उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। यद्यपि आलोच्य उपन्यास स्वतंत्र भारत के 1950 के आसपास की परिस्थितियों से सन्दर्भित है तथापि वह आज

भी अपनी प्रासंगिकता रखता है। यह सत्य है कि आज के गाँवों में शिक्षा के द्वार खले हैं तथापि नारी जीवन आज भी बेड़ियों में कैद है। नौकरी पेशा नारियों के प्रति आज भी ग्रामीण समाज नाक–भौं सिकोड़ता देखा जा सकता है। आज भी हमारे गाँवों की बालाओं को नौकरी करने से पहले अपने घर–परिवार के सदस्यों से लड़ना पड़ता है, यदि वे दमयन्ती और जमुना की भाँति नौकरी करती भी हैं तो उन्हें परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं मिलती। प्रधान जैसे वासना के पुजारी आज भी समाज में नारी के स्वतंत्र विचरण में बंधन का कारक बनते हैं। साथ ही हर नौकरी पेशा नारी को हमारा तथाकथित शिक्षित समाज उसी नज़र से देखता है, जैसा दृष्टिकोण 'ग्रामसेविका' उपन्यास में अन्य ग्रामीणों तथा प्रधान का है। इस तरह लैंगिक भेदभाव और उत्पीड़न का प्रश्न आज भी नारी के लिए ज्यों–का–त्यों बना हुआ है।

पाखण्ड और बाह्याडम्बर के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत उपन्यास अपनी महती प्रासंगिकता रखता है क्योंकि हमारा ग्रामीण समाज आज भी पूरी तरह आधुनिक विज्ञान तथा शिक्षा को महत्त्व न देकर धर्माडम्बर को ही अधिक महत्त्व देता है और मिसिराइन जैसे पात्र आज भी हमारे गाँवों में देखने को मिल जाते हैं। उदाहरण के तौर पर वर्तमान में फैले कोरोना वायरस के सन्दर्भ में हमारे ग्रामीण परिवेश में अजीब–अजीब विचारधाराएँ पनपी हैं। कहीं हल्दी की प्रवेश द्वार पर थाप लगाकर, दीप जलाकर या विशेष चिह्नों को अलंकृत कर, इस खतरनाक जीव को रोकने तथा बीमारी से बचने का उपाय ढूँढ चुके हैं। वर्तमान के समाचारों में ऐसी भी खबरें आईं हैं कि 'उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, असम में महिलाओं ने कोरोना को देवी मानकर उसकी पूजा–अर्चना की है।'13 इस तरह एक ओर जहाँ पूरा विश्व इस भंयकर वायरस से पीड़ित है, वहीं हमारे ग्रामीणों ने इसका हल निकाल लिया है। यद्यपि यह हास्यास्पद है तथापि वर्तमान भारतीय ग्रामीणों के अंधविश्वास का साक्ष्य है। वस्तुतः हम आज भी अंधविश्वास की जड़ों से विछन्न नहीं हो सके हैं। यद्यपि परिस्थितियाँ पूर्णतः नकारात्मक भी नहीं हैं और हमारे ग्रामीण समाज ने नये परिवर्तन को स्वीकार किया है, किन्तु जैसी अपेक्षा की जाती रही है वैसे परिणामों से अभी हम दूर ही हैं।

सन्दर्भ सूची :–

1. परमार सिंह बहादुर – अमरकांत का कथा साहित्य, प्रकाशन – शिल्पायन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 134।
2. अमरकांत – 'ग्रामसेविका' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ. सं. 06 ।
3. वही, पृ. सं. 20 ।
4. वही, पृ. सं. 21 ।
5. वही, पृ. सं. 22 ।
6. मिश्रा रुचि – अमरकांत के उपन्यासों में प्रतिबिम्बित समाज, नवजीवन पब्लिकेशन, जयपुर, पृ. सं. 87 ।
7. अमरकांत – 'ग्रामसेविका' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ. सं. 39 ।
8. वही, पृ. सं. 40 ।
9. वही, पृ. सं. 27 ।
10. वही, पृ. सं. 29 ।
11. वही, पृ. सं. 58–59 ।
12. वही, पृ. सं. 131 ।
13. दैनिक जागरण, 9 जून 2020 ।

शोधार्थी

हिन्दी विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली

पता– विकास नगर, फौजी की टाल के पास, बदायूँ रोड, बरेली, 243001.

●●●

मिथिलेश्वर की कहानियों में सांस्कृतिक और राजनीतिक परिदृश्य

जीतलाल

लोक संस्कृति किसी क्षेत्र विशेष में निवास करने वाले लोगों का ऐसा समूह जहाँ उसकी अपनी परम्परा, रीति–रिवाज, धार्मिक मान्यताएँ, उत्सव, पर्व और कला आदि का स्वतंत्र पहचान प्रदान करती है। लोक चेतना से जागने वाली सरल, सहज, आनन्दमय, अकृत्रिम, अविरोधी और स्वच्छन्द निर्मल संस्कृति ही लोक संस्कृति है, जिसकी छाया कहीं स्पष्ट और कहीं धूमिल आज की ग्रामीण–जीवन में जाती है। इसलिए हम अनपढ़ लोगों की स्वच्छन्द संस्कृति को लोक संस्कृति कहकर कुछ उपहास करते हैं, जबकि इन लोगों का उन्मुक्त उल्लास, उमंग, नृत्य–गीत–वाद्य अनेक कलाओं और पर्वों का आनन्द आज भी तथाकथित परिष्कृत नागर जन के लिए दुर्लभ हो गया है, जो लोग न ठठाकर अट्टहास कर सकते हैं न मिलकर नाच–गा सकते हैं और खुलकर रोदन भी नहीं कर सकते, केवल रूआंसा मुँह बनाकर रह जाते हैं। लोक को परिभाषित करते हुए प्रखर आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवो में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है।''[1] लोक जो संस्कृति रचता है, उसकी सहजता विशेष रूप से उल्लेखनीय है, भावनाओं के सहज प्रस्फुटन के रूप में। इसमें वे लोक विश्वास भी स्थान पाते हैं, जिनका कोई बौद्धिक तर्क नहीं होता, पर जो शताब्दियों से समाज में प्रचलित रहे है : शकुन–अपशकुन, टोना–टोटका, जादू–चमत्कार आदि। प्राचीन महाकाव्यों तक में इनका उपयोग अतिलौकिक तत्व के रूप में हुआ है, यद्यपि आवश्यक नहीं कि सर्वत्र रचनाकार की चेतना इनके साथ हो। लोक–संवेदन लोक संस्कृति रचते हैं, जिसके कई रूप है। ''लोक संस्कृति कर्म प्रधान है, जो किसी भी सांस्कृतिक क्रिया में कर्मणा क्रियाशील होती है। अपनी इसी कर्माश्रयी ऊर्जा से वह संघर्ष करती है और विजातीय तत्वों से अपनी रक्षा करती है।''[2]

इतिहास गवाह है कि हमारी लोक संस्कृति ने ही हमको अब तक सुरक्षित रखा है। हर अंचल की लोक संस्कृति में जातीयता और लोकोन्मुखता की विचित्र शक्ति होती है, जो उसे राष्ट्रीयता लोक संस्कृति या संस्कृति से जोड़ती है। बहरहाल वर्तमान भारतीय संदर्भ में वैश्विकता में भाग लेते हुए अपनी अस्मिता से संबद्ध प्रश्न विचारणीय है और क्षेत्रीय संस्कृतियों के सामंजस्य से बनी राष्ट्रीयता के बिना किसी वैश्विकता की बात करना वाग्विलास तो हो सकता है, निश्चय रूप से कोई ठोस विचार नहीं, जो व्यक्ति और समाज को सार्थक विकास में जोड़ सके। अतः आज के संदर्भो में लोक संस्कृति की गंभीरता से ग्रहण करना जितना आवश्यक है, उतना शायद इससे पहले कभी नहीं रहा।

मिथिलेश्वर आठवें दशक के चर्चित वरिष्ठ कथाकार है। उनकी कहानियों में लोक जीवन और लोक संस्कृति की सादगी सहज रूप से झलकती है। ग्रामीण परिवेश के सुख–दुःख, आशा–निराशा और आस्था–विश्वास का बखूबी चित्रण किया है। 'जमुनी' मिथिलेश्वर की महत्वपूर्ण कहानी है। जमुनी एक भैंस का नाम है। जमुनी के बीमार होने पर जोगनी कहती है – ''जमुनी रानी को क्या हो गया है ? किसने नजर लगा दी ? वह गाँव के गोरेया बाबा को पीठा चढ़ाने, काली माई को चुनरी ओढ़ाने तथा बरम बाबा को लँगोटा पहनाने की भखौटी मन–ही–मन भाखती है।''[3] जिउत, जोगनी और जमुनी तीन शरीर एक प्राण है। यह कहानी केवल जमुनी को मौत के मुँह से बचाने के प्रयत्न में संघर्षरत एक परिवार की कहानी है। इसमें ग्रामीण समाज और ग्रामीण व्यक्ति की सांस्कृतिक एवं मानसिक बुनावट को स्पष्ट किया गया है । एक सामान्य घटनाक्रम के साथ व्यापक हलचलों को एक बिन्दु पर कीलित करने का कलात्मक उपक्रम लेखक की समाहारी शक्ति को व्यक्त करता है। यह समहार विस्तार को बाधित करने का

नहीं है बल्कि परिवार गाँव की संस्कृति के परिवृत्तों को केन्द्राभिसारी बनाने का है। डॉ. श्याम सुन्दर दुबे लिखते हैं – ''जमुनी में भारतीय कृषक की मानसिकता की उस छुटी कड़ी को आगे बढ़ाया गया है जिसमें प्रेमचंद अपने उपन्यास गोदान में होरी की गाय पालन की लालसा को अधुरा छोड़ देते हैं।''4 कितने भृगुनाथ कहानी में नैरेटर का भृगुनाथ के प्रति आत्मीय संबंध उद्घटित हुई है। गाँव में रहने वाले लोग एक–दूसरे से कटकर नहीं सटकर जीते हैं, रोजी–मजूरी के लिए कहीं भी जाए पर शाम होते ही अपने बाशिंदे पर आकर एक–दूसरे के सहयोग के लिए तत्पर रहते हैं। नगरों की अपेक्षा गाँवों में मानवीय मूल्यों के प्रति अधिक सजग रहते हैं। मिथिलेश्वर लिखते हैं – ''भृगुनाथ चाचा मेरे परिवार के नहीं और न ही निकट के संबंधी ही। वे मेरे गाँव के थे और चूँकि गाँव में हर कोई किसी का कुछ–न–कुछ लगता ही है, इसी नाते वे मेरे चाचा लगते थे। आज भी गाँव में उम्र के अनुसार मैं किसी को भइया, किसी को बाबा, किसी को चाचा, किसी को बबुआ, किसी को बचवा कहता ही हूँ।''[5]

मिथिलेश्वर की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें कलात्मक बनाव – सिंगार के बगैर भी मन को छु लेनेवाला कहानीपन मौजूद है। अक्सर मिथिलेश्वर की कहानियों में एक नैरेटर होता है जो बेहद बातूनी है, बरोकटोक और बिना लाग–लपेट के अपनी बात कहता चलता है। शायद उसे यह चिंता रहती है कि कही कोई बात छुट न जाए कही उसकी बात गलत ढंग से न समझ ली जाए। लिहाजा स्पष्ट कर देनेवाली टिप्पणियाँ भी करता चलता है। वह कथा में अपना पक्ष चुन लेता है, कुछ इस तरह कि अपने पक्ष के लिए सहानुभुति पैदा कर सके। इस कहानियों में भारतीय गाँवों में प्रचालित किस्सागोई का स्वाद मिलता है। मिथिलेश्वर की कहानियों का वर्ण्य – विषय आज के गाँवो की सच्चाई है। गरीबी, बेकारी और भुखमरी को झेलता और उसके खिलाफ संघर्ष करता ग्रामीण ही मिथिलेश्वर का कथानायक है। शोषण तंत्र का चित्रण करते समय लेखक अत्यंत सजग और संतुलित रहता है। ऐसे में अक्सर अपनी स्पष्ट प्रतिबद्धता प्रमाणित करने के चक्कर में लेखक अतिरिक्त उत्साह का परिचय देते हुए मजदूर और शोषित वर्ग की अस्वाभाविक विजय दिखाने की हड़बड़ी में रहते हैं। ऐसी कहानियाँ जीवन की सच्चाई नहीं, लेखक की मनोगत आकांक्षाओं का प्रतिफलन होती है। मिथिलेश्वर की सफलता इसी अर्थ में है कि उनकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता में ही जीवन का बेहतर बनाने का औजार हो सकती है, इसे कहानीकार ने अच्छी तरह समझा है। 'मेघना का निर्णय' कहानी इस संतुलन का उदाहरण है। मेघना शहर में जाकर मजदूरी करनेवालों का अगुआ बन गया है। मजदूरी हड़प लेनेवाले रेलबाबू उसके गाँव आते हैं, और गाँव के बाबुओं से मिलकर उसे और उसके साथियों को हथियार डालने पर विवश कर देते हैं – मेघना उसी दिन से गहरे सोच में डूब जाता है ''जब तक इन स्थितियों से निस्तार पाने के लिए कोई निर्णय नहीं ले लेता , कैसे मजदूरी करेगा ? उसने सोच लिया कि आज वह सीधे अपने मजदूर साथियों से कह देगा कि अब गाँव के बाबुओं से भी टकराना होगा हमें जान की बाजी लगाकर भी उनका जवाब देना होगा, नहीं तो हर बार इसी तरह शहर के मालिक इनसे मिलकर हमें दबाते रहेगें।''6 इस निश्चय के साथ मेघना स्टेशन जाता है– शहर से शाम की गाड़ी से लौटने वाले मजदूर–साथियों को अपने निर्णय से अवगत कराने उन्हें भावी संघर्ष के लिए तैयार करने, दिन की गाड़िया आ जा रही है, लेकिन वह तो शाम की गाड़ी की प्रतिक्षा में है, जिससे उसके साथी आने वाले हैं। और अंततः ''उसने देखा सिग्नल हो गया था अब गाड़ी आने ही वाली थी वह माथा उठाकर उस तरफ देखने लगा, जिधर से गाड़ी आ रही थी।''[7] कहानी यही समाप्त होती है। ''गाँव में बाबुओं से टकराना होगा।'' यह निर्णय यह संकल्प ही कथा का चरम बिंदु है। संभव है आगे की लड़ाई में मेघना और उसके साथी जीत जाए, वे हार भी सकते हैं, किन्तु अभी कथाकार सिर्फ यही देख पाता है कि संघर्ष ही मुक्ति का उपाय है।'' इस चेतना के बीज समाज में मौजूद है। बीज है तो परिणति होगी ही। भारतीय समाज में, खास तौर से मध्यवर्गीय परिवारों में लड़कियाँ के जन्म पर खुशी के बजाय शोक के वातावरण को मिथिलेश्वर की कहानी में उद्धृत यह लोकगीत मूर्त कर देता है –

''जाहू हम जनिती धियवा कोखी रे जनमिहे।
पिहितों में मरिच झराई रे।

मरिच के झाके–झुके धियवा मरि जाइति
छुटि जाइते गरुवा सन्ताप रे।''[8]

समाज की इसी मानसिकता की छानबीन करने तथा इससे संत्रस्त स्त्रियों की समस्या को 'तिरिया जनम' और 'सावित्री दीदी' कहानियों में उठाया गया है। मजे की बात यह है कि स्त्री के शोषण में स्त्रियाँ पुरूषों से पीछे नहीं रहती है। वास्तव में ऐसी स्त्रियाँ (सास–ननद आदि) प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा से परिचालित होती है। इस तरह शोषण की दोहरी चक्की में पीसी जाती स्त्रियों की दो ही गतियाँ है– या तो वे उपेक्षा और ग्लानि सहन करते हुए रोज–रोज मरती रहें, आत्महत्या करें या फिर शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति के लिए संघर्ष करने का संकल्प करे। 'सावित्री दीदी' और 'तिरिया जनम' की सुनयना स्त्रियों की इन दोनों स्थितियों का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्र है। सावित्री दीदी भाई और पिता की बला टालने के लिए तथा माँ के तानो से तंग आकर आत्महत्या कर लेती है। सावित्री दीदी का छोटा भाई, जो नैरेटर भी है, इस बात से चकित है कि उनके मरने पर घर में शोक का कोई वातावरण तो नहीं ही है बल्कि कुछ–कुछ 'बिन ब्याहे बेटी मरे' की खुशी का ही भाव है। बड़े आत्मीय ढंग से सावित्री दीदी की इस परिणति के कारणों पर विचार करते हुए एक ओर वह तमाम सावित्री दीदियों के लिए हमारे मन में सहानुभुति पैदा करने में सफल होता है तो दूसरी ओर स्त्री–पुरूष में भेद–बुद्धि पैदा करने वाले सामाजिक कारणों और सोच के प्रति गहरा क्षोभ पैदा करता है कि – ''अब मुझे चुप नहीं रहना चाहिए। अब कुछ करना चाहिए, क्योंकि सावित्री दीदी के संदर्भो से गुजराने के लिए मेरी छोटी बहन दीप्ति अभी बाकी है।''[9] तिरीया जनम की सुनयना अपेक्षाकृत उन्नत चेतना की स्त्री है। वह इस सच्चाई से अवगत है कि जिस मानसिक और शारीरिक यातना के बीच वह जी रही है, उसमें किसी औरत द्वारा आत्महत्या कर लेना कोई आश्चर्य नहीं है लेकिन वह आत्महत्या का निर्णय लेने के बजाय मामा के यहाँ भाग जाने और दाई का काम करने का संकल्प लेती है। वास्तव में ये कहानियाँ ग्रामीण मध्यवर्गीय तथा निम्न–मध्यवर्गीय स्त्रियों की जीवन स्थितियाँ है, और उनकी चेतना में हो रहे परिवर्तन की कथात्मक अभिव्यक्ति है। आकांक्षा और यथार्थ के बीच लेखक का यह संतुलन की कहानियों में जीवंतता पैदा कर सका है।

'मनबोध मउआर' कहानी के वृद्ध उस दुर्लभ पीढ़ी के आदमी है जिन्हें मुहल्ले या गाँव भर में होने वाले किसी तरह के अत्याचार या अन्याय से सख्त विरोध है। अपने पुत्रों के लाख समझाए जाने और घोर कष्टों के आमंत्रण के बावजूद उन्हें अपने किए पर कोई मलाल नहीं। वह कहते हैं– ''आप का समझते हैं कि करवइया ही दोष का भागी बनता है, देखवइया नहीं...? देखवइया का चुप्पिए से तो करवइया का मन बढ़ता है।''[10] खैर, लोक–संस्कृति की प्रकृति सदैव वही रहती है जो है। अपने भूल स्वभाव में लोक संस्कृति सदैव सामान्य बनी रहती है। मिथिलेश्वर की कहानियों में मानव जीवन के बुनियादी सरोकर प्रकट होते हैं। उनकी कहानियों का भावबोध अपने समकालीन रचनाकारों से बिल्कुल भिन्न है। उसमें इतिहास, संस्कृति, समाज और राजनीति के विविध पहलुओं पर गहराई से चिंतन है। उनकी अभिव्यक्ति में न तो भावावेश की व्याकुलता है और न बौद्धिकता की दुरूहता, बल्कि उसमें संवेदना, बुद्धि, मन और प्रज्ञा का एक समिश्रण है। वे भावों में विह्वल या आक्रोशित नहीं होते, बल्कि उसे बौद्धिक आग में तपाकर पैना और नुकीला कर प्रस्तुत करते हैं। आज की राजनीति और समाज की संरचना को समझने तथा मनुष्य के जटिल जीवन को कहानी में अभिव्यक्ति के लिए भावपक्ष, विचार–तत्व और बुद्धि–तत्व को समान रूप से महत्त्व देते है। मिथिलेश्वर की अनेक कहानियों में सामाजिक और राजनैतिक जीवन–संघर्ष की प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। राजनैतिक व्यवस्था के भ्रष्ट एवं छद्म रूप और उसमें फंसे हुए लाखों लोगों की अभिशप्त जीवन के नग्न यथार्थ को उन्होनें बारीकी से प्रस्तुत किया है।

मिथिलेश्वर ने 'सो दुविधा पारस नहिं जानत' कहानी में राजनीति का बेबाक चित्रण किया है – ''इन्द्रदेव अपने दल को विजय बनाने के लिए जगह–जगह बूथ कैप्चर करने से लेकर अनेक हत्याएँ करते हुए लोगों को आतंकित कर उनका मत हासिल करने के लिए उसने एड़ी–चोटी का पसीना एक कर दिया।''[11] इस प्रकार से इन्द्रदेव का

दल भारी बहुमत से जीत जाता है, और इन्द्रदेव जैसे गुंडे को आजादी का प्रणेता और क्रांतिकारी घोषित कर दिया जाता है। जगह–जगह उसके अभिनन्दन–समारोह का आयोजन किया जाता है। सचमुच राजनीति प्रजातंत्र की आड़ में अप्रजातान्त्रिक और अमानवीय तरीकों से स्वार्थ साधन बन गया है। दलीय राजनीति ने गाँव और शहरों सब जगह आम आदमी के जीवन में गलत तरीके से घुसपैठ कर और नकली चेहरों के बीच आम जनता विवश और अभिशप्त जीवन जी रही है। यह सब जानते हुए भी उनके अन्दर न प्रतिरोध का सामर्थ्य है और न ही कोई सार्थक उपाय ही।

'मतदाता केदार शर्मा' कहानी में मतदाता केदार शर्मा अल्प–वेतन भोगी कर्मचारी है। मतदान केन्द्र पर जाने पर पता चलता हैं कि उनका और उनके परिवार का मत डाला जा चुका है। अन्य दल के लोग आकर केदार शर्मा पर आक्रमण शुरू कर देता है, जिससे पैर की हड्डी टूट जाती है। ''केदार शर्मा सोचते हैं कि पिछले चुनावों में मतदाता के रूप में रहते हुए भी वे बच निकले थे लेकिन इस बार पकड़ में आ ही गये। पता नहीं अगली बार क्या होगा ?''12 आज जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं उसकी असलियत और भ्रष्ट चेहरा का मिथिलेश्वर बेनकाब करते हैं। लोकतंत्र की न्यायिक व्यवस्था किस तरह चतुर, चालाक और साधन–सम्पन्न लोगों के दलदल में फंसी हुई है उसे मिथिलेश्वर की कहानियों में देखा जा सकता हैं। 'माधव की बेहोशी' कहानी में माधव गीत गाकर रोजी–रोटी का जुगाड़ करता हैं। अंततः राजनीति का शिकार हो जाता हैं – ''अब अस्पताल के सामने माधव की पार्टी की गाड़ियाँ नहीं हैं। अब सिर्फ माधव की पत्नी और उसके बच्चे रोते–बिलखते उसके बेड के नीचे बैठे उसके होश में आने की प्रतिक्षा कर रहे हैं। डॉक्टरों के अनुसार कुछ पता नहीं कब होश आएगा। पन्द्रह साल बाद भी होश आ सकता है और नहीं भी आ सकता है।''[13] ग्रामीण जीवन में राजनीति की ऐसी घुसपैठ कि राजनेता ग्रामीण जनता का अपने हित में इस्तेमाल और शोषण करते हैं। प्रखर आलोचक गोपाल राय लिखते हैं – ''मिथिलेश्वर ने समाज, धर्म, राजनीति, शिक्षा आदि क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनीति, अत्याचार और कुव्यवस्था को बड़ी साफगोई से चित्रित किया था।''[14]

मिथिलेश्वर की अनेक कहानियाँ सामाजिक जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों को व्यक्त करती है। इन कहानियों में मानवीय जीवन की जटिलता और विकलता उभरकर सामने आती है। आज पूंजीवाद और बाजारवाद आम मनुष्य के जीवन शैली पर पूरी तरह हावी है। सत्ता के साथ उनका गठजोड़ आम आदमी की नियति को किस तरह दबोच लिया है, उसकी सच्चाई 'सरजू बह्म के गांव में' कहानी में साफ दिखाई पड़ती है ''गाँव का अच्छा कलमदान और बासमती चावल वे ही ले जाते हैं।..... लगहरों का शुद्ध दूध उन्हीं के लिए जाता है। लमन बटोरकर खराया हुआ शुद्ध घी वे ही ले जाते हैं। खेतों में हरी–ताजी सब्जियाँ उनके लिए ही उपजायी जाती हैं।..... गाँव के लोगों को तो जीने भर के लिए कुछ दे देते हैं वे, ताकि उनकी पसन्द की चीजें तैयार करते रहने के लिए जीवित बचे रहें। पर जब गाँव की सुन्दर लड़कियों को भी हड़पना शुरू कर दिया उन्होंने, तो अब भी चेत जाना चाहिए गाँव को ! उन्हें जानना चाहिए कि यह सुधा की शादी नहीं, खरीदारी है !''[15]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी देश की बदहाली, लूट–खसोट, दमन, शोषण जस की तस बनी रही। राजनीतिक बदलाव तो हुआ पर सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था और आम लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। समाज में उत्पीड़न, अन्याय, भ्रष्टाचार उसी तरह रहा जिससे अनेक रचनाकार अन्दर से दुखी एवं व्यथित हुए। मिथिलेश्वर ने भी इस आंतरिक पीड़ा को अपनी कहानियों में व्यक्त किया किन्तु छटपटाहट और बेचैनी के बजाय वैचारिक और बौद्धिक रूप में। समाज में यह दमन शोषण और लूटपाट का सिलसिला आज भी उसी तरह जारी है।

आज का समय और समाज संवेदन हीनता, निष्क्रिय चेतना, निजी स्वार्थ, लोभ, छल, प्रवंचना आदि के गिरत में चला रहा हैं। आम आदमी की आवाज का कोई अर्थ नहीं बचा है। हर तरफ नकली मुखौटा लगाकर शोषण, हिंसा और दुराचार का बढ़ावा मिल रहा है। लोगों को अपने मूल कर्तव्यों का बोध नहीं रहा। सरकारी व्यवस्था के नाम पर जालसाजी, झूठ, भ्रष्ट षड़यंत्र में लोग लिप्त हैं। जिससे आम लोगों का जीवन संकट ग्रस्त और असुरक्षित है।

'मोल ली हुई मुसीबत' कहानी इनका ज्वलन्त उदाहरण हैं।

अतः हम देखते हैं कि मिथिलेश्वर की कहानियों में राजनैतिक और सामाजिक विसंगतियों और विदूपताओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। वे न्याय व्यवस्था और सत्ता के भ्रष्ट और क्रूर रवैयों की बरीकी से पड़ताल करते हैं तथा समाज में आम लोगों की बदहाली, शोषण और प्रताड़ना को उजागर करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ :–

1. अग्रवाल महावीर संपादक, लोक संस्कृतिः आयाम एवं परिप्रेक्ष्य श्री प्रकाशन दुर्ग, दूसरा संस्करण : 1996 पृ.सं. 25
2. तिवारी कपिल संपादक, चौमासा पत्रिका, वर्ष –19 अंक–58 मार्च–जून 2002 मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद् भोपाल का प्रकाशन, पृ.सं. 15।
3. मिथिलेश्वर 'जमुनी' कहानी संग्रह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2010 पृ.सं. 69 ।
4. प्रसाद प्रो. कमला संपादक, वसुधा पत्रिका, अंक – 55 दिसम्बर 2002 मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के ओर से अनियतकालिक पृ.सं. 392 ।
5. मिथिलेश्वर 'एक में अनेक' कहानी संग्रह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1987 पृ.सं.09 ।
6. मिथिलेश्वर 'मिथिलेश्वर की सम्पूर्ण कहानियाँ (भाग–1)'' इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन कृष्णा नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 पृ.सं. 352 ।
7. वही.पृ.सं. 353 ।
8. मिथिलेश्वर, मिथिलेश्वर की सम्पूर्ण कहानियाँ (भाग–2) इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन कृष्णा नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण:2015 पृ.सं. 18 ।
9. वही पृ.सं. 48 ।
10. मिथिलेश्वर, मिथिलेश्वर की सम्पूर्ण कहानियाँ (भाग–3) इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन कृष्णा नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015 पृ.सं. 323 ।
11. मिथिलेश्वर, मिथिलेश्वर की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग–3 इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन– ।–71, कृष्णा नगर दिल्ली प्र.सं. 2015, पृ.सं.–142 ।
12. मिथिलेश्वर, एक में अनेक, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्र.सं. 1987, पृ.सं. 52 ।
13. मिथिलेश्वर, मिथिलेश्वर की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग–3 इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन – ।–71, कृष्णा नगर दिल्ली प्र.सं.2015, पृ.सं.–85 ।
14. गोपाल राय, हिन्दी कहानी का इतिहास, भाग–3 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली दूसरा सं.–2016, पृ.सं.–192।
15. मिथिलेश्वर, मिथिलेश्वर की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग– 3 इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन ।71, कष्णा नगर नई दिल्ली प्र.सं. 2015, पृ.सं.–341 ।

शोधार्थी

हिन्दी विभाग

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय

खैरागढ़ (छ.ग.)

●●●

छायावाद का सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी साहित्य

कुमुद रंजन मिश्र

छायावाद, हिंदी साहित्य और विशेषकर कविता से जुड़े सुधियों के लिए कोई अपरिचित शब्द नहीं है। आज एक सदी बाद जब हम छायावाद पर बात कर रहे हैं तो हमारे सामने बहुत सी ऐसी घटनाएं हैं, नये ऐतिहासिक तथ्य हैं जिनके मार्फत छायावाद और छायावादी कविता की व्याख्या की जा सकती है और की जा रही है। ज्ञान के किसी भी अनुशासन में जैसे–जैसे चीजों को देखने पर खने की नयी–नयी प्रविधियां विकसित होती जाती हैं, ज्ञान के पूर्ववर्ती स्रोतों का पुनर्मूल्यांकन उन प्रविधियों के जरिए होता रहता है। और इस तरह ज्ञान का स्वरुप कभी–कभी तो अपने पूर्ववर्ती रूप से गुणात्मक तौर पर बदल जाता है। छायावाद को इस नजरिए से भी देखा जाना चाहिए। मैं छायावाद के जिस पहलू पर अपनी बात रखना चाह रहा हूँ वह उसके सांस्कृतिक और पुनरुत्थानवादी प्रभाव से जुड़ा है।

छायावाद आधुनिक हिंदी साहित्य धारा का बहुत महत्त्वपूर्ण काव्यान्दोलन रहा है और जैसा कि हम जानते हैं कोई भी आंदोलन स्वतंत्र नहीं होता है उसके मूल में बहुत सी सहायक शक्तियां काम कर रही होती हैं। छायावादी कविता ने भी पूर्ववर्ती परिस्थितियों से आकार पाया है। छायावादी कविता के तमाम स्वर उन्हीं परिस्थितियों का परिणाम थे। छायावाद का एक स्वर, जिस पर प्रायः हम कम बातचीत करते हैं, पुनरुत्थानवादी या सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी है। इस विषय पर बातचीत करते हुए पहले हम पुनरुत्थानवाद और हिंदी का जोन व जागरण है उस पर बातचीत करते हुए फिर अपने मुख्य विषय पर आयेंगे।

भारतीय नवजागरण की घटना ठोस–ठोस 19वीं सदी की औरविशेष रूप से 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध की घटना है। भारत में इसके मुख्य तीन केंद्र रहे हैं बंगाल, महाराष्ट्र, और केरल। आप देखेंगे की बंगाल में राजा राममोहन राय 1828 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना कर चुके हैं और बाद में केशवचंद्र सेन और अन्य लोग प्रार्थना समाज, आर्यसमाज आदि की स्थापना करते हैं। महाराष्ट्र में ज्योतिबाफुले और सावित्रीबाईफुले हो चुके हैं। और केरल में अय्यंकाली होते हैं। ये तमाम लोग अपने समाज को बदलने में प्रमुख योगदान देते हैं। किंतु यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि बंगाल के नवजागरण में तथा महाराष्ट्र और केरल के नवजागरण में बुनयादी अंतर है। सीधे–सीधे कहा जाए तो महाराष्ट्र और केरल का नवजागरण व्यापक समाज सुधार से जुड़ा जिस काउद्देश्य ठोस सामाजिक परिवर्तन करना है, जबकि बंगाल का नवजागरण वर्ण विशेष की स्त्रियों की सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूलन से जुड़ा है और उसका उद्देश्य ठोस सामाजिक परिवर्तन नहीं है। भौगोलिक रूप से नजदीक होने के कारण हिंदी समाज बंगाल नवजागरण से प्रभावित है। यही कारण है कि हिंदी पट्टी में जिस नवजागरण और समाज सुधार की बात हम करते हैं वह भी ठोस सामाजिक परिवर्तन की बात नहीं करता। वह तथा कथित उच्चवर्ग की स्त्रियों के सामाजिक स्थिति के अनुकूलन की बातकरताहै। एक उदाहरण देखिये भारतेंदु 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो' शीर्षक निबंध में लिखते हैं–

"लड़कियों को भी पढ़ाइये लेकिन इस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिये कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।"

यही वजह है कि हिंदी पट्टी में नवजागरण को लेकर अब तक बहस चल रही कि वह नवजागरण है या

नवजागरण का केवल भ्रम है। वास्तव में हिंदी पट्टी में जिन–जिन घटनाओं को नवजागरण के संकेत के रूप में ग्रहण किया जा रहा था उन सब के मूल में पुनरुत्थानवाद था। यहाँ स्पष्ट करते चलें कि पुनरुत्थानवाद मध्यकालीन सामाजिक–राजनीतिक मूल्यों की वकालत करती हुई विचार–व्यवस्था है। इस पुनरुत्थानवादी चेतना को हम सामाजिक संगठनों में देख सकते हैं, भाषा में देख सकते है उस समय की घटनाओं में देख सकते हैं।

आप देखिये की 'आर्य समाज' की बात होती है भारतीय समाज की बात नहीं। यह देखना गौरतलब होगा कि "आर्य समाज" के नागरिक भारतीय समाज' के नागरिक अधिकारों के अधिकारी है या नहीं? और यह भी किनव जागरण सिर्फ आर्य समाज के लिए है या भारतीय समाज के लिए भी प्रतिबद्ध और क्रियाशील है। आप गौर करने पायेंगे कि आर्य समाज खुद को भारतीय समाज के उप–इकाई के रूपमें न प्रस्तुत करके भारतीय समाज के समानांतर इकाई के रूप में प्रस्तुत होती है और कहने की बात नहीं कि यही सारी घटनाएँ साहित्य में भी घट रहीथी इसे हम 'भारत–भारती' के इस उदाहरण से समझे –

'हम कौन थे क्या हो गए और क्या होंगे अभी'

यहाँ किस 'हम' की बात हो रही है ? क्या ये 'हम' भारतीय नागरिक हम है ? या कोई और हम है? इसका जवाब कविता के पहले पद्य में मिलेगा।

"भारत–भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती"

यहाँ हम 'आर्य' है। अब इस पंक्ति को हम ध्यान से देखेंगे तो यहाँ जो अनुपस्थित है वह अनार्य है और यह समझना भी मुश्किल नहीं है कि जो वैष्णव और शैव नहीं है, जो हिन्दू नहीं है वे सब के सब अनार्य हैं। इस तरह से सहीं–सहीं अर्थों में जो मुसलमान है वह अनार्यहै, जो ईसाई है वह अनार्य है, जो आदिवासी है वह अनार्य है और जो दलित समाज है वह अनार्य है और पुनरुत्थानवाद इन्हीं अनार्य संस्कृतियों के विरुद्ध खड़ी विचार सरणियाँ हैं।

हम सब जानते हैं कि कोई भी रचनात्मक लेखन कोई भी काव्य या साहित्यिक आंदोलन अपनी भाषा परंपरा से विछिन्न होकर नहीं खड़ा होता ऐसे में छायावादी कविता के भी आतंरिक सूत्र हिंदी कविता के किसी न किसी पूर्ववर्ती या पारंपरिक मूल्यों से अवश्य ही संबंध रखती है। यदि रहस्यवाद को हम पश्चिम या बांग्ला साहित्य के आंदोलनों से अर्जित किया हुआ मूल्य मान भी लें तब पर भी तमाम हिंदी छायावादी प्रवृत्तियां पूर्व छायावादी मूल्यों और प्रवृत्तियों को लेकर ही आगे बढ़ती है। छायावाद का पुनरुत्थानवादी चरित्र इन्हीं अर्थों में अपनी भाषा परंपरा का मूल्यात्मक निर्वहन करती है।

असल में छायावादी कविता रुपी भवन की नींव भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में डाली जा चुकी थी चाहे भाषा की बातकरें या कथ्य की। हम बारी–बारी से दोनों पर बात करेंगे। भारतेंदु युग से छायावाद तक कविता की भाषा में एक बड़ा परिवर्तन होता नजर आता है यह परिवर्तन अपने मूल में पुनरुत्थानवादी राजनीति से प्रभावित है और इस परिवर्तन को बारीकी से समझने की जरूरत है। एक तो उस समय हिंदी–उर्दू का विवाद चल रहा था। यह विचारणीय है कि कैसे लिपि का विवाद एक भाषा को दो रूपों में बाँट देताहै। कैसे मतरुकात का सिद्धांत काम कर रहा है। कैसे भाषा साफ–साफ गढ़ी जा रही है और इसमें पुनरुत्थानवाद कैसे काम कर रहा है इस उद्धरण से समझिये –

"द्वितीय उत्थान के समाप्तहोते–होते खड़ी बोली में बहुत कुछ कविता हो चुकी थी। इन 25 –30 वर्षों के भीतर वह बहुत कुछ मंजी, इसमें सन्देह नहीं, पर इतनी नहीं जीतनी उर्दूकाव्य के भीतर जाकर मंजी है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, हिंदी में खड़ी बोली के पद्य प्रवाह के लिए तीन रास्ते खोले गये–उर्दू या फारसी की बाहों का, संस्कृत के वृत्तों का और हिंदी के छंदों का। इसमें से प्रथम मार्ग का अवलंबन तो मैं नै राश्य समझता हूँ...।" (आर.र. शुक्ल 449)

द्वितीय उत्थान का तात्पर्य द्विवेदी युग से है। अब देखिये एक तरफ तो हम मान रहे हैं की उर्दू के साथ हिंदी

मंज रही है किन्तु दूसरी तरफ उसकी बाँह पकड़ना नहीं चाह रहे हैं। यहीं हमारी पुनरुत्थानवादी मानसिकता स्पष्ट होती है। चूकि उर्दू का सम्बन्ध कथित अनार्य संस्कृति से है आर्य से नहीं, इसीलिए हमें संस्कृत निष्ठ भाषा चाहिए। अब इस क्रम में छायावादी कविता की भाषा देखिये.

'हिमगिरी के उत्तुंगशिखरपरबैठशिला की शीतलछाँह' (प्रसाद 13)
कौनतुम ? संसृतिजलनिधि तीरतरंगों से फेंकीमणि एक,
कररहेनिर्जन का चुपचापप्रभा की धारा से अभिषेक' (प्रसाद 25)

'छिन्नपात्र लेकम्पितकरमें
मधु–भिक्षा की रटन अधरमें' (प्रभाकर और शाह 92)

'आज का तीक्ष्ण शर–विधृत क्षिप्रकरवेग प्रखर
शतशेलसंवरण शीलनीलनभगर्जितस्वर' (शर्मा 92)

'ऊर्ध्वचन्द्र, अधरचन्द्र,
माझमानमेघमन्द्र।
क्षण–क्षणविद्युत् प्रकाश,
गुरु गर्जन मधुरभास' (शर्मा 184)

'इंदुदीप–सेदग्ध शलभशिशु!
शुचिउलूपअबहुआबिहान' (आर.रा.शुक्ल 486)

क्या ये हमारी सामान्य बोलचाल की भाषा है ? आप छायावादी कविता को पढ़ते हुए पायेंगे कि सबसे ज्यादा इस तरह की भाषा जिसे हम संस्कृत निष्ठ और तत्सम प्रधान हिंदी कहते हैं, का प्रयोग प्रसाद के यहाँ मिलेगा और यह भी नहीं कि यह केवल कविता में हो रहा है आप प्रसाद का गद्य भी देखें या उसकी जो वाक्य संरचना, उनका जो शब्द चयन है वह पूरी तरह से तत्सम प्रधान है। प्रसाद के नाटकों और कहानियों में जो चरित्र हैं जो नायक हैं उन सब को देखिये। अब उसी के सामानांतर प्रेमचंद का गद्य देखिये कैसे लोक से मिलता–जुलता चरित्र है, लोक से मिलती–जुलती भाषा है। दूसरी तरफ छायावाद की भाषा की भाषा देखें यह हमारी बोलचाल की भाषा से बहुत अलग है। क्या छायावादी कविजन–सामान्य के लिए लिख रहे थे? हिंदी कविता में अब तक दो बड़े आंदोलन हुए हैं एक भक्ति आंदोलन दूसरा छायावाद। एक ओर भक्ति आंदोलन की काव्य–भाषा देखिये जो संस्कृत के विरोध में लोक की ओर जाती है और दूसरी ओर छायावाद की काव्य–भाषा जो लोक से उठकर शास्त्र की ओर जाती है। इस परिवर्तन के पीछे जो मानसिकता काम कर रही है उस पर भी विचार करने की जरूरत है।

हालाँकि यह बातमुझे पहले ही स्पष्ट कर देनी थी की भाषा और समाज का क्या अंतर्संबंध है खैर... भाषा जितना समाज रचती है उतना ही समाज भाषा को भी रचता है कहने का तात्पर्य यह कि भाषा और समाज एक दूसरे पर आश्रित भी हैं और एक दूसरे के पूरक भी हैं ऐसेमें एक ऐसी साहित्य भाषा जिसका समाज लगभग पूर्णतः अनुपस्थित की अवस्था में है उस भाषा को एक बहुत बड़े समाज के साहित्य का वाहक मान लेना कहीं से भी तर्कसंगत नही हो सकता। हम यदि गौर से देखें तो छायावाद की भाषा भी इसी कोटि की भाषा है, जिसका समाज मध्यकालीन मूल्यों का वाहक है और वह आधुनिक समय में भी मध्यकालीन समाज संरचना को बनाये रखने की जिद पकड़ कर बैठा है। इसे इस उदाहरण से समझें कि प्रसाद अपनी कविता 'प्रलय की छाया' में एक स्त्री के सतीत्व का जिस तरह से महिमा–मंडन करते हैं–

"पावक सरोवर में अवभृथस्नानथा
आत्म–सम्मान–यज्ञ की पूर्णाहूति
सुना–जिस दिन पद्मिनी का जल मरना
सती के पवित्र आत्मगौरव की पुण्य–गाथा
गूँज उठी भारत के कोने कोने जिस दिनय

उन्नत हुआ था भाल
महिला–महत्त्वका।" (प्रभाकर और शाह 108)

यह न केवल आधुनिक मूल्यों के खिलाफ जाता है बल्कि भारतीय नवजागरण के एक बहुत बड़े मुद्दे सती–प्रथा के विरुद्ध हुए संघर्षों को भी शर्मशार करता है जबकि मेरा मुख्य विषय छायावाद और पुनरुत्थानवाद के अंतर्संबंधो से जुड़ा है, ऐसे में 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' जैसी कविता मजबूत और स्पष्ट उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत है। यह कविता न सिर्फ स्त्री सन्दर्भ को लेकर ही मध्यकालीन मूल्यों की वाहक है बल्कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भारतीय मुस्लिमों के खिलाफ हो रहे ध्रुवीकरण को भी हवा देती है। यदि ऐसा नहीं है तो प्रसाद की वह कौन सी मजबूरी या विवशता है कि लगभग एक हजार वर्ष पहले मुगलों के आक्रमण (जिसे आगमन कहना उचित होगा) के सन्दर्भ में लोक प्रचलित कथाओं को एक हजार वर्ष बाद भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के लिए आवश्यक सामाजिक एका को तोड़ने के या फिर उसे विभक्त करके के देखने के लिए कवि मजबूर हुआ जा रहा है। इस तथ्य से मेरा इनकार नहीं है कि मुगलों के आक्रमण से तत्कालीन भारतीय समाज की स्त्रियों को भयंकर शोषण, अपमान और लैंगिक हिंसा को झेलना पड़ा किन्तु अब, जब भारत में हिन्दू–मुसलमान को एक साथ रहते हुए हजारों वर्ष बीत चुकें हैं और एक गंगा–जमुनी तहजीब विकसित हो चुकी है और तीसरी शक्ति ब्रिटिश शासन से संघर्ष का समय आन पड़ा है ऐसे में मुस्लिमों को हिन्दुओं का दुश्मन बनाना और हिन्दुओं को मुस्लिमों के खिलाफ संघर्ष के लिए उकसाने वाली कोई भी व्यवस्था प्रथमतः और अंततः पुनरुत्थानवादी होगी फिर चाहे वह छायावादी कवि, प्रसाद की कविता 'प्रलय की छाया' के कंधे पर ही चढ़ करक्यों न आये।

इन्हीं बातों को जरा और स्पष्ट रूपमें समझने के लिए न सिर्फ निराला की तरफ चलते हैं बल्कि तनिक समकालीन भारतीय राजनीति की तरफ भी चलते हैं आपको संभवतः याद होगा कि ऐतिहासिक 2014 में 'रामराज्य' की स्थापना के पूर्वभारतीय जनताको यह बहुत जोर शोर से बताया गया कि हिन्दू धर्म खतरे में है और इसे यदि न बचाया गया तो जल्द ही हिन्दू जनता पर प्रलय की छाया मंडराने लगेगी। यह भी बहुत दिलचस्प है किसन् 2015 में पुनरुत्थानवादी संगठन की पत्रिका 'चरैवेति' में छायावादी कवि निराला की कविता 'महाराज शिवाजी का पत्र' का कुछ अंश बहुत उत्साह के साथ पुनः प्रकाशित हुए उस पर एक लेख लिखा गया जिसकी पहली पंक्ति यह है–

"महाकविसूर्यकांत त्रिपाठी निराला छायावादी दौर के सबसे ओजस्वी व तेजस्वी कवि थे जिन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दूराष्ट्रवादी चेतना का निडरता और प्रखरता से उद्घोष किया।" (ज. शुक्ल 34)

और अब इस तथ्य की प्रस्तुति के बाद भी हम यदि यह नहीं समझ पा रहे हैं कि छायावाद का एक मौलिक स्वर पुनरुत्थानवाद में भी प्रकाशित होता है तो माफ करें, मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि हमारी चेतना पुनरुत्थानवादी शक्तियों की चपेट में है।

सन् 1926 में छायावादी कवि निराला लिख रहे हैं–

'कैसी चाल चलता है रण में औरंगजेब
बहुरूपी रंग बदलता ही किया
साँक लें हमारी हैं

जकड़ रहा है वह जिनमें
हिन्दुओं के पैर
हिन्दुओं के काटताहैसीस
हिन्दुओं की तलवारले' (नवल 152)

अब इस उद्धरण को यदिहम ध्यान से देखेंतो यह ऐतिहासिक 2014 के पहले जोर शोर से कहे गये वाक्य 'हिन्दू धर्म खतरे में है' या फिर 'हिन्दुओं पर अत्याचार बढ़ गया है' से जैविक रूप से भिन्न नहीं है। जैसा कि पहले ही बताया गया इस कविता के प्रथम प्रकाशन 1926 और 2015 के प्रकाशन के समयों के मध्य की समानता को समझना बहुत ही अर्थवान होगा यह दोनों ही समय न सिर्फ पुनरुत्थानवादी रहे हैं बल्कि बहुत से सन्दर्भों में प्रतिक्रियावादी भी रहे हैं। इन दोनों समयों में अचानक से महाराणा प्रताप हिन्दू जनता के नायक के रूप में प्रकट होते हैं और अचानक से ही हिन्दू जनता खतरे में भी पड़ जाती है। फिर तो हिंदी साहित्य बड़ी तत्परता से 'प्रलय की छाया' का रेखांकन भी करती है और महाराणा प्रताप को गुहार भी देती है।

छायावादी कविता जो स्वतंत्रता आंदोलन के लगभग साथ–साथ खड़ी होती है, को हिंदी–भाषा–समाज का सबसे बड़ा साहित्यिक आंदोलन मान लेना और घोषित कर देने से एक समस्या यह भी उभरकर आती है कि हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि छायावाद में हिंदी–भाषा–समाज के बहुत से सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनोंको न सिर्फ विघटित किया बल्कि जाने अनजाने उनके संभावित प्रवाह को भी बाधित किया। यह वह प्रभाव है जो उपरी तौर पर हमें दिखाई नहीं देता किन्तु इसे समझना हो तो महाराष्ट्र नवजागरण और केरल नवजागरण के साहित्यिक संदर्भों से समझ सकते हैं जहाँ कविता आंदोलन प्रगतिशील और आधुनिक मूल्यों का वाहक बन रही है। सभ्यता और समाज को नयी दिशा दे रही है न कि प्रतिक्रियावादी और पुनारात्थान्वादी शक्तियों के साथ कंधे से कन्धा मिलाकर चल रही है। निष्कर्षतः हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि छायावाद हिंदी साहित्य का महत्त्वपूर्ण काव्यान्दोलन रहा है लेकिन बकौल हजारीप्रसाद द्विवेदी एक अध्येता को न तो लोक से डरना चाहिए, न तो शास्त्र से। इसी वाक्य से साहस पाते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि आधुनिक हिंदी कविता के सबसे बड़े आंदोलन का एक मौलिक स्वर पुनरुत्थानवाद और प्रतिक्रियावाद में भी दृष्टिगोचर होता है। छायावाद के सौ साल बाद यही ठीक समय है कि हम अपने इस महत्त्वपूर्ण काव्यान्दोलन की कमियों की शिनाख्त करें और अपने साहित्य को अधिक स्वस्थ बनायें।

संदर्भ :

आचार्य रामचंद्र शुक्ल. हिंदी साहित्य का इतिहास. नई दिल्लीरू प्रकाशन संस्थान, 2014.।

नवल, (सं)नंदकिशोर.निराला रचनावली– 1. नई दिल्लीरू राजकमल प्रकाशन, 1983.।

प्रभाकर, (सं.) विष्णु औररमेशचंद्र शाह.प्रसाद रचना संचयन. नई दिल्लीरू साहित्य अकादेमी, 2015.।

प्रसाद, जयशंकर.कामायनी. वाराणसीरू विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2012.

भारतेंदु हरिश्चंद्र. "हिंदी समय" 12 अक्टूबर 2020. https:@@www-hindisamay-com/content/4725/1/

भारतेंदु– हरिश्चंद्र–निबंध–भारतवर्षोन्नति–कैसे–हो–सकती–है. बेच. 12 अक्टूबर 2020.।

मैथिलिशरण गुप्त. भारत भारती. झाँसी साहित्य–सदन प्रकाशन, 1984.।

शर्मा, (सं.) रामविलास. राग विराग. इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन, 2012.।

शुक्ल, जयराम. "सांस्कृतिक राष्ट्रवादी चेतना के प्रखर कवि शनिरालाश." चरैवेति 1 जनवरी 2015: 34।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी (ऊ.प्र.)

छत्तीसगढ़ी काव्य में गांधी

प्रो. (डॉ.) राजन यादव

गांधी के जीवन दर्शन में त्याग, तप की प्रमुखता तथा भोग और आनंद का तिरस्कार है। समीक्षकों ने गाँधीवाद को तीन भागों में विभक्त किया है–वर्णव्यवस्था ट्रस्टीशिप, और विकेंद्रीकरण। ''वर्णव्यवस्था के अंतर्गत उन्होंने पारिश्रामिक की समानता होड़ का अभाव, आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठानेवाली शिक्षण–योजन का प्रस्ताव किया। ट्रस्टीशिप के अंतर्गत आत्मविश्वास के साथ समस्त प्राणिमात्र के कल्याण के लिए कार्य करना होता है। विकेन्द्रीकरण के अंतर्गत उद्योगों का ही नहीं, राजसत्ता का भी विकेंद्रीकरण उनका अपना अभीप्सित था। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सत्य अहिंसा और सेवा, इन विशिष्ट साधनों का उपयोग आवश्यक माना गया है।''[1]

गांधीवाद के मूल स्तंभ दो हैं; सत्य और अहिंसा गांधी के अनुसार मनुष्य का जन्म धर्म की साधना के लिए होता है। उन्होंने लिखा है ''मेरा उद्देश्य धार्मिक है, किन्तु मानवता से एकाकार हुए बिना मैं धर्म पालन का मार्ग नहीं देखता। इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना है, क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्य से एकाकार होने की संभावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, इसकी सारी प्रवृत्तियाँ एक हैं। समाज और राजनीति से धर्म अलग रखा जाए, यह संभव नहीं है। मनुष्य में जो क्रियाशीलता है, वही उसका धर्म भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग होता है, उससे मेरा परिचय नहीं है।''[2]

हिन्दी साहित्य में गांधी के व्यक्तित्व कृतित्व का प्रभावी अंकन हुआ है। मुंशी प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ, कौशिक, सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा एवं जैनेन्द्र जैसे कथाकारों ने गाँधीवाद की अभिव्यक्ति की है। कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र, हरिवंश राय बच्चन, सुमित्रानंदन पंत ने गांधीवाद का गान किया है।

मोहनदास गांधी प्रस्थान के व्यक्ति हैं। महात्मा गांधी मंजिल हैं। अल्बर्ट आइंस्टीन ने सच ही लिखा था कि भावी पीढ़ियों को विश्वास ही न होगा कि इस धरती पर हाड़–मांस का कोई गांधी भी जनमा भी था। ''गुरुजी गोलवलकर ने लिखा था– ''महात्मा गांधी ने मिट्टी से सोना बनाया। साधारण लोगों में असाधारणत्व निर्माण किया।'' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ''गांधी भारतवर्ष के अनेक युगों के संचित पुण्य का मधुर फल था।'' (कल्पलता पृ. 130) स्टेफोर्ड क्रिप्स के अनुसार– ''धर्म उनका जीवन था और उनका जीवन धर्म था।''3 फ्रांसीसी मनीषी रोम्याँ रोलाँ ने महात्मा गांधी का मोहक शब्द चित्र खींचा है ''आदमी सरल शिशु जैसा है, अपने विरोधियों के साथ भी मधुर और विनयी, आंतरिकता में कहीं जरा–सी भी खोट नहीं है।.....यही हैं वे व्यक्ति, जिन्होंने तीस करोड़ जनों को जगा दिया है, कँपा दिया है ब्रिटिश साम्राज्य को और आरंभ किया मानव–राजनीति का एक ऐसा सशक्त आंदोलन, जिसकी तुलना लगभग दो हजार वर्षो के इतिहास में नहीं है।''[4]

छत्तीसगढ़ में महात्मा गांधी का प्रथम आगमन दिसम्बर सन् 1920 ई. में हुआ था। रायपुर के गांधी चौक में उनकी सभा हुई थी। 21 दिसम्बर 1920 को वे धमतरी पहुँचे। उनके छत्तीसगढ़ी प्रवास का शौर्यपूर्ण चित्रण कवि शंकर लाल सेन ने अपनी कविता 'छत्तीसगढ़ी आल्हा सुराज' में किया है–

लिखे लड़ाई धमतरी राज के जतका मोला सुरता आय।
धमतरिहा मन चटपटिहा, सन 20 में गांधी ला लाय।
गांधी के संग सौकत भैया, मोहम्मद अली विराजिन आय।

भासन काए मंतर फुँक दिन, धमतरी ल चेला लेइन बनाय।
बड़े–बड़े नेता सब आइन, जनता दरस करे हरसाय।
डटे रहिन सुराज लए बर कभू धमतरी नई पछुवाय।।[5]

गांधी जी ने छत्तीसगढ़ की दूसरी यात्रा 22 नम्बर से 26 नवम्बर 1933 में की थी। छत्तीसगढ़ के जनपदीय कवियों ने गांधी जी के सम्मोहन भाषण एवं उनके प्रभावी व्यक्तित्व का अंकन किया है। शंकर लाल सेन ने धमतरी में गांधी जी की विराट सभा और नगर के सजधज का सुन्दर चित्रण किया है–

सन उन्नीस सौ तैंतीस में धमतरी देखे बर बापुजी आय।
सबो राज के जनता उमड़िन, तिल भर जगा ना खाली जाय।
जुलुस सभा झंडा तोरन सब गली–गली, घर–घर फहराय।
का हिन्दू का मुसलमान, एक बरोबर हाथ बढ़ाय।
गांधी जी सब डहर किंजर के हरिजन पारा में बिलमाय।
फूलमाला के लेखा नइए, कौन कहाँ उन ला पहिराय।।[6]

छत्तीसगढ़ी काव्य में गांधी जी देव तुल्य चित्रित हैं। छत्तीसगढ़ी काव्य के महत्वपूर्ण पं. द्वारिका प्रसाद तिवारी 'विप्र' ने अपनी कविता 'गांधी देवता' में गांधी जी के त्याग तपस्या और उनकी अहिंसा की विश्वव्यापी शक्ति का बखान किया है–

तैं उपास कर कर के,
मौनी बन के करे तपस्या।
अंगरेजी औगुन ला मेटे,
टोरे सबो समस्या।।
साठ बछर ले धरे अहिंसा
पथरा ला पिघलाए।।
गांधी देवता बनके आए।[7]

लाखों दधीचियों के बलिदान से भारतवर्ष अंग्रेजी दासता से मुक्त हुआ। तिरंगे की आन–बान–शान के लिए मर मिटने वाले स्वातंत्र्य–समर के योद्धाओं के साथ–साथ राष्ट्रीय ध्वज का भी गान जनपदीय कवियों ने किया है। अपनी लोकधुनपरक रचना 'सुराज के सुवा गीत' में 'विप्र' जी ने राष्ट्रध्वज तिरंगा के साथ देश को आजाद कराने वाले महात्मा गांधी का भी गौरव–गान किया है–

चला दीदी देखे जाबो झण्डा तिरंगा ला
सुवा मोर पाये हे देस सुराज। सुवा मोर.....
अब तो सुतन्त्र भये तैं सुवा मोर–तोरेच है अब राज
सुवा मोर पाये हे देस सुराज। सुवा मोर.....
पर के भरोसा मा का तँय जाने रे
सुवा तोर पिंजरा रहिस संसार।
गांधी बबा तोला बाहिर लानिस
सुवा मोर तेखरेच कर परचार
सुवा मोर पाये हे देस सुराज।[8]

इस महादेश में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जैन, पारसी, बौद्ध, बहाई और अनेक धर्मावलम्बी हैं। ये सभी भारतमाता की संतान हैं। इन सभी वर्गों के लाखों दधीचियों ने आजादी के लिए कुर्बानियाँ दी थीं। अतः हमारा पुनीत कर्त्तव्य है कि अपने धर्म के साथ–साथ दूसरे धर्मों के प्रति आदर भाव व्यक्त करें। लोकतंत्र में साम्प्रदायिकता का

कोई स्थान नहीं होता। 'गांधी गोहार' कविता में पं. द्वारिका प्रसाद तिवारी 'विप्र' ने गांधी के समाज सुधार के पुनीत कार्यों का उल्लेख करते हुए हिन्दू, मुस्लिम एकता की बातें की हैं–

गांधी पारै गोहार–गांधी पारै गोहार,
हिंदू मुसलमां–माना रे।।
भाई के बेवहार–भाई के बेवहार,
दूनों बरोबर जाना रे।।[9]

हमारे पुराण, उपनिषद और दर्शन मानते हैं कि ईश्वर एक ही है और सर्वव्यापी है। सबका गंतव्य एक ही है, उस गंतव्य तक जाने के रास्ते भले ही अनेक हैं। इस मत की पुष्टि भी विभिन्न धर्मों के संतों द्वारा की जा चुकी है। इसीलिए अपनी प्रार्थना सभा में महात्मा गांधी 'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम। ईश्वर अल्लाह तेरा नाम, सबको सनमति दे भगवान' का गान करते थे। किन्तु धर्म के संकीर्ण अर्थ ग्रहण करना ही अनर्थों के कारण हैं। आज व्यक्ति मात्र धार्मिक विधि–विधान एवं पूजा–पाठ को ही अपना धर्म मानने लगा है जो मानवधर्म का एक छोटा–सा अंग मात्र है। भारत पहले से विराट चिंतन वाला देश रहा है।

आजाद भारत में गांधी जी के आचार–विचार को अपनाकर उन्हें श्रद्धा–सुमन अर्पण करें। उनके पावन संदेश घर–घर पहुँचे, जीवन में आचरित हो, तभी गांधी जी स्वर्ग में भी सुखी रहेंगे। विप्र जी 'गांधी गोहार' में देश वासियों से यही अपेक्षा करते हैं–

भारत माता के दूनों बेटा।
लड़–लड़ के झन काम ला मेंटा।।
लटपट देस सुतंत्र भये हे।
अड़बड़ दुख ला गांधी सहे हे।।
जुर मिल के अब जीया जुड़ावा,
चैन के बंसी बजाना रे।
हिंदू मुसलमां–माना रे।।[10]

भारत में सात लाख से अधिक ग्राम हैं। गाँव के विकास से देश समुन्न होगा। गांधी जी पुलिसराज नहीं, पंचायती राज चाहते थे। मजदूर–किसान की भी सत्ता में भागीदारी चाहते थे। उन्होंने स्वावलम्बी ग्राम और सबल भारत, खुश हाल भारत का सपना देखा था। गांधी जी की इन्हीं भावनाओं को 'विप्र' जी ने 'अड़हा किसान के टूरा' कविता में व्यक्त किया है–

अड़हा किसान के टूरा गा अड़हा किसान के टूरा।
हमर देस के तैं राजा अस, तोरेच हक है पूरा गा।।
गाँव के तैं खुद बनबे पंच,
फरक नइ परै एक्को रंच।
गाँव ले फेर तैं जिला में आबे।
जिला से तैं फेर दिल्ली जाबे।
राश्ट्रपिता गांधी के होही–तभे परन हर पूरा।।[11]

छत्तीसगढ़ के क्रान्तिकारी कवि कुंजबिहारीलाल चौबे ने छत्तीसगढ़ी लोकगीत 'गौरा' के धुन पर 'गांधी–गौरा गीत' की रचना की है। इस गीत में चौबे जी ने ब्रिटिश फौजी सत्ता के विरुद्ध सत्य और अहिंसा के बल पर विजय प्राप्त करने वाले महात्मा गांधी का यशोगान किया है–

उये हे आकाश में पुन्नी के चंदा ! हाँ पुन्नी के चन्दा !

अवतरे धरती में हवे गांधी देवता।
अंग्रेज डहर हवे फौज औ फटाका, हाँ फौज और फटाका,
गोला अउ बारूद कहाँ पाबे दाई।
गांधी ल हे एक सत के भरोसा, हाँ सत के भरोसा।[12]

भूपेन्द सिंह टिकरिहा 'सिन्धु' ने 'लइका मोहन बनगे आगू आँधी' आख्यानक गीत में महात्मा गांधी के जन्म से लेकर उनके महाप्रयाण तक सुखद–दुःखद प्रसंगों को विस्तार से चित्रित किया है। 88 पृष्ठों इस कृति के दस झलक में– सुमरनी, बैरिस्टर गांधी, गांधी की लंदन यात्रा, बैरिस्टर गांधी, अफ्रीका में कुली बैरिस्टर गांधी, अफ्रीका में गांधी के संघर्षमय कार्य, दक्षिण अफ्रीका में बैरिस्टर गांधी का पुनरागमन, स्वदेश में गांधी, गांधी की तीसरी अफ्रीका यात्रा, इंग्लैण्ड मार्ग से भारत प्रस्थान तथा भारत में महात्मा गांधी और स्वातंत्र्य आंदोलन का सरस चित्रण है–

सत्य अहिंसा लेके आइन, मानवता अवतारे।
बार बार मैं तोला सुमिरँव, बाबा गांधी दुलारे।।
मानवता के बने महातमा, ओढ़ चले तन खादी,
मंत्र बन गये गांधी बाबा, जमुना तट लगे समाधी।
काठियावाड़ शहर पोरबंदर, पिता करमचंद गांधी
माँ पुतली के लइका मोहन, बनगे आगू आँधी।।13

आजादी के बाद सत्ता की बंदरबाँट, जातिभेद, लालफीताशाही, भाई भतीजावाद, अलगाववाद, देश का विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों की आग में देश झुलसने लगा। देश ने गांधी को तो माना किन्तु गाँधी की नहीं माना। आजादी के बाद की जनपदीय रचनाओं में गाँधीवाद के विपरीत देश में घटित घटनाओं का, बढ़ते औद्योगीकरण और सिमटते कुटीर उद्योगों का, अशिक्षा और बेरोजगारी का चित्रण हुआ है। आजादी के बाद स्वणिम भारत का सपना, ही रहा नीजाम पर निजाम बदलते रहे पर अंजाम नहीं बदले। गाँधी जी सम्पूर्ण देश में षराबबंदी के पक्षधार थे। देश गंगाजल का अभिलाशी था किन्तु सम्पूर्ण देश मदिरा से अटलावित है। आजादी के 72 वर्शों के बाद भी आजाद भारत गाँधी के सपनों को पूरा नहीं कर सका है–

आजादी के बाद बवा के महिनत मिलगे मट्टी मा।
गंगाजल ला खोजत–खोजत, देस खुसरगे भट्ठी मा।
आजादी के उमर बता झन झंडा–आगू ठाढ़े हस,
मोला लगथे–मँय आये हँव, आजादी के छट्ठी मा।।[13]

आदर्श पंचायतीराज, सेवाभाव, राजनीति में शुचिता, स्वावलम्बन, सहकारिता, साम्प्रदायिक सद्भाव से ही देश में सुराज आयेगा। किन्तु जनपदीय कवि मुरली चन्द्राकर की पंक्तियों में–

बापू के हरियर खेती ह परिया होगे ना
राजतंत्र में आज सबे मुँह करिया होगे रे।
बेपारी अधिकारी चपके, नोट के गड्डी मुड़सरिया
दरबारी नेता मन रौंदे देश के इज्जत गोड़तरिया
पिछलग्गू चम्मच मन गजब अघोरिया होगे रे।।[14]

लाड मकाले की माँ ने उन्हें सचेत किया था कि महिमाशाली व्यक्तित्व के धनी गाँधी जी से तुम भी प्रभावित हो जाओगे, भारत की तासीर, शिक्षा–दीक्षा बदलते–बदलते तुम भी गाँधीमय हो जाओगे। प्रो0 राजन यादव ने अपनी छत्तीसगढ़ी घनाक्षरी 'मैकाले के दाई' में गाँधी के विष्वव्यापी व्यक्तित्व का चित्रण किया है–

मैंकाले के दाई कहे बेटा मेंहा सुने हववँ,
भारतीय संस्कृति के जबर प्रभाव रे।

बदले बर ठाने हवस संसो मोला लगे हवय
कलेचुप रइबे, झन चलबे कुछु दाँव रे।।
हवय एकसरुवा चर्चिल ल चमका डारे हे
इहाँ के जिनिस होले बारे गाँव गाँव रे।
बाँचे बाँचे रइबे बेटा, पर जाबे कहूँ सपेटा
लाठी अउ लंगोटी वाला हवय गाँधी नाँव रे।।[15]

लोगों में यह विष्वास था कि गाँधी की काया भले नहीं रहेंगी किन्तु उसके अनुयायी सत्य और अहिंसा के ध र्म ध्वज को फहराते रहेंगे। गाँधी के बताये राह पर चलकर देश में राम राज स्थापित करेंगे। किन्तु देश में गाँध ी की जयकार है, खादी की पोश ाक है, कथनी और फर्क है। गाँधी के विचारों को आचरित करने वालो की कमी है। मैकाले के कथन के माध्यम से प्रो0 राजन यादव ने गाँधी और खादी को जपने वालों का चित्रण किया है–

भले रइहीं गांधीवादी उपर ले पहिरहीं खादी,
छूरा चाकू गोली दगवाही बात–बात मा।
मनखे–मनखे एक कइहीं, पाछु मटियामेंट करहीं,
बोट बर झगरा ऊँचाहीं जात–जात मा।।
दिन मा रइहीं हरिचन्द्र चरित के तोपचन्द,
दागीचोर ओमन कहाहीं आधा रात मा।
अइसे गरकट्टा राजनेता बइठीं सदन मा
मँगरा के आँसू ओ बोहाहीं राजघाट मा।।[16]

जनपदीय कवियों ने बेरोजगारी, सरकारी तंत्र में व्याप्त भ्रश्टाचार, भ्रश्ट नेता और अफसरों के गठजोड़ तथा जयंती और जयकारों में सिमटे गाँधी और उनके विचार को अपनी कविता का वर्ण्य विशय बनाया है। छत्तीसगढ़ी वे क्रांतिकारी कवि हरिठाकुर ने अपनी कविता 'जय गंगान' में वर्त्तमान स्थिति का चित्र खींचा है–

करही कोन हमर कल्यान
अफसर नेता बदिन मितान।
जय गंगान।।
शि क्षा हर भिक्षा मंगवाय
दफ्तर के चक्कर कटवाय।।
जय गंगान।।
गांधी जी के जै बोलवाय
वो षासन दारु बेचवाय।।
जय गंगान।।[17]

देश में सुराज और रामराज तभी आयेगा जब धरती–पुत्रों की सत्ता में भागीदारी, हर खेत को पानी और हर हाथ को काम मिलेगा। बड़े–बड़े कल कारखाने खुलने के पहले खेती की भूमि भी संरक्षित होंगी जैसा कि छत्तीसगढ़ी के भूशण, लक्ष्मण, मस्तुरिया ने अपनी कविता 'गाँधी बाब कहे रहिस' में लिख है–

जे दिन अड़हा किसान के बेटा, पढ़लिख बनहीं बड़े–बड़े नेता
गाँव मँ सरहा–मुरहा जे दिन, रोजी–मंजूरी कमा खाही रे
गाँधी बबा कहे रहिस उही दिन राम राज आही रे....।
जे दिन मंदिर कस लगही कछेरी, थाना–बाड़ा के टुटही बेड़ी
पाछु खुले कुछु कारखाना, पहली झूमै गाँव–गाँव खेती

जे दिन रोटी–पानी–छइहाँ परे–डरे मनखे पा जाहीं रे
गाँधी बबा कटे रहिसे उही दिन राम राज आही रे।।[18]

मशीनों की धमक और बढ़ते प्रदूशण से पर्यावरण पर विकराल संकट छा रहा है। बढ़ती आबादी और षहरों में जनसंख्या का दबाव कई समस्यों को जन्म दे रहा है। इन संकटों से उबरने का एक सुगम उपाय गाँधीवाद है जिसे हम विस्मृत कर रहे हैं–

कहाँ गँवागे गांधी ? गोठ चरखा के,
कहाँ नँदागे को जनी थाथी पुरखा के ?[19]

किन्तु यह भी सत्य है कि नफरत के नफरत दूर नहीं होंगे, प्रेम से दूर होंगे। समस्याओं के भयावह चित्र खींचने से समाधान नहीं होगा, हमें आश ावादी भी होना पड़ेगा। छत्तीसगढ़ी कवियों ने महात्मा गाँधी का चित्रण अवतारी और करिष्माई व्यक्तित्व के रूप में किया है। पं. द्वारिकाप्रसाद तिवारी 'विप्र' कुंज बिहारी लाल चौबे, कोदूराम दलित, नारायण लाल परमार, भूपेन्द्र टिकरिहा 'सिन्धु', केयुरभूशण, हरि ठाकुर, जीवन यदु, डॉ. पीसीलाल यादव, मुरली चन्द्राकर, कृष्णकुमार पाटिल जैसे अनेक कवियों ने गाँधी के विचार और उनके महिमामंडित व्यक्तित्व पर रचनाएँ की हैं। कई जनपदीय कवि अब भी लिख रहे हैं और आगे भी लिखते रहेंगे। गाँधी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

भारतवर्श महात्मा गाँधी की 150वीं जयंती मना रहा है। हम सबका सद्प्रसास हो कि गाँधी नारों में, जयकारों में न सिमट जाये। हिंसक षक्तियों से मुकाबला के लिए गाँधी का ही मार्ग श्रेश्ठ है। सुख दुःख जीवन के अनिवार्य हिस्सा है। दोनों को झेलते हुए हमें स्वयं के विकास के लिए, समाज और देश के लिए सत्प्रयास करने होंगे। कथनी और करनी के बीच के अन्तर को दूर करते हुए हम गाँधी सपनों का स्वर्णिम भारत गढ़ें, आगे बढ़े जैसा कि कवि नारायण लाल 'आजादी के उमर बाढ़ही' कविता में लिखा है–

दुख ला पहिरो सुख ला ओढ़ो
उमर बाढ़ही आजादी के।
आज तिरंगा के किरिया हे
छोटे बड़े सबो भाई ला
कथनी करनी एक करो गा
उजराओ धरती माई ला
गाँव गाँव दियना कस दमके
अइसन टेक रिहिस गाँधी के।[20]

सन्दर्भ :–

1. डॉ. अमरनाथ– हिंदी आलोचना कि पारिभाशिक शब्दावली, राजकमल प्रकाश न, नई दिल्ली, चौथा छात्र संस्करण 2016, पृ. 143।
2. डॉ. अरमनाथ– हिंदी आलोचना की पारिभाशिक शब्दावली, पृ. 144।
3. वर्मा डॉ. श्याम बहादुर– बृहद् विश्व सूक्ति कोश, द्वितीय खण्ड, प्रभात प्रकाश न, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ. 806।
4. चतुर्वेदी त्रिलोकी नाथ (सम्पा.)– साहित्य अमृत, अक्टूबर 2019, रामबहादुर राय का लेख 'महात्मा गाँधी को समझें' पृ. 14।
5. सेन शंकर लाल– छत्तीसगढ़ में गाँधी जी, पृ. 78।
6. तिवारी नन्द किशोर (सम्पा.) छत्तीसगढ़ी– लोकक्षर अंक– 40, जन. फट. मार्च, 2008, विप्र रचनावली विशेंषांक, पृ. 320।

7. विप्र रचनावाली विशेशांक, पृ. 322।
8. विप्र रचनावाली विशेशांक, पृ. 316।
9. विप्र रचनावाली विशेशांक, पृ. 316।
10. विप्र रचनावाली विशेशांक, पृ. 333।
11. चौबे जी श्री अविकल कुमार– अवशेश स्व. कुंजबिहारी लाल चौबे, भाटिया बुक सोहर, दुर्ग, प्र. संस्करण 1993, पृ. 194–95।
12. सिन्धु' भूपेन्द्र सिंह टिकरिहा– लइका मोहन बनगे आगू आँधी, हिन्दी साहित्य समिति, पाटन, जि. दुर्ग, अठारहवाँ संस्करण 2013, पृ. 05 एवं 87।
13. युद जीवन– धान के कटोरा, श्री प्रकाश न, दुर्ग, छ.ग. प्रथम संस्करण 2014, पृ. 125।
14. चन्द्राकर मुरली– मुरली के धुन, लोकरंग अरजुन्दा, पृ. 70।
15. लेखक की पाण्डुलिपि से।
16. लेखक की पाण्डुलिपि से।
17. ठाकुर हरि– बानी हे अनमोल, समृद्ध प्रकाश न, कंकालीपारा, रायपुर, संस्करण 2001, पृ. 34।
18. मस्तुरिया लक्ष्मण– लोकप्रिय नवाँ छत्तीसगढ़ी गीत, हिन्दी साहित्य समिति, गुरनर, जि. दुर्ग, प्रथम संस्करण 1990, पृ. 06।
19. यादव डॉ. पीसी लाल– काम बर उरा परसाद बर पूरा, वैभव प्रकाशन, रायपुर, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 08।
20. परमार नारायण लाल– सुरुज नई मरे, महानदी प्रकाश न, सती बाजार, रायपुर, प्रथम संस्करण 1971, पृ. 12–13।

हिंदी विभाग
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़, छत्तीसगढ़ 491881

●●●

कामायनी में प्रकृति–सौन्दर्य

डॉ. सीमा कुमारी चौधरी

भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख करते हुए उसमें प्रकृति–चित्रण के तत्वों को भी एक अति आवश्यक वस्तु माना है। "कवि प्रसाद 'लीक' पर चलने वाले कवि नहीं, स्वछंद लीकों के सृजेता हैं। उनका महाकाव्य यंत्रगतिक नहीं युग के नवोन्मेषों का अनिवार्य प्रतिफलन है।"[1] 'स्वप्न' और 'संधर्ष' सर्गों को छोड़ कर 'कामायनी' का शेष समस्त अंश प्रकृति की रमणीय गोद से बंधित है; अतः प्रकृति–चित्रण उसके लिए एक अतिरिक्त वस्तु न बनकर, कथा–वस्तु की संवेदना का प्रमुख और जीवंत अंश बन गया है।

'कामायनी' में प्रकृति के आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, रहस्यात्मक, संवेदात्मक, प्रतीकात्मक आदि सभी रूपों का वर्णन मिलता है। आलम्बन रूप में 'कामयानी' में बिम्ब ग्रहण प्रणाली द्वारा प्रकृति के रमणीय एवं भयानक रूपों के संशिलष्ट चित्र प्रस्तुत किए गए हैं।

'कामायनी' में प्रकृति के जिन उपकरणों का आलम्बन रूप में चित्रण किया गया है उनमें हिमगिरी, प्रलय, प्रातः, संध्या, रात्री, कुटीर, युद्ध, नदी, मानसरोवर आदि के वर्णन विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन वर्णनों में प्रसाद ने तात्कालिक वातावरण को समग्रता और सूक्ष्मता से चित्रित करने का प्रयास किया है। 'चिन्ता' सर्ग का प्रलय वर्णन प्रकृति के भयंकर रूप का उत्कृष्ट उदाहरण हैः–

"हाहाकार हुआ क्रंदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिंगत बधिर, भीषण रव बार–बार होता था।"[2]

प्रस्तुत पंक्तियों में प्रलय के भयंकर आंधी–तूफान के कारण चारों तरफ हाहाकार मच गया। लोग त्रस्त और असहाय होकर चीख–पुकार करने लगे। प्रकृति का रूप उग्र से उग्रतर होता जा रहा था। कठोर वज्र चूर–चूर होकर गिर रहे थे, बिजलियों की कड़कड़ाहट से चारों दिशाएँ बहरी हो रही थीं।

पुनः प्रलयंकर घटाओं को उजागर करते हुए कवि कहता है कि :–

"दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज–तट के!
सघन गगन में प्रकंपन, झंझा के चलते झटके ।"[3]

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि कहता है कि प्रलयकर घटाओं को देखकर ऐसा लगता है कि मानो चारों दिशाएँ जल रही है और उनसे निकले हुए धुएँ का समूह ऊपर छाया हुआ है। हिमालय के सौन्दर्य को निहारते हुए कवि कहता है :–

"देखे मैंने वे शैल–श्रृंग
जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग
अपने जड़–गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग
अपनी समाधि में रहे सुखी, बह जाती है नदियाँ अबोध
कुछ स्वेद–बिंदु उसके लेकर, वह स्टिमिट–नयन गट शोक–क्रोध
स्थिर–मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने नन की

जो चूम चला जाता अग–जग प्रति–पग में कंपन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।"[4]

प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर प्रसाद जी ने हिमालय के सौन्दर्य को निहारते हुए कहा है कि पर्वतराज हिमालय का शिखर बर्फ–राशि से शोभित है तथा ये पर्वतराज स्वतंत्र एवं संसार का तिरस्कार करते हुए नजर आ रहे हैं, उनमें संवेदनशीलता का नितांत अभाव है। वे इस तरह तने हुए हैं मानों उन्होंने भूमण्डल का गर्व चूर कर दिया हो। उनके मौन को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वे समाधिस्थ योगी के समान भूमा के सुख में लीन हैं। पिघली हुई बर्फ के जलकण हिमालय के शरीर से निःसृत पसीने की बूँदों के सदृश प्रस्रवित होते हैं, जिन्हें लेकर भोली–भली नदियाँ बहती रहती हैं।

कामायनी में उषाकाल का चित्रण करते हुए प्रसाद ने 'आशा सर्ग' के अन्तर्गत लिखा है :–

"उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी–सी उदित हुई,
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई।"[5]

उपर्युक्त पंक्तियों में महाकाव्यकार प्रसाद ने प्रकृति–सौन्दर्य को निहारते हुए कहा है कि बाल रवि की स्वर्णिम किरणों के रूप में बाणों की वर्षा करती हुई–सी उषा मूर्तिमती विजयश्री की तरह अंतरिक्ष के प्रांगण में प्रकट होती है और दूसरी ओर, प्रलय की रात्री भी संघर्ष में परास्त होकर मानो अपनी लाज को छिपाने के लिए सिंधु के जल में छिप जाती है।

'कामायनी' में प्रकृति का उद्दीपन–रूप में कई स्थानों पर चित्रण किया गया है। किन्तु उसका श्रेष्ठ, संवेद्ध और कलात्मक रूप 'आशा' सर्ग में रात्रि–वर्णन के प्रसंग में विद्मान है। यहाँ रजनी को एक मुग्धा सुंदरी के रूप में अंकित किया गया है। सारा चित्र मानवीकृत होने के कारण और अधिक प्रभावक हो जाता है। रजनी विजन गगन में घूंघट उठा कर मुस्कुराती, ठिठकती–सी आ रही है; वह किसी को स्मृति–पथ में लाने की चेष्टा में भी लीन है; इस बेसुधपन से उस यौवना मतवाली का अंचल छुट गया है जिससे आकाश में इधर–उधर सर्वत्र तारों की मनिराशि बिखर गई है। कवि ने उसे संबोधित करके कहा है :–

"ऐसे अतुल अनंत विभव में
जाग पड़ा क्यों तिव्र विराग?
या भूली–सी खोज रही कुछ
जीवन को छाती के दाग।
मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ, स्मरण नहीं होता क्या था?"[6]

यहाँ पर रजनी का यह चित्र मनु के जीवन में उनकी अतीत प्रेम स्मृतियों को उद्दीप्त करता है।

प्रकृति का प्रतीक–रूप में प्रयोग करना– 'कामायनी' के कलापक्ष की एक महत्वपूर्ण असंख्य उदाहरण हमें मिल जाते हैं। श्रद्धा तथा इड़ा का सौन्दर्य–चित्रण एवं काम तथा लज्जा–अशरीरी पात्रों का तद्विषयक सर्गों में प्रस्तुतीकरण तो इस क्षेत्र में प्रसाद जी की प्रतिभा की महती उपलब्धियाँ हैं। उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है :–

"मधुमय वसंत जीवन–वन के, बह अंतरिक्ष की लहरों में
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में?"[7]

यहाँ 'मधुमय वसंत' यौवन की माधुर्य पूर्ण भावनाओं का प्रतीक है। 'अंतरिक्ष' हृदयाकाश का, 'लहर' तरल भावोर्मियों का, 'चुपके से' अज्ञातावस्था का और 'रजनी के पिछलों प्रहरों' से आशय विवादमयी प्रलय की स्थिति के पश्चात् से है। यहाँ सारे प्रतीक प्राकृतिक जगत से संचयित हैं और ये स्वयं अपने गुण, धर्म, प्रकृति आदि के द्वारा उपमेय (यौवन) का बोध कराने में समर्थ है।

'कामायनी' के अनेक स्थलों पर प्रकृति का दार्शनिक तथा रहस्य–रूप में भी चित्रण हुआ है। 'हे विराट्! हे विश्व देव' नामक पद में उस परमसत्ता की विश्व व्यापी शक्ति का उल्लेख भी है तथा उसके प्रति आस्था प्रकट की गई है; 'शनि का सुन्दर वह नील लोक' में सूक्ष्म रूप से स्तवन का स्वर भी विद्यमान है। 'आनंद' सर्ग में तो हिमवती पाषाणी प्रकृति लास्य–नृत्य में तिहवल होकर पूर्णतः कल्याणी और शिवमय हो जाती है। यहाँ प्राकृतिक रहस्यवाद का चरम रूप द्रष्टव्य है :–

"मांसल–सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी,
उस लास–राम में विहवल थी हँसती–सी कल्याणी।"[8]

'कामायनी' प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आधार लेकर चली है, अतएव रहस्यवाद के मूल में परमतत्व – शिव अन्वेषण तथा उनके साथ ही अभेद और आभास के संबंधों का ज्ञान कराया गया है। स्वच्छंदतावादी कवि जब कभी भी दार्शनिक चेतना का सहारा लेता है, उसकी कल्पनाशीलता अपने आराध्य के दर्शन यत्र–तत्र सर्वत्र करने लगती है; 'कामायनी' में हिमालय की हँसी का फूटना या सरिता–धारा का बह जाना किन्तु उसमें प्रतिबिम्बित ताराओं के बिम्बों का अटल रहना, चुपचाप खड़ी हुई वृक्ष–पंक्तियों का जैसे कुछ निजी बातें सुनना, रजनी का किसी को स्मरण–पथ में लाना आदि जैसे अनेक प्रकरण भी उसी एक शिवशक्ति की अनुभूति और तन्मयता की ओर संकेत करते हैं। 'आनंद' सर्ग के अंत में शिव के साथ प्रकृति तथा पुरुष की आनंद में तल्लीनता प्रत्यभिज्ञा दर्शन की भूमिका पर ही प्रस्तुत हुई है।

प्राकृतिक जगत से उदारशीलता का एक उदाहरण यहाँ पर द्रष्टव्य है :–

"ये मुद्रित कलियाँ दल में सब सौरभ बंदी कर लें,
सरस न हों मकरंद बिंदु से खुलकर, तो ये भर ले।"[9]

प्रस्तुत पंक्तियों के माध्यम से कवि प्रसाद कहते हैं कि यदि कलियाँ अपने सौरभ को बंदी बना लें, और उसे मुक्त–भाव से वितरित न करें, तो वे स्वतः ही मर जायेंगी। जीवन–विकास के लिए उदारता अति–आवश्यक है।

महाकाव्य में प्रकृति–निरूपण लोक शिक्षिका के रूप में भी किया है। कामायनी में भी प्रकृति के इस रूप को देखा जा सकता है। 'चिन्ता' सर्ग में जीवन की क्षणभंगुरता को चित्रित करने के लिए कवि ने प्रकृति का सहारा लिया है :–

"जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यस्त नील धन–माला में,
सौदामिनी–संधि–सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।"[10]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने प्रकृति के रम्य एवं भयानक रूपों की आकर्षक एवं भव्य झांकी 'कामायनी' में प्रस्तुत की है। उन्होंने प्रकृति के व्यापक रूप का चित्रण किया है जिससे हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण का मार्ग खुला हुआ है। महाकाव्य में वन, नदी, पर्वत, संध्या, उषा, प्रभात आदि का जो वर्णन आपेक्षित होता है वह सब भी 'कामायनी' में मौजूद है। प्रकृति के माध्यम से कवि ने जितना कहना चाहा आज वह सब हमारे जीवन में कहीं न कहीं वह संदेश हमें प्रेरणा एवं ज्ञान देते हैं। अतः प्रकृति के माध्यम से भी देखे तो 'कामायनी' आज भी प्रासंगिक है हमारे लिए।

सन्दर्भ–सूची

1. डॉ. खरे गणेश; युगकवि प्रसाद; पृ. 245; ग्रन्थम प्रकाशन; कानपुर–12।
2. प्रसाद जयशंकर; कामायनी; चिंता सर्ग; पृ. 14; वाणी प्रकाशन; नयी दिल्ली–110।
3. उपरिवत्; चिंता सर्ग; पृ. 14।
4. उपरिवत्; इड़ा सर्ग; पृ. 60।
5. उपरिवत्; आशा सर्ग; पृ. 17।
6. उपरिवत्; आशा सर्ग; पृ. 27।
7. उपरिवत्; काम सर्ग; पृ. 28।
8. उपरिवत्; आनंद सर्ग; पृ. 126।
9. उपरिवत्; कर्म सर्ग; पृ. 52।
10. उपरिवत्; चिंता सर्ग; पृ. 16।

पांडव नगर, दिल्ली–92

●●●

''वैदिक संस्कृति का योगदान और भारतीय संस्कृति का विकास''

उमेंद कुमार चंदेल

भारतीय संस्कृति के विकास में या उत्थान में कहे। सभी दृष्टिकोणों से वैदिक संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। भारतीय संस्कृति, वैदिककालीन संस्कृति को आधार मानती है। ''संस्कृति का मूल उद्देश्य मनुष्य के आंतरिक गुणों का विकास करना है। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से उसकी प्रतिभा और योग्यता को उजागर करना है।''[1] संस्कृति के जरिये मनुष्य जीवन के उस सत्य को पहचाने जिससे मनुष्य, मनुष्य बनता है। मनुष्य जन्म से ही संस्कृति के मूल सिद्धांतों और तत्वों को ग्रहण करता चलता है और यह सबकों वैदिक संस्कृति की देन के रूप में समझना चाहिए। धीरे–धीरे मनुष्य के प्रत्येक क्रिया–कलाप, चिंतन और अभिव्यक्ति में संस्कृति का गहरा अमिट प्रभाव पड़ता है। उसकी आत्मा संस्कृति के रंग में रंग जाती है। उसका मन मस्तिष्क अपनी संस्कृति से अगाध प्रेम करने लगता है। मनुष्य के अवचेतन तक में संस्कृति की सुगंध समा जाती है। स्वप्न और स्मृति तक में संस्कृति की ज्वाला छा जाता है।

मनुष्य प्राचीन काल से संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में निरन्तर प्रसारित करते हुए आ रहा है जो कहीं न कहीं वैदिक संस्कृति के प्रभाव को भी दर्शाती है। समाज को सुचारू रूप से संचालित करने में वैदिक संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है। वैदिककालीन संस्कृति से ही भारतीय समाज व संस्कृति वेशभूषा, रहन–सहन, खान–पान वर्णाश्रम, रीति–रिवाज, शिक्षा और नारी की सम्मान की बात को ग्रहण कर निरन्तर आगे बढ़ने का प्रयास कर रही है। ''वैदिक कालीन संस्कृति के अनुसार आर्यों का प्रमुख भोजन जौ (यव) की रोटी और दूध–दही था। आर्य जौ से परिचित थे। जौ को जाँता में पीसा जाता था और चलनी से छानकर उसकी रोटी बनाई जाती थी। जौ का सत्तू भी बनता था जो आर्यो का प्रिय भोजन था। ऋग्वेद में धान्य का भी उल्लेख है किन्तु यहाँ धान्य का अर्थ सामान्य अनाज होता है।''[2] वैदिक कालीन समाज में किस प्रकार जीवन–यापन करने के लिए विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों का उपयोग किया करते थे। सत्तु का वर्तमानकाल में भी खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग किया जा रहा है। वैदिक काल में जौ को पीसने के लिए जाँता का प्रयोग हुआ है, जो भारत के गाँवों में आज भी दृष्ट्व्य होता है। इसका विकसित रूप आज के समाज में चक्की के रूप में देखा जा सकता है। कहीं–कहीं खाद्य पदार्थो के विषय में वैदिककालीन संस्कृति और भारतीय संस्कृति का घनिष्ट संबंध देखने को मिलता है।

''ऋग्वेदीय युग में दो प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे एक अधोवस्त्र और दूसरा उत्तरीय। ये वस्त्र ऊन के बनते थे। वस्त्र जरी के काम से सुसज्जित किये जाते थे। ऋग्वेद में इस प्रकार के वस्त्र को 'पेशस्' कहा गया है।''[3] भारतीय संस्कृति में भी, वेशभूषा समय के अनुसार निरंतर परिवर्तित होता रहा है लेकिन इनका मुख्य आधार कहीं न कहीं वैदिक संस्कृति को ही मानना चाहिए। भारतीय संस्कृति में पारम्परिक वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी साहित्य का भी भारतीय संस्कृति के विकास में योगदान रहा है, प्रत्येक साहित्यकार अपने संस्कृति व समाज में प्रचलित बुराई को भांपकर, सही मार्ग दिखाने का निरन्तर प्रयास करता रहता है।

''ऋग्वेद काल में समाज को पुरूष का रूपक दिया गया है। उस समाजरूपी पुरूष के चार अंग है– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र। 'उसका मुख ब्राह्मण, भुजाएँ क्षत्रिय, जंघाएँ वैश्य और पाद को शुद्र के रूप में कल्पित किया गया।''[4] ब्राह्मण समाजरूपी पुरूष के मुखस्थानीय थे। जिस प्रकार सभी अंगों में मुख प्रधान है उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण प्रमुख थे। सामान्यतया ब्राह्मणों का कर्त्तव्य वेद पढ़ना–पढ़ाना, यज्ञ करना–कराना, योगसाधना, तप,

यम–नियमादि थे। समाज सेवा इनका मुख्य कर्त्तव्य था। ऋग्वेद में क्षत्रिय शब्द का अनेक बार उल्लेख है। क्षत्रिय के प्रमुख कार्य राष्ट्र की रक्षा करना, यज्ञानुष्ठान, दान, अध्ययन संयम एवं प्रजापालन थे। ऋग्वेद में वैश्य के लिए 'विष्' शब्द का प्रयोग है। वैश्य का कार्य सामान्यतः कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, दान यज्ञ एवं वेदाध्ययन था। शुद्र शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार उल्लिखित है। शुद्र का कार्य मुख्यतः तीनों वर्णों की सेवा करना था। छायावाद के आधार स्तंम्भों में से एक सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का वर्णाश्रम के सम्बंध में विचार दृष्टव्य होता है– ''वर्णाश्रम धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरन्तन है। स्वाधीन समाज की इससे अच्छी वर्णना हो नहीं सकती। कोई समाज इस धर्म को मानता भले ही न हो, पर वह संगठित इसी रूप से होगा। पर यह निश्चय है कि यह अधिकार सार्वभौमिक है, ऐकदेशिक, जातिगत या व्यक्तिगत नहीं।''[5] वर्तमान समय में देखा जाए तो वर्णाश्रम अभी भी है लेकिन इसका रूप परिवर्तित हो गया है। ब्राह्मण, जिसे प्रमुख माना जाता है वह आज हमें शिक्षकों एवं विद्वानों के रूप में नजर आता है जो हमारे सभ्यता एवं संस्कृति को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। क्षत्रिय के रूप में हमारे देश की रक्षा करने वाले सैनिक बंधु अपनी दायित्वों का निर्वाह प्राणों का बलिदान करके भी कर रहे हैं। 'वैश्य' के रूप में भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत पूरा मध्यमवर्ग आता है। देश की अर्थव्यवस्था की भलाई के लिए परस्पर भरसक प्रयासरत हैं। 'शुद्र' की भूमिका पूरे भारतीय संस्कृति में मजदूर वर्ग दिन–रात परिश्रम करके। खुद भूखा रहकर दूसरों की भलाई के लिए अपना जीवन निर्वाह कर रहा है।

''ऋग्वेदकाल में स्त्री शिक्षा का प्रचार था। उस समय स्त्रियाँ वेदाध्ययन करती थीं और मंत्रों की रचयिता भी थीं। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के दर्शनकत्री स्त्रियाँ थीं। घोषा नाम की ब्रह्मवादिनी ने दशममण्डल के 39 वें एवं 40 वें सूक्तों की रचना की है। इससे विदित होता है कि उन दिनों स्त्रियाँ शिक्षिता होती थी।''[6] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय स्त्रियाँ मन्त्रों की रचना करने वाली थी, स्त्रियाँ केवल मन्त्रों की रचयिता ही नहीं थी, बल्कि कविताएँ भी करती थीं, गानविद्या में कुशल होती थी, नृत्यकला भी जानती थीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को विविध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। आधुनिक भारतीय संस्कृति में भी स्त्रियों को उच्च दर्जा प्राप्त है। नारी आज विकास के किसी भी क्षेत्रों को देखा जाए वह पुरूषों से कंधे से कंधा मिलाकर निरन्तर सक्रिय भूमिका अदा कर रही है। माता को प्रथम गुरू माना जाता है जो अपने संतानों में बचपन से ही अच्छे संस्कार और संस्कृति का बीजारोपण करती है। भारतीय संस्कृति की विस्तार में स्त्रियों के योगदान को किसी भी दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता है। वैदिक संस्कृति में स्त्रियों का स्थान उच्च था और पुरूष अपने साम्राज्ञी के रूप में स्थान देता था लेकिन यह संस्कृति बीच के वर्षों में उन्नत या अवनत स्थिति को भी प्राप्त होता है। फिर आधुनिक काल में स्त्रियों को मान सम्मान मिला और समाज के दृष्टिकोण में बदलाव आया है। स्त्रियाँ जमीन से लेकर आसमान तक अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं।

समझने के लिए इन नामों का सहारा लिया जा सकता है– रानी दुर्गावती, वीरांगना अवंती बाई, मदर टेरेसा, इंदिरा गांधी, प्रतिभा पाटिल, सुमित्रा महाजन, सुषमा स्वराज, सानिया मिर्जा, सायना नेहवाल, एम.सी. मेरीकाम, पीवी सिंधु और साक्षी मलिक ये सभी नारियाँ जमीनी स्तर पर अपनी योगदान के लिए उन्हें सदा स्मरण किया जाएगा। आसमान में भी भारतीय स्त्रियों ने अपनी शक्ति दिखाई है जिसमें प्रमुखता से कल्पना चावला, नीरजा भनोद और सुनीता विलियम्स का नाम लिया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक संस्कृति की तरह भारतीय संस्कृति में भी नारियों की दशा अनुकूल है और शिक्षा का क्रम निरन्तर चल रहा है।

वैदिक संस्कृति में शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिक्षार्थी को गुरू, शिष्य परम्परा के अंतर्गत ज्ञान प्राप्त होता था। शिक्षार्थी किसी भी ऋषि को अपना गुरू मानकर उसके आश्रम में रहकर ही शिक्षा ग्रहण करते थे और एक निश्चित समय के पश्चात् घर लौटते थे। इसी समय आश्रम व्यवस्था भी प्रचलित था, जिसमें मनुष्य के जीवन को 100 वर्ष मानकर चार आश्रमों की स्थापना की गई थी, जिसमें प्रत्येक अवस्था 25–25 वर्षों में विभाजित थी।

''शैषवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयौपिणाम्।

वर्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।''[7]

प्रथम 25 वर्ष को ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था, जिसके अन्तर्गत गुरूकुल में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का कार्य करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। ब्रह्मचर्य पूरा होने के बाद गृहस्थ आश्रम प्रारंभ होता है जिसमें व्यक्ति विवाह के उपरांत गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है और समाज, संस्कृति एवं परिवार के लिए दायित्वों का निर्वाह करता है। कहा जाता है कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम का सही ढंग से पालन करता है। उसे अन्य आश्रमों को पार करने में समस्या का अनुभव कम होने लगता है। गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ आश्रम का क्रम आता है जो 50 वर्ष से लेकर 75 वर्ष तक प्रभावी रहता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अपने संपूर्ण जीवन के अनुभवों का सार तत्व भावी विरासत के रूप में अपने परिवार को प्रदान करते है। युवाओं को सही मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करते थे। इस आश्रम के बाद अंतिम आश्रम है सन्यास आश्रम जिसमें मनुष्य अपने घर परिवार को छोड़कर सन्यास धारण करके जीवन यापन करता था। (सभी आसक्तियों का त्यागकर) वैदिक संस्कृति में शिक्षा को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि बिना शिक्षा के किसी भी समाज एवं संस्कृति की उन्नति संभव नहीं है। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जी ने शिक्षा का अर्थ व्यापक रूप में बताया है– ''नयी लायी हुई मिट्टी से आप घड़े, कमोरे, नाद और दियालियाँ आदि कुछ गढ़ नहीं सकते, जब तक उस मिट्टी को तैयार न कर लें। मिट्टी तैयार हो जाने पर जो चाहे गढ़ सकते है। शिक्षा ऐसी ही मिट्टी है।''[8] इस पंक्ति को देखने से शिक्षा का महत्व स्पष्ट नजर आ रहा है। किसी बालक या बालिका को बाल्यकाल में शिक्षा प्राप्त करने हेतु किसी भी संस्था में भेजा जाता है तब वह कच्ची मिट्टी के समान ही है। जिसे शिक्षक अपने प्रयासों से कच्ची मिट्टी को किसी भी आकार में ढाल सकते है। शिक्षक को निराला जी ने कुम्हार का संज्ञा दी है। कुम्हार किस प्रकार मिट्टी से विभिन्न प्रकार के मूर्ति, दिया, मटका और गुल्लक आदि का निर्माण करता है और निर्माण करते वक्त मिट्टी को अपने सोच के अनुरूप किसी भी आकृति में ढालता है, उसी प्रकार एक शिक्षक भी चाहे तो विद्यार्थियों को किसी भी रास्ते पर ला सकता है। इसके लिए शिक्षकों को ईमानदारी पूर्वक अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने की आवश्यकता है। वैदिक संस्कृति में यही कार्य आश्रम में गुरू का होता था।

भारतीय संस्कृति की एक खासियत यह भी है कि इसमें समायोजन का गुण है जो दूसरे संस्कृतियों से अच्छाई को ग्रहण कर लेता है। जिसे निराला की पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है– ''पश्चिमी शिक्षा से हमें रोटियाँ भले ही मिल जाय पर उनसे दूर के प्रकाश की तरह संस्कृति के भीतर से जीवन को संयमित करने के लिए हमें केवल किताबी ज्ञान हासिल हुआ है, जीवन के सूक्ष्म रहस्यों और उनके सौन्दर्य का ज्ञान हमें उससे नहीं हुआ। इसलिए हमें भारतीय संस्कृति का विकास करना चाहिए। यह पश्चिमी संस्कृति को रोकने के लिए नहीं, उसे मैत्री द्वारा सहायता पहुँचाने के लिए।''[9] इस प्रकार हम कह सकते है कि भारतीय संस्कृति का मूल वैदिक संस्कृति ही है। भारतीय संस्कृति ज्यादातर क्षेत्रों में वैदिक संस्कृति को आधार मानकर विकसित संस्कृति के रूप में पूरे विश्व पटल पर उभर रही है। ''अपनी महानता और दृढ़ता के कारण पूरा ऐतिहासिक युग से लेकर अब तक यह संस्कृति विद्यमान है। मिस्त्र, मेसोपोटामिया, चीन, ईरान, यूनान की सभ्यताएँ पुरातत्व की वस्तुएँ हो गयी। पर वैदिक संस्कृति अनेक उत्थान पतनों के बावजूद आज भी लोक जीवन का अंग बनी हुई है। यह बात उसके असाधारण महत्व की उद्‌बोधक है।''[10] इस तरह वैदिक संस्कृति किसी न किसी तरह से भारतीय संस्कृति की जननी के रूप में स्पष्ट झलकती है। जिसको आधार मानकर भारतीय संस्कृति अपनी एक अलग विशेषता के कारण प्रख्यात है।

संदर्भ सूची –

1. निरगुणे बसंत– लोक संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, प्रथम संस्करण– 1996, पृष्ठ संख्या– 21।
2. द्विवेदी डॉ. पारसनाथ– वैदिक साहित्य का इतिहास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2005, पृष्ठ संख्या–69।
3. द्विवेदी डॉ.पारसनाथ– वैदिक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या–69।
4. ऋग्वेद (पुरूषसूक्त) 10/90/12।
5. द नवल नंदकिशोर (संपादक)– निराला रचनावली भाग–6, राजकमल प्रकाशन– नई दिल्ली, संस्करण 1998, पृष्ठ संख्या– 437।
6. द्विवेदी डॉ. पारसनाथ– वैदिक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या–70।
7. कालीदास ग्रंथावली– रघुवंशम् महाकाव्ये, प्रथमः सर्गः– संपादक द्विवेदी रेवाप्रसाद काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी, संस्करण 1986, पृष्ठ संख्या'146।
8. नवल नंदकिशोर (संपादक)– निराला रचनावली भाग–6, पृष्ठ संख्या– 342।
9. नवल नंदकिशोर (संपादक)– निराला रचनावली भाग–6, पृष्ठ संख्या– 457।
10. राकेश डॉ. विष्णुदत्त (संपादक)– वैदिक साहित्य संस्कृति और समाज दर्शन में संग्रहित, कृष्णदत्त वाजपेयी का लेख भारतीय संस्कृति के विवेचक सत्यव्रत जी, स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशकेन्द्र हरिद्वार, पृष्ठ संख्या– 91।

शोधार्थी

हिन्दी विभाग

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय

खैरागढ़, जिला– राजनांदगांव (छ.ग.)

●●●

India, Literature, Culture with Amitav Ghosh and Rohinton Mistry

C.P. Pramod

Amitav Ghosh and Rohinton Mistry are two of the finest novelists of India in diaspora, like Salman Rushdie and Jhumpa Lahiri. Their immense contribution to the literary field has been well recognised and they are widely acknowledged as Indian cultural ambassadors to the readers across the world. Amitav is known for his exclusive style and extensive research and travels to foreign lands for the content of his writings based on historical events. Rohinton Mistry on the other hand is a simple but realistic and sincere story teller; all his plots are rooted in Bombay and interestingly within his community and its people.

Amitav's first novel Sea of Poppies is first of his trilogy Ibis that is based on the Opium War of mid 19th century between British East India Company and China. The protagonists Deeti and Kalua come from a rural background from Bihar. Deeti is an upper caste widow and Kalua belongs to Chamaar community, the lowest caste in the village. Both escape together from the village owing to their own reasons. Kalua being a chamaar realises at one point that his life in the hands of local landlords has not worth living anymore; Deeti, though from upper caste Rajput being deceived by his brother and mother-in-law from the very first night of her marriage, finds her life in peril when she was forced to sacrifice her life by sitting on the pyre of her husband. Kalua comes as saviour at nick of the moment and rescues her life and thus they join hands together in forth coming mysterious journey of their life. (Ghosh Sea of Poppies1)

The Shadow Lines is based on many historical events like Second World War, Partition of India, Indo-Pak war of 1965 and 1971. The reader is taken over by the unnamed narrator who is highly passionate about his uncle Tridib. The plot revolves around two families. Tha'mma, narrator's grandmother, and her sister- they are born and brought up in Dhaka and as the time passes by they get married and move away from Dhaka and are into their families in different directions. Tha'mma gets married to an Engineer in Railways in Burma which was part of a British colony before partition and takes up teaching in school after her husband's death. Tha'mma's sister gets married to a Diplomat who is being posted in different countries consequently they are in contacts with many families away from India; one of them is English known as Price family living in London. (Ghosh The Shadow Lines2)

The Hungry Tide is the novel placed on the backdrop of Sundarbans. An Indo-American Scientist Piyal Roy comes to Sundarbans to study the cause of gradual extinction of Irrawaddy Dolphins found in these waters. Kanai Dutta who lives in Delhi meets her in the train on the way to visit his aunt Nilima who lives in Lusibari Island of Sundarban. Piya hires Fokir a local fisherman with his boat for her Research Project. Nilima had been living with her husband Nirmal, an idealist Marxist and teacher in local school of Lusibari for quite a long period of time. Morichjhapi Island occupied by the refugees from Bangladesh in 1971 war is the bone of contention with the State Govt. of Bengal of the time. Nirmal and Kusum, Fokir's mother are the great sympathisers for the cause of the refugees.

Kanai is not happy with the closeness of Fokir and young Piya. One day a great storm erupts in the delta region where Fokir saves Piya's life at the cost of his own. Moved by his gesture, Piya raises fund to buy a house for Moyna, Fokirs wife and sends Tutul, her son to school and also finds Environmental activists to raise the fund to make study on Irrawaddy Dolphins and names the project Fokir.(Ghosh The Hungry Tide3)

Rohinton Mistry's novel A Fine Balance portrays the tragic events in the life of four main characters in the novel, Dina Dalal, Ishwardarji, his nephew Omprakash and the young boy from the mountain village Maneck.

Dina is a young widow and astute in character, turns down her brother Nusswan's readiness to support her and proceeds herself alone. She is into a small garments manufacturing business and hires two tailors, Ishwar and Om to fulfil her assignments. Both tailors have a rural background, are simple folks not interested in city life and want to go back to their village as soon as they earn sufficient money to support themselves.

City life that too likes in Bombay is full of surprises and predictably unpredictable for marginalised gentry. The fourth character Maneck is a village lad and comes down to the city to acquire technical qualification and knowledge so that he can start his own business back in his country side village. Maneck lives with Dina as her paying guest. These are the times when Indira Gandhi PM of India imposes Emergency. She announces five point programmes to set her country in order. She lays great impetus on Population Control measures and beautification of cities, out of five. Both these programmes has great bearing on the population mainly the most ordinary in the city like slum dwellers and street beggars. Ishwardarji and Omprakash are forced to take up third profession in their short span of life - that of beggary; thanks to the Vasectomy performed on Ishwar twice and Om recklessly. (Mistry A Fine Balance4)

Such a Long Journey is novel about Gustad Nobel and his life as bank employee. He lives with his wife Dilnavaz, and three children, eldest one Sohrab, second Darius and daughter Roshan. Sohrab deserts him due to difference of opinion with his father regarding his higher education; daughter badly suffers from prolonged illness makes Gustad's life miserable. He lives in Khodada building in Bombay, majorly occupied by his own community. He has a buddy Jimmy ex-army man who suddenly disappears from the scene without any clue and later on Jimmy find himself trapped in monetary scandal, supposed to be brain child of then Prime Minister of India. His jovial friend Dinshwaji, a bank employee with him falls sick and one fine morning he dies in hospital leaving miserably torn Gustad, alone for himself. His school buddy Malcolm timely takes him to church to console his friend. The year of 1971 is the war with Pakistan and rise of Bangladesh as a sovereign country. The general life of a common man is disrupted due to political unrest and economical crisis on various fronts in a warring nation. News of Jimmy reaches Gustad who is in Delhi ailing in a hospital alone. Gustad travels to Delhi where he mourns his friend's death alone. (Mistry Such a Long Journey5)

The plot of Family Matters revolves around ailing and aged Nariman Vakeel and his family. Nariman lives with his step-children, Jal and Coomy, in an apartment of Chateau Felicity. Nariman's daughter, Roxana, is married and lives with her husband Yezad and their two children, Murad and Jehangir.

Ailing Nariman's propensity of going out for walks alone everyday makes his life terrible for the fact that twice he falls while on the walking-spree. The bed ridden Nariman makes the lives of Coomy and Jal frustrating and Coomy plans to get rid off of old man. Sick Nariman is being taken to his daughter Roxana in a already cramped flat. Roxana is happy to serve her father but both children are not. Yezad, Roxana's husband is troubled by the additional financial crunch and tries different ways to earn more but fails to succeed. (Mistry Family Matters6)

Both Amitav and Rohinton place their novels under the background of political upheavals and wars with our neighbours Pakistan and China. Amitav operates on considerably big canvass in comparison to Rohinton. Through their works they try to peep into the sufferings and wretched lives of common class people of our country, both rural and urban. Be it Amitav's Deeti and Kalua or Rohinton's Ishwar darji and Omprakash all being persecuted by the oppressive forces of the society in India.

Rohinton exhibits a great deal of political vandalism in the event of Emergency in Bombay where in the name of beautification of city, the shacks and slums are being bulldozed and cleared, showing no remorse for the poor men, women and children. Similarly, the poor people those sheltering on streets and slum area being transported against their wish and will forcibly to the remote places where a powerful political leader is going to address the masses. Finally, disastrous Family Planning campaign conducted by the political agents of the government of the day was horrible and inhuman during Emergency. No one is spared. All goes in one stroke. No voice of protest to the poor. Targeted numbers for the day to be accomplished - once, twice; old, youth, married, unmarried - all in one line for the sake of Vasectomy. It was a political agenda in the name of national agenda of Population Control. In the process Ishwardarji gets double, Omprakash aspiring for the marriage loses his

manhood, for having no post surgery care. As a result Ishwardarji's leg is being amputated due to severe infection and Omprakash bulges like balloon, thus both turn unfit for their tailoring profession and take up beggary on the streets of city. (Mistry A Fine Balance)

Amitav picks up a string from the forgotten history of Morichjhapi Island of Sundarbans is a case in point where the refugees from newly formed Bangladesh occupy it for their survival. However, Communist government of Bengal State does not approve their move and strongly appeals refugees to vacate the island as soon as possible otherwise stern action would be initiated against them because it has decided to declare Sundarbans as National Tiger Reserve. State authorities take appropriate action as the refugees do not comply with the orders. The situation turns obnoxious as the police evacuate refugees forcibly and even open fire and women and children whose food and water supply being cut off already face terrible situation. Humanity witnesses worst kind of treatment by people against people.

Both Amitav and Rohinton deal with cultural landscape in different angles in time and space. Variety and vivacity of Indian culture is well exhibited in the writing of their novels. Both have the great individual quality of presenting the kaleidoscopic social structure of our societies of different times and landscape. Juxtaposition of characters over the historical episodes is the highlight of Amitav's mastery of his pen. Rohinton keeps himself restricted to a very limited scope in comparison to Amitav, yet characters of his novels pop-up from pages and establish dialogues with the readers. The intermingling of Om and Maneck and closeness to each other in a small rented room, enjoying every moment in their own way especially when both of them clandestinely try to peep through the small hole of bathroom door while Dina bathing inside and on the other hand the wonderful rapport and relation developed between Piya and Fokir, stretches all the possible imagination reader can take it to.

Reference

1. Ghosh, Amitav. Sea of Poppies. John Murray Publisher India, 2008.
2. Ghosh, Amitav. The Shadow Lines. Penguin Random House India, 2009.
3. Ghosh, Amitav. The Hungry Tide. HarperCollins Publishers India, 2016.
4. Mistry, Rohinton. A Fine Balance. McClelland & Stewart, 1995.
5. Mistry, Rohinton. Such a Long Journey. McClelland & Stewart, 1991.
6. Mistry, Rohinton. Family Matters. McClelland & Stewart, 2001.

Research Scholar
Department of English,
Indira Kala Sangit Vishwavidyalaya, Khairagarh, Rajnandgaon, Chhattisgarh

●●●

Impact of covid 19 on higher education in Chhattisgarh, India

Dr. I D Tiwari Registrar
Anita Pandey

The impact of COVID 19 has affected entire humanity but the developing and underdeveloped nations suffered most. Apparently, it has cyclical nature of almost a century, hence not very fresh in human memory. It affected most the workforce and the institutions that train and prepare human resource for work force mainly schools, colleges, Universities and other institutions. Humanity was caught unaware and panicked nations prohibited their citizens to cross borders and institutions to cross their thresholds. Under the guidance of UGC (University Grants Commission), the apex body of Higher Educational in India, ON 19 March 2020,advised the states, including Chhattisgarh, to postpone all examinations and vacate students' hostels. The universities and colleges were closed abruptly Jeopardizing the class room, lab and other research activities.

The objective of this article is to analyse impact of Covid-19 on higher education sector of Chhattisgarh and how various emerging approaches and an alternative method of teaching and learning were experimented with during pandemic in Chhattisgarh. The study is primarily based on data available on the websites, online magazines and internet etc. This study intends to critically understand the impact of pandemic on these institutions and related issues.

Chhattisgarh is situated in the central part of India and accommodates a population of around 30 million. With 993 Universities and 39,931Colleges (Wikipedia) and 3.73 Crores enrolments of students (AISHE18-19), India claims to be one of the major players of world in education sector. This, by all standards, is a major par of 1.2 billion strength of students of globe (P.K. Jena 2020). On the other hand, Chhattisgarh accommodates 27 state and private Universities and one central University. Most of these institutions are understaffed, lack infrastructure and state of the art technology.The higher education institutions of the state follow UGC guidelines for introducing or revising the syllabus of the courses offered at graduate, Post Graduate and Ph. D. and D. Lit etc.

It is generally believed that COVID-19 emerged in Wuhan, China, at the end of 2019 and spread across the globe. The symptoms of corona virus infection, during the first wave, have been fever or chills, cough, Headache, muscle pain, loss of taste or smell etc. The first case of Corona virus in India was identified on 30 January 2020, in Thrissur, Kerala. The virus knocked at the door of Chhattisgarh on 19 March 2020 at Raipur when a woman returned from London. In the beginning, like in rest of India, Chhattisgarh also lacked testing facilities and medical paraphernalia required to meet the challenges caused by pandemic.

The 1st phase of nationwide lockdown was declared by the centre on March 25, 2020 for 21 days. It was strictly observed in Chhattisgarh like in rest of India. During1.0 phase of lockdown starting from 25 March to 31 Mayto lockdown 0.4, the educational institutions throughout the nation had no relaxation to start their educational activities. A sudden shift from off line to online mode of teaching was an uphill task for teachers and learners because both were neither accustomed nor prepared for this sudden academic shift. Due to COVID-19 pandemic higher education institutions closed their premises and countries shut their borders creating an academic chaos in Chhattisgarh. The international students of the universities of Chhattisgarh like IKSV Khairagarh got stranded due to disruption in scheduled international flights. One of the major problems that they had to face was homesickness that caused psychological problems in these students.

The declaration of Lockdown came as a heavy blow to the students who were ready to appear at their even semester or annual examinations scheduled in the month of March and April. The exams were postponed

with hope that they would be resumed after the scheduled lockdown, which was further extended to break the chain. All college and universities were closed down, and internal tests and examinations were also cancelled. Fresh dates for exams were announced and the search for viable digital mode began. Students residing in rural areas were still very much deprived of the technologies helpful in online teaching and this hampered the cause of online education. One of the problems students from remote areas of Chhattisgarh, including Bastar, faced was the unavailability of uninterrupted internet due to lack of digital infrastructure in these areas.

The lockdown increased student debt, extended the graduation timeand shattered theiracademic dreams as well as programme schedules of educational institutions. The colleges situated in the remote and tribal areas of Chhattisgarh suffered most during pandemic due to poor or no connectivity.

Objectives

The present study is focused on the following objectives:

1. To highlight the impact of Covid-19 on higher education institutions of Chhattisgarh, India during the academic year 20019-20.
2. To analyse various approachesadopted by the educational institutions of Chhattisgarh, Indiain higher education.
3. To propose some viable solutions to help improve teaching and learning during pandemic and pandemic like situations.

Methodology

Various reports of national and international agencies on Covid-19 pandemic have been collected from different authentic websites, journals and e-contents relating to its impact on higher educational system of Chhattisgarh as well as India. The researchers have used analytical method to derive conclusions.

Impact on Higher Education

Covid-19 severely affected teaching and learning activities in the universities and colleges of Chhattisgarh stateand India but some of the most impacted areas of higher education of Chhattisgarh and India are as below:

1. Hampered all educational activities-

Covid-19 compelled every sector including education to change its strategies to achieve desired targets.It slowed down economy, changed social behaviour and cultural etiquette of country including Chhattisgarh. Various educational activitieslike admission, examinations,and entrance tests for UG, PG, Ph. D. and competitive examinations scheduled by various bodies were indefinitely postponed. Entrance tests for admission in premier institutions of country for higher studies got cancelled whichcreated turmoil in the lives of millions of youths of the country.

Covid-19 had negative impacts on research too. It was not possible to visit field to collect required primary data in social sciences. In the researches of physical sciences too nothing substantial could be done due to lack of data which could be had and verified only in the labs that were closed indefinitely. The collaborative researches that are in vogue nowadays were totally disrupted because certain confidential data was not to be shared online.

Most of the universities of Chhattisgarh like GGV central university,IKSV Khairagarh and invite the prominent professors on visiting schedules for specific period under various UGC Schemes like extension lecture, visiting fellow and visiting Professor to cover specific portions of syllabi. These provisions that were considered healthy academic activities and quite rich resource of quality teaching came to a halt. The Sabbatical leave, academic leave and research leave and various fellowships could not be availed due to lockdown. Likewise, orientation Courses and Refresher Courses were organised by UGC Academic Staff Colleges online without interacting with participants in person which proved to be a fruitless academic exercise. The Collaborative researches involving various countries and the researchers working in them were forced to delay their schedules due to pandemic. The most affected were the students who looked forward for scholarships and brighter future in developed countries. The Professor and scientists also cancelled their foreign assignments due to pandemic.The other premier Academic exercises of academic exchange were either postponed or cancelled due to travel bans and advisories. The purpose of institutions of higher education to produce knowledge and to disseminate knowl-

edge was frustrated.

2. Constraints in adoption of digital technologies-

The primary challenge was how to continue teaching learning process when students, faculties and staff could no longer be physically present on the campuses. The pandemic increased dependency on internet more than ever. In relatively short time HEIs switched from classroom teaching to online teaching. Some social media platforms facilitated Group study, which has come up as one of the prominent ways of learning in recent times. The mammoth exercise of putting the education system on online mode required herculean effort and it was done on war footing. A chain of virtual campuses was erected in a stipulated period. Students and teachers began installing applications of open education platforms.Although this drive helped the institutions to digitise the system to some extent, the newly erected digital infrastructure was not enough to cater the needs. The basic apparatus required for online teaching includes a Smartphone, large amount of data, uninterrupted internet, proper space and furniture along with basic training in the software and these are still a distant dream for the students of Chhattisgarh. The socioeconomic disparity and digital inaccessibility hampered the teaching learning activities of the state. While in some countries people are agitating to include Internet as part of human rights India and states like Chhattisgarh are still struggling to provide internet to every citizen. 54.29 percent population of India avails internet facilities. By an estimate there are 718.74 million active internet users in India. (Intermat India -Wikipedia).

Covid-19 provided opportunity to adopt new digital technologies in education. It encouraged teachers and students to adopt new techniques and digital technologies. It helped them to widen their vision and they became global in their approach. Google Meet, Skype, you tube live, Face book live, WebEx etc. Became household digital commodities required in every Indian home. The teachers who were not well at using digital platforms learnt the techniques of information sharing on WhatsApp, Google drive, Telegram and Twitter etc. WhatsApp groups played an important role in creating local repository where students could check in for relevant information. All these platforms were extensively used by the students and teachers alike.

3. Assessment and awards system during Covid -19:

Exams and internal assessments were postponed or cancelled that had adverse impact on the psyche of the students. The subsequent lockdown on 29th April, 2020 (UGC notice) due to COVID-l9 pandemic, created social and psychological problems for students. Sudden postponement of the assessments directly impacted career planning and the sanctity exam was compromised, Due to unusual delay in declaration of results of the terminal exams of schools and colleges students could not apply for admission in the institutions of their choice. For the first time in history online examinations got sanctity at national level. The mandatory requirement of 80 percent attendance was compromised with UGC and state government orders. Webinars and e-conferences enhanced the technical skill and prompted students to get the scope for publishing articles in e- journals as well as online book publication. The buzz words like digital humanities, e fiction, born digital, digital archaeology, digital mining became an integral part of vocabulary of the teachers and students. The debate whether this changed method of teaching and learning will justify the degree is still on.

To save the academic Calendar the state Government devised a promotion formula under which students were promoted to higher classes and only end semester and final year students appeared in on line examination. Those who appeared at the online examination had to solve the question papers prepared before the lockdown. They were free to use all means in three hours examination that was conducted unguarded and unsupervised resembling the 'Open Book Examination system.' Students appeared at their practical examinations without attending the required hours in their laboratories. Thusthe degrees earned by examinees probably did not stand for their worth.

4.Suggested measures

1. To create platform to address social and psychological needs of students

The available digital infrastructure is not well equipped to assess the overall performance of students. The most daunting task has been to asses' different aspects of student's social and emotional needs. We will have to devise a viable and humane digital system where social and emotional needs of students can be addressed.

2. This is the right time to impart training to the teachers in organised manner through Human Resource Development Centres to strengthen their digital knowledge. The basic support system of digital infrastructure needs continuous supervision and reinforcement and this must be done by the state in a faced manner.

3. Covid friendly Syllabus

The traditional syllabus that is taught in the colleges and universities does not meet the challenges of Corona pandemic. Students' assessment may be done through online mode form quizzes and small projects(P.K. Jena 2020). Only a portion of the syllabus is covered under MCQs and short notes. We need to revise our syllabus in is such a way that about 80 percent syllabus is covered under MSQs while the 20 percent should be covered with term papers and projects. While preparing syllabus the hours of online teaching and preferred contact information should be clearly mentioned.

4. Supply of teaching material and methods of material gathering

This is the age of abundance that may be confounding for students. Students should be taught how and from where to access and retrieve required digital material for study. The text books recommended for studies in the syllabus should be available in Audio forms as well. All such audio books should be available in the database of the institutes of higher education.

5.Need to bridge Digital Divide in India

There is a noticeable digital divide in India, particularly in the Chhattisgarh where there is no digital infrastructure in remote areas of Chhattisgarh that caused huge inconvenience for the students belonging to these areas. The colleges situated in urban areas taught their students by uploading books, and reading materials on Google Classroom, e-mail, social media, and other applications. The higher education bodies need to focus on alternative or mixed methods of teaching where in certain portion of the syllabus may be taught on line because it has its own benefits in terms of feasibility and cost effectiveness. Thus, the traditional learning needs to evolve into mixed method learning that provides choices to the learners. This will help in narrowing the chasm between the rich and the poor students of the state.

6. Need to provide sufficient high-speed data for economically and socially weaker section

Although digital data in India and Chhattisgarh is cheapest in the world, the connectivity and speed, even in 4G is deplorable. It needs to be taken care of. Chhattisgarh has a large population that is socially and economically disadvantaged. Educational institutions should think of providing these sections the required digital gadgets and high speed data to enable them to use their gadgets.

5. Conclusion

The Covid- 19 taught us many lessons that will help us to deal pandemics better in future. It brought the digital literacy in forefront. It reinforced the need of better digital infrastructure to evolve a system that matches with changed needs. This study shows that India in general and Chhattisgarh in particular lacks proper training and a viable infrastructure to meet pandemic like situations. This study also shows that education sectors of smaller states like Chhattisgarh of Indian Union should invest more resources to develop state of the art digital technologies to cater the needs of students along with sharing their own valuable data and experience not only with country but with rest of the humanity.

6.Source of support -Nil

7.Reference-

- P.K.Jena, (2020)Online learning during lockdown period for Covid-19 in India. International Journal of Multidisciplinary Educational Research. 2020c; 9, 5(8):82-92
- P. K. Jen, (2020)Challenges and Opportunities created by Covid-19 for ODL: A case study of IGNOU. International Journal for Innovative Research in Multidisciplinary Filed. 2020a; 6(5):217-222.
- P. K.Jena, (2020) Impact of Pandemic COVID-19 on Education in India. Purakala. 2020b; 31(46):142-149.
- P. K,Jena (2020) Impact of Covid-19 on higher education in India International Journal of Advanced Education and Research,ISSN: 2455-5746; Volume 5; Issue 3; 2020; Page No. 77-81
- MHRD online. Online Learning Resources of MHRD.
  Retrieved on June 6, 2020 from https://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/upload

_document/Write_up_online_learning_resources.pdf.
- UGC notice (29 April, 2020). UGC Guidelines on Examinations and Academic Calendar in view of COVID-l9 Pandemic Retrieved on June 5, 2020. from https://www.ugc.ac.in/pdfnews/5369929_Letterregarding-UGC-Guidelines-on-Examinations-andAcademic-Calendar.pdf.
- Wikipedia Higher education inIndia .https://en.wikipedia.org/wiki/Higher_education_in_India.
- https://aishe.gov.in/aishe/home.
- https://www.dalitcamera.com/online-classes-duringlockdown-in-bengal.
- UGC notice (29 April, 2020). UGC Guidelines on Examinations and Academic Calendar in view of COVID-l9 Pandemic Retrieved on June 5, 2020. from https://www.ugc.ac.in/pdfnews/5369929_Letterregarding-UGC-Guidelines-on-xaminations-andAcademic-Calendar.pdf.

IKSV Khairagarh, C.G.
Assistant Professor, Kirodimal Govt.
Arts and Science college Raigarh, C.G.

●●●

The Collector's Wife: An Analysis

Dr. Mukuta Borah,

Mitra Phukan (1953-) is a translator, columnist and famous writer of Assam who writes in English. She is the author of The Collector's Wife (2005), a novel set against the Assam Agitation of the Nineteen Seventies and Eighties. The Collector's Wife was the one of the first generation novels in English written by an Assamese writer to be published by an international house. She is one of the major literary voices in English from Northeast India. She has written several books for children and won the UNICEF-CBT award for children's writing for her book Mamoni's Adventure (1986). Her other published works are Terrorist Camp Adventure (2003) and A Monsoon of Music (2011). She contributes to The Assam Tribune, the English Daily on a regular basis and is an outstanding member of the North East Writers' Forum. Mitra Phukan is also a trained classical vocalist and writes regularly on music. She lives in Guwahati of Assam.

Mitra Phukan's The Collector's Wife is about Rukmini, who is married to a District Collector of a small town called Parbatpuri of Assam. She works in a local college of the area as a part-time lecturer in English. Her life seemed to be safe outwardly because of her comfortable and secure life-style, much above the common people living in the area. The Assam students' agitation of the 1970s and the 1980s and afterwards the fully-grown insurgency had disturbed the lives of the region. Kidnappings, extortion, political turmoil, allthe fears of uncertainty are reflected in her novel The Collector's Wife. However, the normal life of Rukmini was affected after she meets Monoj, initially by chance and later by choice. Through the novel, insurgency dominates the characters and its plot and at the end, Rukmini's world is traumatized by it.

The writer begins by speaking about illegal infiltrators,

Foreign nationals, infiltrators-I tell you, the roads are full of them now a days. The main roads are full of them now a days. The main roads, I mean, not even the quieter byways. Can you imagine what the condition must be like in remote villages?

The effects of the radical reaction to the infiltration, is also mentioned here nonchalantly.

Yes, but-you know how it is. The kidnapping-you know, the abduction of the tea garden manager-it has left him with even less time than before. He has gone to meet the Minister in connection with the incident, I believe.

The conversations are always about insurgency all the time. From college common room to marriage party, it was all in the air. The following lines are from a conversation happening in Rukmini's staff room after a murder.

"Did you read about that murder up in Baghkhuli Tea Estate?" She had the eager expression of the avid rubbernecker. "They say it was the work of extremists. Don't ask me which group. The garden manager didn't give them the money they had demanded."

"Both the Manager and his wife were tied to the bedposts before being shot."

They used an A.K.47. That means this was no ordinary robbery."

There was a demand for money some days ago Five crores, I believe".

"The wife was raped before she was shot. Repeatedly. In front of her husband.

The writer talks about how an abducted person is being silenced after his release, and how he behaves differently. The ironies of the instances are clear to each and everyone but nobody dared to open their mouth because of fear.

The abduction was forgotten now. It would only be remembered, Hazily, months later when the kidnapped man would be finally released. He would emerge from captivity looking pale, thin, haggard, and sick, but would remain tight-lipped about the whole incident. He would deny that any ransom had been paid, and would insist that

he had been treated extremely well in captivity. He would however, also insist that he was unable to identify his abductors, even after all those months in captivity. He would pose with the phulam gamosa given to him by his abductors for the benefit of press photographers. This piece of woven cloth, symbol of goodwill and friendship, would sit around his neck throughout, but nobody would comment on the irony of the gift. Or perhaps, after all these kidnappings and releases, nobody would even notice the irony any more. After a few days, he would quietly pack his belongings and leave the area, perhaps even the state, since he was from North India.

The writer is seething in her criticism and scathing in her irony when she describes the various 'anti-social' units, which are responsible for the disruption of law and order in the district. Insurgent groups no longer remain an agency of protest; it is being described as an occupation.

The only people who seemed unaffected by the soaring temperatures were those whom the local newspapers, who had to be tactful in order to survive, euphemistically, called, "anti-socials". Every week, reports of fresh incidents of extortion or looting, or of gunning down unarmed citizenry, appeared in the papers. One or the other of the many terrorists, or pseudo-terrorist outfits that the district teemed with, unashamedly claimed the "credit" for these incidents within a few days. In Rukmini's mind, many of these organizations merged into each other, their identities a clone of the most successful one, MOFEH, or the Movement for an executive Homeland. Of course there were also the terrorist-out-of convenience groups, and the fake terrorists, who were little more than gangs of dacoits, thinly disguised as insurgents. They had all discovered the value of a little bit of pseudo-patriotism to silver over their antisocial intent. And many faintly delinquent youths, who, in another age, or another state, would have been content to mug and loot passerby, now jumped enthusiastically onto the insurgency bandwagon, and concentrated, with a remarkable degree of success, on armed robbery, extortion and kidnapping, as their choosen career. There were also the surrendered Ex-Ultras, youths who had officially laid down their arms before the authorities, and had been welcomed to the "mainstream" with the blessings of the Government. But it seemed that they found life in this particular mainstream dull. Occasionally, they would let off steam by indulging in acts of mayhem with the weapons that they were officially allowed to keep, for their own protection against their previous cohorts. All these groups took care to inform their victims, as well as the victim's kin, that they were from one or the other of the well known terrorist outfits, before whisking them off to remote lands, or relieving them of their valuables.

Collective memory is being shown as fickle, so much is the regularity of the cycle of violence.

With each new incident, the previous ones that had caused such furore, were all forgotten. Spine-chilling incidents of six months ago were now deem and hazy in the collective memory of Parbatpuri.

Mitra Phukan uses her novel to raise the issue of 'unabated influx of foreign nationals', seen as one of the reasons of conflict in Assam. Rukmini, the central character believes that there is a strong presence of the foreign nationals in the area and no doubt in the entire state. The security forces or the gatekeepers of the border would like to be quiet and prefer to not give attention to their entry, as they need some extra money in their pockets. She makes the reader think through the questions:

But was this issue the root of all the problems that now engulfed Parbatpuri? Rukmini often wondered about this. True, they were blamed for everything that went wrong in the state. They were convenient bogymen, the visible foreign hand that figured as the scapegoat. But was it always the illegal immigrants who were to blame for everything, from the poor quality of education to in the local schools and colleges, to the recurring floods that divested the land? From the lack of any developmental activities in the state, to the horrendous condition of roads everywhere? From the corruption that was eating at the very vitals of their society, to the lack of even basic governance in their state?

The reference of extortion and its impact on common people is also seen in the work. It does not just lead to driving away business. It actually affects the common people as the extortion amount gets into the prices of the commodities.

Rukmini noticed that, in spite of the atmosphere of tension that lay like a veil cover the town during the day, tension that turned as thick as a heavy woolen shawl at night, one or two intrepid souls had set up new outlets on M.G.Road. Business after all was business, and though shop owners and other businessmen were constantly

being harassed by MOFEH to part with whatever sums of money the organizations assumed they could cough up, most of them appeared to view these transactions with remarkable equanimity. In any cases, it was always the customer who eventually paid this extra "tax", as these "donation" were called. So, even while prices of essential commodities, indeed, of all commodities, soared in Parbatpuri, MOFEH kept insisting that theirs was a peoples' movement." And the middle-class inhabitants of Parbatpuri had to do without, or severely restrict things like meat, eggs and fruit that had formed part of their diet.

Another huge impact insurgency brings upon the common man is through the culture of strikes. The writer speaks about the terror that these strikes evoke.

Not only were the shutters down on all the shops that they passed, but not a ray of light escaped from under the doors of residences. Even streetlights had been switched off. Either the Electricity Board sympathized with MOFEH's goals, or they had buckled under MOFEH's treats. Probably the latter, for who wanted a bullet in one's back?

The writer also gives readers instants of direct violence, once when she speaks about the death of a police personnel, and again through the death of a social worker.

His security guards vanished. Ran away. His wife and children are unhurt, though in a state of shock. . . . Fleetingly, she remembered the gunning-down of a well-known social worker, an elderly Gandhian, who had been vocal in his contempt for MOFEH and its methods. He had been shot down on a street near his house at eleven in the morning just as he was returning from market. His jhola full of potatoes and onions spilled its contents all over the deserted road as pieces of freshly-cut rohu had mingled with the blood from the dead man's gunshot wounds. His blood-stained body had lain under the hot sun for over an hour, attracting flies and stray dogs, till somebody had finally informed the police and they had arrived. Nobody had even thought of informing his wife or children who lived on the next street. Though at least two dozen people had had a good look at the killers as they had got down from their Maruti and opened fire, no one had come forward to furnish a description.

The murder of the Police Chief had touched the heart of the protagonist Rukmini. When she went to the spot to meet his wife and small children she was shocked to know that, that was the 15th marriage anniversary of the couple and they were planning together to celebrate it. The impact of the death of the father, that too in front of their eyes was obviously traumatic. She talks about them and their own ways of coping with the trauma of violence.

They are coping as well as can be expected. Ratul is only seven, he hardly understands anything. He keeps crying out in sleep, though. Bhaiti barely talks. He's at that age, eleven, when boys become awkward. But it's Naina that I am really worried about. She's thirteen. Old enough to know what's what, but too young to be able to sort out her own feelings. She's always been very sensitive. And attached to her father. She's hardly cried at all after the first shock, at least not in front of me…

The novel also brings up issues as to how insurgency creeps into and disrupts the possibility of a peaceful domestic life. Talking about her husband and his insensitiveness towards his wife, Rukmini came to a realization here that because of the frustrations that his job gives him he behaves like this.

His feelings seemed to have atrophied. Perhaps it was the nature of his work that had deadened his emotions and passions. After all, who could not be affected by having to deal with the inhumanity, the tortures, the rapes, the killings, the frustrations and deep-seated disquiet all around? It was self preservation, perhaps, which had caused him to grow a protective shell around himself, a shell which now excluded even now"

Another aspect of how insurgency infiltrates the home physically can be seen in the driver of Rukmini, Anil, who was from the terrorist's group and he was appointed as a bodyguard of her by the authority. When Rukmini discovers this, the driver pleads. "After all, I was appointed as your bodyguard. I was only doing my duty. Please -Baideu-don't hold against me." Her sincere request to her driver Anil when she came to know about his actual identity, was, " Whatever you do, Anil, wherever you go----please…I know this is a lot to ask of you, but …please …don't take part in any killings."

Siddharth, the collector husband of Rukmini was ready to adopt the other man's child. His realization about death was meaningful.

Life is so cheap here. Death is everywhere. Sudden death, like Deuri's. Long-drawn-out deaths, agonizing ends, as life seeps out, drop after painful drop, through bullet holes in the body. . . . Just because life is so cheap here, just because of that, I hold that life is precious. I had thought that I-we-had been contaminated by death. Proximity to death, I kept thinking, had made us incapable of creating, nurturing, a new life.

Towards the end of the novel when Rukmini sensed something wrong in the phone calls and her friend's sudden visit, the only thing that struck her was about Manoj. Before listening to those horrific words, she protects her tummy: "Her hands encased her belly protectively. Let the words not reach inside, let her not hear..." When the news of her husband's death was delivered and the gun-men with heavy boots came to her with his dead body, she was not in a proper state. How she wished to held a woman by her side then: "If only there were women-one woman-someone who would hold her, allow her fears to engulf her. But there weren't any women here. Only gun-carrying, heavy-booted, khaki-clothed men."

Poor Rukmini's state of mind after the discovery of death of the two men of her life was different. She felt neither grief nor pain, only a strange kind of numbness. The expressions of the feelings are so intense in the book that it touches the readers deeply.

"Poor baby, she thought, her hands fluttering to the folds of sari that covered the slight bulge in her belly. Poor baby. Deprived of not one but two fathers in one go, biological and adoptive, killed at almost the same instant."

The end of the novel exposes a woman's attitude towards violence or insurgency.

Tears for her child, who would never know either of them. And tear for all the other deaths, the ones before, and the ones to follow. Tear for the boy with hardly any down on his face whose finger had pulled the trigger on both these men. Tears for the others who had been on that boat, for the ones who had died on the shores of the river, for the ones who still held Pronob Baishaya. Tear for them all, the ones who had left home and hearth in pursuit of an ideal that had turned to ashes, and for the ones whose job it was to bring them back, by force, to the confines of the world they had left. And tears for all other women who had stood over still, pale bodies, as she herself was now standing. Nandini Deuri and so many others, all coalescing into single figure of tearshrouded grief, as they looked down at the slain bodies of their husbands, their brothers, their sons, wrapped in blood-blotched sheets.

This is the consequence that most women go through in the times of conflict. It is women and children who are mostly the collateral damage.

References

1. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 6.
2. Ibid, 2005, p. 12.
3. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 25-26.
4. Ibid, 2005, p. 49.
5. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 81.
6. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 82.
7. Ibid, 2005, p. 89.
8. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 96.
9. Ibid, 2005, p. 145.
10. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 168-171.
11. Ibid,2005, p. 191.
12. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 202.
13. Ibid, 2005, p. 271-273.
14. Ibid, 2005, p. 315-316.
15. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 335.
16. Ibid, 2005, p. 335.
17. Phukan, Mitra, The Collector's Wife, 2005, p. 355.

Work Cited:

Phukan, Mitra. The Collector's Wife. New Delhi.2005.

"Hope." The Other Side of Silence. Ed. Nibedita Majumdar. New Delhi: Oxford University Press, 2009.

Assistant Professor of English,
School of Humanities and Social Sciences,
Sharda University, Greater Noida, UP

●●●

Dr. B.R. Ambedkar : A Great Educationist

Niresh kumar kurre

We are very much familiar with Dr. B.R. Ambedkar's contribution on formation of constitution of India but not with his unique ideas of Indian education system. He himself was a great teacher, scholar and renown writer. In some of his writings he expressed his views on how education plays a significant role in giving a fruitful shape to a man's personality. Dr. Ambedkar realized that illiteracy was one of the biggest evil of humanity and it could be removed by awareness and education. Lack of education breeds various social and moral ill practices like child marriage, superstition, over population and castism. The significance of education was fully understood by Dr. Ambedkar right from his childhood. It was only education which brought him name and fame across the globe. Dr. Ambedkar felt that education was the backbone of Indian society without which we could not expect a civilized society. As a profound educationist he conveyed his message of "education, organization and agitation" to Indian people basically to marginalized people and women. He urged masses to be educated to lead a dignified life.He was an eminent thinker. Education paved the way of social revolution and welfare. In his academic views he points out towards three important things.

Education to everyone
Free education
Qualitative education

Education to everyone - Dr. Baba Saheb views education as a way of socialization and development of human values. Dr. Ambedkar feels that through education we systematize our life. Education is a key to our success. Each and every citizen should be given proper education. No one should be away from temple of knowledge. By proper education a human being can develop oneself intellectually, morally, spiritually and economically. Dr. Ambedkar expresses his agony over discriminate behavior of society and academic institution in matter of providing education to people. Majority of people were not allowed to get education. He says "The Shudras and women, the two classes whose humanity was most mutilated by Brahmanism, had no power to rebel against the system".(Ambedkar. The Buddha And His Dhamma, 97).When we peep in to Indian history we find that a majority of population was kept far behind from school, college and educational institutions. They were forced to lead a miserable and despised life. Due to unavailability of education people were thrown in to dark world. Shudras and women had no right to education. Education was accessible only to upper section of society. Women even from upper caste were not allowed to join any academic institution. Due to lack of education people became handicapped, helpless and hopeless. They were living their lives with superstition and poverty. The doors of education were shut for Dalits to make them animal beast and exploit. Dr. Ambedkar told that education should be given to each and every citizen irrespective of their caste, religion and sex. By his persistence and tireless efforts he roused the consciousness of Dalits and women thus he was a great educator. Dr. Ambedkar strongly upheld women's education. Dr Baba Saheb Ambedkar also advocated establishment of hostels for students of sc, st, and obc to incline them towards education. "If you give education, to the lower strata of Indian society, which is interested in blowing up the caste system, the cast system will be blown up. At the moment the indiscriminate help given to education by the Indian Government and American Foundation is going to strengthen the caste system. Giving education to those who want to blow up caste system will improve the prospect of Democracy in India and put Democracy in safer hands." (Keer. Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission, 491). He was very much familiar with the backwardness of women in this patriarchal society.In 1948 University Grant Commission was constituted in order to identify and address the problems that come in the way of higher education. The commission was headed by great educationist Shri Radhakrishnan who later

became president of India. The commission suggested very vital recommendations for women education too. Dr. Ambedkar wanted to empower women by getting them education. He was highly inspired by Mahatma Jyotiba Phule's contribution towards encouragement of women for education. In one of his speeches Dr. Ambedkar asserts that "I measure the progress of a community by the degree of progress which women have achieved." (Keer. Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission, 352) Dr. Ambedkar says that a nation can be categorized as modern and civilized with women's education as women play a vital role in progress of the nation.

He experienced that there should be congenial atmosphere of learning at center of learning. It should be a holy place for free debate and discussion on any social, political and cultural issues. A teacher should not be biased towards any particular ideas and principles. The teacher should be morally strong. It is must for a teacher to have profound knowledge of his or her subject. A teacher should be felicitator to students and he should treat them politely. Educators must be free of all kinds of prejudices. Dr. Ambedkar himself faced caste discrimination and humiliation at every step of his life. Ambedkar were of the views that educated people can reconstruct society in to an efficient society and the medium of education should be on our mother tongue. For him school was a small unit of society.

Education should be free- It was also one of his views that education should be free of cost for everyone. India is a country where a large chunk of people live below poverty line. Dr. Ambedkar was deeply rooted in poor family. He had bitter experience of poverty and miserable life. People were not in position to think about educating their children. On contrary children in rural areas were busy in helping out their parents in agricultural and household works. Students mainly from schedule caste and schedule tribes are compelled to child labor. It is a grave crime taking place at most parts of our India due to severe poverty and lack of awareness among masses of lower section of society. They were living hand to mouth. Dr. Ambedkar wanted government to spend as much as possible to erect good infrastructure for schools and all academic institutions. Today we find that school and colleges are mushrooming in large number. They have big buildings with computers but no teachers. Today educational institution has become business point for business class people. They are not concerned at all with prime objectives of such organization. They are cheating innocent students by robbing them of their money. It is not in accordance with vision of great dreamer of a new India. Dr. Ambedkar had given the magic formula to depressed class and education was one of them. Students want to get study of medical, engineering, business, banking but they have less possibilities of reaching to this. If they take risk of buying educational loan, they are over burdened by it due to unavailability of jobs. It should be free to all.

Qualitative Education - Dr. Ambedkar emphasized on the importance of qualitative education. He said that only quality education could bring revolutionary changes in society. In article 19 of Indian constitution he ensured equal qualitative and scientific education to people. He wanted to establish and develop school and colleges for depressed and suppressed class by People's Education Society. He was not satisfied with traditional education system. He reiterated the dire need of modern education for swift progress of the nation. He did expect from new generation to develop scientific and logical outlook. He also talked about content and syllabus of school, college and university. He was of the opinion that teachers should be free in preparation of syllabus and it should feed the necessity of society. He was in support of major change in elementary and higher education. He regretted that only the Mahabharat and the Ramayan are taught to our children. With this they can not evolve new and progressive ideas. To him it was Brahmanic education system which can just give rise to inequality and prejudices. One of intellectuals puts his views on government's dismal performance towards ensuring quality education to Indian masses. He asserts "Our system of Government in India is not calculated to raise the character of those subject to it, nor is the present system of education one to do more than over-educate the few, leaving the mass of the people as ignorant as ever and still more at the mercy of the few learned; in fact, it is an extension of the demoralizing Brahmin-ridden policy, which perhaps, has more retarded the progress of civilization and improvement in India generally than anything else." (The Department of English. The Individual and Society, 4) As an educationist and thinker he advises that Great Indian social reformers, saints and poets like Kabirdas, Mahatma Jyotiba Phule who sacrificed their lives teaching life skills and critical thinking to people, should be a part of school and college syllabus. Dr. Ambedkar had strong faith in human

capability. He wanted students to be research oriented. He favored that education should be based on human and democratic value of liberty, equality and fraternity. He wanted education in a way that it should generate employment for youth. Throughout his life Ambedkar supported liberty, equality, fraternity and justice. Education provides us a new outlook which enables us to fight against all kinds of exploitation and injustice. Thus we find that Ambedkars' ideas regarding education are not only informative but also innovative.

Dr. Ambedkar was not a mere depressed class leader but a great teacher, philosopher who had vision for bright India. He organized educational institution, to bring downtrodden people out of their misery by way of empowering them with education.

"Tell the slave that he is a slave and he will revolt against his slavery." (Keer. Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission, 60) was his argument. Baba saheb Ambedkar states that due to age long hatred and condemnation from upper educated class, people from deprived class have accepted slavery and torture as their part of life. They have lost their hope. They need to be reminded of their free existence.So he started journals and educational institutions for dalits and struggled for women' equality. Dr. Ambedkar says that educated means to be able to know our rights, liability, strengths, weaknesses, friends and foe. And in this way people who are caught in vicious cycle of prejudices and superstition need to be awakened of it. He was a formidable writer. He enriched us by giving a great treasure of literature which inspires and belongs to us. He loved books much. He edited many books and journals such as 'Annihilation of Caste', 'The Buddha and his Dhamma', 'Caste in India', 'Thought on Pakistan', 'The Problem of Rupee' etc. His love for books was the love of a lover for his beloved. It is known fact that he had the biggest library of his own in Asia. In all his conferences he invoked people mainly to youth to do hard work with commitment for better academic and social result. He inspires Indian youths by saying "All great things in the world were achieved by patient industry and by undergoing toil and tribulation. One should concentrate his mind and might on his goal. Man must eat to live and should live and work for the well-being of society" (Keer. Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission, 305)

Our old tradition tells us never to challenge what elders or relatives or scriptures say. This makes most of our children blindly follow rituals, customs and religious beliefs. The necessary skills required for constructive criticism is thus not fostered. Dr. Ambedkar in his educational views gives immense space and freedom to students to put their ideas, logic and even disagreement. He confirms that it is not necessary that we should agree with the conclusion of our teacher and who recognizes this fact is the true teacher. The teachers' job is to understand the mental abilities of the students and to develop them. He should guide his students. A good teacher is the friend, philosopher and guide of his students. By following the idea of Baba Saheb we have ensured that we are not stuck with this habit. By Reading him I develop my art of critical thinking, constructively challenging beliefs, rituals, and system. This has held me in good stead in my day today life too. Recalling Ambedkar's great service to the nation in constitution making and Hindu law, Pt. Nehru, Prime Minister of India Commented "Dr. Ambedkar revolted against something which everybody should revolt against. He belonged to the category of outstanding personages". (Keer. Dr. Baba Saheb Ambedkar : Life and Mission, 517)

Works Cited-

Ambedkar, Dr. BR. The Buddha And His Dhamma. SamyakPrakashan 2016.

Keer, Dhananjay Dr.BabaSaheb Ambedkar : Life and Mission. Popular Prakashan 1971.

Sood, Vinay. Et.al. The Individual And Society. Dorling Kindersley 2006 .

Research Scholar, Departmen of English
IKSV, Khairagarh

•••

City of Djinns: A Market-Oriented Narrative of a Multilayered City

Rajarshi Kalita

To articulate the past historically does not mean to recognize the "way it really was." … it means to seize hold of a memory as it flashes up at a moment of danger (Walter Benjamin, Illuminations).

City of djinns, says Dalrymple in an interview taken by Amrita Ghosh, is like an onion, where he peels layer after layer, moving back chronologically from bureaucratic obstructions of the early 1990's right to the days when New Delhi was Indraprastha, revealing layers of history hidden in the monuments, the mansions used for commercial purposes, the eunuchs, the pigeons and the Nigambodh Ghats. Each layer is a memory, a culture, and an episode rolled into one, each leaving its way for a new culture to emerge among its ruins. Dalrymple would make us believe that the city as it is now has its birth in the partition when refugees from newly created Pakistan came to Delhi, taking over the mansions, businesses and properties left behind by refugees who immigrated to Pakistan. It marked the end of the culture of tehzeeb immortalized by Satyajit Ray in Satranz Ki Khiladi, the Kingsway was renamed Rajpath and the viceroy's lodge was transformed into the Rashtrapati Bhavan. The elegant mansions of the elite in Shahjanabad are now in ruins, rues Dalrymple, the majestic town hill is now an alcoholist's rehabilitation centre as the huge inelegant hoarding would let us know. What were the havelis or mansions of erstwhile nawabs are now a labyrinth of wholesale shops selling almost everything under the sky. But what remains are the occasional pillars or the sculptured mahogany door, or the intricate work that decorates the windows and the balconies of the present day Old Delhi. Likewise, he tries to find traces of the Raj in Lutyen's Delhi, actually devoting pages to the architect himself, trying to recapture the ideological pinning that went to the construction of what he terms as a towering building, the present day Rashtrapati Bhavan, intended to dwarf the common man, an overpowering symbol of the empire where hangs the imperious lines:

LIBERTY WILL NOT DESCEND TO A PEOPLE;
A PEOPLE MUST RAISE THEMSELVES TO LIBERTY;
IT IS A BLESSING WHICH MUST BE EARNED
BEFORE IT CAN BE ENJOYED (Dalrymple 83).

Dalrymple's view of history raises certain pertinent questions, especially regarding the insider/outsider motif keeping in view Dalrymple's nationality, the hybridity of such a multilayered society and most importantly about the layers within the layers themselves. I would like to look at the last point before moving on to the others, also keeping in mind the tendency to illuminate the forgotten aspects of the city often left behind by the movement of modernization. The anti-Sikh riots that followed the assassination of Indira Gandhi is a straightforward example. Dalrymple does not keep his representations within the boundaries of what can be called official history, but takes his readers right into the homes that lost both taxis and sons. This is the multilayered city even within the latest layer of the city's history that Dalrymple so dexterously peeled and it covers right from the licentious taxi driver to the riot victims of the Puri household to Dalrymple the inhabitant of the city himself. This is undoubtedly what we can term as hybridity that is so unique to this city. Within each layer or age of the city lurk other different layers, not necessarily cohesive with or merged within the dominant layer. Dalrymple exposes this undersurface tension, the ghosts of both the past and the present, in his episodes of his portrayal of the city. The narratives of William Fraser, or that of Norah Nicholson, the eunuchs and their havelis, the Haxby sisters, the narratives of the Professor of Persian, Dr. Jaffrey or that of the sadhus in the Nigambodh Ghats or

that of the whimsical, very Punjabi taxi-driver, Balwinder Singh, son of Punjab Singh - all of them speak of one kind of history or another hidden in the city, buried under the philistine government offices or pure neglect of the present. Yet, as the Railways Officer, Mr. Prakash, makes it clear in his office which was the erstwhile private palace of William Fraser, "You see, actually in India today no one is thinking too much about these old historical places. India is a developing country. Our people are looking to the future only" (Dalrymple 126).

Whose view is this? Is it the view of a Hindu upper-caste minority who think of themselves as the next rulers of this city? Dalrymple's interviews with different people belonging to the bygone eras seem to point at that direction. Nostalgia permeates all of his interviewees, be it nostalgia of the Raj, that of Shahjanabad or even that of the days of Indraprastha and beyond, and all of them agree that they have no place left in modern Delhi, especially post-partition. Delhi today belongs to a completely new culture of a nouveau rich, crash-materialistic set of people who poured into this city from areas that are now within Pakistan. Says Dalrymple; "Delhi, the grandest of grand old aristocratic dowagers, tended to behave like a nouveau-riche heiress; all show and vulgarity and conspicuous consumption. It was a style most unbecoming for a lady of her age and lineage; moreover it jarred with everything one knew about her sophistication and culture" (Dalrymple 44). A couple of sentences by Balwinder Singh epitomize this attitude, sentences that would have made both the "starched-upper-lip" custodians of the Raj and the polite cultured Old-Delhi citizen scurrying for cover: "Sikh people not like this. Sikh peoples working hard, earning money, buying car." And then he continues, winking at Dalrymple Sahib, "Afterwards Sikh people drinking whisky, looking television, eating Tandoori chicken and going G.B. Road" (Dalrymple 17). The ghosts of the older Delhites either have to fit into this scheme of things like the descendents of colonel James Skinner, the community of Anglo-Indians or Shamim's brother or they have to lead a life of nostalgia and alienation like Shamim the calligrapher, the Haxby sisters, Begum Hamida Sultan or Ahmed Ali, the author of the much applauded Twilight in Delhi. Dalrymple's representation of these remnants of the past is as remote to modern Delhi as are the sadhus of Nigambodh Ghat.

Why did the book sell so much, if it was speaking of cities within a city which are as good as dead? Certainly it has to do with the way the author constructs his narratives. He seldom quotes from canonical historical sources; he depends upon the voices of the ghosts from those eras. This is one important reason for the overtly nostalgic feel about this text. In one of the reviews of the book by Jan Morris and printed on the back cover of the edition I am using, this book is termed more than just a travel-book; it has the feel of a warm memoir about it. Memory and faith get precedence over proven and recorded versions of history.

However, his narrative of the era of Shahjanabad depends upon Bernier's Travels in the Mogul empire and Nicolau Manucci's Mogul India giving them precedence over what he terms as the sycophantic official court chronicles, The Shah Jehan Nama. At once, the outsider/insider motif creeps into our understanding of the text. Is Dalrymple doing the same thing as Bernier and Manucci? The narratives of the two Italians as well as that of Dalrymple in his narrative of Fraser bring out what Mary Louise Pratt calls as the "contact zones". These zones, she describes in her much acclaimed work Imperial Eyes: Travel writing and Transculturation as "the space of colonial encounters, the space in which people geographically and historically separated come into contact with each other and establish ongoing relations, usually involving condition of coercion, radical inequality, and intractable conflict. . . . A 'contact' perspective . . . treats the relations among colonizers and colonized, or travelers and 'travelees', not in terms of separateness or apartheid, but in terms of copresence, interaction, interlocking understandings and practices, often within radically asymmetrical relations of power" (Pratt 6-7). She uses the word Transculturation "to describe how subordinate groups select and invent from materials transmitted to them by a dominant or metropolitan culture" (Pratt 6). Contact zones, she feels, are determined by the extent of Transculturation. It is interesting to note that Manucci, who wrote quite an amount of bazaar gossip in his narrative, ultimately was absorbed as an artillery person within the imperial army. That way, he fulfills the requirements of Transculturation as put down by Pratt. Dalrymple' narrative about William Fraser and Sir David Ochterlony are more examples of contact zones ultimately leading to Transculturation, considering the love of both these British officials for things Indian and their professed dislike for the stiff upper lipped British officials like Charles or Thomas Metcalfe. Interestingly, Dalrymple portrays Fraser sympathetically as a more accept-

able version of the "wicked imperialist" compared to the conventional Englishman likes the likes of Ronny Heaslop of A Passage to India. Furthermore, Dalrymple's own struggle with communication and Custom officials, his interactions with his landowners, Mr. and Mrs. Puri, with Balwinder Singh as well as the myriad other people like the eunuchs or the sadhus represent that constant grappling rising out of the meeting of to completely different cultures. These instances and a close reading of the text would confirm that Dalrymple remains an outsider throughout in a contact zone, a traveler who tries to find "little bits and fragments of the way of life and ideas of each period still coexisting with the present", as he lets know in the interview with Amrita Ghosh. He wants to write about those people "who are in a sense washed up at the shores of history" without "political power or wealth", or are not "central to the life of modern city in any sense". And he makes it clear that he likes the past compared to the present when he says the following words in the interview, "Certainly in a kind of a romantic sense I think you can say without any shadow of doubt that Delhi, during its Mughal Golden Age, and even during its the 19th Century decline when it was at the peak of its Urdu poetic creativity, that this was a more creative and more artistic and in many ways more powerful city than the modern city".

Dalrymple can be criticized for what many would consider as a very partial rendering of a city which has its own brimming life, despite amorous characters like Balwinder Singh. He seems stuck in a feudal and colonial world, very conveniently glossing over the discordant notes that actually led to the destruction of these older cities. Shahjanabad with its mansions and glitter was actually a feudal society, which had to give way some day or the other, and the imperialist British, even if they might assimilate with the local populace at the beginning, was bound to pave way for Indian independence. Fraser or for that matter, Kirkpatrick of White Mughals might have been instances of Transculturation, but there is no denying the fact that they were here to spread the empire. Dalrymple actually has a word of pity for the "wicked imperialists", voiced by Iris Portal, one of the book's characters who spent her youth in colonial Delhi, "I can't forget the sacrifices made by the "wicked imperialists' over the centuries-the graves, so many very young, the friends I have had, and what good people many of them were" (Dalrymple 80). This might not be the official position of Dalrymple, but it betrays a whiff of nostalgia which freedom fighters in India, shot at, beaten and imprisoned would rather not have. Even his drawing of present-day Delhi obfuscates very important issues like a dormant form of communalism, suspicion as well as hatred for "outsiders" and acute disparity of income, even as he speaks of extravagant, loud weddings, winter smog and summer heat, Diwali and Dussehra and quirky characters like the Puri family and Balwinder Singh.

However, we cannot categorize City of Djinns completely as an ideological apparatus of the empire, like other works of travel can be and has been done. His work is a "highly complex yet a rich and rewarding way" of dealing with what Sachidananda Mohanty calls the exotic (Mohanty, xvi), and should be looked at rather from the view of the market. With this I move on to the last part of my paper, where I would try to interrogate the portrayal of Delhi in City of Djinns through the lens of marketability and selling. It explains quite a bit about Dalrymple's romantic notions of a lost past and the inexplicable absence of ugliness in a portrayal of what is primarily a polluted and overcrowded third-world city. He decides to abandon, except in very brief instances, the stereotype of Indian poverty and instead focuses on its glory - colonial, Mughal and Hindu. What he does invariably is to create an exotic aura around Delhi, hidden in the guise of mapping its history, with its pigeons, partridge fights, eunuchs, licentious taxi drivers, broken down havelis with shadows of the past still lurking in it, lonely Anglo Indian ladies who befriends cobras as pets and lets dogs loose on tax officials and of course, at least two references to weaknesses of Indian ladies towards western underwear. Another trick up his sleeve is to interpolate the exotic as well as the historical into western cultural references. The first sight of the room where he would be staying for the year to come was right out of Dickens's Great Expectations; Roshanara Begum and Jahanara Begum are the Indian Gonerill and Cordelia, the splendid architectural monuments of Delhi are comprehended through the lens of western archeology, and, Indian cultural references are often looked at humorously from a dominant western standpoint. There is a constant underflow of opposition between the European self and its designated other, used to manufacture an aura of cultural otherness. No wonder, the book turned out to be a bestseller, with sixty percent selling in England, as Dalrymple would let us know in one of his interview with Ghosh. The other forty percent can be accounted to the elite Indian, to whom, being English and speaking

English is very important; to whom, Shahjanabad is nothing but dirty streets filled with dirty street food and the riots of partition and 1984 are as distant as they are to the English readers themselves. The book is a mosaic of paintings of a forgotten city, the city uninfected by malls and B.M.W.s, an alien city to the elite, and the book has its charm just because of this affected attempt to be a part of the city of djinns, to be a part of a history forgotten by everyone. It is noteworthy here that Dalrymple's attempt to map this city comes after an decade of Raj nostalgia, after the successful television colonial soap operas like Upstairs, Downstairs and the Jewel in the Crown and after a spate of booker winners whose plots "revolved around the Raj", like The Sieze of Krishnapur, Heat and Dust, Staying On and Midnight's Children (Dalrymple 71). City of Djinns is written to fit into that mode, in a state of mind where Delhi is still about nawabs with thirteen wives, or for that matter, a couple of broken cars.

Works cited

Dalrymple, William. City of Djinns: A Year in Delhi. 1993 London: Harper Collins Publishers; New Delhi: Penguin, 2004.

Ghosh, Amrita. "Author in Focus: An Interview with William Dalrymple." Cerebration. http://www.cerebration.org/dalrymple.html.

Mohanty, Sachidananda. Introduction. "Beyond the Imperial eye." Travel Writing and the Empire: Ed. Mohanty, Sachidananda. Delhi: Katha, 2003.

Pratt, Mary Louise. Imperial Eyes: Travel Writing and Transculturation. London: Routledge, 1992.

Assistant Professor, Dept of English
Shyamlal College, University of Delhi
Shahdara, Delhi-32

●●●

Derek Walcott's Treatment of Sea and Island in Omeros.

Sarika Tiwari
Dr. Kalpana Paul

The world of literature is incomplete without the representation of nature and its objects. Derek Walcott wrote about his experiences and relationship with the nature especially with his native island St. Lucia and its surrounding sea. Where 'sea' played a significant role in his poems, 'island' was also something very close to his heart. He has presented the island as a female who is needed for the existence of life and is ornamented by the surrounding sea. Sea is presented as a career of past to the present. The wounds and scars of the colonization has also been brought into light by the poet.

Nature has attracted the artistic mind since ever. A true artist can never overlook the elements of nature rather, he tries to peep into its core and bring out something that can be called as 'sublime'. Sea, being an element of nature, has always been a significant subject of the great art works. Eminent writers across the world have presented sea in some way or the other in order to exhibit their relationships and experiences with it. Sea has been chosen by great poets of English literature such as Edmund Spenser in his Amoretti LXXV. He writes ;

One day I wrote her name upon the strand,
But came the waves and washed it away:
Again I wrote it with a second hand,
But came the tide, and made my pains his prey.
'Vain man' , said she, 'that dost in vain assay,
A mortal thing so to immortalize; (Amoretti LXXV)

He uses sea as something that can make his mortal feelings for his beloved immortal. Other poets such as the great William Shakespeare , S.T. Coleridge, John Masifield, T.S. Eliot, Philip Larkin and the most eminent name among the female authors Emily Dickinson has written some of their master pieces using 'sea' as their major theme or subject.

Derek Walcott, a poet of Caribbean origin who belongs to the scenic island St. Lucia can be called as one of the prolific English writers of foreign origin. This fact is proved by one of his greatest achievements, the Nobel Prize that he won for his poetry 'Omeros' in 1992. He as a true Caribbean author and artist reflects his attraction, love, sympathy and gratitude for both the Caribbean sea and the island.

The Caribbean Sea, for Walcott, had been the nucleus of his poetry and other art forms such as painting and play writing. One can easily trace ascendancy of sea and island in his poetry. Title of many of his poems give lucent idea about their connection with both the sea and the island. Some examples of these are Tales of the Islands, A Sea Chantey , Missing the Sea, Coral, Blues, The Estranging Sea from Another Life and several other. Omeros and Sea Grapes are two great examples of Walcott's inclination towards the history and present associated with the sea and island.

Studying Walcott is not complete if we ignore Omeros . One of the magnificent poem written by him and for the same he received The Nobel Prize in the year 1992. The poem is well versed and can be studied as a referential to the poet , his works and his literary masters. As Walcott said, "So the book is really not about a model of another poem; it is really about associations, or references, because that is what we are in the Americas: we are a culture of references, not of certainities "(Walcott 239). The poem consists of four main story lines : Philoctete and Ma Kilman, the Achille-Helen-Hector love triangle, the expatriate Plunkett with his wife Maud, and the narrator himself. It depicts the wounds and scars of all the characters and of the island itself. The key trope of the poem is wound. Almost every major character has some kind of wound or scars including the island

itself.

The island in Omeros is represented by the poet as the female, the one which is desired for the existence of life. Walcott melds together the imagery of island and woman frequently in the poem. "I saw how the surf printed its lace in patterns/on the shore of her neck, then the lowering shallows/ of silk swirled at her ankles, like surf without noise" (Omeros II/iii/8). The ornamented beauty of the island can be felt in these lines. The surf on the shore is metaphor for the threads that made a pattern of lace on the shore (neck) and the same is called the silk that covers the ankles of the island. Walcott then makes repeated attempts to represent the island as a lady. He writes; 'She lay as calm as a port' (Omeros II/iii/13), '...the island was Helen'(XIX/iii/7). Paula Burnett views that the island is symbolised as female because of many of its attributes like nurturing the individuals in a selfless manner and its beauty ornamented by the surrounding sea.

Sea, for Walcott, is something which is deep there in his mind not only as an object of nature but as the one that provides livelihood and as a carrier of past to the present. Sea is the most significant symbol of Walcott's works. It is one that forms the bridge between the two islands, their people and their cultures. Sea on one hand acts as the one who carries the past to the present generations on the other hand it also plays a vital role in creating new opportunities for the Caribbean by erasing the old traces. Walcott says 'the erasure of the idea of history. To me, there are always images of erasure in the Caribbean - in the surf which continually wipes the sand clean, in the fact that those huge clouds change so quickly'(The Paris Review). He was once interviewed by J.P. White in 1990 for Conversations with Derek Walcott where he quotes 'The strength of the sea gives you an idea of time that makes history absurd. Because history is an intrusion on that immensity. History is a very, very minor statement... an significant speck on the rim of that horizon'. (Conversations with Derek Walcott). Walcott in Omeros writes; 'Old St. Omere. He claimed he'd sailed round the world. "Monsieur Seven Seas".'(I/ii/17). Omeros ends with '...When he left the beach the sea was still going on' (LXIV/iii/33).

Derek Walcott's Omeros can be considered one of his magnificent works. In the world which is full of gloom and despair where people are not even able to find their own meaning and purpose of existence it is difficult to find life in one's surroundings but Walcott has done the same in an eloquent manner. He has expressed not only his own feelings but also has expressed the pain and loss of his native island and its surrounding sea in such a way that his readers could easily connect with his poem and its characters. This art of filling life into imagery is something in which Walcott is a master. His presentation of the beauty of the island ornamented by the sea is so pleasing that the readers could draw a lucent image of it in their imagination. The presentation of sea, on the other hand, is so efficiently done that its significance can be easily established through this poem.

Works Cited

Primary Sources

Walcott,Derek. Omeros. Farrar,Straus and Giroux,1992.

Secondary Sources

Burnett, Paula. Derek Walcott, Politics and Poetics, p. 309.

"Derek Walcott". Encyclopaedia Britannica, March 10,2018 www.britannica.com/biography/Derek-Walcott. Accessed 23 July 2018.

Greenblatt, Stephen, George Logan, Katherine E. Maus, and Barabara K. Lewalski. The Norton Anthology of British Literature: Volume B. Ninth ed. New York : W.W. Norton & Company , Inc., 2012. Print.

Hirsch, Edward. "Derek Walcott, The Art of Poetry No.37". The Paris Review. Issue101, Winter1986. www.theparisreview.org/interviews/2719/derek-walcott-the-art-of-poetry-no-37-derek-walcott. Accessed 20, Oct. 2018

Thieme, John. Derek Walcott. Manchester University Press,1990.

Walcott, Derek. 'Reflections on Omeros', p.239.

White, J.P. 1990. Conversations with Derek Walcott, p.158

Professor, Dept. of English
D.B. Girls' College Raipur (C.G.)

●●●

Anthropogenic Violation of Nature in Margaret Atwood's Cli-fi MaddAddam Trilogy

Sindhu Nair

Nature plays a vital role in everyone's life from birth till death. This might be the reason why all the prominent writers of all ages have included nature in their works showcasing the beauty and blessings given to humankind by the nature in one hand and on the other hand exposing nature as a destructive force that can ruin every merriment of man. There is mention of pandemics and epidemics in every literature that proves that outbreak of plagues and infectious diseases has always been a prodigious affair that concerned humankind. History witnessed the famous great mortalities such as Black Death, Small pox, Spanish flu, Tuberculosis etc. that has caused wrath upon the human population swiping out more than fifty percent of the population from the face of the earth. Human beings were struck with such epidemics every few decades that killed millions and millions of people. Pandemics are recurring and today we are confronted with the outbreak of a more potential, newly discovered disease caused by the novel coronavirus calledCOVID 19. This paper is an attempt to associate the ongoing pandemic to Margaret Atwood's Cli-fi MaddAddam trilogy that showcases the pre and post effect of a pandemic, where the entire human population was swiped out due to the outbreak of a virus that killed almostall human beings leaving a handful of survivors behind.

Climate Fiction, abbreviated as "Cli-fi" is one of the emerging genres of Anglophone fiction that deals with climate change. The world acclaimed works of Cli-fi writers has created a revolution across the globe. Cli-fi comprises the novels that are set in the near future in which a completely devastated world is imagined that alarms the reader of the irreversible damage upon our planet earth caused due to myriad of reasons such as wars, biological catastrophe, nuclear disasters, natural calamities, biowar, etc. The word 'Cli-fi' was first coined by Dan Bloom to promote climate science in popular consciousness but the term caught attention when Margaret Atwood promoted the term Cli-fi on Twitter addressing her MaddAddam trilogy under the genre. The MaddAddam trilogy is a series of books that commences with Oryx and Crake, interweaves through The Year of The Flood and concludes with MaddAddam.

In Oryx and Crake, Atwood introduces the readers to a post- apocalyptic era where Snowman, is the only living human supposed to be left on the planet. It is through Snowman that the plot moves in a retrospective narration where his past is revealed that he was once known as Jimmy who was the son of a scientist (genographer) engaged in biological engineering and creation of new gene- spliced species. Theseanimals like pigoons, genetically modified pigs with human stem cells used for growing human organs for transplantation, rabbits that glow in dark, lion crossed with lambs called liobams, skunk crossed with raccoon called rakunks,genetically modified sheep called Mo'hairs that grow human hair on their body, wolvogs, cross between wolf and dog etc were the genetically engineered animals that the scientists created in their laboratories which could prove to be very dangerous for human if they let them loose in the open so they were kept under tight security blocks. This book also tells us the tale of the increasing greed of the corporate powers like OrganInc Farms, Healthwyzer, RejoovenEsense, that arepharmaceutical companies exercising their power on the world by producing medicines that were alluring as well as contagious.These companies first created illness and let it spread in the communities, then they provided cure for the illness caused by the pills produced and distributed by them and thus earned more profit. Jimmy's friend Crake, who is also a scientist, is portrayed as a genius whose depressive outlook onto the world drives him into the creation of genetically modified creatures called "Crakers" (humanoids having the characteristics of both human beings and animals) and Blysspluss, a pill that contained a deadly virus

in it. Blysspluss played its part in the doom of the human civilization by infecting the entire human race in the novel. Snowman, the only human survivor at the end of the novel adapts himself to the unprecedented situation in a way that he has never done before. This is how climate fiction reframes the situation by accepting change as a fundamental aspect of being alive.

Atwood's second book of the series, The Year of The Flood introduces other characters Toby and Ren who havesurvived the pandemic. They belonged to a religious sect called the God's Gardener. This cult was like a monastery. Adam one, who is the founder of the so called religious groupprognosticated the waterless flood that would be caused by human error, inducing the uncontrollable scientific innovations into the world. His principles were based on Christian scripture and he focused on sustainability. With this purpose he imparted training to the members of his group in different life skills that would help them at the time of crisis.The Gardeners were abstained from eating animal protein, they cultivated vegetation on the rooftop which they addressed Edencliff Rooftop Garden. They were taught to recycle the waste materials, to extract honey from the Bee hives by being friendly with the honey bees, cultivating maggots for medicinal purposes and so on. Even children of the group were assigned with little tasks making them learn different life skills. Foreseeing the apocalypse, members of the group were taught to store dried food grains separately in different dry boxes in hidden storehouses called Ararats. It was the Ararats and the vegetative skills that has helped Toby to survive in a post pandemic situation. It is not only doom and gloom that has been observed in this novel, it envisions a better future, once we take necessary actioninvolving our young generation, preparing them for a sustainable future.

A massive die-off of the human race was impending, due to overpopulation and wickedness, but the Gardeners exempted themselves: they intended to float above the waterless flood, with the aid of the food they were stashing away in the hidden store places they called Ararats. (The Year of The Flood, 47)

In the last book of the series MaddAddam,struggle for existence is observed amidst the genetically engineered animals and the human survivors of the apocalypse. These gene- spliced animals aredangerous and are now let loosebecoming a threat to the survivors. The humanoids called Crakers appear to be friendly with human as well as with animals and they act as a bridge between the survivors and the animals proposing an agreement of not killing each other without a purpose.Atwood tries towrite about the probable future which she anticipates from the behavior of the human race over time, it is evident that man has gained supremacy over all living beings but the stark truth is that man himself is the biggest enemy of man. At the end of the trilogythere are also some other survivors of the waterless flood who were once the prisoners and who are now a threat to all, the animals, the Crakers and the members of the God's Gardener.

Atwood describes technology as a double-edged sword that can serve both as a boon as well as a bane. It can bring about both positive and negative outcomes. Science has enabled humanity to discover and develop new things, opening up scope for vast possibilities. Once the bio forms are released into the planet, the end of the human world becomes increasingly plausible.Things mentioned in fictional works are actual nightmares for mankind. Today, the whole world is affected by the irremediable cataclysm in the form of the novel Coronavirus (COVID- 19) that has claimed millions of lives till date. The biotechnology that has enabled us to fight against plagues and other fatal diseases,is suddenly being seen as a potential threat at the hands of power mongers who with the help of newly advanced technology and genetic engineering can engineer more deadly pathogens paving way for theorigin of the biggest apocalypse of 21stcentury endangering the existence of human species. The origin of the novel corona virus is still atopic of debate and some scientists assume its origin to be the possibility of a lab leak. Their assumption is made on the basis that the Coronavirus first emerged in the late 2019 in China's Wuhan city near the Wuhan Institute of Virology. Nicholas Wade, one of the noted British science writer, editor and author, in an article titled 'The Origin of COVID: Did People or Nature Opened Pandora's Box at Wuhan' published in the Bulletin of Atomic Scientists proposes that there are two possibilities for the origin of the virus. The first possibility is that it came naturally from an animal, probably from bats to humans and the other possibility is that the virus came from Wuhan which happens to be the China's leading Centre of Research on Coronaviruses. The pandemic started right in the city of Wuhan, so it is estimated that the virus might have escaped from the laboratory. Since there is no evidence yet from where did the virus originate, the lab escape

theory is considered to be more probable than the natural evolution theory. His statement is supported by the fact that naturally evolved viruses require at least thirty mutations to adapt themselves to be good human pathogen, whereas in Wuhan Research Centre, the scientists were already growing Coronavirus on humanized mice. These are the mice that are genetically engineered to carry human type cells in their airways.

Atwood and other Cli-fi writers through their novels are always making an attempt to address such frightening issues that concern the habitat of homo-sapiens. Such works aware us of the new set of environmental challenges and also warn us of our behaviour towards ecosystem.The works under Cli- fi displays, what things might be if man meddled with nature rearranging the order set by nature.

Conclusion:

Cli-fi writers explore the importance of nature to reconnect man with nature. Sometimes fiction can be misleading or distracting but it has also enabled us to imagine things that can happen depending upon our actions. Human behavior and capacities are within the boundary of certain parameters set by science and every human action takes place within the limit of already set biological arena. This domain has provided man the scope to enhance his capacity to invent and discover new things but men in an effort to acquire god-like power is willing to control biological as well as ecological system unaware of the upheaval it shall cause in the near future. Development in every field today is the historical evolution of man's action, their extraordinary ability to explore new technology has set our species apart from others but man should be conscious of his responsibility over how these newly invented technologies are designed and used. Playing against the laws of nature shall pave the way for a disastrous world because there are always consequences of actions.

References:

- Atwood, Margaret. Oryx and Crake. Virago, 2013.
- Atwood, Margaret. The Year Of The Flood. Virago, 2013.
- Atwood, Margaret. MaddAddam. Bloomsbury, 2013.
- Wade, Nicholas. The Origin of COVID: Did People or Nature Open Pandora's Box at Wuhan?, Bulletin of The Atomic Scientists, https://thebulletin.org>2021/05.
- Bowden, Garry. An Environmental Sociology for the Anthropocene. Canadian Review of Sociology, vol. 54, no. 1, Feb 2017, pp. 48-68.
- Heinlein, Robert. An Expanded Universe. New York: Ace books, 1982.
- Harari, Yuval Noah. Homo Deus: A Brief History of Tomorrow. Vintage, 2017.
- Abolfotoh, InasSamy. The "Cli-Fi" And The Ecocritical In Margaret Atwood's Eco- Poetry. European Scientific Journal, Vol. 11, No. 14, May 2015, pp.165-174.
- Omenn, Gilbert S. Evolution and Public Health. Proceedings of the National Academy of Sciences of the United States of America, Dec 4, 2009.
- Retrieved from:
- https://www.webmd.com>lung>c...
- https://www.ncbi.nlm.nih.gov>pmc

Ph.D Research Scholar,
Department of English,
Indira Kala SangitVishwavidyalaya,
Khairagarh, Chhattisgarh

●●●

प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती की मननशीलता–विविध परिपेक्ष्य

प्रो. (डॉ.) गुरप्रीत कौर
कुलदीप कौर

किसी भी व्यक्तित्व का मंचीय कलाकार व प्रबुद्ध शास्त्रकार दोनों रूपों में मूल्यांकन करना एक जटिल प्रक्रिया है। प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती बहुआयामी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व है। उनमें एक सुयोग्य कलाकार, प्रेरक शिक्षिका, सृजनधर्मी कलाकार, कर्मठ प्रशासिका, उत्कृष्ट प्रयोगकर्त्री, निःस्वार्थ प्रचारिका, कुशल रचनाकार, प्रबुद्ध चिन्तक तथा मननशील शास्त्रकार जैसे विविध गुण समाविष्ट है।

भारतीय संस्कृति की पृष्ठभुमि अत्यन्त समृद्ध है। इस ज्ञानमयी संस्कृति को अनेकों मनीषियों ने अपने चिंतन–मनन एवं शोध से विकसित किया है। प्रतिपादित सिद्धांतों या विचारणीय विषयों पर अपनी अपूर्व क्षमता एवं विलक्षण योग्यता के माध्यम से पुनः विचारना, गंभीर व गहन चिंतन करना 'मननशीलता' कहलाता है। संगीत क्षेत्र में महान विद्वानों ने अपने चिंतन–मनन से संगीत के सैद्धांतिक एवं क्रियापक्ष में नवीन उपलब्धियां अर्जित की है। वर्तमान समय में उत्तर भारतीय संगीत का विधिवत रूप से मनन, गहन अध्ययन व प्रयोग करने वाले विद्वान व प्रबुद्ध व्यक्तियों में से ठाकुर जयदेव सिंह, पं. ओंकार नाथ ठाकुर, आचार्य बृहस्पति, डॉ. लालमणि मिश्र, प्रो. (डॉ.) प्रेमलता शर्मा, डॉ. सुभद्रा चौधरी, प्रो. प्रदीप कुमार दीक्षित, प्रो. कृष्णा बिष्ट, प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आधुनिक परिदृश्य में संगीत के सैद्धांतिक एवं क्रियापक्ष को नया आयाम देने में प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती का नाम अग्रगण्य है।

सैद्धांतिक विलक्षणता

सिद्धांतों के लिपिकरण को शास्त्र के रूप में परिभाषित करने हेतु संगीत विषय का ज्ञान, विलक्षण लेखन क्षमता, परिपक्वता, गहन विद्वता इत्यादि का होना आवश्यक है। इसी प्रकार कला प्रस्तुतिकरण और उसकी परंपरा को आगे विस्तार देना और एक प्रभावी वादन शैली को आत्मसात कर उसे संरक्षित व संवर्धित करना, किसी व्यक्तित्व की बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक होता है। प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती का नाम हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत जगत की उन विदूषियों में से एक है, जिन्होंने संगीत के शास्त्र एवं क्रिया दोनों पक्षों की मननशीलता में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वहन किया तथा अपनी विलक्षण प्रतिभा, कठिन संघर्ष, अटूट साधना, पूर्ण परिश्रम व निष्ठा के साथ संगीत जगत में अपना उल्लेखनीय नाम स्थापित किया है।

डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती जी का जन्म 23 जून सन् 1948 को उत्तर प्रदेश में वाराणसी (काशी) के बंगाली टोला नामक स्थान पर हुआ। इनकी सांगीतिक शिक्षा 'विपिन बिहारी चक्रवर्ती कन्या विद्यालय, वाराणसी' से प्रारंभ हुई। सितार की प्रांरभिक शिक्षा इन्होंने 'श्री रघुनाथ ओझा जी' (वाराणसी) से प्राप्त की। तत्पश्चात 'प्रो. (डॉ.) लालमणि मिश्र' जी तथा 'डॉ. राम चक्रवर्ती' से आपको सितार के सूक्ष्म अध्ययन एवं बारिकियों को सीखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सन् 1966 में इन्होंने महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक (बी.ए), सन् 1967 में संगीत प्रभाकर तथा सन् 1969 में संगीत संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सितार में एम. म्यूज की डिग्री स्वर्ण पदक के साथ प्राप्त की। संगीत की उच्चतम शिक्षा हेतु आपने सन् 1974 में प्रो. (डॉ.) प्रेमलता शर्मा जी के सफल निर्देशन में संगीत शास्त्र विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से पीएच.डी की डिग्री प्राप्त की। संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली से अनुदान प्राप्त होने पर चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली द्वारा इनको अपना शोध कार्य ''स्वर

और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान'' पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त हुआ।

5 नवंबर सन् 1975 में कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय में संगीत के नए स्नातकोत्तर (PG COURSE) विभाग में आपने अध्यापन प्रारंभ किया और अपनी कर्मठता से विभाग को एक नई पहचान दी। 8 सितंबर सन् 1981 में उन्होंने हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला के संगीत विभाग में Associate Professor तथा विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यभार सम्भाला। सन् 1987 में मंच व दृश्य कला संकाय, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय में Professor/अधिष्ठाता के रूप में पदभार ग्रहण किया। सन् 1997 में इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश/छतीसगढ़ में उन्होंने 'कुलपति' के रूप में सात वर्ष तथा अप्रैल सन् 2004 में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला के संगीत विभाग में पुनः विभागाध्यक्ष तथा संकाय अध्यक्ष (Head and Dean) के पद पर आसीन हुई और जून सन् 2008 में वहीं से सेवा निवृत हो गई। सेवा निवृत होने के पश्चात् सदगुरू श्री सत्य साई बाबा के जन्मदिन पर बाबा द्वारा आग्रह करने पर उनके द्वारा स्थापित 'सत्य साई मीरपूरी कालेज ऑफ म्युज़िक' की प्रिंसिपल के रूप में आपने सेवा आरम्भ की और अपने निरंतर प्रयत्नों से इस संस्था को एक नई पहचान दी।

आपकी कलात्मक व सृजनात्मक उपलब्धियों को विभिन्न संस्थानों द्वारा सम्मानित किया जा चुका है। संगीत के क्षेत्र में आपकी अविस्मरणीय भूमिका को दृष्टिगत रखते हुए आपको विभिन्न शिखर सम्मानों यथाः ''संगीत कला रत्न, शिमला; एकसेलेन्ट लेडी आफ द इयर 2001, भोपाल; (Excellent lady of the year 2001, Bhopal); आचार्य बृहस्पति संगीत सेवा सम्मान, दिल्ली; काका हाथरसी संगीत सेवा सम्मान, दिल्ली; संगीत मंजूषा पुस्तक के लिए साहित्य सम्मान, शिमला; राष्ट्रीय शिक्षा रत्न, दिल्ली; ज्ञान ज्योति अवार्ड, छतीसगढ़; भारत माता अवार्ड, कोलकाता;''1 इत्यादि पुरस्कारों से अलंकृत किया जा चुका है।

डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती एक विदूषी शास्त्रकार है। आपके द्वारा रचित शोधपत्र, ग्रंथ, पुस्तकें इस बात के परिचायक है कि आपके ज्ञान का दायरा अत्यंत विस्तृत व व्यापक है। आपने 7 पुस्तकों के लेखन कार्य के अतिरिक्त लगभग 100 के करीब शोध पत्रों का लेखन कार्य भी किया है। वर्तमान में वे संगीत के विभिन्न विषयों पर शोध कार्यों व लेखन वाचन के प्रकाशन में निरंतर कार्यशील हैं। इनके द्वारा लिखित पुस्तकों में ''स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान'', ''संगीत मंजूषा'', ^^Music- Its Methods and Techniques of Teaching in Higher Education", ''तन तंत्री मन किन्नरी'', ''साई अमृतधारा'', ''कोपले'', ''निजेके निवेदन (बंगला भाषा में)'' इत्यादि है। कुछ ग्रन्थ/पुस्तकें प्रकाशनाधीन है। आज अनेक विश्वविद्यालयों एवं संगीत संस्थानों द्वारा इनकी पुस्तकों को पाठयक्रम के रूप में स्वीकृत किया जा चुका है। पुस्तक ''स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान'' डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती का प्रो. (डॉ.) प्रेमलता शर्मा जी के सफल निदशन में किया गया पीएच.डी. के शोध कार्य का प्रतिफलन है। इसमें स्वर और राग संबंधी चिन्तन को तत्कालीन वाद्यों के सौजन्य से कुछ नयें प्रयोगों के साथ प्रस्तुत किया गया और जिसकी गुणवत्ता से प्रभावित होकर संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा अनुदान प्राप्त कर, इसे प्रकाशित किया गया। "Music- Its Methods and Techniques of Teaching In Higher Education" पुस्तक में 8 प्रबुद्ध गुणीजनों व चिंतकों के सैद्धांतिक तथ्यों सम्बन्धी व्याख्यानों को सुन्दर संकलन रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक ''तन तंत्री मन किन्नरी'' में संगीत के विभिन्न विषय पर आधारित शोध प्रपत्रों का संकलन है, जिसके 12 लेखों में सम्यक गीतम, मार्ग देशी का अर्न्तसम्बन्ध, संगीत में नवाचार, संगीतः निरंन्तरता और बदलाव, सितार की बाज में ध्रुपद गायकी, शैक्षणिक परिसर में संगीत, काके लागूं पाए, ढाई आखर प्रेम का इत्यादि विभिन्न विषयों पर बौद्धिक जानकारी प्राप्त होती है। पुस्तक ''संगीत मंजूषा'' में संगीत संबंधी कुछ भ्रांन्तियों का तार्किक दृष्टि से निवारण कर, नए प्रतिमान स्थापित करने का सचेष्ट प्रयोग विद्यमान है, जिसमें कुल 12 लेख है। विभिन्न ग्रंथकारों के अनुसार संगीत में गुण–दोष विचार, वृत्ति एवं गीति, ग्राम मूर्च्छना पद्धति में 'तान', श्रुति, सारणा तथा मूर्च्छना का विभिन्नार्थक प्रयोग, वीणा वादन की प्रविधि–धातु तथा करण, स्वर तथा श्रुति के प्रतिपादन में परवर्ती ग्रंथकारों पर शार्गदेव का प्रभाव, थाट सिद्धांत इत्यादि विषयों को सम्मिलित किया गया है।

एक प्रबुद्ध चिंतक एवं प्रभावी वक्ता के रूप में अपनी मननशीलता, गंभीर चिंतन एवं प्रयोगों को भारत की सीमा से बाहर देशों में पहुॅचाने के उद्देश्य से यूरोप तथा एशिया के कई देशों में लगभग 100 के करीब प्रस्तुतियां एवं 70 से अधिक व्याख्यान प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों द्वारा संचालित कार्यशालाओं तथा सेमीनारों में आपने संगीत के विभिन्न विषयों पर अपने आलेख प्रस्तुत किए; यथाः 'संगीत शास्त्रों में आतोद्य की अवधारणा', 'आगरा घराने की बंदिशों में वैविध्य', 'मूर्च्छना, मेल, थाट एवं मुकामः एक संवाद' 'सांगीतिक पृष्ठभूमि में वैदिक स्वरों की निरंतर प्रवहमान गतिशीलता' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा संगीत में कुछ नवीन प्रयोग भी किए गए, जैसे 'किन्नरी वीणा के आधार पर स्वरों की प्रामाणिक स्थिति।' ''एक प्रबुद्ध चिंतक की व्यक्तव्य कौशलता इस बात पर निर्भर करती है कि आप जिस क्षेत्र से संबंध रखती हैं, जिस पर आप काम कर रही हैं, उस पर आपकी कितनी पकड़ हैं, कितनी गहराई है, कितना अध्ययन है। ये भी एक कारण है कि वे (डॉ. चक्रवर्ती) अच्छी वक्ता है, क्योंकि संगीत के क्षेत्र में उनकी लाजवाब पकड़, अध्ययन व चिंतन है।''[2]

सृजनधर्मिता

प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती एक प्रबुद्ध चिंतक, शास्त्रकार, प्रशासक के साथ–साथ एक सुयोग्य सृजनधर्मी कलाकार भी हैं। उनके द्वारा सदगुरू श्री सत्य साई बाबा को समर्पित लगभग तीन हज़ार गीत, 2 सी डी (व्दसल थ्वत ल्वनए साई चरणम् बन्दो), 2 आडियो केसेटस, कविता, दोहे, (हिन्दी, बंगला, ब्रज, मैथिली भाषा में) लिखे एवं स्वरबद्ध किए गए हैं।

डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती एक उत्कृष्ट सितार वादिका है। ''संगीत की पारम्परिक घरानेदार गुरू शिष्य शिक्षण प्रणाली के अन्तगर्त सेनिया परंपरा की अनुयायी कला मर्मज्ञ प्रो. इन्द्राणी को पद्मभूषण पं. देबू चौधुरी की शिष्य होने का गौरव प्राप्त है।''[3] कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय में जब आप शिक्षिका के रूप में कार्यरत थी, उस समय आप सेनिया घराने के प्रख्यात सितार वादक पंडित देबू चौधुरी के संपर्क में आई और उनसे सितार के विधिवत घरानेदार शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त की, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और इन्हें सेनिया घराने की शुद्ध परम्परा एवं विलक्षण शैली को आत्मसात करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार वे सितार के सेनिया घराने की परम्परा में सम्मिलित की गई। वर्तमान भारत की संगीत परम्परा में वादन के पाँच महत्त्वपूर्ण घराने हैंः सेनिया, विष्णुपुर, इटावा, मैहर व इंदौर घराना। इनमें सेनिया घराना सबसे प्राचीन है, जिसके प्रवर्तक 'मियां तानसेन' को माना जाता है। सामान्यतः सितार में 19, 20 या 21 पर्दों का सितार बजाने का प्रचलन है, परन्तु जयपुर सेनिया घराना एकमात्र घराना है, जिसमें आज तक 17 पर्दों का सितार बजाया जाता है। सेनिया घराने में मियां तानसेन की संगीत शिक्षण विधि ा तथा शैलियों के अनुसरण करने की परम्परा है, जो गायन की ध्रुपद शैली और तंत्र में सितार, वीणा इत्यादि के लिए प्रसिद्ध है तथा इसे 'सितार व बीन का मुख्य घराना' माना जाता है। वे सेनिया घराने की सितार के 17 पर्दे वाली परम्परा का पूर्ण अनुसरण करती है। इनकी वादन शैली विलक्षण गुणों यथाः– स्वर का सही लगाव, मींड, गमक इत्यादि अलंकरणों का यथावत प्रयोग, उपज में नवीनता, ताल में पारंगत, विभिन्न वादन शैलियों का उचित ज्ञान, श्रोता के मनोविज्ञान की सही पकड़ एवं मंचीय गुण आदि की धारणी है। कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय तथा हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संगीत विभाग के विद्यार्थीगण इस बात को गर्व के साथ स्वीकार करतें हैं। आपके सितार वादन का प्रसारण अनेकों राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से हो चुका है। आप आकाशवाणी की 'ए' ग्रेड सितार वादिका है। सितार पर आपने विविध रागों में लगभग 100 बंदिशों की रचना की है। आपने एक नवीन राग 'देवविभा' की भी सृजना की है, जिसे इन्होंने अपने गुरू पंडित देवव्रत चौधुरी जी को समर्पित किया है। आपके द्वारा नये छन्द, नये बोल–बनाव के साथ विशिष्ट बंदिश ''चक्रवाणी गत'' का नव निर्माण भी किया गया। आप अभी भी सितार की नई बंदिशें (गत) विभिन्न तालों में निर्माण कर रही है एवं छात्रों को सिखा रही है।

शिक्षण–प्रशिक्षण–प्रशासन

शिक्षक अथवा गुरू समाज का योग्यतम व्यक्ति होता है। शिक्षक का महत्वपूर्ण कार्य ज्ञान की विभिन्न

अन्तर्दृष्टियों के आधार पर पहले अपने आप को जोड़ना, फिर उसी ज्ञान को आगे संप्रसारित करना है। पारंपरिक गुणों, क्षमताओं, योग्यताओं को आगे अपने विद्यार्थियों तक सुचारू रूप से स्थानांतरण कर अपने शिष्यों का सही मार्गदर्शन करना एक दुरूह कार्य है। प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती जी ने भी संगीत के प्रति अपनी मननशीलता को अपने विद्यार्थियों तक पहुॅचाने का सफल प्रयास किया है। डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती एक प्रभावी शैक्षणिक व्यक्तित्व की धनी है। वे संगीत साधना के अतिरिक्त शैक्षणिक तथा अकादमिक क्षेत्र में पूर्णतः पारंगत है। इनके सफल निर्देशन में 40 पीएच.डी तथा 60 एम.फिल के शोध प्रबन्ध सम्मानित हो चुकें हैं। आपकी शिक्षण पद्धति में उपज तथा सृजना इत्यादि तत्व विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रो. इन्द्राणी अपने विद्यार्थियों को उनकी बौद्धिक योग्यता और लगन के अनुरूप ही शिक्षा प्रदान करती हैं। इनकी शिक्षण पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है कि ये पूर्णता की ओर प्रेरित करती हैं। शोध कार्य के क्षेत्र में इनका गहन अनुभव तथा ज्ञान है। वे अपने विद्यार्थियों की प्रतिभा को विद्वतापूर्वक प्रकाशमान करती है। इनके बहुत से विद्यार्थी आज अकादमिक शिक्षक के रूप में उच्च पदों पर आसीन है और कुछेक कला प्रदर्शक के रूप में संगीत क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। आपकी शिष्य परंपरा में डॉ. मनोरमा शर्मा, चमन लाल वर्मा, सुरजीत पटियाल, सूरत ठाकुर, सिम्मी आर. सिंह, सुदेश स्याल, देविंदर कौर, एनाक्षी महाजन, नलिनी कौशल, सीमा वत्रा, नीता मिश्रा, मधुर स्वर मिश्रा, गुरप्रीत कौर, रमनदीप कौर, विद्या कश्यप, सीमा ठाकुर, वीणा पाणि महतो, राकेश गहरवार, विपिन ठाकुर, चित्रा शर्मा, रीमा शर्मा, मीनु मिश्रा, इत्यादि। इनके अतिरिक्त उनसे सितार के विधिवत शिक्षण प्राप्त करने वाले शिष्यों की लंबी सूची है।

आपने विभिन्न विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक और संयोजन कार्यों तथा UGC Committees/NET PEER TEAM, NAAC, UPSC, SPSC के अध्यक्ष/सदस्य के रूप में भी कार्य किया है। कई विश्वविद्यालयों द्वारा इन्हें विजिटिंग प्रोफेसर/फैलों के रूप में भी आंमत्रित किया जा चुका है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में os NAAC TEAM की चेयर पर्सन/सदस्य के रूप में कार्यरत रही। उनके द्वारा विभिन्न कार्यशालाओं/रिफ्रेशर कोर्स में रिसोर्स पर्सन के रूप में व्याख्यान प्रस्तुत किया जा चुका है।

सफल प्रशासक

प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती सफल शिक्षक के साथ–साथ कर्मठ व निर्भीक प्रशासक रही है। आपने 50 वर्ष तक संगीत शिक्षण तथा 40 वर्ष तक प्रशासनिक क्षेत्र में कार्य निष्पादन किया है। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के संगीत विभागाध्यक्ष के रूप में नियुक्ति के पश्चात आपने विभाग का आमूल–चूल परिवर्तन किया। एक छोटे से विभाग को मंच तथा दृश्य कला संकाय के रूप में विकसित करना, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के अन्तर्गत विभिन्न महाविद्यालयों में स्नातक स्तर पर कथक नृत्य शिक्षण का प्रारंभ करना, प्रथम बार विभाग में UGC के अनुदान से 7 द्विवसीय कार्यशाला का संचालन करना, संगीत के मूर्धन्य कलाकारों को विभाग में आमंत्रित कर छात्र एवं शिक्षकों का ज्ञानवर्धन करना, विभाग में संगीत का UGC रिफ्रेशर कोर्स प्रारंभ करना इत्यादि उनकी कर्मठता तथा अकादमिक स्तर की उन्नति के प्रति ईमानदारी ही दर्शाता है। डॉ॰ परमान्नद बंसल के शब्दों में, ''वर्ष 1981 में प्रो. इन्द्राणी चक्रवर्ती जी का रीडर के रूप आगमन ना केवल मेरे लिए अपितु वर्तमान में हि. प्र. के अधिकांश शिक्षण संस्थानों में कार्यरत संगीत शिक्षकों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। संगीत से जुड़ा अपना विभागाध्यक्ष बनने से विभाग को विस्तार प्रदान करने के सभी मार्ग प्रशस्त हुए। यद्यपि विभाग में पहले से कार्यरत शिक्षक विद्वान एवं अच्छे विचारक थे परन्तु पद के नियमानुसार पदोन्नति के मार्ग में उनकी अकादमिक योग्यता आड़े आ रही थी। मैडम ने विभाग में कार्यरत शिक्षकों को नियमों में ढील प्रदान कर एम. फिल करवाने का दायित्व सौंपा तथा अपने मार्गदर्शन में विभाग के युवा, कर्मठ, शिक्षक प्रो. चमन वर्मा जी को पीएच.डी. करवा कर एक ऐसी सशक्त टीम का गठन किया जिससे विभाग की आगामी प्रगति के समस्त मार्ग स्वतः खुल गए।''[4] इसी प्रकार डॉ॰ सूरत ठाकुर कहते हैं ''संगीत की तरक्की तथा संगीत विभाग की उन्नति के लिए डॉ. चक्रवर्ती सदैव तत्पर रही है। यद्यपि बीच में इन्हें कई समस्याओं का सामना भी करना पड़ा, परन्तु इन्होंने अपने दृढ़ निश्चय, कठोर परिश्रम तथा सख्त अनुशासन से उन सभी मुसीबतों

से पार पाया।''[5] प्रो. ब्रतति चक्रवर्ती के शब्दों में ''बचपन से लेकर आज तक दीदी में प्राणशक्ति का भरपूर उमंग देखने को मिला। निडर होकर, ईश्वर पर अटूट आस्था लेकर वह आगे बढ़ती गयीं और जहाँ–जहाँ कदम रखीं, वहाँ–वहाँ प्राणों का न्योछावर करती रहीं। अपने प्राणों से सींच कर, सम्हाल कर नयी–नयी दिशायें दी। अपने कर्मक्षेत्र में उनका जो योगदान रहा वह सराहनीय है।''[6]

सन् 1997 में आपने इन्द्रिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ की कुलपति के रूप में जब पदभार ग्रहण किया, विश्वविद्यालय की स्थिति उस समय यथायोग्य नहीं थी। उन्होंने तुरन्त कारवाई करते हुए विश्वविद्यालय का सर्वांगीण विकास किया। इनमें से निम्नलिखित कुछ बिन्दुओं का उदाहरण दिया जा रहा हैः

- विश्वविद्यालय को संस्कृति विभाग से शिक्षा विभाग के अन्तगर्त लाना।
- राष्ट्रीय एकता के रूप में पॉच दिवसीय 'इन्द्रिरा मेला' का आयोजन।
- विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात विश्वविद्यालय के भूमि एवं भवनों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करने का सफल प्रयास।
- वर्षों से सेवानिवृत शिक्षक तथा गैर–शिक्षक कर्मचारियों के लिए पेंशन की सुविधा लागु करवाना।
- महिला छात्रावास, मूर्तिकला हाल, कम्प्युटर सेंटर; कुलपति निवास; दृश्यकला संकाय; अतिथि निवास; ओडिटोरियम भवनों का निर्माण।
- प्रथम बार संगीत तथा कला संकाय में रिफ्रेशर कोर्स का प्रारंभ।
- UGC द्वारा विश्वविद्यालय में रिफ्रेशर कोर्स सेंटर की स्थापना।
- एम. फिल तथा डी. म्यूज (स्वर एवं ताल वाद्य) का प्रारंभ।
- UGC द्वारा प्रदत्त 'Speaking English' तथा 'स्पीकिंग संस्कृत लैंग्वेज' सेंटर का प्रांरभ।
- वयस्क शिक्षा विभाग (Adult Education) का पूर्नगठन।
- विश्वविद्यालय के लिए सरकार से 11 एकड़ भूमि की प्राप्ति।
- अनेक वर्ष पश्चात 'दीक्षांत समारोह' का सफल आयोजन।

कुलपति के रूप में आप निरंतर संगीत की अकादमिक एवं व्यवसाय परक प्रशिक्षण के लिए संघर्षरत रही। उसी के फलस्वरूप आपने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) द्वारा आयोजित ''अखिल भारतीय कुलपति संमेलन'' (All India VC Conference) में विश्वविद्यालयीन स्तर पर संगीत शिक्षण सम्बन्धी आलेख (देश में संगीत की विशिष्ट शिक्षण व्यवस्था की आवश्यकता) प्रस्तुत किया, जिसे श्रोताओं द्वारा खुब सराहा गया तथा AIU (Association of Indian Universities) के समाचार पत्र (News Letter) में छाया गया। आपकी प्रतिबद्धता को आज भी विश्वविद्यालय तथा नगर के प्रबुद्धजन सादर स्मरण करतें है।

आप अपनी प्रतिभा, चिन्तन व मनन के माध्यम से भारतीय संगीत की समृद्धशाली परम्परा को संजोए रखने में अग्रणी रही है। आप आज भी अपने निरन्तर मनन एवं चिन्तन से संगीत की सेवा में रत है तथा संगीत की बारीकियों को उजागर करते हुए उसके विभिन्न पहलूओं की खोज में लगी हुई है। प्रो. (डॉ.) इन्द्राणी चक्रवर्ती आज 72 वर्ष की हो गई है। शारीरिक कष्टों को सहन करती हुई वे सदा संगीत की सकारात्मकता के लिए प्रतिबद्ध हो कर सामाजिक दायित्वों का प्रसन्नता पूर्वक निर्वाह करती हुई, कला साधना में तल्लीन है। ईश्वर आपको दीर्घायु, शारीरिक सामर्थ्य एवं सक्षमता प्रदान करें, ताकि वे अपनी सांगीतिक परम्परा, नवीन कृतियां, संगीत के शिक्षण इत्यादि के माध्यम से संगीत जगत में नित्य नवीन प्रतिमान स्थापित करती रहें।

संदर्भ

1. प्रो॰ (डॉ॰) इन्द्राणी चक्रवर्ती से की गई फोनवार्ता से प्राप्त सूचना (दिनांकः 13–09–2020)।
2. प्रो॰ (डॉ॰) मांडवी सिंह से की गई फोनवार्ता से प्राप्त सूचना ।
3. बंसल डॉ॰ परमान्नद, अभिनन्दन ग्रंथ, प्रो. इन्द्राणी चक्रवती, पृष्ठ–21 ।
4. बंसल डॉ॰ परमान्नद, अभिनन्दन ग्रंथ, प्रो. इन्द्राणी चक्रवती, पृष्ठ–20 ।
5. ठाकुर डॉ॰ सूरत, अभिनन्दन ग्रंथ, प्रो. इन्द्राणी चक्रवती, पृष्ठ–24 ।
6. चक्रवर्ती प्रो. ब्रतति, अभिनन्दन ग्रंथ, प्रो. इन्द्राणी चक्रवर्ती, पृष्ठ–13 ।

●●●

वैश्विक पटल पर भारतीय संगीत का स्थान

डॉ. हरिओम हरि

अस्सी के दशक में मानवीय विमर्श की दुनिया में एक शब्द बहुत तीव्रता से प्रचलन में आया। वह शब्द था– ळसवइसप्रंजपवद जिसे हिन्दी में भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण कहा गया। इस शब्द के पीछे की अवधारणा पर परिचर्चा के क्रम में यह तर्क सामने आया कि आदिमकालीन मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपने कौशल चातुर्य का प्रयोग करना शुरु किया, तो उसके स्व का विस्तार होता चला गया। संचार माध्यम का तीव्र विस्तार, यात्रा की द्रुतगामी सुविधाओं को पाकर मनुष्य ग्राम्य जीवन से निकलकर विश्व की परिक्रमा पर निकला तो उसके अंतर के तंतु वैश्विक उपस्थिति के स्पर्श को प्राप्त कर झंकृत हुए। तब प्रश्न उठा कि मनुष्य केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सम्पूर्ति करनेवाला व्यष्टि है या सृष्टि से भी उसका कुछ सम्बन्ध है। तब ऋषियों के अन्वेषण से तथा व्यष्टि से प्रारम्भ होकर समष्टि, सृष्टि से होते हुए परमेष्टि तक जाती है। व्यक्ति का ही विस्तार सृष्टि है, वह उसका अभिन्न अंग है। उसने अपनी तपस्या से यह जाना कि सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ही है। व्यक्ति को समाज से, समाज को सृष्टि से पृथक् नहीं किया जा सकता। अनुभूतिजन्य भावना वाणी का सहयोग पाकर 'olq/kSo कुटुम्बकम्' में व्यक्त हुई।

वैश्वीकरण के पैरोकार प्रकारान्तर से इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण एक–दूसरे के पर्याय हैं। यह मत सही नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् पश्चिम के देशों में आर्थिक संकट गहराया। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए विकसित देशों में यह तर्क गढ़ा कि सम्पूर्ण विश्व के देश एक–दूसरे के परस्पर पूरक हैं तथा उन्हें एक–दूसरे की सहायता करनी चाहिए। इस आग्रह के साथ ग्लोबल विलेज (Global village) अर्थात् 'विश्व एक गाँव है' की अवधारणा पश्चिम देशों द्वारा अर्धविकसित या विकासशील देशों के ऊपर आरोपित करने की चेष्टा हुई। पश्चिम के देशों सहित अमेरिका की इस पहल ने इन देशों की आर्थिक मंदी पर विजय प्राप्त करने हेतु यह तर्क दिया कि हमें आत्मनिर्भर होने के लिए एक–दूसरे पर निर्भर होना पड़ेगा। इस का परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी देशों का प्रभाव भारतीय अर्थतंत्र से होता हुआ इसके सामाजिक ताने–बाने, सांस्कृतिक अधिष्ठानों के साथ 'कला' पर भी पड़ा। हमें विचार करना होगा भारतीय मनीषा में वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा 'सब एक है' सिद्धान्त पर टिकी है। जबकि वैश्वीकरण 'विश्व एक गाँव है' ऐसा मानकर नहीं अपितु 'विश्व एक बाज़ार है' ऐसा मानकर चलता है। बाज़ारवाद जब हावी होता है तो उद्यम लालसा की पूर्ति के लिए, अधिक से अधिक लाभ के लिए सभी नैतिक प्रतिमानों को ध्वस्त करता चलता है। इस बाज़ारवाद के कारण भारतीय संगीत भी प्रभावित हुआ है।

भारतीय संगीत के क्षेत्र में वैश्वीकरण का सबसे घातक कुप्रभाव यह पड़ा है कि कलाकारों, कलाप्रेमियों तथा कला प्रबन्धकों की अभिप्रेरणा में घोर अथवा प्रतिक्रांतिकारी परिवर्तन आ गया।

भारतीय संगीत की उत्पत्ति अद्वैत परमसत्ता की अनुभूति से हुई है; उसी के प्रति वह समर्पित है और वही उसके लिए पूर्णता प्रदान करने वाला है। विलडुरैन्ट ने कहा है कि–

"शिव स्वयं नृत्य के देवता हैं और शिव का नृत्य संसार की पूरी गतिविधि का प्रतीक है।" न्यूयार्क के थियेटर में नृत्य प्रस्तुत करने वाले व्यवसायी वृत्तिवाले नर्त्तक को यह जानकर आश्चर्य होगा कि नृत्य, नाटक तथा संगीत के सम्मेलन से निर्मित उसके पूर्वजों का 'नाट्य परमानंद' मोक्ष की प्राप्ति के ध्येय से प्रेरित था। अतीत के सच्चे

कलाकारों का एकमात्र लक्ष्य यही था कि वे पूर्ण एकाग्रता से जीवनभर कला की साधना करते रहें। एक सच्चा कलाकार अपने निजी कलात्मक व्यक्तित्व से कहीं ऊचें लक्ष्य का माध्यम और लक्ष्य होता है। वह तीव्र संवेग के साथ तपस्या करता है और अपने आंतरिक तथा बाह्य निरीक्षण, प्रेक्षण तथा अनुभव के त्रिवेणी संगम से एक नये संसार की सृष्टि करता है। जहाँ तक अनुभूति की तीव्रता या तप का सम्बन्ध है, यह प्रचुरता पर नहीं गुणवत्ता पर आधारित है। अपने अन्तिम दिनों में मिल्टन प्रतिदिन पचास और विरजिल केवल नौ पंक्तियां लिखा करते थे। कष्ट और चुनौतियाँ उसके संवेग में तीव्र निखार लाती हैं। जब विथोवन बहरे तथा मिल्टन अंधे हो गए तभी हमें उनके प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिफल देखने को मिला। जब विरह की वेदना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची तभी मीरा के हृदय से अत्यन्त उच्चकोटि के गीतों के निर्झर फूटे। ईश्वर की उपस्थिति की अनुभूति पाकर ही सूरदास अपने गीतों के कारण अमरत्व को प्राप्त हो गए। आदर्श स्थिति में कला और कलाकार एकाकार हो जाते हैं। केवल इसी श्रेणी के लोग कलाकारों की सम्माननीय श्रेणी में स्थान पाने का दावा कर सकते हैं। यह भेद किया ही जाना चाहिए कि साधना व्यवसाय नही होती और सच्चा कलाकार व्यवसायी नहीं होता। भारत में स्वर शास्त्र का गहराई से विवेचन हुआ है। प्राचीन ऋषियों ने कहा है कि वाणी का उद्‌गम आत्मा से होता है तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी इसके चार रूप हैं। इसमें तीन रूप अदृश्य हैं तथा चौथा वैखरी रूप, जो हम बोलते हैं, उसमें व्यक्त होता है। यह वैखरी वाणी, तीन स्वर– उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित में अभिव्यक्त होती है और इन तीनों स्वरों से संगीत के मूलाधाार सप्त स्वरों का उद्‌गम होता है और उनके विभिन्न योगों से विभिन्न राग–रागिनियों की रचना होती है। इन रागों के मानव तथा सृष्टि पर होने वाले प्रभाव का गहराई से हमारे यहाँ अध्ययन भी किया जाता है। भारतीय संगीत, साधना के उच्च प्रतिमान के रूप में स्वामी हरिदास को अपना आदर्श मानती है। ईश्वर के लिए गाये जाने वाले गीत का अवतरण सदैव दिव्यलोक से होता है। वह मनुष्य के लिए, मनुष्य द्वारा निर्मित, मनुष्य का रंजन कर अर्थ–विमोचन का माध्यम नहीं है। हमारा सौभाग्य है कि हरिदास की परम्परा तानसेन, बैजूबावरा से होती हुई महान नर्तक उदयशंकर तक पहूंची, जिनको प्रथम भारतीय नृत्य कला विशारद का गौरव प्राप्त है। जिन्होने पूरे विश्व में भारतीय नृत्य नाटक (बैले) प्रस्तुत किया। उन्होने भारत को विश्व के सांस्कृतिक मानचित्र पर सर्वोच्च स्थान दिलाया और विभिन्न पद्धतियों के संश्लेषण का प्रयास किया, लेकिन ये सारे प्रयोग आध्यात्मिक अधिष्ठान से जुड़े रहे, इसीलिए भारतीय संगीत को मन का नहीं (मनोरंजन करने वाला) आत्मा का गीत कहा गया है अर्थात आत्मा की परमात्मा से मिलन का मंत्र। वहीं पर पश्चिम के अंदर बिथोवन की परम्परा को प्राण नहीं मिला, यह दुर्घटना ही है। परिणामतः साधना की गहराई समाप्त हुई तथा अर्थोपार्जन संगीत का साध्य बन गया। पश्चिम के अर्थ का प्रभाव भारतीय संगीत में अनर्थ का कारण भी बना। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में कहा है ''संगीत की शैली में परिवर्तन उस देश की संस्कृति में मूल परिवर्तन का द्योतक है।'' कदाचित् यही कारण था, चीन और कोरिया ने अपने यहाँ होने वाले माइकल जैक्सन के शो को यह कहकर प्रतिबंधित कर दिया कि यह संगीत का शो नहीं, सांस्कृतिक हमला है। वैश्वीकरण का यह मतलब नहीं है कि हम अपनी सांस्कृतिक आत्मा से हाथ धो बैठें।

भारतीय ऋषियों ने हमें एक महामंत्र दिया है–''आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो।'' अंग्रेजी अनुवाद है– Let the noble thoughts come from all over the world. उच्चकोटि का ज्ञान हमें जहाँ से मिले उसे प्राप्त करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम स्वस्थ वायु प्राप्त करने के लिए अपने घर में गवाक्ष न खोलकर घर की दीवारें ही ढहा दें। भारतीय परम्परा में शिक्षा का प्रत्येक क्षेत्र गुरु से संबद्ध रहा है। संगीत का क्षेत्र भी अपने–अपने गुरु घराने से संबद्ध होकर सार्थक बोध पाता रहा है। गुरु के सानिध्य में बैठकर शिष्य न केवल गुरु का ज्ञान ही प्राप्त करता था बल्कि उनमें राग–रागिनी के अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत गुणों को भी ग्रहण करता था। गुरु अपनी गरिमा तथा ज्ञान शिष्य में संचारित करते थे। आज धीरे–धीरे ही सहीं वैश्वीकरण का प्रभाव सांगीतिक क्षेत्र में परिलक्षित होने लगा है। विद्युत संचालित यंत्र, संगणक, दृश्य–श्रव्य माध्यमों ने सीखने की गति को तीव्रता प्रदान की है। वहीं आत्मकेन्द्रित मनुष्य, प्रचार तंत्रों के माध्यम से प्रसिद्धि प्राप्त कर धन कमाने की ओर उन्मुख हुआ है। अब यह प्रवृत्ति

सी हो गयी है कि कला के सौन्दर्य पक्ष की उपेक्षा करके उसके वाणिज्यिक पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया जाय। आजकल सच्ची साधना की अपेक्षा कतिपय अन्य बातें महत्त्वपूर्ण होती जा रही हैं, जो निम्नलिखित है –

- रंगमंच
- वेशभूषा तथा
- साथी कलाकारों के प्रति पर्याप्त वृत्ति, संसाधनों की व्यवस्था, प्रचार–प्रसार तथा छवि निर्माण के लिए प्रचार माध यमों से समुचित सम्पर्क तथा कलाकारों को संरक्षण प्रदान करनेवाली सरकारी एजेंसियों तक पहुँच।

ऐसे छात्र उंगलियों पर गिने जाने लायक होते हैं जो संगीत के मूल तत्त्व को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। आधुनिक उपकरणों का उपयोग सौन्दर्य बढ़ाने वाले सौन्दर्य प्रसाधन की तरह ही है जो तात्कालिक तौर से सौन्दर्य को बढ़ाते हुए लगते हैं। उसके दीर्घकालिक प्रभाव की परिणति अंततः सौन्दर्यवर्धक ही होती है। संगीत के उपयोग में आनेवाले अत्यंत आधुनिक उपकरण में हम उच्चकोटि के राग–रागिनी भर तो सकते हैं, परन्तु उन उपकरणों में गुरु की गरिमा, उनका प्रेम तथा स्नेहयुक्त नेत्रों की भंगिमा तथा स्वरों के आरोह–अवरोह के साथ अंगसंचालन की क्रिया, तनिक भी त्रुटि होने पर उनकी ताड़ना के तेवर नहीं भर सकते। चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करनेवाले शिष्य आज विरल हो गये हैं। आज ऐसे कला–संस्थान खुल रहे हैं जहाँ गुरु नहीं निदेशक बैठते हैं। दूरस्थ शिक्षा–संस्थानों में किराये के कलाकारों द्वारा निर्मित दृश्य–श्रव्य माध्यमों द्वारा शिक्षा दी जा रही है। अब तो यह एक नए किस्म का घराना, दूरस्थ शिक्षा घराना उत्पन्न हो गया है। हमें यह मानकर चलना होगा कि संगीत की दुनिया छोटा द्वीप नहीं है, जहाँ के लोगों का विश्व से कोई सम्पर्क ही न हो। संगीत के क्षेत्र को भी दुनिया में चलनेवाले प्रयोगों, विमर्शो के सम्पर्क में रहना चाहिए। उसे नये स्रोतों तथा आयामों का पता होना चाहिए। वैश्वीकरण तथा आधुनिक उपकरणों ने भारतीय संगीत की आत्मा को भले ही प्रभावित किया हो किन्तु इसने कलाकार तथा कला–मर्मज्ञों के समक्ष अपनी उपयोगिता सिद्ध भी की है। जो सामान्य सुधीजन बहुत बड़े आयोजनों में उपस्थित नहीं हो सकते थे वे अब Video, Audio तथा C.D. के माध्यम से उच्चकोटि के कलाकारों को अपने गृह के कक्ष में बैठकर ही सुन सकते हैं। कलाकार दुनिया के सम्पर्क में आते–आते आता था। अब तो अपने संगणक पर बैठे–बैठे इंटरनेट के माध्यम से दुनिया को अपनी उपस्थिति की ख़बर दे सकता है। अज्ञात कलाकार भी रातोंरात इन माध्यमों से प्रसिद्धि के शिखर पर विराजमान हो सकता है। भारत में कुछ ऐसे कलाकार है जिन्होंने अपनी प्रयोगधर्मिता, उर्वर मस्तिष्क तथा कल्पनाशीलता से पश्चिम व भारतीय संगीत के मेल से कुछ उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। पं. सुरेश तलवलकर और उस्ताद ज़ाकिर हुसैन इसके अनुपम उदाहरण हैं।

वैश्वीकरण के इस दौर में विश्व जितना पश्चिम का है उतना ही हमारा भी है। भारतीय संगीत से 18वीं सदी के अंतिम 25 वर्षों में फ्रांसिस फोक तथा सर विलियम जोन्स ने यूरोप को परिचित कराया। हमारी वीणा ने पश्चिम में अपने लिए सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर लिया। भारतीय शास्त्रीय नृत्य कथकली का प्रदर्शन देखकर एडमंड गिलेस जैसा विचारक अभिभूत मन और गद्‌गद कंठ से कह उठता है ''जब हम कथकली के इस प्रदर्शन को देखकर लौटे तो हमें वास्तव में ऐसा लगा कि पश्चिम जगत् के जिस रंगमंच ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया था, उसकी अब कोई सार्थकता ही नहीं रही और पूर्वी रंगमंच से हमें अभी जितना अधिक सीखना है उसकी कोई सीमा नहीं है।''

कला मंडल के बेल्लतोल ने कृष्णन नायर, रमणकुट्टी नायर तथा गोपी जैसे कथकली नर्त्तकों की कला को पुष्पित पल्लवित किया है। उन्होने भास, कुलशेखर, बर्मन, श्रीहर्ष महेन्द्र विक्रम पल्लम, गोधायन, शक्तिभद्र, कट्टायम राजा, महाराजा स्वाति तिरुनाल इत्यादि के सौन्दर्य बोध को साकार रूप दिया। रुक्मिणि देवी ने भरतनाट्यम नृत्य में नवजीवन का संचार किया। यामिनि कृष्णमूर्ति, शोभानायडू तथा रानी कर्ण कुचीपुड़ी को शिखर पर पहुँचाया। तमिलनाडु की डा0 पद्मा सुब्रह्मण्यम तथा वैजयन्ती माला ने भरतनाट्यम को गौरव प्रदान किया। कल्याणी कुट्टीअम्मा ने मोहिनीअट्टम के यश में वृद्धि की। कत्थक की सितारा देवी, गोपी किशन तथा बिरजू महाराज, मणिपुरी की झावेरी

बहनें, ओडीसी की सोनलमान सिंह हमारी संगीत की दुनिया के गुरू भी हैं तथा हमारी संस्कृति के स्वर को मुखर करने वाले दूत भी हैं। ये हमारे आदर्श हैं। वैश्वीकरण की उपज माने जाने वाले माइकल जैक्सन व मैडोना, भारत के सन्दर्भ में अर्थहीन हैं। पश्चिम की अंधी नकल, स्वयं के छवि निर्माण की प्रवृत्ति, भौतिकता की आंधी में भारतीय संगीत की आत्मा उड़ न जाए, हमें इसकी रक्षा करते हुए, विश्व में जो भी उत्कृष्ट है, उससे समन्वय करते हुए, भारतीय संगीत को नया स्वर देना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. ऋग्वेद संहिता 1–89–1, नाग प्रकाशक जवाहर नगर, नई दिल्ली।
2. आकांक्षी, डॉ. कु0, भारतीय संगीत और वैश्वीकरण – कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीव्यूटर्स नई दिल्ली।

सहायक प्राध्यापक
अवनद्ध वाद्य विभाग
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़

●●●

सूफी साहित्य परम्परा में संगीत

डॉ. इभा सिरोथिया

सूफी भक्ति काव्य और संगीत एक ही रस से अनुप्राणित है। सूफी संत या हृदय की रागात्मिका वृत्ति में काव्य की रस–प्राणता भी है और संगीत की आनन्द माधुरी भी इसी प्रकार काव्य की रस–प्राणता राग–वृति से असंश्लिष्ट नही है। संगीत की आहलादकारिणी मधुरिमा का प्रतिफलन भी प्रेम–राग और रस का ही मनोरम प्रतीक है। आलौकिक आध्यात्मिक स्तर पर देखने पर ये तीनों एक दूसरे का कार्य–कारण से अनुप्राणित प्रेरित और अभिव्यंजित है।

धर्म का प्रवाह, कर्म ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। मध्यकाल में हिन्दू और मुसलमान दो ही प्रधान धर्म भारत वर्ष में थे। हिन्दी साहित्य में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में इन्हीं विभिन्न मतों से प्रभावित होकर भक्ति धारा प्रवाहित हुई। 15वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी के अंत तक देश में भक्ति काव्य की दो धारायें समानान्तर चलती रहीं। व्यापक आलोक में ज्ञान मार्ग एवं भक्ति मार्ग परस्पर विरोधी न होकर अभिन्नतः सम्बद्ध है और वे साधना के दो पक्ष हैं। संत मार्ग एवं भक्ति आन्दोलन दोनों का मूलोद्‌गम वेदों में है, तत्कालीन परिस्थितियों से उन्हें गति प्राप्त हुई। सत्य तो यह है कि दोनों ही इस्लाम के आगमन की दो प्रतिक्रियाएं हैं। एक का उद्‌देश्य हिन्दू मुसलमान धर्म का समन्वय करना और दूसरे का लक्ष्य मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा करना था।[1]

निर्गुण भक्ति काव्य धारा की दो शाखायें प्रथमतः ज्ञानमार्गी एवं द्वितीय शाखा शुद्ध प्रेम मार्गी सूफी कवियों की है। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ' ऊन–सफा सफ्फे अव्वल आदि शब्दों से मानी जाती है। ईसा से आठवीं नवीं शताब्दी के आस–पास इस्लामी संत संसार त्यागी साधक ऊन का प्रयोग करते थे इसलिए उन्हें सूफी कहा गया। जो विद्वान इस 'सूफी' शब्द की उत्पत्ति 'सफ़ा' से मानते हैं उनका कहना है क्योंकि ये साधक पवित्र एवं सादा जीवन व्यतीत करते थे इसलिए उन्हें 'सूफी' कहा गया है। वे पाकीज़ा मिजाज थे – स्वच्छात्मा थे, इसलिए उन्हें सूफी

कहा गया। ये सूफी ब्रह्म ज्ञानी थे। ये आध्यात्मवादी थे। "इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफी 'रहस्यवादी' साधक माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य में सूफी आख्यान काव्य की प्र`माख्यानक काव्य कहते हैं। इन प्रेम कहानियों का विषय तो साधारण होता है पर 'प्रेम की पीर' की जो व्यंजना होती है वह प्रेम इस लोक से परे दिखायी देता है।"[2]

सूफियों के प्रेम संबंधों में खंडन मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर हृदय को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है। जिससे इनका प्रभाव हिन्दुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। सूफी रहस्यवादी ब्रह्म और जीव के मिलन में शैतान को बाधक मानते हैं। इस शैतान से बचने और सच्चा मार्ग दिखाने के लिए सूफी मत में गुरू को बड़ा महत्व दिया गया है। "सूफी मत में संगीत को विशेष महत्व दिया गया है, क्योंकि संगीत मन को केन्द्रित करता है। संगीत के माध्यम से सूफी साधना का अभ्यास होता है। यह संगीत सूफी साधक को भाव विष्टथा में पहुँचा देता है, जिससे वह परमात्मा का साक्षात् करने लगता है। सूफी संत हृदय की पवित्रता पर बहुत बल देते हैं।"[3]

भारतवर्ष में हिन्दू मुसलमानों के माध्य सौहार्द्र व प्रेम बढ़ाने का श्रेय अधिकांशतः सूफी संतों को है। जहाँ एक ओर सूफी संत भारतीय वेदान्त से प्रभावित हुए वहीं अनेक भारतीय भक्त विचारक व संप्रदाय भी सूफी दर्शन से

प्रभावित हुए हैं। भारतवर्ष में सूफी सम्प्रदाय निम्नांकित सम्प्रदाय प्रचलिए हुए हैं :–

1. चिश्तिया सम्प्रदाय
2. सुहरावर्दिया सम्प्रदाय
3. कादिरिया सम्प्रदाय
4. नक्शबदिया सम्प्रदाय

1. चिश्तिया सम्प्रदाय –

चिश्तिया सम्प्रदाय के प्रमुख 'इश्हाक शामी चिश्ती' थे। भारतवर्ष में चिश्ती सम्प्रदाय का वास्तविक प्रचार 'ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती द्वारा हुआ। भारतवर्ष में उनका आगमन 1190 में हुआ। उनका कथन था कि विश्व में सभी धर्मो का मूल उद्गम एक है। ईश्वर एक है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनके विचारों से अत्यन्त प्रभावित थे। आज भी अजमेर स्थित उनकी मजार लाखों हिन्दू तथा मुस्लिम भक्त दर्शनार्थ जाते हैं प्रतिवर्ष उनकी मजार पर मेला लगता है जिसमें उनकी इबादत में कव्वालियां गायीं जाती हैं। गायक वहाँ गाकर अपनी कला को धन्य मानता है। इनके शिष्यों में प्रमुख शिष्य कुतुबुद्दीन बख्तियार थे। इन्हें कुतुबुद्दीन बख्तियार 'काकी' (रोटियों वाला) नाम से प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त फरीद्दीन मसउशकर गंज वाक् फरीद भी इस परम्परा के संत थे। आपके दो शिष्य निज़ामुद्दीन औलिया, व मखदूम अलाउद्दीन अली अहमद साबिक थे। निज़ामुद्दीन को बाबा फरीद ने 20 वर्ष की उम्र में दिल्ली का 'रंगीला' नियुक्त किया। दिल्ली में उनकी मज़ार आज भी है जिस पर उनके मुर्शिद और सम्प्रदाय के लोग प्रत्येक सप्ताह, माह, प्रतिवर्ष श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। वहाँ पर भी कव्वालों का पारम्परिक गीतों का प्रस्तुतिकरण होता है। गायकों का मानना है उनकी दरगाह पर हाजिरी लगाने से कला में एक गज़ब का निखार आता है। उनके प्रमुख शिष्यों में मलिक खुसरो थे।

2. सुहरावर्दिया सम्प्रदाय :–

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। इस सम्प्रदाय में शेख माशूक के बाद चौदह संत हुए । ये दंभ मौला कहलाते थे। भावातिरेक में ये सिंगा बजाते थे। सिंगा बजाकर ये संगीत के द्वारा अपनी भक्ति प्रदर्शित करते थे।

3. कादरिया सम्प्रदाय :–

कादरिया सम्प्रदाय के संस्थापक अब्दुल – कादिर – अल – ज़िनानी (1078–1166) थे। कादिरी सम्प्रदाय का सनातन पंथी इस्लाम से निकट का सम्बन्ध था। दाराशिकोह इस सम्प्रदाय के संतों का बड़ा आदर सम्मान करता था और वह इस सम्प्रदाय के मियां मीर के व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित था अतः इनका मुरीद बन गया। कादिरी सम्प्रदाय में संगीत को कोई भी स्थान प्राप्त नहीं था।

4. नक्शबंदिया सम्प्रदाय :–

ख्वाज़ा बहाउद्दीन नक्शबंदिया इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इस सम्प्रदाय के लोग धार्मिक आडम्बरों का विरोध करते थे। भारतवर्ष में यह सम्प्रदाय विल्ला बेरंग के साथ भारतवर्ष में आया । यह सम्प्रदाय संगीत के विरोधी थे। नक्शबंदी का मानना है अल्लाह–अल्लाह है, जीव–जीव है, जीवात्मा परमात्मा में विलीन नहीं होता। ये निम्नांकित आठ सिद्धान्तों का पालन करते थे :– 1. श्वास में, चेतन्य 2. चरणों पर दृष्टि 3. यात्रा 4. एकान्तवास 5. ईश्वरीय स्मृति 6. ईश्वर के प्रति एकांत गमन 7. ईश्वरीय ध्यान 8. आत्म विस्मृति।

सूफी सम्प्रदाय में संगीत :–

"भारतीय संगीत के विद्यार्थियों को यह तथ्य अपने सम्मुख सदैव रखना चाहिए कि खैबर की घाटी से होकर भारत आने वाले मुसलमानों का स्वभाव, चरित्र तथा संगीत इत्यादि उन मुसलमानों से भिन्न था जो मुसलमान अरब से भारत आये थे।"[4]

प्रसिद्ध संगीत मर्मज्ञ शेख बहाउद्दीन ज़कारिया का संगीत सम्प्रदाय अरबों से अधिक प्रभावित है, ये सुहरावर्दी

परम्परा के प्रसिद्ध संत थे। पंजाब और सिंध के लोक गीतों की धुनों पर इस सम्प्रदाय का प्रभावित अधिक दिखाई देता है।

सूफी संतों ने आहत नाद की उपासना करते हुए परमात्मा की प्राप्ति के लिए सदैव अपने हृदय के प्रेम को व्यक्त किया है। सूफी संत परमात्मा को परम् सत्य मानते हुए उसे परम कल्याणकारी मानते हैं। "सूफी साधना के अन्तर्गत एक पारम्परिक चीज आती है जिसे 'जिक्र' कहते हैं साधारणतः इसे स्मरण, गुण कथन, कीर्तन आदि कहा जा सकता है। 'जिक्र' सूफी संगीत का अनिवार्य अंग है। जिक्र करते–करते आलौकिक रहस्य में लीन होकर सूफी साधक अपनी सुध–बुध खो देते हैं इसे सूफी संगीत की विशेषता कहा जा सकता है अतः अहं रहित उन्मनी अवस्था ही सूफी संगीत है।"[5]

सूफी दर्शन सहज, सरल तथा विश्व बन्धुत्व के सिद्धांतों पर विश्वास करता है। भारत में सूफियों की भूमिका ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती अपने गुरू के आदेशानुसार अजमेर चले आए थे वे वहाँ की लोकधुनों से बेहद प्रभावित हुए। ख्वाजा साहब ने अपने शिष्यों को कव्वाली को सूफ़ियाना कलाम को भारतीय धुनों में गाने की प्रेरणा दी। इनके शिष्यों में वहां के परम्परागत छंद एवं लोकधुनों को आत्मसात् कर राजस्थानी आम बोलचाल की भाषा में ढाल कर इस विधा का अन्वेषण किया ।

सूफी संत कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी को भी भक्तिपरम संगीत में पर्याप्त रूचि थी। कहते हैं कव्वाली सुनते–सुनते ये चार दिन तक भावामग्न रहे और उसी अवस्था में इनकी मृत्यु हो गयी ।

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न सूफी संगीत अमीर खुसरो महान कवि, संगीतज्ञ, वादक, दार्शनिक थे। "आशु कवि खुसरो ने भारतीय संगीत को महान ऊँचाइयों तक ले जाने में अपना योगदान दिया। उन्होंने भारतीय व विदेशी संगीत में ऐसे समन्वयकारी परिवर्तन किए जो आने वाले समय में गेय तथा वाद्य क्षेत्र के लिए क्रांतिकारी रहे।"6

कहा जाता है कि पीर हज़रत निजामुद्दीन औलिया के आशीर्वाद से ही उनके कलाम में मधुरता व कसक आयी गुरू शिष्य का ऐसा अद्भुत सम्बन्ध था कि गुरू के निधन के छः माह पश्चात् उनका भी निधन हो गया ।

उन्होंने सितार ढ़ोलक, तबला जैसे वाद्य यंत्रों का अविष्कार किया साथ ही साथ देसी व विदेशी राग–रागनियों के मेल से नए रागों की रचना की उन्हें हम आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत का स्तम्भ मान सकते हैं।

अमीर खुसरों जी की गुरू भक्ति अप्रतिम थी जब वह अपने गुरू से मिले तो उस शाम अपने घर जाकर माँ के सम्मुख बोले :–

आज रंग है री .....
मोहे पीर पायो निज़ामुद्दीन औलिया
.....निज़ामुद्दीन औलिया जग उजियारो
आज रंग है री
..... मेरे महबूब के घर रंग है री .....

अमीर खुसरो जी को तराना व कव्वाली का अविष्कारक भी माना जाता है। उनकी विशेषता थी किसी भी ध्वनि को सुनकर राग में ढाल देते थे। कहते हैं एक रुई धुनिए की तांत की आवाज़ पर उन्होने कहा :–

दर पये जाना जां, हम रफ़्त, जां हम रफ़्त, रफ़्त–रफ़्त जां हम रफ़्त

'राग दर्पण' नामक पुस्तक में खुसरो द्वारा बनाए गए निम्नलिखि रागों का उल्लेख मिलता हैः

राग मुजीर ग़नम
ज़ील्फ़ वास्तर्ज
ऐमन उरशाक
फ़रगाना सरपर्दाह

"सूफी संगीत के अन्तर्गत तत्कालीन सभाओं को मेहफ़िले – समाअ कहा जाता था और गायन करने वाले

गायकों को प्रायः मुगन्मी, मुतरिब व गोयन्द ! कहा जाता है। सूफी साधना के तहत जिस किस्म के संगीत का वर्णन किया गया है वो कहीं और देखने सुनने में नहीं आता।"7

भारतीय संगीत को चिश्ती परम्परा के सूफियों ने बेहद प्रभावित किया। सूफी लोग प्रेम मार्गी थे। सूफियों की खानकाहों पर महफिलों का आयोजन होता था। सूफी अपने साथ अरबी तथा फारसी संगीत लाए थे उन्होंने भारतीय संगीत निरखा – परखा और अरबी ईरानी संगीत का भारतीय संगीत में मिश्रण करके उसे ऐसा रूप प्रदान किया जो सारी दुनिया के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया ।

संदर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां, डॉ0 शिव कुमार शर्मा अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ0सं0 – 124।
2. हिन्दी भक्ति काव्य एवं गायन संगीत, इभा सिरोठिया, साहित्य संगम, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण पृ0सं0 26।
3. सूफी संगीत राग परम्परा के संदर्भ में डॉ0 सुनील गोस्वामी, अंकित पब्लिकेशन्स, दिल्ली पृ0सं0 41।
4. संगीत चिन्तामणि प्रथम खण्ड, आचार्य बृहस्पति, संगीत कार्यालय हाथरस, प्रथम संस्करण, पृ0सं0 72।
5. SUFISM AND SUFI MUSIC "CULTURAL CONTINUITY IN HISTORICAL PERSPECTIVE EDITOR : DR. JYOTI MISHRA, HORIZON BOOKS Page No. 187.
6. सूफी संत अमीर खुसरो व उनकी शायरी : अंकुर पब्लिकेशन्स संस्करण 2015 पृ0सं0 8।
7. संगीत – मुसलमान और भारतीय संगीत अंक जनवरी 2013, प्रकाशक – संगीत कार्यालय हाथरस पृ0सं0 127।

विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग
आर्यकन्या डिग्री कॉलेज, प्रयागराज

●●●

मैहर घराना एक परिचय

रजनीश सिंह परिहार

प्राचीनकाल से ही हिन्दुस्तानी शिक्षा पद्धति गुरू शिष्य परम्परा पर ही आधारित रही है। इसके अनुसार शिष्यों का एक विशिष्ट समुदाय गुरू से शिक्षा प्राप्त कर रहा होता है, और शिक्षण की यही पद्धति एक परम्परा का रूप धारण करके सम्प्रदाय एवं घराना परम्परा को जन्म देती है। संगीत के संदर्भ में भी ''घराना'' कुछ इसी अर्थो में प्रयुक्त किया जाता है। अर्थात् संगीत का वह विशिष्ट सम्प्रदाय या शैली जिसमें संगीत के मूल तत्व स्वर, लय और ताल की मौलिक जानकारी दी जाए। मध्यकालीन घरानों में सेनिया घराने को सबसे प्राचीन घराना माना गया है। जिसका संबंध संगीत सम्राट तानसेन से जोड़ा जाता है।

मैंहर सेनिया घराने की उत्पत्ति तानसेन की पुत्री–पक्ष के वंशजों द्वारा निर्मित रामपुर सेनिया घराने से हुई है। रामपुर सेनिया घराना मैहर सेनिया घराने का पूर्वज घराना है। मैहर घराने के मूल पुरूष बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ ने पूर्बी बंगाल में अपने पिता तत्पश्चात् कलकत्ता के जिन संगीतकारों से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तालीम ली है, तथा बैंड में काम करने से जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त किया वह सब घराने के लिए आवश्यक सांगीतिक खजाने के तौर पर बाबा की चेतना में काम करता रहा, परन्तु रामपुर में रहकर उस्ताद वज़ीर ख़ाँ

तथा अन्य उस्तादों से प्राप्त तालीम का मैहर घराने के निर्माण में विशेष योगदान है।

बाबा को संगीत का ज्ञान कई जगहों में भटकने के बाद बड़ी कठिनाईओं से अर्जित हुआ था, किन्तु उसकी परवाह किये बिना वे निरंतर आगे बढ़ते रहे संगीत सीखने की अथाह लगन ने ही उन्हें अंततः महानता के चरम शिखर पर आसीन किया। मध्यप्रदेश के सतना जिले का यह सौभाग्य रहा है कि भारतीय संगीत के कला ऋषि उस्ताद बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ ने माँ शारदादेवी की पवित्र नगरी मैहर को अपनी साधना स्थली बनाया तथा मैहर सेनिया घराने की स्थापना कर विश्व के सांस्कृतिक नक्शे में स्थापित किया। बाबा उलाउद्दीन ख़ाँ का निवास स्थान मदीना भवन माँ शारदा देवी के मंदिर के मार्ग पर आज भी स्थित है।

मैहर घराने के कलाकार :– मैहर घराना तंत्री वाद्यों के अन्य घरानों की अपेक्षा ज्यादा प्रचलित है। कुछ संगीतज्ञ मैहर घराने को सिर्फ सरोद वाद्य का घराना मानते है, जबकि ऐसा कुछ नहीं है, चूंकि मैहर घराने के संस्थापक बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ को माना गया है और बाबा सभी प्रकार के वाद्य– सुषिर, घन, अवनद्ध और तत् वाद्य बजाने में दक्ष थे। इस प्रकार मैहर घराने में सिर्फ सरोद नहीं बल्कि सभी प्रकार के वाद्यों की शिक्षा दी जाती है।

मैहर घराने के मुख्य रूप से निम्नलिखित कलाकारों का नाम उल्लेखनीय है –

1. उस्ताद अली अकबर ख़ाँ– सरोद।
2. श्रीमती अन्नपूर्णा देवी– सुरबहार।
3. पं. रविशंकर– सितार।
4. श्री पन्नालाल घोष– बांसुरी।
5. श्री निखिल बनर्जी– सितार।
6. उस्ताद बहादुर ख़ाँ– सरोद।
7. श्री तिमिर बरन भट्टाचार्य– सरोद।

8. श्रीमती शरन रानी – सरोद।

9. श्री राबिन घोष – वायलिन।

10. श्री इन्द्रनील भट्टाचार्य – सितार।

11. श्री ज्योतिन भट्टाचार्य – सरोद।

12. मैहर महाराजा श्री बृजनाथ सिंह – गायन।

मैहर घराने की शैली :– 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' भारतीय कलाओं का मूलभूत सिद्धांत है, सत्य और शिव के साथ सुन्दर का भी विशेष महत्व है, हम इसे अधिक स्पष्टता से इस प्रकार कह सकते है, कि जो सत्य है वह शिव अर्थात् मंगलमय और सुन्दर भी है। सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनो ं शब्दों के द्वारा ब्रह्म को ही अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। ब्रह्म ही सत्य है और वह अखिल विश्व के लिए मंगलकारी एवं सौन्दर्यमय है।

मैहर घराने की वादन कला में आध्यात्मिक पुट है, इस घराने का संगीत अंतर्मुखी है, सच्चे सुरों का लगाव श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर देता है, इस घराने में कृन्तन, जमजमा, मीड, तान, गमक आदि का प्रयोग विशेष रूप से होता है।

मैहर घराने की शैली बहुत ही क्रमबद्ध व सुव्यवस्थित है, वाद्यों का चयन, वाद्य विशेष की प्रकृति, टोनल रेंज व म्युजिकल स्केल आदि पर विशेष ध्यान दिया गया है। अभ्यास हेतु इस घराने में स्वर ज्ञान के लिए गायन पर अत्यधिक बल दिया गया है, हस्त संचालन के लिए विभिन्न प्रकार के अलंकार, पलटे, मूर्च्छनाओं का अभ्यास कठिन तथा बारीक चीजों का प्रयोग मैहर घराने की शैली है। यथार्थ में शाश्वत और शास्त्रीय कला में एक प्रकार के दुर्मेध ा पौरूष और अखण्ड ओज का अनुभव इस घराने के कलाकारों को सुनने के बाद होता है। इस प्रकार मैहर घराने की शैली ओजस्वी, अंतर्मुखी, आध्यात्मिक, प्रभावशाली एवं पूर्ण रूप से समृद्ध है।

वादन की सामान्य पद्धति :–

1. विलम्बित :– स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग।
2. विलम्बित मध्य :– विलम्बित लय से मध्यलय का क्रमिक विकास।
3. मध्यतान :– इसमें गमक, मीड, स्पर्श, कृन्तन व छूट का प्रयोग भांति–भांति होता है। 4. द्रुत :– बोलों का प्रभुत्व रहता है।
5. झाला :– जोड़, झाला लड़ी, लड़गुथाव लड़लपेट।
6. तारपरन :– इसमें मृदंग के बोल रहते है।
7. धुआमांठा :– इसमें समाप्ति होती है।

मैहर घराने की विशेषता :– उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत परम्परा आज संपूर्ण विश्व में मैहर सेनियां घराने के नाम से विख्यात है। जिसके जनक संगीत के महान पुजारी स्वनाम धन्य बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ है। इस परम्परा को ख्याति दिलाने का श्रेय उन समस्त शिष्यों व प्रशिष्यों को जाता है जो इस घराने से सम्बद्ध है।

यदि अन्य घरानों में दृष्टि डाले तो मैहर घराना सर्वप्रथम बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ द्वारा दी गई सांगीतिक दीक्षा से अलग हो जाता है जो उन्होंने बिना जाति व धर्म का विचार किये उदार अन्तः करण से अपने संगीत आश्रम में आये समस्त शिष्यगणों को वितरित की जो आज हमारे समक्ष विशाल परम्परा के रूप में विद्यमान है, ऐसी विशाल परम्परा शायद ही किसी वाद्य घराने की होगी।

1. रागों की शास्त्रीय शुद्धता :– रागों की शास्त्रीय शुद्धता मैहर घराने की विशेषता है। रागों की शुद्धता के बारे में मैहर सेनिया घराने से जुड़े हुए विभिन्न कलाकारों से हुई वार्ता व ई–मेल, नेट एवं इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के शिक्षकों से मिली जानकारी में एक बात सभी ने कही कि संगीत इनके लिये साधना है, मनोरंजन नहीं। रागों को यहां पूजा जाता है, हर प्रकार का रियाज़ या अभ्यास राग के सौन्दर्य की वृद्धि के उद्देश्य से किया जाता है, न कि अपनी तकनीकी कला को दर्शाने के लिए।

2. आलाप पद्धति :– भारतीय वाद्य संगीत परम्परा में कुछ घराने आलाप के लिये कुछ झाले व तान के लिए विख्यात है, किन्तु मैहर सेनिया घराने द्वारा प्रतिपादित ध्रुपदांगी आलाप की जो पद्धति प्रारंभ हुई वैसी आलाप पद्धति अन्य किसी घराने में नहीं हुई। एकमात्र बाबा ही थे जो अपना वादन औचर अंग आलाप या छेड़ से प्रारंभ करते थे।

3. तारों की बढ़त :– सितार वाद्य में सभी घरानों के वादक एक या दो तार पर वादन करते थे 'म, ग, रे, सा' किन्तु मैहर घराने के शिष्यों को पांच तारो ं पर बजाने की तालीम दी जाती थी इसी कारण मैहर सेनिया घराना अन्य घरानों से पृथक है।

4. अति विलम्बित गत :– पूर्ववर्ती वादकों में यद्यपि मसीतखानी गत बजाने का ही प्रचलन था। जिसकी लय मध्य रहती थी उस्ताद बाबा अलाउद्दीन ख़ाँ ने अति विलम्बित गत बजाने की अपनी विशेष पद्धति प्रारम्भ की जिसमें प्रत्येक स्वर चार–चार, पांच–पांच स्वरों की मीड़ द्वारा विस्तार करके एवं कृन्तन का प्रयोग करके इसका अलंकरण किया जाता है।

उदाहरणार्थ :–

दिर द दिर दा दा दा
गग रे सासा सा सा सा
'नि़रेगमपग रेगरे रेसासा सानि़धनि़ नि़रेसानि़ धनि़सा
रे ग रे ग सा धनि़सा'

5. द्रुतगत :– द्रुतगत में अधिकांशतः उस्ताद लोग रजाखानी या फिरोजखानी गतों का वादन करते थे जो प्रायः सातवीं, नवीं, या बारहवीं मात्रा से प्रारम्भ होने वाली द्रुत गतों की अपनी विशेष पद्धति प्रारम्भ की जो मैहर घराने के कलाकारों द्वारा सर्वमान्य है।

6. वज़ीरखानी गत :– उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ ने अपने गुरू उस्ताद वज़ीर ख़ाँ के नाम पर वज़ीरखानी गत को भी इजाद किया वज़ीरखानी गत इस घराने के कलाकार प्रायः सभी रागों में बजाते हैं यह गत ध्रुवपद पर आधारित रहती है तथा त्रिताल में निबद्ध होती है ऐसे साक्ष्य प्राप्त होते है। इनके बोल इस प्रकार हैः–

दा दिर दा रा, दा दिर दा रा, दा दा रा दिर, दा दिर दा रा

7. तीनताल के अतिरिक्त अन्य तालों में वादन :– प्राचीन काल के उस्तादों द्वारा विलम्बित मध्य या द्रुत गतों का वादन प्रायः तीनताल में ही होता था किन्तु मैहर घराने द्वारा ही अन्य तालों जैसे – रूपक, झपताल, एकताल, पंचमसवारी, चारताल, आडाचौताल, एवं अद्धाठेका इत्यादि तालों में गतों का वादन प्रारम्भ हुआ।

8. पाश्चात्य देशों में प्रचार–प्रसार :– भारतीय वाद्य संगीत का पाश्चात्य देशों में प्रचार–प्रसार एवं ख्याति दिलाने का श्रेय भी मैहर सेनिया घराने को जाता है। जिसमें उस्ताद अलीअकबर ख़ॉ, पं. रविशंकर शुक्ल, पं. हरिप्रसाद चौरसिया आदि कलाकारों के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

9. मैहर घराने में प्रचलित रागे :– पहाड़ी झिझोटी, भैरव, पीलू, सिंध भैरवी, मिया की मल्हार, तिलक कामोद, बिलावल आदि रागों का वादन मैहर घराने में प्राचीन काल से होता रहा है। हेमन्त हेमबिहाग जैसे कई नव रागों का निर्माण इस परम्परा में हुआ है। गौरी मन्जरी, चारूकेशी, केरवानी, जोग, हंसध्वनि आदि रागों का वादन वर्तमान समय में मैहर घराने के कलाकारों द्वारा खूब किया जाता है। डॉ. हिमांशु विश्वरूप से मिली जानकारी के अनुसार– वैकल्पिक तान, सपाट तान, छन्दयुक्त तान, तिहाई, चक्रदार तिहाई तथा अर्द्धमात्रिक तालों पर आधारित रचनाएँ मैहर घराने की विशेषता है। डॉ. हिमांशु विश्वरूप का कथन है कि वाद्य के अन्य घराने केवल अपने वाद्यों के लिये जैसे जो घराना सितार का है सितार के लिए जो घराना सरोद का है सरोद के लिए प्रसिद्ध है जबकि मैहर घराना एक ऐसा घराना है जो तंत्री एवं सुषिर वाद्यों के लिए भी विश्व में प्रख्यात है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. संगीत रत्नावली, यमन अशोक कुमार, अभिषेक पब्लिकेशन, 2008।
2. भारतीय संगीत के उन्नायक, जैन डॉ. प्रभा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 2002 3. भारतीय संगीत के तंत्री वाद्य, महाडिक डॉ. प्रकाश, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 1994 4. तत् वाद्यों की जननी वीणा, कौर डॉ. नवजीत, निर्मल पब्लिकेशन दिल्ली, 2009।

शोधार्थी, गायन विभाग
इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़, छत्तीसगढ़

●●●

जसरंगी जुगलबंदी

स्नेहा कुमारी

मानव जीवन इस सृष्टि का अभिन्न अंग रहा है। तथा परिवर्तन संसार का नियम है। यही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य की चिंतनशीलता द्वारा नित नए सृजनात्मक एवं क्रियात्मक प्रयोग संपन्न होते हैं। हमारा संगीत भी सृष्टि के इस नियम से अछूता नहीं रहा है। एवं प्राचीन काल से ही वर्तमान समय तक संगीत में अनेकों प्रयोग एवं परिवर्तन देखने को मिल जाते हैं। इस प्रयोग एवं परिवर्तन के अंतर्गत वर्तमान समय में जुगलबंदी संगीत के प्रकार का प्रादुर्भाव हुआ है।

संगीत के क्षेत्र में जुगलबंदी का प्रचलन 12 वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ है। ऐसा माना जाता है कि, अलादीन खिलजी के दरबार में गोपाल नायक एवं अमीर खुसरो ने सर्वप्रथम 1292 ई. में जुगलबंदी का प्रदर्शन किया था।

प्राचीन काल से ही भारतीय शास्त्रीय संगीत में दो गायकों द्वारा एक साथ युगलगान प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। ये गायक या तो आपस में भाई होते या फिर एक ही गुरु के शिष्य। इस जुगलबंदी में एक गायक द्वारा बढ़त की जाती, तो दूसरा गायक वापसी में उस बढ़त को पुरा करता या अपने स्वर को उनके साथ मिला देने का काम करता था। यह पूरी प्रक्रिया एक प्रतियोगिता पूर्ण संगीत के स्वरूप को प्रदर्शित करती थी, इसके द्वारा संगीत के मुख्य उद्देश्य को क्षति पहुँचती थी।

आधुनिक काल में जुगलबंदी के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। इसके अंतर्गत कलाकारों द्वारा उच्चस्तरीय धनात्मक एवं सृजनात्मक अभ्यास किया जाता है, इसमें कलाकारों का प्राथमिक उद्देश्य अपनी सिद्धहस्त कलाकारी द्वारा शास्त्रीय संगीत की शुद्धता को कायम करते हुए अपनी कल्पना शक्ति द्वारा नवीन सांगीतिक बढ़त सृजित किए जाते हैं। हालाँकि प्रतिभाशाली कलाकारों के बीच अभी भी कहीं ना कहीं थोड़ी बहुत भी प्रतियोगिता की भावना . ष्टिगत हो ही जाती है। यह प्रतियोगिता दर्शकों एवं श्रोताओं के लिए आकर्षण का काम करती हैं।

'जुगलबंदी' शब्द का निर्माण दो शब्द जुगल एवं बंदी के मिलने से हुआ है। इसमें जुगल का अर्थ दोहरे अथवा जोड़े से है, वहीं बंदी को बँधे हुए अथवा गूँथे हुए के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। जुगलबंदी शब्द का व्यवहार सामान्य जीवन में विभिन्न अर्थों में किया जाता है। वहीं संगीत जगत में इसको सहगायक, सहवादक, सहकथक के रूप में समझा जा सकता है।

जुगलबंदी को जुगलबंधी भी कहते हैं1।हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में जुगलबंदी के कई प्रकारदेखने को मिल जाते हैं। जैसे गायन जुगलबंदी, वादन जुगलबंदी, यूजन जुगलबंदी, नृत्य जुगलबंदी, गायन के साथ नृत्य की जुगलबंदी, अथवा वादन की जुगलबंदी इत्यादि।

गायन जुगलबंदी की दो शैलियाँ प्रचलित एवं लोकप्रिय हुई हैं – ख्याल जुगलबंदी एवं ध्रुपद जुगलबंदी। ध्रुपद शैली जहाँ प्राचीन शैली के रूप में विद्यमान है। वहीं वर्तमान समय में ख्याल गायन शैली ने इसके विकल्प के रूप में अपने आप को मजबूती प्रदान की है। ख्याल शैली में बढ़त करने की सम्भावनाएँ ज्यादा होती हैं। क्योंकि इसकी ताल – लय ध्रुपद के वनस्पत लचीली होती है। तथा बंदिशें भी श्रृंगारिक होने के साथ ही भक्ति पूर्ण भी होती हैं। ख्याल गायन शैली में जुगलबंदी की परम्परा ने ज्यादातर संगीत धरानों में हीं विकास किया है। कुछ घरानों ने तो जुगलबंदी के कारण हीअपना स्थान कायम किए हुए हैं। इसमें हम 'श्याम चौरसिया' घराने को उदाहरण के रूप में देख सकते हैं।

वर्तमान समय में भारतीय शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अपना गौरवमई इतिहास रचने वाले पंडित जसराज के नाम से कौन संगीत प्रेमी अवगत नहीं होगा। पूरे विश्व में इनके द्वारा शास्त्रीय संगीत की जो ज्योत जलाई गई है, वह अविस्मरणीय है। पंडित जसराज बचपन से ही ना केवल अन्य कलाकारों को सुनने जाते थे, अपितु उनकी विशिष्टताओं के विषय में चिन्तन – मनन भी करते थे2। उनके कार्यक्रमों को सुनकर एक प्रश्न इनके ह्रदय में हमेशा ही उत्पन्न होता था, कि स्त्री–पुरुष दोनों जब गायक ही होते हैं तो फिर इनके लिए अलग– अलग तानपुरे की आवश्यकता क्यों होती है।

पंडित जी द्वारा इस मुद्दे पर गहन शोध किया गया तथा इन्होंने प्र.ति एवं पुरुष को एक नवीन गायन शैली द्वारा जोड़ने की कोशिश की। पंडित जी का मानना है, संपूर्ण विश्व का निर्माण दो चीजों से मिलकर हुआ है। जैसे शिव– पार्वती, पति– पत्नी, धरती– आकाश, सूर्य –चंद्रमा इत्यादि। दोनों ही एक दूसरे को पूर्ण करते हैं। तथा दोनों के द्वारा एक दूसरे को व्यवस्थित कर उनकी क्षमता का उचित प्रयोग एवं विस्तार किया जाता है।

इसी प्रकार जसरंगी जुगलबंदी में भी पुरुष एवं स्त्री गायक द्वारा अलग–अलग रागों को गाते हुए दोनों के एकात्मक स्वरूप का निर्माण किया जाता है। जसराज ने जुगलबंदी का एक उपन्यास रूप तैयार किया , जिसे मूर्च्छना की प्राचीन शैली में गाया जाता है जिसमें एक पुरूष और एक महिला गायक होते हैं जो एक समय पर अलग – अलग राग गाते हैं3। इसके अंतर्गत स्त्री कलाकार जिस स्केल में गा रही होती हैं, उसका मध्यम पुरुष कलाकार का षड्ज बन जाता है, एवं पुरूष कलाकार का पंचम महिला कलाकार का षड्ज बन जाता है।

इस शैली में षड्ज – मध्यम एवं षड्ज – पंचम भाव से अलग–अलग स्केल में पुरुष एवं महिला कलाकार गाते हैं। जुगलबंदी करते समय कलाकार को रागों के लक्षण एवं उनके वक्र स्वरों को थोड़ा नजरअंदाज करना पड़ता है। तथा दोनों गायक दो अलग–अलग रागों से निर्मित एक बंदिश को गाकर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हैं। जसरंगी जुगलबंदी की प्रस्तुती में दो गायक, दो तबला वादक, दो हारमोनियम वादक और तानपुरा वादक इकट्ठे शामिल होते हैं। अर्थात् हर एक गायक जो राग गायेगा उसके लिए तबला हारमोनियम की संगति होगी4।

इस जुगलबंदी को गाने के लिए बहुत ही सिद्धहस्त कलाकार का होना आवश्यक है। तभी श्रोताओं को इसका पूरा आनंद प्राप्त हो सकेगा। भारतीय शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत बहुत से ऐसे राग हैं जिनमें जसरंगी जुगलबंदी गाई जाती है इनमें प्रमुख हैं –नट भैरव के साथ मधुवंती, कलावती के साथ आभोगी, पूरिया धनाश्री के साथ शुद्ध बसंत, ललित के साथ तोड़ी।

यह एक प्रकार का स्वर संवाद है, जिसके अन्तर्गत दो कलाकारों द्वारा एक दूसरे को न सुनते हुए भी सुना जाता है, एवं सुनते हुए भी नहीं सुना जाता है। तथा अपने गायन द्वारा एक दूसरे के गाये हुए का प्रतिउत्तर अलग राग में दिया जाता है। पं. जसराज द्वारा अपने शिष्यों को इस जुगलबंदी के गायन हेतु प्रशिक्षित किया गया। 1990 ई. में सर्वप्रथम संजीव अभ्यंकर एवं श्वेता झावेरी द्वारा जसरंगी जुगलबंदी का गायन पुने में किया गया।

इस समय तक इस जुगलबंदी का नामकरण नहीं हुआ था। इस कार्यक्रम को श्रोताओं ने बहुत पसंद किया। इस कार्यक्रम में पंडित जी की मित्र मीणा फलनिकर जी भी उपस्थित थी। उन्होंने जब यह गायन सुना तो उन्होंने कहा ' मुझे तो यह जसरस के रंग में रंगी हुई लगती है'। उसी समय से इस जुगलबंदी का नाम जसरंगी जुगलबंदी हो गया।

अंकिता जोशी के अनुसार – यह जुगलबंदी खासा चुनौतीपुर्ण होती है, यह आपकी संगीतात्मकता को बढ़ाती है। राग वही है , स्वरों के एंफसिस में भिन्नता हीं रागों का विभेद पैदा करती है। कितनी सुंदर बानगी है यह , जिसमें पुरूष – स्त्री स्वर प्रतिस्पर्धा न बनकर एक दूसरे के पुरक बनते हैं5।

इसके पश्चात् जसरंगी जुगलबंदी पंडित जी के अनेकों शिष्यों द्वारा सीखी गई एवं अनेकों कार्यक्रमों में इसका प्रदर्शन भी किया गया। संजीव अभ्यंकर एवं श्वेता झावेरी के अलावा अंकिता जोशी, अश्विनी भिड़े देशपांडे, रतन मोहन शर्मा गार्गी सिद्धांत आदि द्वारा भी जसरंगी जुगलबंदी का प्रदर्शन किया गया। 1999 में संजीव अभ्यंकर जी

द्वारा इस जुगलबंदी पर आधारित ऑडियो कैसेट भी सार्वजनिक की गई। जिसे संगीत प्रेमियों ने बहुत ही पसंद किया और सराहा ।

दुर्गा जसराज द्वारा आयोजित की जाने वाली आर्ट एंड आर्टिस्ट कार्यक्रम में संजीव अभ्यंकर एवं डॉ अश्विनी भिड़े देशपांडे जी द्वारा राग अभोगी एवं कलावती में जसरंगी जुगलबंदी की प्रस्तुति की गई6 ।इस कार्यक्रम में तबले का वादन हर्षद कनेतकर एवं अजिंक्य जोशी द्वारा किया गया ।हारमोनियम पर मिलिंद कुलकर्णी एवं तन्मय देवचके जी मौजूद थे। तानपुरा का वादन विद्या धाड़वे एवं भाग्यश्री लागवंकर जी द्वारा किया गया। इसबंदिश का स्थाई एवं अंतरा इस प्रकार है :–

स्थाई
तेरे घर रस बरसत ,
रसिक सजन
अंतरा
सूरसागर अपार
रस की सरितन धार
गुँजत छलकत बरसत।

यह रचना एक ताल में निबंध थी। संजीव जी एवं अश्विनी जी ने बहुत ही मनोरम ढंग से जसरंगी जुगलबंदी की प्रस्तुति की। निम्नलिखित सारणी सं. 1 द्वारा हम इस जुगलबंदी की बारिकी को समझ सकते हैं, कि किस प्रकार दो अलग– अलग राग अलग– अलग स्केल में होते हुए भी षड्ज – मध्यम एवं षड्ज – पंचम भाव द्वारा एकाकार हो जाते हैं। यहाँ पर महिला गायक का मध्यम, पुरुष गायक का षड्ज बन गया एवं पुरुष गायक का पंचम महिला गायक का षड्ज बन गया। इसके अंतर्गत किस प्रकार आभोगी राग, कलावती राग में परिवर्तित हो जाती है, यह स्पष्ट हो जाता है। तथा दोनों गायकों ने अलग–अलग रागों में इस बंदिश को गाकर जसरंगी जुगलबंदी का स्वरूप स्पष्ट किया है।

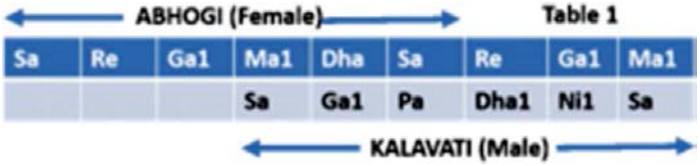

सारणी सं. 1

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि जसरंगी जुगलबंदी हिंदुस्तानी शास्त्रीय गायन प्रदर्शन परंपरा में एक नवीन प्रयोग है। इसमें एक महिला एवं पुरुष के बीच दो रागों द्वारा एक युगल गान प्रस्तुत किया जाता है जिसके द्वारा श्रवण आनंद के विभिन्न स्तरों का निर्माण होता है। यह जुगलबंदी आधुनिक अनुप्रयोग के लिए प्राचीन मूर्च्छना पद्धति को सामने लाती है। इस विचार का विकास एवं इस जुगलबंदी को विकसित करने का संपूर्ण श्रेय पंडित जसराज जी को जाता है। पंडित जी के इस अतुलनीय योगदान हेतु संगीत जगत् सदैवउनका आभारी रहेगा।

संदर्भ सूची :

1. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में प्रयोग एवं परिवर्तन , शोधप्रबंध, नरेश कुमार, पृष्ट सं. 169 , पंजाब विश्वविद्यालय।
2. रसराज पंडित जसराज , सुनीता बुद्धिराजा , वाणी प्रकाषन, पृष्ठ संख्या – 449।
3. प्रभा साक्षी , न्यूज नेटवर्क, 18 अगस्त 2020।
4. बनारस घराने के ख्याल गायन परंपरा की उन्नतशीलता में पद्मभूषण पं. राजन मिश्र एवं पं. साजन मिश्र का योगदान, शोधप्रबंध, प्रभाकर कश्यप, गुरूनानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर ,पृष्ट सं. –85 ।

5. प्रभात खबर, जमशेदपुर, अर्चना शर्मा, 28 जून 2020।
6. https://www.youtube.com/watch?v=S-q4K_z_Ob8

जसरंगी जुगलबंदी का गायन करते हुए संजीव अभ्यंकर एवं अस्विनी भिड़े देशपांडे।

शोध छात्रा
स्नातकोत्तर संगीत विभाग
ति. मां. भा. वि. वि., भागलपुर

●●●

पदम् श्री पं0 रामचतुर मल्लिक के ध्रुपद गायन का परवर्ती प्रभाव

डॉ. सुघा कुमारी

पं0 रामचतुर मल्लिक का जन्म मिथिला के अमता गाँव में हुआ जहाँ सदियों से गायन की परम्परा थी। यह परिवार पं0 रामचतुर मल्लिक के जन्म से पहले शास्त्रीय गायन के रूप में अमता घराना के नाम से स्थापित था। अमता गाँव मिथिला नरेश राजा माधव सिंह (1775–1807) द्वारा संगीत तथा साहित्य के लिए पं0 स्व0 राधाकृष्ण तथा कर्ताराम को उपहार स्वरूप प्राप्त हुआ था । राज दरबार में उन्हें पूर्ण सम्मान प्राप्त था। तथा राज गायक के रूप में भी कर्ताराम थे। कर्ताराम से लेकर पं0 रामचतुर मल्लिक तक विभिन्न अमता निवासी दरभंगा राज गायक के रूप में नियुक्त थे।

भारतीय राग संगीत का मुख्य आधार ध्रुपद है तथा बिहार में अभी ध्रुपद के जितने घराने चल रहे हैं उनमें दरभंगा का अमता घराना सबसे पुराना है। दरभंगा के मल्लिक ध्रुपदियों की परम्परा दो सौ वर्षों की होगी। मल्लिक घराने के पूर्व पुरुषों में राधाकृष्ण और कर्ताराम दो भाई थे, जिन्होंने ध्रुपद की शिक्षा भूपत खाँ 'महारंग' से लगभग तीस वर्षों तक पायी। अमता घराना का मल्लिक ध्रुपदियों में पं0 रामचतुर मल्लिक के कारण ध्रुपद गायकी के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाना जाता है।

रामचतुर मल्लिक के प्रथम गुरू पिता राजित राम मल्लिक, ध्रुपद के आचार्य पंडित छितिपाल मल्लिक के शिष्य थे। द्वितीय गुरू क्षितिपाल मल्लिक थे जो अमता ग्राम के निकट गंगदह ग्राम के निवासी थे। इनकी संगीतिक क्षमता अति प्रसिद्ध थी। बाग्गेयकार के रूप में इनकी प्रसिद्धि सर्वव्यापक थी। साथ ही आगे चलकर पं0 रामचतुर मल्लिक भी इनसे ध्रुपद तथा धमार की शिक्षा ग्रहण किये । ध्रुपद की विभिन्न गायन शैली को वाणी कहा जाता है, जो इस प्रकार है, 1. डागुरहार , 2. गोवरहार, 3. नोहार, 4. खण्डहार वाणी । आचार्य पंडित छितिपाल मल्लिक गोवरहार वाणी के गायक थे। रामचतुर मल्लिक ने क्षितिपाल मल्लिक से ध्रुपद धमार की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य बंदिशों की शिक्षा भी ग्रहण की। इनके तीसरे गुरू रामेश्वर पाठक थे, जो विहटा (बरौनी, जि0 बेगूसराय) के निवासी थे। वे सितार के राष्ट्रीय स्तर के वादक थे। आज के सितार वादक पदम् भूषण रविशंकर ने भी इनसे सितार की शिक्षा प्राप्त की थी। ख्याल अंग की बंदिशों तथा गायकी को रामचतुर मल्लिक ने रामेश्वर पाठक से ही प्राप्त किया।1

कहा जाता है कि उन दिनों दरभंगा राज भारत प्रसिद्ध था। दरभंगा महाराज कामेश्वर सिंह ने रामचतुर मल्लिक जी को अपने यहाँ नियुक्त किया था। दरभंगा दरबार में सोहनी सिंह, रामेश्वर पाठक, माँगन, ब्रह्म नारायण सिंह, भैयालाल जी आदि कलाकारों का भी प्रवेश था। शहनाई वादक विस्मिल्ला खाँ, ठुम्मरी की गायिका सिद्धश्वरी देवी, आदि इस दरबार की शोभा थे। मल्लिक जी सोहनी सिंह और माँगन की ठुम्मरी से विशेष प्रभावित थे। कहा जाता है कि विद्यापति के गीतों को रागवद्ध सर्वप्रथम मांगन ने ही किया था।

राज दरबार में आश्रय होने से रामचतुर मल्लिक जी को अभ्यास से अधिक सुनने का मौका मिला, क्योंकि यहाँ विभिन्न उत्सवों पर देश के चोटी के कलाकार उपस्थिति होते थे। मल्लिक जी को उस्ताद फैयाज खाँ, शहनाई नवाज विस्मिल्ला खाँ, बेगम अखतर, उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ, पंडित रविशंकर तथा कंठे महाराज आदि के सिद्धस्त कलाकारों की गायन सुनने की अवसर प्राप्त हुआ।

मल्लिक जी इन सभी गायकों की गायन शैली में जो खुवी मिलती थी, उसे अपने गले में उतार लेते थे। अर्थात् नामानुकूल श्री मल्लिक चतुर थे। पर उदारता एवं विनम्रता के भी वे उतने की धनी थे। भारतीय संगीत के क्षेत्र में

चतुर शब्द का प्रयोग पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे के लिए सर्वप्रथम हुआ है। क्योंकि वे भी किसी उस्ताद गायन को छिप–छिप कर सुनने के पश्चात स्वर लिपि अवश्य कर लेते थे, जबकि मल्लिक जी गले से गले में गायकी उतार लेते।

उस्ताद फैयाज खाँ की तोड़ी की बंदिश ''गरवा मई संग लाग' जब श्री मल्लिक के गले से सुनी जाती थी तो वास्तव में उस्ताद फैयाज खाँ मूर्तरूप उस वंदिश में दिखाई पड़ने लगता था। मीड़ तथा गमक तो उनको अपनी विरासत में मिली थी। 1945 ई0 के बाद इनका गायन रूप निखर कर प्रत्यक्ष हो उठा, उस समय ध्रुदप गायन शैली कुछ दबी सी थी। ख्याल गायन शैली ही सर्वत्र प्रचलित था। मल्लिकजी 1947 मे देश विभाजन के पहले से पटियाला, जयपुर, काशमीर जैसे प्रसिद्व राज्य के राजा को अपनी गायकी ये अबगत करा चूके थे । उस समय के प्रसिद्व गायक उसताद सलामत अली खॉ, उसताद बडे अली खॉ, उसताद अमीर खॉ आदि इनकी गायकी की प्रशंसक थे ।

रामचतुर मल्लिक गौड़वानी शैली के अप्रतिम ध्रुपद कलाकार थे। उनके विचार में ध्रुपद गायन शैली गंभीर प्रकार की गायन शैली रही है। अकबर के दरबार में तानसेन गौड़वानी के गायक थे आचार्य वृहस्पति के अनुसार गौड़ारी शब्द ग्वालियरी का अपभ्रंश है। यही भाषा ध्रुपद गायकों की शुद्धवाणी है। रामचतुर मल्लिक अपनी परम्परा तानसेन से स्वीकार करते है। तानसेन गौड़वानी ध्रुपद गायन के मणि स्तंभ माने जाते है। इस वाणी के ध्रुपद गायकों द्वारा ही राग शुद्धता, स्वर गांभीर्य, स्वरों के सरल और ललित प्रयोग की प्रस्तुति पर ध्यान दिया जाता है। इस वाणी के गायकों द्वारा कालान्तर में गमकों का व्यवहार स्वरों को सुन्दर बनाने के क्रम में हुआ।

रामचतुर मल्लिक चारो पट ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुम्मरी, टप्पा के सिद्ध गायक के रूप में प्रख्यात थे। विद्यापति के गीतों की ठुमरीनुमा प्रस्तुति में माँगन के पश्चात सिद्ध गायक के रूप में परिगणित होते थे। वास्तव में ध्रुपद गायन शैली गंभीर कही गयी है। ख्याल एवं ठुम्मरी मे चंचलता के कारण ख्याल की पुछ आज भी अधिक हैं। ख्याल आज भी गायक एवं श्रोता दोनों के लिए सुलभ मानी गयी है। दरबार में गायन के समय ख्याल के प्रति साधारण जनता का आकर्षण देख श्री मल्लिक जी ध्रुपद धमार गायन शैली को छोड़कर चतुरता से ख्याल को ही अपना गायन का प्रधान अंग मान लेते, तथा ख्याल, ठुमरी, कजरी, विद्यापति संगीत एवं लोक संगीत इन्हीं को लेकर अपनी प्रस्तुति करते। यह दरबारी गायक थे, अतः दरबार के रंग–ढंग उसके रीति–रिवाज से खूब परिचित थे। मंच पर आते ही श्रोताओं की पसंद जान जाते तथा अपनी प्रस्तुति उसी अनुरूप करते।2

मल्लिक जी कहते थे कि ध्रुवपद मुख्यतः शब्द प्रधान गायन शैली है। इसमें शब्दों के स्पष्ट उच्चारण का विशेष महत्त्व है। शब्दों को प्रभावमान बनाने में स्वर एक माध्यम हैं। शब्द, स्वर तथा लय ताल इन तीनों का सन्तुलित प्रयोग ध्रुवपद गायिकी की विशेषता है। इसके शब्दोच्चारण तथा स्वरों के लगाव में किसी प्रकार का बनावटीपन का होना ध्रुपद गायकी में वर्जित माना गया है। यह गायकी आलाप प्रधान होती है। इसकी शुरुआती आलापों तथा बहलावों के माध्यम से की जाती है। ख्याल की तरह इसमें तान का प्रयोग नहीं होता, परन्तु बोलतान गमक, मींड, आन्दोलन आदि इसके शैलीगत अलंकार हैं। इस गायकी में आलाप दो प्रकार की होती है। पहला गीत आरंभ करने से पूर्व तीन अथवा चार चरणों में किया जाने वाले सम्पूर्ण आलाप, जिसे हम नोम–तोम का आलाप कहते हैं इनमें कलावंत अपनी तैयारी के आधार पर आलाप का प्रदर्शन करता है। दुसरा, पद आरंभ करके शब्दों के साथ आलाप करना।3

मल्लिक जी के द्वारा पुरुष रागों की चर्चा होती थी। लोचन कृत रागतरंगिणी का प्रभाव इन पर परिलक्षित होता है। उनका गायन प्रयोग क्षमता की मौलिकता से पूर्ण होता था। अपनी ओर से जब वे मींड, मूर्च्छना की स्थापना करते, तब अपने घराना के प्रति आस्थावान रहते। इनकी गायकी में चारो पट तथा सुरीली और ओजपूर्ण गायकी का विनियोग दृष्टिगत होता है। मल्लिक जी कहा करते थे कि विदेशों में भी भारतीय संगीत का सम्मान है। भारतीय ध्रुपद संगीत की खुबियों के विशेषज्ञ मल्लिक जी ने संगीत को जीवन से जोड़ने की चेष्टा की।

अमरीका, इंग्लैण्ड एवं जर्मनी के कलाकारों का आगमन इनके यहाँ होता था। वे हिन्दुस्तानी संगीत को शाश्वत मानते थे। मल्लिकजी के आलाप के बाद ही स्रोता अपनी सुधि खोने लगते थे। स्वयं श्री मल्लिक ने कहा था कि

ध्रुपद के आलाप का सिद्धान्त शास्त्रीय संगीत का मूल मंत्र है तथा ध्रुपद भारतीय संगीत परम्परा, इतिहास, ज्ञान आदि का एक नींव हैं, इसलिए 'ध्रुपद का प्रचार तथा उसके सिद्धान्तों की शिक्षा संगीत की रक्षा है। मल्लिक जी भारतीय संगीत के सदा प्रशंसक थे। उनकी मान्यता थी कि संगीत की लहर में लोक कल्याण निहित है। मल्लिक जी ध्रुपद को भारतीय संगीत का मूल स्तंभ मानते थे।[4]

पीटर पैके (पश्चिम जर्मनी) ने उनके सम्बन्ध में कहा है– The greatest praise, however, was showered upon him by his audience. Who calls hire "Dhrupad Samrat" emperor of Dhrupad. Wherever he appeas.

पं0 रामचतुर मल्लिक के ध्रुपद गायन का परवर्ती प्रभाव के निरुपण के क्रम में कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत मे ध्रुपद गायन का प्रसार–प्रचार तथा उसके मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा जिस चतुरता से मल्लिक जी ने की उससे मल्लिकजी के ध्रुपद गायन का परवर्ती प्रभाव पड़ना स्वभाविक था और यह विचारणीय भी है।

उनके गायन को आदर्श मानकर परवर्ती गायकों ने इनका ही विशेषतः अनुकरण किया। इनकी शिष्य परम्परा के द्वारा ध्रुपद गायन के वैशिष्टय को प्रकट किया है। इनके द्वारा प्रस्तुत वंदिशें आज भी ध्रुपद गायकों के कंठ में सुरक्षित है। स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग की प्रस्तुति में 'परवर्ती' ध्रुपद गायकों ने मल्लिक जी की शैली को अपनाने का प्रयास किया है। जिस तरह मल्लिक जी ने महाराज के दरबार में अन्य गायकों की कला को ग्रहण करने की चेष्टा की थी और अपने घराने की वाणी को संजोने में अपनी महत्ती साधना प्रकट की। इस प्रतिफलन के द्वारा उनके शिष्यों ने गायन के चमत्कार का अवलोकन किया और मल्लिक जी ने परवर्ती गायकों के प्रति अपनी प्रभावशीलता को बनाये रखा । अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मल्लिक जी के शिष्य के रूप में कई गायकों ने घोषणा की है तथा उनके प्रमाणिक शिष्यों की नामावली भी ज्ञात है।

पं0 रामचतुर मल्लिक के प्रमाणिक शिष्यों एवं नयी पीढ़ी के युवा संगीतकारों में कईयों ने देश–विदेश में मिथिला की प्रतिष्ठा बढ़ाने का सुकार्य किया है। असाधारण प्रतिभा के धनी इन युवा संगीतकारों को यदि सही मार्ग दर्शन और भरपूर संरक्षण मिला तो इसमें संदेह नहीं कि नान्यदेव, विद्यापति, लोचन, आम्रपाली, और रामचतुर मल्लिक सरीखे संगीत–मनीषियों के उत्तराधिकार ये वास्तविक हकदार कहलायेगें। इन्होंने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने में कामयाबी हासिल कर रहे है। विनय शीलता सदव्यवहार और गुणीजन तथा गुरूजनों का कद्र–संगीत में कुछ हासिल करने के लिए स्वर–साधना पर अमल करना आवश्यक है। स्वर–साधना के द्वारा मीड, गमक, मुर्च्छना, आरोही, अवरोही की जिस छटा की प्रस्तुति होति है, उसके आलोक में परवर्ती गायकों की स्वर साधना का मूल्यांकन भी निहित होता है।

पूर्ववती हवेली संगीत और भजन की प्रस्तुति में पारंगत कलाकारों की क्षमता सर्वथा प्रशंसनीय है। मल्लिक जी की शैली का प्रथमानुकूलन बिदेश्वर झा ने किए।[5] लखनौर ग्राम जि0 मधुबनी के निवासी बिदेश्वर झा दुखिया झा के पुत्र थे, इन्होंने 1932 से 1937 तक दरभंगा में मल्लिक जी संग संगति की। बिदेश्वर जी ने इनसे ध्रुपद की विधिवत शिक्षा प्राप्त की तथा इनके साथ अनेक कार्यक्रमों में भी भाग लिया। 1942 में इन्होंने देवघर में संगीतालय की स्थापना की। मल्लिक जी भी कभी–कभी देवघर जाते थे और वहाँ राग अड़ाना, दरबारी में ध्रुपद, धमार, ठुम्मरी तथा विद्यापति गीत, की प्रस्तुति करते थे। स्व0 जयनारायण खवाड़े, स्व0 नारायण फलाहारी, स्व0 चतुरमनि नरौने, स्व0 विष्णुकान्त मठपति, श्री विश्वबन्धु चटर्जी, श्री मुकुन्द दत्त, श्री मोतीलाल, श्री राजनारायण खवाड़े, श्री गोपाल गोविन्द झा आदि इनके प्रमुख शिष्यों में परिगणित है, जिन्होंने ध्रुपद गायन को विस्तार किया। इनकी शैली पर मल्लिकजी के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव को परिलक्षित किया जा सकता है। देवघर छोड़कर ये गाँव में ही रहने लगे थे, इन्होंने ध्रुपद गायन में विविध भजनों तथा श्रृंगार परक पदों की प्रस्तुति द्वारा स्थायी, अन्तरा, आभोग तथा संचारी को संवारने की चेष्टा की। मल्लिक जी की गायन शैली तथा शास्त्रीयता के परिप्रेक्ष्य में विदेश्वर झा की साधना को देखा जा सकता है।

अभय नारायण मल्लिक स्वर्गीय रामचतुर मल्लिक के पद शिष्य माने जाते है।1 अपने समय के युवा पीढ़ी के श्रेष्ठ ध्रुपद गायकों में अग्रगण्य अभय नारायण मल्लिक का दरभंगा के मल्लिक घराने के ध्रुपदियों की परम्परा से संबंध है। इनका जन्म संगीतकारों के परिवार में 19.03.1937 को अमता ग्राम में हुआ। देश के वरिष्ठ गायक पंडित रामचतुर मल्लिक के मार्गदर्शन में इन्हें संगीत का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। ध्रुपद में उच्च एवं विशिष्ट प्रशिक्षण के लिए केन्द्रिय संगीत नाटक अकादमी की फैलोशिप इन्हें प्राप्त हुई। अभय नारायण मल्लिक ठुमरी गायन में भी माहिर है।

गमको की विशिष्ट और ओजपूर्ण अदायगी इनकी गानकला की उल्लेखनीय विशेषता है। देश–विदेश के ध्रुपद एवं संगीत समारोहों में भाग लेकर इन्होंने ख्याति अर्जित की है। अपनी साधना के बल पर ये सफल गायक के रूप में जाने जाते है। 1981 ई0 में अपने गुरू पंडित रामचतुर मल्लिक के साथ रोम में आयोजित विश्व संगीत सम्मेलन में भाग लेकर इन्होंने देश का गौरव बढ़ाया। जर्मनी में आयोजित 'भरत महोत्सव' में भी भाग लिये।

कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय में 10 वर्षो तक ये प्राध्यापक के पद पर रहे। 1985 ई0 में इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ (मध्य प्रदेश) ध्रुपद विभाग में उपाचार्य के पद पर इनकी नियुक्ति हुई। देश के विविध स्थानों के संगीत सम्मेलनों में इन्होंने भाग लिया। ये ध्रुपद के साथ–साथ ख्याल, ठुमरी तथा टप्पा आदि का कुशलतापूर्वक गायन करते है। विद्यापति के पदों को शास्त्रीय स्वरूप प्रदान कर ठुम्मरी की तरह उनकी प्रस्तुति करते हैं। इन्हें ध्रुपद के सिद्धस्त गायक पदम्श्री सियाराम तिवारी की संगीत का लाभ भी प्राप्त हुआ है।

इसी क्रम में विदुर मल्लिक अविस्मरणीय ध्रुपद गायक थे।[6] इन्होंने ध्रुपद गायन शैली का विस्तार किया। वृन्दावन में रहकर इन्होंने संगीत की साधना की। इनके गायन में गांभीर्य के साथ–साथ लय तथा आलाप की प्रभावशालिता की विद्यमानता थी। इन्होंने अमता घराना के गायन की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व किया। इन्होंने कई भजनों की प्रस्तुति के द्वारा श्रोताओं के प्रति आनन्द की सृष्टि की उनके द्वारा ''रे मन समुझि समुझि पग धरिए,'' भजन का बार–बार गायन होता था।

विदुर मल्लिक जी ने ''इनसे नेह कबहु न करिए'' की महती उपासना की। उनके पुत्र राम कुमार मल्लिक भी कुशल ध्रुपद गायक है। ये ध्रुपद, धमार के अतिरिक्त विविध भजन, ठुम्मरी तथा विद्यापति गीतों की प्रस्तुति करते हैं।

श्री चण्डेश्वर झा स्व0 अनन्त लाल झा के आत्मज है। ये छात्रावस्था में ही संगीत और नाटक से संबंधित रहे हैं। राज स्कूल, सी0एम0 कॉलेज, दरभंगा से शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात इन्होंने एम0ए0 की परीक्षा स्वतंत्र रूप में दी। एक बार राज स्कूल की एक सभा में महाराज कामेश्वर सिंह का आगमन हुआ था। वहाँ पं0 रामचतुर मल्लिक जी भी उपस्थित थे। डॉ0 चण्डेश्वर झा ने ''चित चोरवा की री लाग झूलनमा'' गीत की प्रस्तुति किया था। इस पर मल्लिकजी ने प्रसन्नता प्रकट की थी। तब इन्होंने मल्लिक जी से ध्रुपद की शिक्षा प्राप्त की फिर अमता घराने के पं0 बिदुर मल्लिक, प्रेम कुमार मल्लिक तथा राम कुमार मल्लिक से भी ध्रुपद गायन सीखा। ल0 ना0 मि0 विश्वविद्यालय दरभंगा के स्नातकोत्तर संगीत विभाग के अध्यक्ष पद पर भी इन्होंने कार्य किया है। वैसे ये मारवाड़ी महाविद्यालय, दरभंगा में मैथिली भाषा के प्राध्यापक थे। विद्यापति के फाग विषयक गीत का उन्होंने बारंबार गायन किया है। श्रोताओं को कई बार सुनने का मौका मिला है।[7]

पीटर मूलर ने पश्चिम जर्मनी से आकर रामचतुर मल्लिक से ध्रुपद गायन की शिक्षा प्राप्त की है।8 पीटर की साधना की महती प्रशंसा की जाती है। रामचतुर मल्लिक स्वयं इनके विषय में कहते थे कि इनमें सगीत के प्रति सहजाकर्षण है। निरंतर अभ्यास के कारण इनकी गायन क्षमता की सतत् वृद्धि हो रही है। मल्लिक जी के गायन का प्रतिफलन मूलर की गायकी में भी कई विशेषताओं से संयुक्त है। मल्लिक जी के गायन–शैली का अनुकरण परवर्ती कलाकारों ने किया है। इन युवा पीढ़ी के कलाकारों ने अपनी क्षमता और साधना के विनियोग के द्वारा संगीत कला की सार्थकता सिद्ध की है। भारतीय संगीत के प्रति इनकी रूचि का वर्णन करते हुए लिखा गया है–

Mr. Mullers is musician, composer and writer in his own right. He can speak fluent Hindi, Sanskrit and

Maithili and has also studied musicology at BHU. He first heard Dhrupad in the early sixties in Germany a disc by UNESCO to oder Dagar brothers. Later, at the Banaras Dhrupad Mela he heard Pandit Ram Chatur Mallik for the first time and became his sincered mired and a serious lover of Dhrupad inspired by the Dhrupad festivals in India. He organised similar Dhrupad festival one in European, in 1983 and he further organised International Dhrupad festivals in six countires Germany, Switezerland, Holland, France, England and Austria. He feels that delay the response is greater in Europen than in Bihari.[9]

1982 में वृन्दावन के जयसिह घेरा नामक स्थान में ध्रुपद समारोह का आयोजन किया गया था। वहाँ मल्लिक जी के चार गीतों की रिकार्डिंग की गई। उन्होंने क्रमशः राग विनोद, राग सिन्दुरा एवं राग परज की प्रस्तुति की थी। पीटर द्वारा अमता घराने के कई कलाकारों के साथ पं0 रामचतुर मल्लिक जी पश्चिम जर्मनी बुलाए गए। पीटर द्वारा स्वर लिपियों की दुर्लभ पाण्डुलिपियों को भी जर्मनी ले जाया गया।

श्री नवल कुमार मल्लिक–इनके पिता का नाम चन्द्रकुमार मल्लिक था। श्री चन्द्रकुमार मल्लिक भारतीय स्तर के परवावज वादक थे। स्व0 रामचतुर मल्लिक से इनका नजदीकी संबधं था। नवल कुमार मल्लिक गायन के क्षेत्र में जाने–माने कलाकार है। अपने ग्राम अमता में ये नवल किशोर के नाम से जाने जाते है। इन्होंने अपने गुरू पंडित रामचतुर मल्लिक से ध्रुपद गायन की शिक्षा निष्ठा एवं लगन से ग्रहण की। 1960 ई0 के दशक में ये श्री रामचतुर मल्लिक जी के शिष्य थे। संगीत की शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात सिन्दरी के एफ0सी0 आई0 में नौकरी ग्रहण किये। अपनी साधना की सफलता के कारण देश के विभिन्न भागों में जाकर गायन भी प्रस्तुत करते। राँची आकाशवाणी के गायन कलाकार के रूप में भी अवस्थित है तथा सिन्दरी में विभिन्न छात्र–छात्राओं को संगीत का शिक्षा भी देते।

पं0 सियाराम तिवारी जो विष्णुदेव पाठक के नाती थे इनका भी श्री मल्लिक जी से गहरा संबंध स्थापित था। तिवारी जी का आवाज अत्यन्त सुरीली तथा ओजपूर्ण आलाप से परिपूर्ण था तथा अमता के गुणियों के रूप में प्रख्यात थे। भारत सरकार पं0 सियाराम तिवारी को 1971 ई0 में पदम् श्री से सम्मानित किया था।[10] मल्लिक घराने के संगीतज्ञों के समान ये भी विशेष प्रकार की गायकी गाते थे। इनकी गाायकी में विशेषतः ठुमरी गायन शैली में गया अंग का अधिक झलक दिखाई पड़ता था। इनके पिता पं0 बलदेव तिवारी गया अंग का ठुमरी के लिए प्रसिद्ध गायक थे।

पनिचोभ, पचगछिया, बेतिया तथा मधुबनी के कलाकारों ने भी पदम्श्री रामचतुर मल्लिक जी से प्रेरणा ग्रहण की। इनके गायन में शास्त्रीयता की विद्यमानता थी। वस्तुतः संगीतशास्त्र की मर्यादाओं के प्रति इनका विशेष ध्यान रहता था। वस्तुतः इन्होंने अपने शिष्यों के प्रति भी इस भाव को प्रेरित करने की चेष्टा की। लालपुर के पं0 धनेश्वर मिश्र तथा पं0 सुरेश्वर मिश्र ये दोनों ग्वालियर घराना के कलाकार थे इन्होंने भी मल्लिकजी की गायन शैली का अनुकरण किया था। पं0 धनेश्वर मिश्र विविध भाषाओं में मिश्रित गीतों का भी गायन करते थे। इन्होंने ध्रुपद धमार तथा ख्याल की गायकी में महारत हासिल की थी। इनका निवास स्थान दरभंगा में था तथा महारानी कल्याणी छात्रा उच्च विद्यालय में कार्य करते थे।

मल्लिक जी ने अपने गायन से परवर्ती गायकों को प्रभूत प्रभावित किया। इन्होंने भाव जागरूकता की सृष्टि द्वारा महत्वपूर्ण ख्याति अर्जित की। इनके शिष्यों तथा उपशिष्यों के द्वारा भारतीय संगीत का व्यापक प्रचार–प्रसार हुआ। अर्थात् भाव जगत की साधना सर्वोपरि है। मल्लिक घराना भारत के लिए चिर–परिचित सा है। यहाँ के कलाकार अपनी संगीत कला के माध्यम से पंडित रामचतुर मल्लिकजी का नाम उजागर कर रहे है।

गायन के क्षेत्र में अध्ययन तथा अभ्यास की परम् आवश्यकता है। वस्तुतः साधना के द्वारा ही सांगितिक क्षमता का आगमन होता है। ध्रुपद गायन की परम्परा को गतिशील करने में अमता घराने के कलाकारों का योगदान अप्रतिम हैं। यहाँ न जाने कितने कलाकारों का जन्म हुआ तथा सम्प्रति प्रतिभा द्वारा परमानन्द की सृष्टि की है। ध्रुपद गायन शैली को विशेषतया अमता के गायकों द्वारा भारत के अनेक प्रान्तों में संगीत की प्रस्तुति के द्वारा दरभंगा का नाम

ऊँचा किया गया है। वस्तुतः कला की महत्ता सर्वोपरि है। दरभंगा में अभी भी संगीत की साधना दृष्टिगत होती है। रामचतुर मल्लिक के ध्रुपद गायन को आदर्श मानकर परवर्ती गायकों ने इनका ही विशेषतः अनुकरण किया। इनके शिष्य परम्परा के द्वारा प्रस्तुत वंदिशें आज भी ध्रुपद गायकों के कंठ में सुरक्षित है। स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग की प्रस्तुति में 'परवर्ती' ध्रुपद गायकों ने मल्लिक जी की शैली को अपनाने का प्रयास किया जो अनुसंधान है। वस्तुतः मल्लिकजी की साधना के आलोक में इनके शिष्यों ने सम्प्रति अपनी प्रभावशीलता को व्यक्त किया हैं।

पं0 रामचतुर मल्लिक के ध्रुपद गायन का परवर्ती प्रभाव के निरुपण के क्रम में कहा जा सकता है कि ध्रुपद भारतीय संगीत की ऐतिहासिक तथ्य तथा ज्ञान आदि की एक सुदृढ़ स्तम्भ है, इसलिए, ध्रुपद का प्रसार–प्रचार उसके मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा भारतीय संस्कृति की रक्षा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रामचतुर मल्लिक के साथ–साथ उनके घरानों के गायकों ने ध्रुपद–धमार के साथ–साथ ख्याल, ठुमरी, दादरा, तराना, गजल, भजन, होरी, चैती, कजरी, झूला आदि गीतों का भी महत्त्वपूर्ण गायन प्रस्तुत किया है। इन कलाकारों की गायकी में सरसता तथा माधुर्य के साथ–साथ स्वरों का तार–चढ़ाव एवं लयकारी में कठिन प्रयोगों के प्रदर्शन होते हैं। उनके घरानों के गायक अपने गायन में कुल–परम्परा का निर्वाह करते है। पं0 रामचतुर मल्लिक को ध्रुपद सम्राट की उपाधि प्रदान की गई है। वस्तुतः अप्रतिम मेधा सम्पन्न मल्लिक जी भारतीय संगीत के मणि स्तंभ थे।

संदर्भ सूची–

1. प्रो0 अभय नारायण मल्लिक से साक्षात्कार के आधार पर , अक्टूबर, 2009।
2. श्री आचार्य वृहस्पति, संगीत चिन्तामणि, प्रथम खण्ड, पृ0 सं0 64–65।
3. श्री अमरेश चन्द्र चौबे, श्री चन्दनजी शताब्दी परिसंवाद, पृ0 सं0 27।
4. डॉ0 चण्डेश्वर झा, ध्रुपद शिरोमणि रामचतुर मल्लिक, पृ0 डॉ0 चण्डेश्वर झा, ध्रुपद शिरोमणि रामचतुर मल्लिक, पृ0–20।
5. डा0 चन्द्र नाथ मिश्र, संगीत मनिषीः पं0 विदेश्वर झा, पृ0 1 डॉ0 वेद प्रकाश आर्य से साक्षात्कार के आधार पर, 2009–2010।
6. डॉ0 वेद प्रकाश आर्य से साक्षात्कार के आधार पर, 2009–2010।
7. डॉ0 चण्डेश्वर झा, ध्रुपद शिरोमणि रामचतुर मल्लिक, पृ0 73–79।
8. डॉ0 चन्द्र नाथ मिश्र, संगीत तत्व के परिप्रेक्ष्य में विद्यापति पदावली, शोध प्रबन्ध, 1990, पृ0 25–26।
9. द टाइम्स ऑफ इंडिया, पटना रविवार, मार्च 13, 1988, पृ0 सं0 8।
10. https://en.wikipedia.org/wiki/Siyaram_Tiwari_(musician).

●●●

ध्रुपद की उत्पत्ति, विकास तथा वर्तमान स्वरूप

तोपराज सिंह पटेल

धुमार की अपेक्षा ख्याल, ठुमरी आदि शैलियों का आधुनिक प्रचार है , परन्तु संगीत के इतिहास पर यदि .ष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि एक समय ऐसा भी था, जब संगीत जगत में केवल ध्रुपद और धुामार का ही आधिपत्य था। विद्वानों का यह भी मत रहा है, कि प्रारंभिक काल में ईश्वरीय उपासना का सशक्त माध्यम ध्रुपद गायन शैली ही रही है। इसके पश्चात् हिंदू और मुस्लिम राजदरबारों में भी ध्रुपद का आधिपत्य यथावत बना रहा और इस काल को ध्रुपद शैली का स्वर्णिम युग भी माना जाने लगा। तानसेन, बैजू, गोपाल, सदारंग, अदारंग आदि विभिन्न गायक इस शैली के दिग्गज कलाकार माने जाते रहे हैं। साथ ही, हवेली परम्परा में आज भी इस शैली का निर्वाह किया जा रहा है। किन्तु धीर –धीरे इस गायन शैली का स्थान अन्य शैलियों ने लेना प्रारंभ कर दिया और ध्रुपद का आधि ापत्य क्षीण होने लगा। ऐसे समय में संगीतमर्मज्ञों और परम्परागत् घरानेदार बुजुर्ग कलाकारों ने ध्रुपद को संजोये रखा। वर्तमान में भी संगीत विचारकों, गायक एवं वादकों द्वारा इस विषय की महत्ता सुनी जाती है, तो विषय पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। वर्तमान में गायी जाने वाली शैलियों का मूल ध्रुपद शैली में है । यदि यह कहा जाये, कि ध्रुपद ही अन्य गायन शैलियों की जननि है, तो किचिंत मात्र भी असहज नहीं होगा। प्राचीनकाल में सामवेद की पवित्र ऋचाएं लय – तालबद्ध गायी जाती थीं। श्री तुलसीराम देवांगन ने इस संबंध में लिखा है, कि–ध्रुपद गायन का प्रचार होने से पूर्व भारतीय संगीत में प्रबंधु, वस्तु, रूपक आदि गीत शैलियों का प्रचार था। प्रबंधु गान से पूर्व धुरुवा गीत की चर्चा शास्त्रों में प्राप्त होती है। वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति पाणि और लय जहाँ धुरुव रूप में सम्बद्ध रहते थे, उसेध्रुवा कहा जाता था। ध्रुवा गान के पश्चात् प्रबंध गायन प्रचलित हुआ, जिसका सीधे तौर पर संबंध से विषय में संगीतरत्नाकर, संगीतोपनिषत्सारोद्धार, रागदर्पण आदि ग्रंथों में भी चर्चा की गई है। संगीतरत्नाकर में शारंगदेव ने प्रबंधुा के विषय में चर्चा करते हुए इनके तीन भेद माने हैं– (1) सूड, (2) आलिक्रम और (3) विप्रकीर्ण। विद्वानों ने प्रबंध को वस्तु और रूप कभी कहा है। शारंगदेव द्वारा प्रबंधुा के चार धातु उदग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग बताये गये हैं, इनमें से उद्गाह और धुरुव हर प्रबंध में अनिवार्य रूप से कहे गये हैं। शेष धुरुव में विकल्प था वर्तमान में, स्थायी – अन्तरा इन्हीं धातुओं के अवशेष हैं इसी संबंध में डॉ.मुकुन्द लाठ का विचार है, कि उक्त प्रबंधधातुओं को यदि देखा जाये, तो– आज भी ध्रुपद गायन में नामान्तर के साथ यह विद्यमान हैं, जिन्हें स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग के नाम से जाना जाता है। साथ ही, संगीतरत्नाकर में प्रबंध के छः अंग भी बताये गये हैं, जिन्हें स्वर, विरुद, पद, तेनक, पाट और ताल कहा गया है। ध्रुपद एवं धुामार माना जाता है।

संगीतरत्नाकर के रचनाकाल के पश्चात् भारतीय संगीत में अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं। इस समय में भारतीय संगीत को मुगल राजाओं का प्रोत्साहन मिला और अरबी एवं फारसी संगीत के सम्पर्क में आने के कारण राग एवं तत्कालीन प्रचलित गीत शैलियों का स्वरूप और उनकी प्राचीन संज्ञाओं में भी परिवर्तन आ रहा था, जिससे देशी संगीत में प्राचीन प्रबंधों के स्थान पर ध्रुपद, धुमार, ख्याल, कवित्त, दोहा, जकरी आदि प्रचलित हो गये। इनमें प्राचीन प्रबंधों के लक्षण तो विद्यमान रहे, परन्तु उनके स्वरूप में कुछ परिवर्तन आ गये। एक ओर जहाँ संस्.त भाषा का प्रचलन कम होकर देशी भाषाओं का प्रचलन हो रहा था, वहीं दूसरी ओर इस अवधि में संगीत के गीत प्रकारों में भी देशी भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। शारंगदेव के समय में देशी संगीत में 'सालगसूड, ध्रुव और मठ आदि प्रबंधों स्थान लोकप्रिय रहा। शारंगदेव के ही समकालीन सुधाकलश ने संगीतोपनिषत्सारोद्धार में उल्लेख किया है–

"उत्तमोत्तमसूडस्तु सालिगा (सालगा) ख्यो महारसः।प्रवर्तते सुखकरः सोऽयं सर्वजनप्रियः"

अर्थात्, प्रबंधों की रचनायें तथा उनका गायन करने वालों का प्रमाण कम होता जा रहा है, तथापि सालगसूड प्रबंध सरस तथा सर्वजन प्रिय हैं। अतः यह कहा जा सकता है, कि शारंगदेव के समय में प्रचलित शुद्धादि प्रबंध के स्थान पर सालगसूड प्रबंध आधुनिक प्रचलित हो चुके थे, जिसमें देशी भाषा का प्रयोग किया जाने लगा था। विजया चांदोरकरजी रागदर्पण ग्रंथ के आधार पर कहती हैं कि– "फकीरुल्लाह के रागदर्पण (ई.स .1662) (राजा मानसिंह तोमर के मानकुतूहूल का अनुवाद) स्थित वर्णन से यह धुवनित होता है कि इस कालावधि में भले ही प्राचीन प्रबंधों का गायन प्रचलन में रहा हो किंतु इस समय तक भारतीय संगीत में धुरुपद गान विधाा आधुनिक लोकप्रिय हो गई थी। फकीरुल्लाह तथा अबुल फजल के अनुसार इसके अविष्कार तथा प्रचलन का श्रेय ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर को है। राजा मानसिंह तोमर ने पुराने प्रबंधों में परिवर्तन करके उनको देशी भाषा में प्रचलित किया, जिसे धुरुवपद के रूप में जाना गया। इस विषय में सुभद्रा चौधरी ने उल्लेख किया है कि– वास्तव में धुरुपद को विशिष्ट पद रचना और गेय शैली के रूप में प्रतिष्ठित करने ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर (1486–1516 ई.) थे। मधुययुगीय पद शैली के प्रवर्तक भी यही माने जाते हैं। मानसिंह ने विष्णुपदों के रूप में भक्तिपरक पदों की रचना करवाई। एस.एम. टैगोर के अनुसार ग्वालियर सम्प्रदाय का आरंभ मानसिंह तोमर से होता है, जब भारत पर सूफी परम्परा हावी हो रही थी और अरबी, फारसी संगीत में इसके स्वरूप को ढंक लिया था, उस समय राजा मानसिंह तोमर ने ध्रुपद जैसी गंभीर शैली का प्रचार किया और भारतीय संगीत की प्राचीन परम्पराओं को कायम रखने में उल्लेखनीय तथा सराहनीय योगदान दिया। अतः यह कहा जा सकता है कि ध्रुपद शैली का उद्‌गम स्थल पुरातन प्रबंध गायकी की परम्पराओं से ही था, परन्तु इस शैली का प्रचार–प्रसार मुस्लिम संस्कृति के आगमन के समय ही प्रबल हुआ।

इस प्रकार तत्कालीन भारतीय संगीत में ध्रुपद शैली प्रारंभ हुई, जिसका प्रचार – प्रसार राजा मानसिंह तोमर के काल में हुआ, जो कालांतर में गायन की विशिष्ट शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस विषय में ठाकुर जयदेव सिंह का मत है, कि–ध्रुपद का विकास प्रबंधाों से मानते हैं। इतिहास में ध्रुवपद की जानकारी ग्वालियर के राजा मानसिंह के काल में प्राप्त होती हैं। उन्होंने 1486 ई. में सर्वप्रथम इसका गायन किया था, परन्तु उन्होंने इस शैली का अविष्कार नहीं किया है, अपितु प्रचार किया है। आचार्य बृहस्पति ध्रुपद के विषय में कहते हैं , कि–वस्तुतः ब्रज भाषा ध्रुवपद, ध्रुव तथा मंठ इत्यादि सालगसूड प्रबंधों के तत्वों को अपने आप में समेटे हुए हैं। ब्रज भाषा के ध्रुपद में स्थायी नाम धातु स्थाय का स्थानीय है। अन्तरा नामक धातु मंठ जैसे प्रबंधों से आया है। संचारी का अमूल राग संबंधी विशिष्ट वर्णक्रम संचारी में है और समाप्ति का वाचक आभोग प्रबंधों से सीधा आया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि ब्रज भाषा प्रबंधों की भाषा भले ही नहीं हो, परन्तु वे कोई नई उद्‌भावनायें नहीं हैं उनकी मौलिकता योजना में है। मानसिंह तोमर के पंडितों और गायकों ने ब्रज भाषा में ध्रुपद के लिये अपनी सामग्री का संकलन संगीत के परम्परागत् शास्त्रों से ही किया है।10 उद्‌ग्राह के दो खण्ड हैं, जिनकी धुाातु एक सी है। फिर एक खण्ड किंचिदुच्य है। ये तीनों खण्ड दो बार गाये जायेंगे। उद्‌ग्राह का पहला खण्ड ही ध्रुव है। फिर द्विखण्ड आभोग है, उनमें से पहले खण्ड के दो खण्ड हैं, जो एक सी धुाातु वाले हैं और दूसरा खण्ड उच्चतर है। उसी में स्तुत्य का नाम अंकित है। मतान्तर से यह एक उच्च खण्ड ही आभोग में गाना चाहिए। उद्‌ग्राह के आद्य खण्ड धुरुव में न्यास करना है।' सालगसूड प्रबंधा के अंतर्गत धुरुव का लक्षण इस प्रकार लिखा है– इसमें एक – सी धुाातु वाले दो खण्ड और उससे ऊँची धुाातु वाले तीसरे खण्ड से युक्त उद्‌ग्राह को दो बार गाया जाता है। इसी तरह के तीन खण्डों वाला आभोग होता है, जो स्तुत्य के नाम से अंकित और कभी – कभी ऊँचे एक ही खण्ड से युक्त होता है । उद्‌ग्राह के पहले खण्ड को ध्रुव बनाकर उससे समाप्त किया जाता है। हर खण्ड में ग्यारह अक्षरों से शुरु करके क्रमशः एक – एक अक्षर बढ़ाते हुए 26 अक्षरों की अवधि तक ध्रुव के 16 भेद होते हैं, इनमें रस, ताल और फलों का विस्तार से निरूपण शारंगदेव ने किया है। सालगसूड प्रबंधों में दो का स्थान प्रमुख और महत्त्वपूर्ण रहा है। वस्तुतः शारंगदेव

के समय में प्रचलित सालगसूड प्रबंधों के अंतर्गत आने वाले मंठ – प्रतिमंठ ध्रुव आदि में ध्रुव प्रबंध से ध्रुपद की उत्पत्ति आधुनिक तर्क संगत लगती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन प्रबंधों में किये गये कुछ परिवर्तन से ध्रुपद गायन शैली का आविर्भाव हुआ , जिसका प्रचार – प्रसार ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर द्वारा देशी भाषा में सर्वप्रथम किया गया । इस प्रकार ध्रुपद गायन शैली का आर्विभाव हुआ । पं.भावभट्ट ने अपने ग्रंथ अनूप संगीत विलास में ध्रुपद की चर्चा इस प्रकार की है

" गीर्वाणमधुयदेशीय भाषा साहित्यराजितम् ।
द्विचतुवार्क्यसम्पन्नं नरनारी कथाश्रयम्।।
श्रृंगाररसभावाद्यं रागालापपदात्कम् ।
पादान्तानुप्रासयुक्तम् पादान्तयुगकं च वा ।।
प्रतिवादं यत्र बद्धमेव पादचतुष्टयम् ।
उदग्राहधुरुवकाभोगान्तर धुरुवपदं स्मृतम्।।73

अर्थातध्रुवपद की भाषा संस्त या मधुयदेशीय हो सकती है । इसमें दो या चार वाक्य होते हैं , जिनमें नर – नारी की कथा होती है । श्रृंगार रस , भाव इत्यादि होते हैं । यह रागालाप और पद से युक्त होता है । इसका प्रत्येक चरण पादान्त –अनुप्रास (चरण के अंत में मिलने वाली तुक) से अथवा ' पादान्त – यमक (चरण के अंत में प्रयुक्त यमक अलंकार) से युक्त होता है । इस प्रकार के चार पादों का अस्तित्व जहाँ हो और जिसमें उद्गाह , ध्रुवक और आभोग– तीन धातु हों , वह ध्रुवपद कहलाता है ।14 ध्रुपद शब्द दो शब्दों के संयोजन से बना है–ध्रुव और पद।ध्रुव का अर्थ जहाँ ध्रुव तारे से भी है, का तात्पर्य स्थिर , अटल , स्थायी अथवा अपरिवर्तनीय या शाश्वत से है । वहीं पद का तात्पर्य गीत की पंक्ति , चरण या तुक का बोधु कराता है । इन दो शब्दों के संयोजन सेधुरुवपद बना है । अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जिस गीत की चाल स्थिर , धीमी या गाने की पद्धति ठहरी हुई हो तथा जो अपरिवर्तनीय हो , वह ध्रुवपद है , जिसका अपभ्रंशध्रुपद है । आचार्य शारंगदेव ने ध्रुव नामक एक प्रबंध का वर्णन किया है । पद का अर्थ प्रबन्ध में प्रयुक्त भाषाभाग है । ध्रुव नामक प्रबंध में प्रयुक्त पद अर्थात् सार्थक शब्द ही ध्रुवपद हैं । एला इत्यादि प्रबंधों में ध्रुव नामक धुातु में प्रयुक्त पद को श धुरुवपद श कहा जा सकता है । धुरुपद में चार तुकें होनी चाहिए । उसे शुद्ध अक्षरों से युक्त , अच्छे गुरुओं के शिष्यों द्वारा निर्मित तथा यथावसर किसी भी रस से युक्त होना चाहिए। राग और रस में सामंजस्य रहना चाहिए । सुलोचना बृहस्पति ने ध्रुवपद संबंधुी विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि–वह पद जो ध्रुव नामक गेय प्रबंधों में प्रयुक्त हो , वह ध्रुवपद है। अतएव धुरुपद शब्द ध्रुव नामक प्रबंधों के भाषा पक्ष का बोधुाक है।[16] उ. जिया फरीदुद्दीन डागर का मानना है, किध्रुपद एक सभ्यता का नाम है, जिसमें शास्त्रीयता की पूरी पद्धति का भली – भाँति निर्वहन होता है । इस प्रकार ध्रुपद के विषय में प्राप्त विभिन्न तथ्य एवं विद्वानों के आधार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है , ध्रुपद न केवल एक महत्त्वपूर्ण गायन शैली है , बल्कि इसकी प्राचीनता, समृद्धता और प्रयोग से संबंधित तथ्य भी इस गायकी को प्रामाणित आधार प्रदान करते हैं । ध्रुपद का वर्तमान स्वरूप व परम्परायें ध्रुपद एक गान शैली भी है और प्रबंध विशेष भी । प्रबंध के रूप में यह ब्रज या शुद्ध हिन्दी में रचित ऐसे गीत हैं, जिनमें वर्ण्य – विषय की विविधता रहती है । ध्रुपद में पद का बहुत महत्त्व माना गया है। इसमें राज – स्तुति , ईश – स्तुति , प्र.ति – वर्णन , संगीत संबंधित विषयों , ग्राम , मूर्च्छना , स्वर – ताल आदि विषय रहता है, जो चार ताल , तीव्रा , सूलताल आदि में गाये जाते हैं । इसकी संगति पखावज द्वारा होती है , जिससे गंभीरता और भव्यता दिखाई देती है । ध्रुपद के मूल रूप से चार अंग माने गये हैं , जो स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग के नाम से जाने जाते हैं । वर्तमान में स्थायी और अन्तरा, ये दो ही अंग ही अधिकांशतः सुनने में आते हैं । पद रचना की भाँति इसकी गायन शैली का स्वरूप भी विशेष माना गया है , जिसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है– (1) नोम – तोम का आलाप , (2) बंदिश या पद और (3) उपज । प्रारंभ में ' त न री रूं आदि का प्रयोग करते हुए मींड के साथ विलम्बित लय में आलाप

किया जाता है , जिसका संबंध " ?त्वमनन्तं हरिओम् " से माना जाता है । यह आलाप पहले लयरहित और फिर धीरे–धीरे गति बढ़ाकर लयबद्ध रूप में गाया जाता है , जो क्रमशः गमक द्रुत तान का रूप ले लेता है । विलम्बित से शुरू करके द्रुत गति की ओर बढ़ते हुए नोम – तोम आदि के आलाप की क्रिया आकर्षक लगती है । इसके पश्चात् विलम्बित या मधुयलय में ध्रुपद गाया जाता है । तत्पश्चात् उपज की जाती है । इस प्रकार स्वर , ताल और पद , तीनों का उत्ष्ट रूप ध्रुपद शैली में है । इसलिए इसे श्रेष्ठ स्थान दिया गया है और मधुययुगीन राजदरबारों में ध्रुपद गायकों को सर्वोच्च और श्रेष्ठ माना गया । ध्रुपद गान के दो आश्रय स्थल थे– वैष्णव मंदिर और राजदरबार । इन दोनों जगहों पर ध्रुपद के साथ नृत्य की परम्परा भी रही है । धुरुपद की परम्परा मंदिरों और राज –दरबारों से चली आ रही है । इस परम्परा में कुछ प्रसिद्ध घराने प्रचार में रहे हैं , जैसे– डागर , मलिक (दरभंगा) , बेतिया एवं मथुरा घराना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । डागर घराना के संस्थापक स्वामी हरिदास डागर माने जाते हैं । इस परम्परा का सर्वाधिाक प्रचार – प्रसार बाबा गोपालदास ने किया , जो मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार में धार्म परिवर्तन के पश्चात् ईमाम बख्श डागर नाम से दरबारी गायक के रूप में नियुक्त थे । 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 19 वीं शताब्दी तक इस घराने के प्रसिद्ध ध्रुवपदकारों में हैदर खाँ और बहराम खाँ हुए । इस घराने के अन्य प्रसिद्ध ध्रुवपदकारों में जाकिरूद्दीन खाँ , अल्लाह बन्दे खाँ , नसीरुद्दीन डागर , नसीरमोउनुद्दीन , नसीर अमीनुद्दीन , नसीर जहीरूद्दीन , नसीर फैयाजजुद्दीन डागर तथा हुसैनुद्दीन डागर एवं पुत्र सईनुद्दीन डागर प्रसिद्ध हैं । इसी क्रम में उ.जिया मोहिनुद्दीन डागर तथा उ .जिया फरीदुद्दीन डागर भी प्रसिद्ध हैं । डागर घराने का ही समकालीन ध्रुपद घराना बिहार के दरभंगा का मलिक घराना माना जाता है । इस घराने की परम्परा बाबा हरिदास स्वामी के शिष्य व्यंकटराव मतंग एवं तानसेन की शिष्य परम्परा से मानी जाती है । एक मान्यतानुसार इस घराने की शुरुआत पं.रामदास पाण्डेजी द्वारा लगभग 15 वीं शताब्दी में की गई थी । इस घराने के प्रमुख एवं प्रतिष्ठित गायकों में राधाा.ष्ण – कर्त्ताराम , पं.क्षितिपाल मलिक , पं . नरहरि पाठक , पद्मश्री पं.रामचतुर मलिक , पद्मश्री पं.सियाराम तिवारी , पं.विदुर मलिक , पं.रघुवीर मलिक , पं.अभय नारायण मलिक इत्यादि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय उक्त दो घरानों के अतिरिक्त बेतिया के धुरुपद घराने का एक विशिष्ट स्थान है । बेतिया , बिहार के चम्पारण जिले का मुख्य नगर है । ऐसी मान्यता है , कि यहाँ के एक राजकुमार वीरकिशोर ध्रुपद के प्रति आकर्षित हुए और कई धुरुपद गायक उनकी रियासत में दूर – दूर से आये । बेतिया घराने का स्तम्भ आनन्द किशोर सिंह (1816–1838 ई .) को बेतिया घराने के आश्रयदाताओं और उन्नायकों का सिरमौर कहा जाता है । उन्होंने लगभग 1400 ध्रुपदों की रचना की । इस घराने के गायकों में जुमराज मल्लिक , मुकुन्द मल्लिक , तपसी मल्लिक , गोपाल मल्लिक , फजल हुसैन , काले खां , श्यामा मल्लिक , उमाचरण मल्लिक , राजकिशोर मल्लिक , महंत मल्लिक , शंकरलाल मल्लिक आदि प्रमुख हैं । उपर्युक्त घरानों के अतिरिक्त ध्रुपद –धमार के अन्य घरानों में मथुरा दतिया , विष्णुपुर और कालपी आदि घरानों की भी जानकारी मिलती है , परन्तु वर्तमान में ये घराने लुप्तप्राय हैं । वर्तमान में ध्रुपद –धमार गायन के क्षेत्र डागर घराना और दरभंगा घराना ही प्रचार में आधिक सुनाई देते हैं । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है , कि भले ही वर्तमान में ध्रुपद गायक व गायन दोनों सीमित हो गये हों , परन्तु ऐतिहासिक . ष्टि से आज भी इस गायन शैली की वैसी ही गरिमा और प्रभाव है , जैसा मधुयकाल में था । ध्रुपद मात्र एक गायन शैली नहीं अपितु भारत की प्राचीन आध्यत्मिक परम्परा का सबसे सार्थक और शक्तिशाली माधुयम भी है । दुर्भाग्य यह है , कि संगीत के विकास पथ पर आज का युवा धीरे –धीरे इस प्राचीन विरासत और इसके महत्व से दूर होता जा रहा है ।

संदर्भ सूची

1. संगीत (ध्रुपद–धमार अंक), जनवरी–फरवरी, 1964, पृ .10।
2. प्राचीन सांगीतिक परम्परायें एवं ध्रुवपद शैली– एक अध्ययन, अनिता शर्मा, पृ .5।

3. शारंगदेव.त संगीतरत्नाकर, व्याख्या एवं अनुवादकत्री– डॉ.सुभद्रा चौधरी, पृ .16।
4. निबंधसंगीत, लेख –ध्रुपद शैली रू एक विचार, डॉ. मुकुन्द लाठ, पृ .57 5।
5. प्राचीन सांगीतिक परम्परायें एवं ध्रुवपद शैली– एक अध्ययन, अनिता शर्मा, पृ .6।
6. भारतीय संगीत में निबद्ध तथा अनिबद्ध गान प्रबंध शैली का विकास, डॉ.विजया चांदोरकर, पृ .60 7।
7. भारतीय संगीत में निबद्ध (ताल, गीतक, प्रबंध, छंद और ध्रुवा का लक्षण–लक्ष्यमूलक अधुययन), सुभद्रा चौधरी, पृ .306।
8. संगीत मीमांसा, डॉ. मृदुला पुरी, पृ. 89।
9. भारतीय संगीत में निबद्ध तथा अनिबद्ध गान प्रबंध शैली का विकास, डॉ. विजया चांदोरकर, पृ .63।
10. भारतीय संगीत में निबद्ध तथा अनिबद्ध गान प्रबंध शैली विकास, डॉ.विजया चांदोरकर, पृ .63।
11. ध्रुपद– वार्षिकी, वर्ष –1987. लेख –ध्रुपद में ध्रुव, डॉ.प्रेमलता शर्मा, पृ .113।
12. भारतीय संगीत में निबद्ध (ताल, गीतक, प्रबंध, छंद और ध्रुवा का लक्षण – लक्ष्यमूलक अधुययन), सुभद्रा चौधरी, पृ . 270–271।
13. अष्टछापीय भक्तिसंगीत (हवेली संगीत) उद्भव और विकास , भाग – 1–2 , चम्पकलाल छबीलदास नायक, प्रथम मुद्रण, 1983, नई दुनिया प्रिंटरी, इन्दौर , पृ .207।
14. संगीत पत्रिका, ध्रुपद –धमार वार्षिक अंक, सम्पादकीय, जनवरी, 1964, पृ .7।
15. संगीत पत्रिका ,ध्रुपद –धमार वार्षिक अंक, लेख–ध्रुवपद गायकों और ध्रुवपदकारों के आश्रयदाता , जनवरी , 1964. पृ .14।
16. प्राचीन सांगीतिक परम्परायें एवं ध्रुवपद शैली–एक अध्ययन, अनिता शर्मा, पृ .3।
17. अन्तर्नाद रू सुर और साज, विजय शंकर मिश्र, कनिष्क पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण 2004, पृ .136।
18. प्राचीन सांगीतिक परम्परायें एवं ध्रुवपद शैली– एक अध्ययन, अनिता शर्मा, प्राक्कथन, पृ .44।

शोधार्थी –गायन विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, चन्द्रनगर,
पोस्ट –पण्डरिया, कोरबा – 495454

●●●

त्रिपुरा की साउताल जनजाति में प्रचलित गीतों का भावार्थ एवं सांगीतिक विश्लेषण

डॉ. उत्पल बिस्वास

त्रिपुरा प्रदेश भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में से एक है । यह चारों ओर से स्थल भाग से घिरा हुआ एक भूखंड है । यह समुद्र तट से दूर है । त्रिपुरा की सीमा भारतीय राज्यों में असम तथा मिजोरम को स्पर्श करती है । असम त्रिपुरा के उत्तर–पूर्व में तथा मिजोरम दक्षिण–पूर्व में स्थित है । त्रिपुरा तीन ओर से बांग्लादेश से घिरा हुआ भारत की अंतर्राष्ट्रीय सीमा भी बनाता है । बांग्लादेश इसके उत्तर–पश्चिम तथा दक्षिण–पश्चिम में स्थित है । अतः त्रिपुरा की स्थिति भारत के लिए राजनैतिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।

1. पूजा गीत –

ताहारिका रेतारे नानारे ताहारिक रेतारे ना नानारे ।
कारी–कारी तेकारे ज्वलेन,
नेटेल कारी तेकारिम् जबाहालेन,
तकोय बले कारिम ज्वलेन ।
तकोय बले तेकारिम् जबाहालेन ।
देर–देर तेकारिम् जूलेन,
साकाम् साकाम् तेकारि जबाहालेन ।

प्रसंग – साउताल जनजाति के लोग नेतेल नामक फूल के खिल जाने पर बाहाबंगा नामक पूजा करते हैं अतः इस गीत में प्रकृति में नेतेल फूल के खिलने की जानकारी के साथ बाहाबंगा उत्सव मनाने की उमंग का वर्णन मिलता है । इस गीत को इसी उत्सव के अवसर पर स्त्री–पुरूषों के द्वारा गाया जाता है ।

भावार्थ – नेतेल के वृक्ष में फूल के खिलने की जानकारी चारों ओर फैल रही है । सब आपस में उत्सुकता प्रकट करते हुए परस्पर पूछ रहे हैं कि – किसने कहा नेतेल फूल खिल गया है ? किसने कहा नेतेल फूल खिल गया है ?

किसने कहा कि – नेतेल फूल गुच्छे–गुच्छे में खिला है, नेतेल फूल का वृक्ष नीचे से ऊपर तक डाली–डाली में खिला हुआ है ।

नेतेल फूल के वृक्ष फूलों से लद जाने के बाद अब हम बाहाबंगा पूजा करेंगे । नेतेल फूल खिल गए हैं अब हम बाहाबंगा उत्सव मनाएँगे।

मन्तव्य – इस गीत के माध्यम से साउताल जनजाति का प्रकृति से घनिष्ठ संबंध की अभिव्यक्ति होती है ।

सांगीतिक विश्लेषण – साउताल जनजाति के इस पूजा गीत में स्थाई एवं अंतरे की अलग–अलग व्यवस्था नहीं है। गीत की शुरूआत ताहारिका रेतारे नानारे शब्द समूह के उपज के साथ की गई है तथा गीत के पंक्तियों की पुनरावृत्ति की गई है।

गीत के स्वर – इस गीत में मंद्र सप्तक के कोमल निषाद से मध्य सप्तक के पंचम तक स्वरों का प्रयोग हुआ है। इस स्वरावली के अन्तर्गत मंद्र सप्तक के कोमल निषाद, मध्य सप्तक के षड़ज, ऋषभ, मध्यम तथा पंचम तक

के स्वरों का प्रयोग हुआ है। इस स्वरावली के आधार पर गीत में आंशिक रूप से राग मेघ का आभास होता है।

गीत के ताल – गीत को तीन–तीन मात्राओं वाले छंदो में गाया गया है जो ताल खेमटा के सादृश्य है।

गीत की लय – गीत को प्रारंभ से अंत तक मध्य लय में गाया गया है।

संगत के वाद्ययंत्र – इस गीत में संगत के वाद्ययंत्र के रूप में तुमदा (मादल), तकाम (नगाड़ा), त्रिय (बाँसुरी) तथा करताल (मंजीरा) की संगत की गई है।

2. विवाह गीत –

चाँद राकब कानो तीरी,
भाइयो साजाओ एना दाउरा चेतान ।
गाते कड़ी दले चिका आम बाबा–मा पाले आतंग् ।
के दायो गाते कड़ी दले चिकाआम ।

प्रसंग – साउताल जनजाति के इस विवाह गीत में वधु के मन के भावों को अभिव्यक्त किया गया है । वह मन ही मन सोंच रही है कि विवाहोपरांत उसके सभी संगी–साथी छूट जाएँगे ।

भावार्थ – साउताल जनजाति की परंपरानुसार वर–वधु को टोकरी में बैठाकर मंडप में लाया जाता है । इसी रस्म के अनुसार जब वधु को मंडप में लाया जाता है तब वह दुःखी होकर अपनी संगी–साथियों को ढूँढती है तब वयस्क महिलाएँ उन्हें समझाती हैं कि – रोने से अब कुछ नहीं होगा अब तो तुम्हारा विवाह हो रहा है । तुम्हारे माता–पिता ने वर पक्ष से पण लेकर यह विवाह सुनिश्चित किया है । यह बात सुनकर वधु पुनः रोने लगती है और सहेलियों को अपने पास बुलाती है तब वे महिलाएँ पुनः कहती हैं कि – अब तुम्हारी सहेलियाँ भी बुलाने से नहीं आएँगी क्योंकि तुम्हारे माता–पिता ने वर पक्ष से पण ले लिया है अतः तुम्हें विवाह तो करना ही पड़ेगा ।

मन्तव्य – साउताल जनजाति के इस विवाह गीत में लड़की की विवशता को स्पष्ट किया गया है । मानव जीवन में लड़की को विवाह के बाद अपने माता–पिता का घर छोड़ना ही पड़ता है तथा ससुराल में अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है अतः इस गीत के माध्यम से लड़की के मायके छोड़ने की विवशता और आने वाले समय में कर्त्तव्य निर्वाह को अभिव्यक्ति दी गई है ।

सांगीतिक विश्लेषण – प्रस्तुत गीत में स्थाई एवं अंतरे की अलग–अलग व्यवस्था नहीं है तथा गीत में मात्र दो पंक्तियाँ हैं, इन्हीं पंक्तियों को दोहराया गया है । गीत में किसी प्रकार की उपज नहीं है तथा यह गीत पूर्वांग प्रधान गीत है तथा गीत की पंक्तियों में बारह–बारह मात्राएँ हैं ।

गीत के स्वर – साउताल जनजाति के इस गीत को मंद्र सप्तक के कोमल निषाद से मध्य सप्तक के पंचम तक के स्वरों का प्रयोग हुआ है । इस स्वरावली के अन्तर्गत मंद्र सप्तक के कोमल निषाद, मध्य षड़ज, शुद्ध ऋषभ तथा पंचम तक के स्वरों का प्रयोग हुआ है । स्वरों के लगाव की दृष्टि से इस गीत में किसी राग की छाया दिखाई नहीं पड़ती ।

गीत के ताल – गीत में तीन–तीन मात्राओं के छंदों वाले तालों का प्रयोग हुआ है जो खेमटा के सादृश्य है।

गीत की लय – इस गीत को आदि से अंत तक मध्य लय में गाया गया है ।

संगत के वाद्ययंत्र – इस विवाह गीत में तकाम, त्रिय तथा करताल नामक वाद्ययंत्रों की संगत की गई है ।

3. विवाह मिलन गीत (संबंधी मिलन गीत) –

छोटो–मोटो पुकुरि चारकुनिया पुकुरि,
धोबिन बेटी डूबे मोरिल ।
अन् सहे केंवट बेटा सुरूर सुतार जालो हे,
धोबिन बेटी छाके उठावो ।

प्रसंग – साउताल जनजाति के इस संबंधी मिलन गीत को विवाह के अवसर पर वधु पक्ष के लोग गाते हैं । इस गीत में ससुराल में वधु की परेशानियों का चिंतन किया गया है कि मायके के स्वतंत्र वातावरण में विचरण करने वाली पुत्री को अब मर्यादाओं में रहना पड़ेगा ।

भावार्थ – वधु पक्ष के लोग आपस में बातें करते हुए कहते हैं कि – नई वधु के लिए उसका ससुराल चार कोने वाले तालाब जैसा है, उस ससुराल रूपी तालाब में प्रवेश करने के पश्चात् उसका खुली हवा में सांस लेना संभव नही है । वह अनेक रिस्तों की मर्यादाओं तथा उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती हुई मृतप्राय हो जाएगी ।

वधु पक्ष के लोग विचार करते हुए कहते हैं कि – हमारी पुत्री ससुराल रूपी तालाब में डूब कर मर गई है अतः उसे वहाँ से निकालने के लिए हम केंवट भाई से विनती करेंगे कि वह जिस प्रकार तालाब में जाल फेंककर मछली पकड़ता है उसी प्रकार मेरी कोमल बेटी को निकालने के लिए पतली सुतली से बना जाल लाए हम उसे तालाब के पानी से छानकर बाहर निकालेंगे ।

मन्तव्य – साउताल जनजाति के इस विवाह मिलन गीत में वधु पक्ष द्वारा वर पक्ष को वधु के दायित्वों से अवगत कराने के साथ–साथ उन्हें परोक्ष रूप से वधु के प्रति सद्भावना रखने की समझाइश दी जा रही है ताकि वधु ससुराल में दायित्व बोझ से स्वयं को अकेली न समझे बल्कि वह सबके प्रेम–प्यार को पाते हुए हँसी–खुशी कर्त्तव्य पालन करे ।

सांगीतिक विश्लेषण – साउताल जनजाति के इस गीत में मात्र दो पंक्तियाँ हैं अतः इसमें भी स्थाई एवं अंतरे की अलग–अलग व्यवस्था नहीं है, इन्हीं दो पंक्तियों की पुनरावृत्ति की गई है । इस गीत की पंक्तियों में बारह–बारह मात्राएँ हैं तथा इसे सामूहिक रूप से गाया गया है ।

गीत के स्वर – इस गीत में मंद्र सप्तक के कोमल निषाद से मध्य सप्तक के पंचक तक के स्वरों का प्रयोग हुआ है । इस स्वरावली के अन्तर्गत मंद्र सप्तक के कोमल निषाद, मध्य सप्तक के षड़ज, शुद्ध ऋषभ तथा शुद्ध मध्यम तथा पंचम का प्रयोग हुआ है । इस गीत के अंतिम पंक्ति की स्वरावली से राग मेघ का किंचित आभास होता है।

प प – । प प – । म प – । म रे – ।
छो टो ऽ । मो टो ऽ । पु कु ऽ । रि ऽ ऽ ।
प प – । प प – । म प – । म रे – ।
चा र कु । नि या ऽ । पु कु ऽ । रि ऽ ऽ ।
नि़ नि़ – । सा रे – । रे म – । रे रे – ।
धो बि न। बे टी ऽ । डू बे ऽ । मो रि ऽ ।
सा – – । – – – । – – – । – – –।
ल ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ।
रे – – । रे म – । रे म – । रे सा – ।
अ न् ऽ । स हे ऽ । कें व ट । बे टा ऽ ।
म म म । म म – । रे – – । सा – – ।
सु रू र । सु ता र । जा लो ऽ । हे ऽ ऽ ।
नि़ नि़ – । सा रे – । रे म – । रे रे – ।
धो बि न। बे टी ऽ । डू बे ऽ । मो रि ऽ ।
सा – – । – – – । – – – । – – –।
ल ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ।

गीत की लय – इस गीत को प्रारंभ से अंत तक मध्य लय में गाया गया है ।

संगत के वाद्ययंत्र – संगत के वाद्ययंत्रों के रूप में त्रिय तथा करताल का प्रयोग किया गया है ।

सकलन :

साउताल जनजाति में प्रचलित पारंपरिक लोकगीत उसके भावार्थ की जानकारी निम्नलिखित व्यक्ति एवं कलाकारों के साक्षात्कार से प्राप्त हैं– 1. श्री हारान साउताल, हाफलंग चायबागान धर्मनगर उत्तर त्रिपुरा जिला– 20/03/2007, 2. श्री दरबार सिंग साउताल, श्रीमती वदंना साउताल, ब्रम्हकुण्ड सिमना चायबागान, पष्चिम त्रिपुरा जिला– 22/03/2007, 3. श्रीराम साउताल, श्री लाल मोहन सिंग साउताल, श्री दिलीप साउताल, मुर्ति छड़ा चायबागान, उत्तर त्रिपुरा जिला– 21/03/2007

सहायक प्राध्यापक (संगीत)
त्रिपुरा केंद्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा

●●●

भक्ति कालीन (अष्टछापीय) काव्य एवं कथक नृत्य

अमित साखरे

भारत विभिन्न संस्कृतियों का देश हैं, जहॉ इसकी संस्कृति में धर्म एवं आध्यात्म के कई तत्वों ने देश की विभिन्न परिस्थितियों को नई दशा एवं दिशा प्रदान की। भारतीयों ने जहॉ शैव संप्रदाय को अपनाया वही वैष्णव संप्रदाय के भी अलग संप्रदायों ने धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण भक्ति की गाथा को व्यक्त किया। धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों धाराओं में चलता है, और इन तीनों के सामन्जस्य एवं संतुलन से नई दशा का उन्नयन होता है। निश्चित ही कर्म व्यक्ति को निरंतर आगे बढ़ाता है, ज्ञान के बिना व्यक्ति अंधा होता है एवं अज्ञानता उसे अपने मार्ग से भटकाती है, और भक्ति के बिना हृद्यविहिन एवं अशांत चित्त होता है। मध्यकाल के पूर्व की परिस्थितियॉ अशांत एवं अनिश्चितता पूर्ण थी। ''भक्ति काल (1375 ई0–1700 ई0) के पूर्व जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्म भाव का बहुत कुछ हास हो गया था। तत्कालीन समाज धर्म, ज्ञान, और भक्ति से भटक सा गया था। ऐसी स्थिति उत्तर भारत में अधिक थी, परन्तु दक्षिण भारत में ऐसी परिस्थितियॉ नियंत्रित थी। वल्लभाचार्य के सिद्धांतों के व्यवहारिक रूप को पुष्टिमार्ग के नाम से जाना जाता है। पुष्टि मार्ग मूलमंत्र है, –''पोषण तदनग्रह''। अपने कृष्णाश्राय नाम ग्रंथ में पुष्टि शब्द का अर्थ है–अनुग्रह

''भक्ति का सोता दक्षिण की ओर धीरे–धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला'' भक्ति आंदोलन का प्रवाह जो दक्षिण से वहा उसने देश के वातावरण को भक्तिमय कर दिया। इन भक्ति आंदोलन में जहॉ सगुण एवं निर्गुण को मानने वालों ने भक्ति की अलख अपने ईष्ट या आराध्यों के माध्यम से जगाई वही विभिन्न संप्रदायों एवं शाखाओं में प्रेम मार्गी एवं ज्ञान मार्गी में वैष्णवों ने रामभक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा के माध्यम से भक्ति को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। कृष्ण भक्ति शाखा केवल प्रेम स्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली'' इनका प्रभाव निश्चित ही हमारी संस्कृति के मुख्य घटक संगीत एवं नृत्य पर भी पड़ा। शाखा विशेष के कवियों द्वारा रचना रची जाने लगी एवं इनका प्रयोग भी हुआ। कृष्ण को मानने वाले संप्रदायों ने कृष्ण की आराधना में अपने आप को पूर्णतः समर्पित कर कृष्ण को मानने वाले अलग–अलग संप्रदायों को जन्म दिया और भक्ति को एक नई दिशा प्रदान की। इनमें महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी एवं इनके पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी द्वारा संस्थापित अष्टछाप के कवियों का एक महान योगदान रहा।

(1) ये आठों कवि वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के अष्टसखा भी कहलाते है। वल्लभ संप्रदाय कीप्राचीन परंपरा में इनके नाम के साथ यह सखी रूप में भी गिने जाते है। –

क्रं	कवि		कृष्णसखा रूप		सखिरूप
(1)	सूरदास		कृष्ण	–	चम्पकलता
(2)	परमानंददास	–	तोक	–	चन्द्रभगा
(3)	कुम्भनदास	–	अर्जुन	–	विशाखा
(4)	कृष्णदास	–	ऋषभ	–	ललिता
(5)	नंददास		भोज	–	चन्द्रशेखर
(6)	चतुर्भुजदास	–	विशाल	–	विमला

(7) गोविंदस्वामी – श्रीदामा – भामा

(8) छीतस्वामी – सुबल – पद्मा

इन अष्टछाप के कवियों में चार शिष्य महाप्रभु वल्लभ एवं चार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सम्मिलित थे। ''अष्टछाप में परिगणित महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में श्री सूरदास, श्री कुम्भनदान, श्री कृष्ण दास तथा श्री परमानंद दास सहित चार महाकवि थे। और गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी के चार शिष्यों में छीत स्वामी, गोविंद स्वामी चतुर्भुजदास तथा नंददास थे।'' श्री कृष्ण के ईश्वरत्व को आत्मसात कर अष्टछाप के कवियों ने जिस भाव को अपने आराध्य से जोड़ा है, वह शाश्वत है। कृष्ण एक ऐसे पुरूष हैं, जो ललित कलाओं के ज्ञाता एवं रास के अधिष्ठाता है। उनका कला प्रेमी होना उन्हें धीर ललित नायक बनाता है। श्री कृष्ण के इतने सरस मनभावन एवं लोकरंजक स्वरूप का रहस्य वह जीवन संगीत है। हमारे यहॉ नवधा भक्ति की परंपरा में नौ प्रकार से ईश्वर को भजने की परंपरा है– श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, सांख्य, दास्य और आत्मनिवेदन। वहीं कीर्तन में संगीत के साथ नर्तन भी मिलता है, और जिसमें भक्त का हृदय भाव से भरकर नाच उठता है। क्योंकि भक्ति एवं आनंद का चरमोत्कर्ष ही नृत्य को जन्म देता है। भक्ति परंपरा में भक्त हृदय भी भाव से भरकर नाच उठता है। इस भक्ति परंपरा में भक्त कवियों के एकमेव आराध्य श्री कृष्ण संपूर्ण कलाओं के पूर्णावतार माने गये है।

जिन्हें अष्टछाप के कवियों ने भक्ति का आधार बनाया। अष्टछाप कवियों द्वारा रचित रचनाओं में नृत्य के तत्व स्पष्टतः परिलक्षित होते है। इनके द्वारा रचित काव्यों में ऐसी रचना हैं। जिसका संबंध कथक शैली से अधिक दिखाई देता है। इन कवियों द्वारा रास के पदों से संबंधित रचनाऍ की जो रासलीला एवं कथक नृत्य के अधिक निकट है। या इनकी रचनाओं में अंर्तसंबंध को अधिक साहित्य एवं कथक नृत्य से अधिक जोड़ती है। जैसे प्रायः कथक कलाकारों द्वारा सूरदास इत्यादि के पदों पर भी नृत्य करते देखे जाते है। इसी परिपेक्ष्य में कथक नृत्यांगना डॉ. कविता ठाकुर, दिल्ली द्वारा सूरदास के भजन श्री नंद नंद नाचत सुधंग.....रचना सन् 2014 में कथक नृत्य विभाग के द्वारा आयोजित कार्यशाला में यह रचना छात्रों को सिखाई गई। इसी तरह अष्टछापीय कवियों की रचनाऍ भी कथक नृत्य से अंतर्सबंध हेतु आपेक्षित है।

सूरदास :– शिरोमणि एवं श्री राधाकृष्ण युगल की ब्रज लीलाओं के परम मधुर गायक सूरदास जी वल्लभाचार्य के शिष्य थे। राधा कृष्ण युगल प्रेम–भक्ति एवं उपासना विषयक पदों की रचना की थी जिसमें नृत्य के तत्व परिलक्षित होते है

मानो माई घन घन अंदर दामिनी
घन दामिनी दामिनी घन अंतर,शोभित हरि–ब्रज भामिनी।।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई–जामिनि
सुंदर ससि गुन रूप–राग–निधि अंग–अंग अभिरामिनि।।

इस प्रकार की रचनाओं में कथक नृत्य के संबंध में अंगिक अभिनय के माध्यम से प्रदर्शित किया जा सकता है। किस प्रकार यह पद नृत्य के परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त प्रतीत होता है। जिसमें नृत्य के तत्वों का समावेश इन पदों को पढ़ने एवं सुनने से परिलक्षित होता है।

कुंम्भन दास :– गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी द्वारा स्थापित–अष्टछाप के अंतर्गत कुम्भनदास जी साधक होने के साथ–साथ श्री कृष्ण के रसिक भी थे। श्री कुम्भनदास जी ने यहॉ एक ओर श्री राधा कृष्ण–युगल का सौंदर्य वर्णन अपने काव्य में किया था। अपने काव्य में रास एवं महारास लीला के काव्यमय में नृत्यरत दृश्य अंकित है।

रास में गोपाल लाल नाचत मिलि भामिनी
अंस–अंस भुजनि मेलि, मण्डल मथि करत केलि
कनक–बेलि मनु तमाल, स्याम संग स्वामिनी।।
उरप तिरप लाग डाट ग्र ग्र ताता थेई थेई थाट

कुंभनास कृत इस रचना में रास एवं कथक नृत्य के मूल वर्ण ता थेई तत का वर्णन है। एवं उरप तिरप, लाग, डाट जैसे पारिभाषिक शब्द कथक नृत्य के संदर्भ में प्रयुक्त किये जाते है।

श्री नंददास :– नंददास अष्टछाप के संस्थापक बिट्ठलनाथ के शिष्य थे, यह भी राधा–कृष्ण युगल दरबार के रचनाकार भी थे और गायक भी। श्री राधा माधव अपनी नृत्यादि एवं विविध चेष्टाओं को करते है। उसी प्रकार समस्त ब्रजदेवीयां भी आचरण करती है।

देखों री नागर नट, निरतत कालिंदी–तट
गोपिन के मध्य राजै, मुख की लटक।
काछनी किंकनी, कटि पीताम्बर की चटक,
कुण्डल–किरन रवि–रथ की अटक।।
तत थेई तत थेई सबद् सकल घट,

नंददास की इस रचना में कथक नृत्य के बोल तत थेई जैसे बोलों का वर्णन एवं अहार्य का सुंदर वर्णन इस पद में परिलक्षित होता है। प्रस्तुत पद घुंघरू, मुख की सुंदरता एवं कथक को मूल शब्दावलीयों के साथ प्रस्तुत किया गया, मानों ऐसे पद नृत्य प्रस्तुति करने के लिए ही रचे गये है।

अधर बेनु मधुर–मधुर सप्त सुरनि सॉजै।।
उरप तिरप लाग डाट, तत तत थेई तथेई थेई
उघरत शब्दावलि, गति–भेद कोउ न बोंचै।

प्रस्तुत रचना भी कथक नृत्य की मूल शब्दावली की ओर इंगित करती है।

कृष्णदासः– श्री राधा–कृष्ण युगल के अनन्य उपासक एवं रसिक भक्त कवि श्री कृष्णदास अष्टछाप के अंतर्गत वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। महाकवि सुर आदि से संपर्क होने श्री कृष्णदास जी काव्य रचना एवं गीत गायन में निपूर्ण हो गए थे।

नृत्यति सुधंग–अंग–रंग–संग राधिका
गिदि गिदि, ता, तत, थेई–थेई, रास–रंगिनी
मंडल–मध्य नाइक नाचत, मधुर मुरली बाजत
सप्त स्वर सु तान–मान बर सुधंगिनी।

कृष्ण दास द्वारा रचित इस रचना में किस प्रकार से राधिका रूपी नायिका को नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पंक्तियों में राधिका किस प्रकार नृत्य प्रस्तुत कर रही है। इस रचना में भी तत, ता, थेई जैसे–बोलो का प्रयोग कर कथक नृत्य के निकट परिकल्पित किया गया है।

परमानंद दास :– महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के प्रमुख एवं प्रभावशाली शिष्यों में भी परमानंद दास जी का नाम अत्यंत प्रतिष्ठापूर्वक परिगणित है। अपने पिता के समय से ही भगवन चिंतन एवं गुण गायन में तल्लीन रहते थे। सखीभाव भी परमानंद दास जी को अत्यधिक प्रिय रहा है।

नाचत रास में गोपाल संग, मुदित गोकुल की नशि,
तरून तमाल स्याम लाल कनक बेलि प्यारी

प्रस्तुत पंक्तियों में गोपाल के रास दौरान नृत्य करने एवं गोकुल की सभी नायिकाओं के साथ नृत्य करने का वर्णन प्राप्त होता है।

''निरतत मण्डल मध्य नंद लाल
ताल मृदंग संगीत बजत है ततथेई बोलत बाल''

प्रस्तुत पद में भी कथक नृत्य के मूल वर्ण एवं कृष्ण के नृत्यरत होने को बतलाता है।

श्री छीत स्वामी :– अष्टछाप के रसिक भक्त कवि छीत स्वामी चतुर्वेदी ब्राम्हण तथा मथुरा के निवासी थे। गो0

श्री विट्ठल नाथ जी का शिष्यतत्व ग्रहण करने के उपरान्त उनसे प्रमाणित होने पर इनकी शिक्षा प्रतिभा एवं चरित्र तीनों का ही उत्कर्ष सर्व प्रशंसनीय ।

लाल–संग रास रंग लेत मान रसिक खनि
ग्रग्रता, ग्रग्रता, तत तत थेई थेई गति लीने''

सारांशतः कहा जा सकता हैं। छीतस्वामी ने मण्डलाकार रासलीला नृत्य के साथ वसन्त रास का भी चित्रण अत्यन्त मनमोहक रूप में किया है।

श्री गोविंद स्वामी :– यह अष्टछाप के सुप्रतिष्ठित मधुर लीलाओं के गायक श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। प्रारंभ से ही ये भगवन भक्त हो गये थे। प्रतिभावन तो थे ही फलतः पदों की रचना भी करते थे और गाते भी थे। श्री गोविंद स्वामी की ख्याति इस प्रतिभा एवं संगीत शास्त्रीय ज्ञान के कारण दूर–दूर तक थी। नवरत्नों में प्रतिष्ठित तानसेन भी कभी–कभी अपनी गायन संबंधी गुत्थीयों को सुलझाने श्री गोविंद दास जी के पास आया करते थे।

नृतत गोपाल संग राधिका बनी
राका निसि सरद चंद्र प्रकट अंग अंग अनंग।

इस पद में भी गोपाल के नृत्य का वर्णन राधा के साथ किया है। उनका यह नृत्य नटवरी नृत्य संभवतः परिलक्षित हो सकता है।कथक नृत्य एवं भक्ति कालीन रचनाएँ (अष्टछापीय) का अंतसंबंध अधिक दृष्टिगोचर होता है।

कथक नृत्य के संदर्भ में–

''कथक एक प्राचीन नृत्य शैली है। रासलीला मध्य युग में 13वीं शताब्दी से प्रारंभतः लोकनाट्य परंपरा थी। 16वीं शताब्दी के आस–पास ये दोनों कलाएँ संपर्क में आयी इनमें कला सामग्री का आदान–प्रदान हुआ।'' पारम्परिक परम्पराओं से कथक नृत्य का संबंध घनिष्ठ रहा जिसका प्रभाव कथक नृत्य में प्रतीत होता है। भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है यह मान्यता केवल इसी दृष्टि से नहीं हैं, कि इस युग के कवियों के साहित्य में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अद्‌भुत निचोड़ है।

पुष्टिमार्ग के प्रणेता वल्लभाचार्य एवं अष्टछाप के संस्थापक विट्ठलनाथ ने इस अष्टछाप के कवियों का प्रणनयन कर भक्ति अर्थात् कृष्ण भक्ति को एक ऐसा मार्ग दिया जिसने इन अष्टछापीय कवियों के माध्यम से कई रचनाएँ कर इसे नृत्य व संगीत से जोड़ा, चूंकि इन कवियों द्वारा कृष्ण चरित्र को आधार बनाया एवं रचना की इन रचनाओं का संबंध रासलीला एवं कथक नृत्य के साथ अधिक मिलता है। कथक नृत्य में प्रयुक्त वाले विभिन्न मूल शब्द या पारिभाषिक शब्द ता, थेई, एवं उस, तिरप इत्यादि शब्दों का समावेश इन अष्टछापीय कवियों की रचनाओं में अधिक दिखाई पड़ता है। संभवतः इनकी रचनाएँ नृत्य परक अधिक लगती है। जो कथक नृत्य एवं अष्टछापीय साहित्य के अंर्तसंबंध को अधिक निकटता से प्रस्तुत करती है। इन कवियों की रचनाओं में ऐसे तत्व सम्मिलित है। जो सुनने पढ़ने एवं देखने से ही नृत्य की ओर अधिक झुकाव रखते है। कथक नृत्य एवं रासलीला का संबंध बहुत ही समकक्ष है। चाहे वह साहित्य हो या प्रायोगिक तकनीक जैसे–कथक नृत्य की हस्त–मुद्राओं और अंग संचालन को रास नर्तकों ने बहुतायत अपना लिया है। भक्ति कालीन अष्टछापीय कवियों ने कृष्ण को आराध्य माना एवं कृष्ण उनके प्रमुख थे। कृष्ण कथक नृथ्य का केन्द्रिय चरित्र है। और कृष्ण का संबंध नटवरी के रूप में कथक से है। जो मध्यकाल के इस पक्ष एवं कथक नृत्य के अंर्तसंबंध को पुष्ट करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास/आचार्य रामचन्द्र शुक्ल/नमन प्रकाशन दिल्ली संस्करण 2002।
2. ब्रजरासलीला स्वरूप और विकास/डॉ.श्याम नारायण पाण्डे/साहित्य रचनात्मक प्रथम संस्करण–1987।
3. अष्टछापीय भक्ति संगीत/पं. चम्पकलाल छबीतदास नायक/अष्टछापसंगीत केन्द्र, अहमदाबाद/संस्करण–1985।

4. कथक परंपरा / माण्डवी सिंह / स्वाति पब्लिकेशन दिल्ली, 2009।
5. कथक अक्षरों की आरसी / ज्योति बक्शी / म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल / प्रथम संस्करण–2000।

सहायक प्राध्यापक, (नृत्य)
माता जीजाबाई, शास. कन्या स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, इंदौर (म. प्र.)

●●●

कथक की एक सौंदर्य पूर्ण प्रस्तुति 'गतनिकास'

डॉ. जितेश गड़पायले

'गत' का शब्दिक अर्थ है – अवस्था या दशा । जिसमें नर्तक पल्टा लेकर चलन के साथ नायक–नायिका की विभिन्न भंगिगाओं की प्रस्तुत करता है और तदनुरूप विभिन्न अवस्थाओं की आवश्यक क्रिया का भाव तथा अभिनय द्वारा अनुसरण करना ही 'गत' कहलाता है । यहाँ 'गत' से आशय 'गति' से है, जो क्रियात्मक पक्ष का सूचक है । इसी प्रकार 'निकास' का अर्थ 'निकलना', 'आगे बढ़ना' आदि स्वीकार किया जा सकता है । अर्थ विस्तार की दृष्टि से देखें, तो गत या गति शब्द का अर्थ होता है– चाल, अर्थात् एक नृत्यात्मक अवस्था में आगे–पीछे, दायें– बायें या कभी गोल घूमना । अन्य अर्थों में 'गत' शब्द 'भूतकाल' का सूचक है, अर्थात् किसी व्यवहार, प्रकरण या स्थिति आदि का भूतकाल । जबकि नृत्य में 'गत' को 'गति' से जोड़कर देखा गया है । इस प्रकार प्रयोग के आधार पर शब्दों की परिभाषा या आशय में भिन्नता देखी जाती है । तबला या मृदंग के बोलों पर आधारित गत वह रचना है जिसमें नित्य के विभिन्न चालों को प्रदर्शित किया जाता है । कथक नृत्य में गत से संबंधित मुख्य दो प्रस्तुतियां हैं एक गत निकास एवं दूसरा गतभाव ।

'गतनिकास' शब्द मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है गत और निकास । प्रयोग की .ष्टि से 'गतनिकास' गति प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है । गतनिकास का अर्थ विशेष अंदाज में गति के साथ निकलना से है'[1] । गतनिकास का नृत्य की .ष्टि से तात्पर्य किसी एक भंगिमा या स्वरूप को प्रदर्शित करने से है । गतनिकास से नर्तक कथा या किसी भाव विशेष के प्रदर्शन का प्रारंभ करता है इससे किसी भंगिमा विशेष या चरित्र विशेष के प्रदर्शन की विशेषताओं जैसे मुद्रा, तथा चाल आदि को स्पष्ट रूप से देखा या अनुभव किया जाता है । 'गत निकास कथक नृत्य की कथा प्रस्तुतीकरण विधा में संकेतात्मकता का प्रारम्भ है'[2] । गतनिकास कथक नृत्य की 'ऐसी रचना है जिसमें गति है, सौंदर्य है, तथा अर्थ पूर्ण भंगिमा की शुरूआत है । यह रचना छोटी होते हुए भी बहुत असरदार है'[3] । नृत्यात्मक प्रस्तुति का भाव विन्यास है जो पलटा के साथ ततकार के बोलों पर आधारित होता है । इस समय होने वाले नृत्यात्मक क्रिया में कलाकार द्वारा किसी एक भंगिमा में अवस्थित होकर विभिन्न गतियों के माध्यम से विभिन्न आकर्षक चालों को चलते हुए तिहाई लेकर सम पर आने की चेष्टा की जाती है। पल्टों का बार–बार प्रयोग इसे चमत्कारिक बनाता है। 'नर्तक ता थेई थेई तत, आ थेई थेई तत शब्दों को लय में बांधकर सम से सम तक गत के भाव को अंग संचालन, चेहरे के हाव भाव व पैरों की गति से प्रस्तुत करता है'[4] । गतनिकास मुख्यतः तीन ताल में प्रस्तुत किया जाता है चाल या गति प्रदर्शित करते समय नर्तक विभिन्न लयकारियों का प्रयोग करके छोटी सी रचना को विशेष सौंदर्य प्रदान करता है । इस प्रकार 'नर्तक या नर्तकी द्वारा सम से पल्टा लेकर तेजी के साथ सम या खाली पर किसी मुद्रा में खड़े होना निकास एवं उसी निकास की मुद्रा में विभिन्न प्रकार के चाल प्रस्तुत कर अन्त में छोटी सी तिहाई लेना गतनिकास कहलाता है'[5] । इस दृष्टि से गत निकास कथक नृत्य प्रस्तुतीकरण में सौंदर्य प्रधान होने के साथ–साथ विषय प्रधान भी होता है । अतः भाव के आधार पर विभिन्न हस्त मुद्राओं द्वारा प्रकट किए जाने वाले गतनिकास को भिन्न–भिन्न नामों से भी जाना जाता है, जिसमें तांडव की गंभीरता भी देखी जा सकती है और सुकुमार कोमलता जैसे लास्य के लक्षण भी । कलाकार जिस मुद्रा में निकलता है उसी मुद्रा में वह आगे या पीछे चलकर सम पर आने की क्रिया करता है। यह दोनों क्रिया मूलतः प्रयुक्त किए जाने वाले विषय या भाव पर आधारित होते हैं, जैसे छूट की गत, मुरली की गत, घूंघट की गत, रुखसार की गत, तलवार की गत, कटार

की गत आदि । वस्तुतः नाम के अनुसार ही नर्तक की चाल निर्धारित होती है और यही गतनिकास की विशिष्टता भी है । धा धा तूना कत जैसे तबले के बोल से विशेष भंगिमा में नर्तक का स्थिर खड़े होना और आधा आवर्तन उस भंगिमा में ही स्थित होना गतनिकास के विशेष अंदाज को दर्शाता है। रायगढ़ के प्रसिद्ध नर्तक तथा गुरू 'नाव की गत' तथा आँचल की गत का प्रदर्शन बहुत खूबसूरती से करते थे।

गतनिकास के अंतर्गत ताल के आवर्तन में टुकड़े, चलन और तिहाई का एक सुंदर समन्वय होता है । नर्तक इसी आधार पर गत निकास को मुख्यतः दो प्रकार से प्रस्तुत करता है। इसमें आवश्यकता अनुसार बार–बार पल्टा लेना प्रदर्शन को चमत्कृत करता है। इस प्रकार एक विशेष भंगिमा को धारण कर उसमें संबंधित विभिन्न भावों को पल्टा तथा चाल के माध्यम से अभिव्यक्त करना ही गतनिकास है। कथक परंपरा में इसका छोटा रूप जिसमें कम से कम ताल की तीन या चार आवर्तन का तिहाई के साथ पूर्ण होता है, जबकि गतनिकास के विस्तार में आजकल पांच – छः आवर्तन या उससे भी अधिक एक ही नृत्य भंगिमा का विस्तार विभिन्न प्रकार के प्रयोग से करते हैं, जो कलाकार के कौशल या दक्षता को दर्शाता है।

लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में कथक नृत्य को संरक्षण व संवर्धन मिला। वे स्वयं कुशल नर्तक थे। लखनऊ घराने के सुप्रसिद्ध गुरू पं. ठाकुर प्रसाद जी से कथक नृत्य की शिक्षा प्राप्त किये थे। इन्द्रसभा जैसे अनेक नृत्य नाटिकाओं का निर्माण हुआ। इसमें नायक की भूमिका में वे स्वयं होते थे। नवाब वाजिद अली शाह द्वारा लिखित पुस्तक ' नाजो और बन्नी' में विशेष रूप से विभिन्न प्रकार के गतनिकास का विवरण दिया गया है। बन्नी में सोलह चित्र हैं इनके साथ गतों का विवरण तथा नाम भी दिया गया है – 'सलामी गत, दाहिना हाथ गत, बायाँ हाथ गत, फरियाद गत, मुअद्दब गत, नाज गत, गम्ज गत, पेश्वाज गत, मुकुट गत, बनफला घूंघट गत, बंधी सलामी गत, दाहिनी बांकी गत, बांयी बांकी गत और प्यारी गत' ।6 इसके अलावा मचहरी गत, भेंगा गत, ठेंगा गत, लहंगा गत, पंखा गत आदि का संदर्भ मिलता है।

कथक के वर्तमान परिदृश्य में 'गतनिकास' एक ऐसी सम्पूर्ण रचना है जिसमें कथक की कथा है, ठहराव है, सौंदर्य है तथा गति है। गतनिकास के कुशल प्रदर्शन से विभिन्न विशेषताओं के साथ कथक नृत्य के सम्पूर्ण सौंदर्य को देखा जा सकता है।

संदर्भ :–

1. श्री विद्याहरि देशपाण्डे से लिये गये साक्षात्कार से प्राप्त जानकारी के अनुसार दिनांक 24 से 30 सितम्बर, 2016 खैरागढ़ प्रवास।
2. डॉ. पुरू दाधीच कथक नृत्य शिक्षा, भाग–1 पृष्ठ क्रमांक 81।
3. माण्डवी सिंह भारतीय संस्कृति में कथक परम्परा पृष्ठ क्रमांक 205।
4. डॉ. प्रेम दवे कथक नृत्य परम्परा पृष्ठ क्रमांक 237।
5. माण्डवी सिंह कथक नृत्य परम्परा में लच्छु महाराज पृष्ठ क्रमांक 142।
6. अन्जू पाण्डेय '' संगीत जगत में नवाब वाजिद अली शाह का योगदान विश्लेषणात्मक अध्ययन'' शोध ग्रंथ वर्ष 2011 पृष्ठ क्रमांक 284।

सहायक प्राध्यापक कथक नृत्य
नृत्य संकाय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़ छत्तीसगढ़

●●●

रायगढ़ घराने की नायिका प्रधान रचनाओं का सौन्दर्य

डॉ. मानव महंत

कथक नृत्य के रायगढ़ घराने के प्रवर्तक रायगढ़ नरेश संगीत सम्राट राजा चक्रधर सिंह साक्षात कला अवतार पुरुष थे। आपने कथक नृत्य और संगीत कला के साथ–साथ संस्कृत, हिन्दी और उर्दू साहित्य के विकास हेतु अनेकों ग्रन्थों का सृजन किया।

कथक नृत्य के सर्वांगीण विकास हेतु आप आजीवन कार्यरत रहे। आपके द्वारा रचित ग्रंथ ''नर्तनसर्वस्वम्'' इसका प्रमाण है। यह ग्रन्थ कथक नृत्य का सर्वांगीण शास्त्र है। इसमें कथक के शास्त्रीय और प्रायोगिक विधि विधानों का सविस्तार वर्णन है।

''रायगढ़ घराने के अस्तित्व का सबसे बड़ा आधार राजा साहब द्वारा निर्मित नये–ननये बोल आदि चक्रधर परन हैं। जाति और स्वभाव के अनुसार इनका प्रदर्शन किया जाये तो ये मूर्त हो उठते हैं।''

आपके द्वारा रचित ग्रन्थ 'मुरजपर्णपुष्पाकर' पखावज और तबला के दुर्लभ परणों का वृहद् कोष हैं। रायगढ़ घराने के नर्तक इन्हीं दोनों ग्रन्थों के बोल–बन्दिशों का नर्तन करते हैं। यहाँ पर हम ''मुरजपर्णपुष्पाकर'' में लिखित कुछ उत्कृष्ट नायिका प्रधान रचनाओं का सौन्दर्य चित्रण करने जा रहे हैं।

''कथक नृत्य के अभिनय में अष्ट नायिका एवं नवरस आदि विषयों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रयोग होने वाले ठुमरी या गीत सामान्यतः किसी विशेष नायिका या रस के अनुकूल होते हैं, किन्तु राजा चक्रधर सिंह जी इसमें विविधता लाने के लिए कई प्रयोग किये।''

''मुरजपर्णपुष्पाकर'' में नायिकाओं के विभिन्न अवस्थाओं एवं नामो पर आधारित अनेकों परणें लिखी हैं। ये रचनाएँ पखावज और तबले के बोल होने बावजूद भी अपने नाम के अनुकूल नृत्य भावों को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम हैं।

आड़ी रजनीप्रिया परण

+	|	0	|
त – क्क धिकिट	तकिट थुंकिट	दिगिन नागिन	दि–गग दिगन
+	|	0	|
तकिट तगन	तकिट धिकिट	कत गदि गन	धागृद धिकिट
+	|	0	|
धग नन नन	घे नेने ना ना ना	नगन नगन	क–त्त धिकिट
+	|	0	|
घेत्रिक धिकिट	कतिट धा दिंता	तकिट धा–न	धा – किट तक
+	|	0	|
कतिट धा दिंता	तकिट धा – न	धा – किट तक	कतिट धा दिंता
+	|	0	|
तकिट धा – न	धा – – त – क्क	धिकिट तकिट	थुंकिट दिगिन
+	|	0	|

नगिन दि – ग्ग	दिगन नकिट	तगन तकिट	धिकिट कत ग
+	।	0	।
दिगन धा गृद	धिकिट धगन	ननन घे नेने	नानाना नगन
+	।	0	।
नगन क–त्त	धिकिट धेत्रिक	धिकिट कतिट	धा दिंता तकिट
+	।	0	।
धा – न धा – कि	ट तक कत्तिट	धा दिंता तकिट	धा – न धा – कि
+	।	0	।
ट तक कतिट	धा दिन्ता तकिट	धा – न धा – – –	त – क्क धिकिट
+	।	0	।
तकिट थुंकिट	दिगिन नागिन	दि–गग दिगन	तकिट तगन
+	।	0	।
तकिट धिकिट	कत गदि गन	धागृद धिकिट	धग नन नन
+	।	0	।
घे नेने ना ना ना	नगन नगन	क–त्त धिकिट	घेत्रिक धिकिट
+	।	0	।
कतिट धा दिंता	तकिट धा–न	धा – किट तक	कतिट धा दिन्ता
+	।	0	।
तकिट धा – न	धा – किट तक	कतिट धा दिंता	तकिट धा – न
+			
धा0			

यह तिस्र जाति की चक्करदार परण है, जो पखावज के बोलों से निर्मित है। शाब्दिक .ष्टि से परण का अर्थ 'आड़ी' अर्थात् कुटिल, धूर्त, चालाक, चंचल–चपल हठीली और नखरीली आदि स्वभाव युक्त स्त्री से है। 'रजनी' का अर्थ रात्रि और 'प्रिय' का तात्पर्य प्रियतमा अथवा प्रेमिका से है। इस प्रकार आड़ी 'रजनीप्रिया' का अर्थ रातों की रानी से है, जो केवल अपना स्वार्थ सिद्ध हेतु पुरुषों से प्रेम करती है। यह बड़ी ही दुष्ट प्र.ति की होती है। जो अनेकों प्रकार के नाज–नखरों और अश्लील हाव–भाव द्वारा पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित कर अपना काम सिद्ध करती है।

राजा चक्रधर सिंह रचित इस परण का सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने 'गणिका' नायिका के स्वभाव, गुण, धर्म वाली स्त्रियों के चरित्र–चित्रण हेतु ही इस परण की रचना की होगी।

- 'इस परण में निम्न भावों की अभिव्यक्ति होती है–
- प्रथम पंक्ति में– नायक द्वारा प्रेम प्रस्ताव करना।
- द्वितीय पंक्ति के पूर्वार्द्ध भाग में– नायिका का शर्माना, इतराना और नायक को प्रेम हेतु आमंत्रित करना या सहमति देना।
- तृतीय पंक्ति के पूर्वार्द्ध भाग में नायक का उत्तेजित होकर काम हेतु प्रेरित होना और इसी पंक्ति के उत्तरार्द्ध में नायिका द्वारा नायक के लिए अनेकों प्रकार से संदेह करने का विचार आना।
- चौथी पंक्ति में– अपनी शंकाओं को दूर करना।

• पांचवीं पंक्ति में– तिहाई में समर्पण करना आदि भावों द्वारा इस परण के भावों की अभिव्यक्ति की जा सकती है।'

आड़ी रासविलास परण

+	।	0	।
धिकिट तगन	धिकिट तगन	ता–न धा––	ता–न धा––
+	।	0	।
तकिट धा––	घेतिट धा––	घे–न्त धा––	दिग दि– न्ता
+	।	0	।
धा गृद धिकिट	धगन नगन	घेनेने ननन	तिट कता–न
+	।	0	।
तगत दीं––	त–क्क ड़ा–न	धा–– तिट क	ता–न तगत्
+	।	0	।
दीं–– त–क्क	ड़ा–न धा––	तिट कता–न	तगत् दीं––
+	।	0	।
त–क्क ड़ा–न	धा–– धिकिट	तगन धिकिट	तगन ता–न
+	।	0	।
धा–– ता–न	धा–– तकिट	धा–– घेतिट	धा–– घे–न्त
+	।	0	।
धा–– दिग दि	– न्ता धा गृद	धिकिट धगन	नगन घेनेने
+	।	0	।
ननन तिट क	ता–न तगत	दीं–– त–क्क	ड़ा–न धा––
+	।	0	।
तिट कता–न	तगत् दीं––	त–क्क ड़ा–न	धा–– तिट क
+	।	0	।
ता–न तगत	दीं–– त–क्क	ड़ा–न धा––	धिकिट तगन
+	।	0	।
धिकिट तगन	ता–न धा––	ता–न धा––	तकिट धा––
+	।	0	।
घेतिट धा––	घे–न्त धा––	दिग दि– न्ता	धा गृद धिकिट
+	।	0	।
धगन नगन	घेनेने ननन	तिट कता–न	तगत दीं––
+	।	0	।
त–क्क ड़ा–न	धा–– तिट क	ता–न तगत्	दीं–– त–क्क
+	।	0	।
ड़ा–न धा––	तिट कता–न	तगत् दीं––	त–क्क ड़ा–न
+			
धा0			

यह भी तिस्र जाति की चक्करदार परण है। इसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्त्री–पुरुष के विलास अर्थात् प्रेम प्रसंग से सम्बन्धित है। प्रेम प्रसंग के समय स्त्री आगे बढ़कर पुरुष को स्वयं निमंत्रण देती है और उकसाती है। पुरुष की इच्छानुसार ही प्रेम–क्रीड़ा का अनुसरण करती है। पुरुष की कामशक्ति को जाग्रत करने के बाद अपनी हर उचित और अनुचित बातें उसके सामने इस प्रकार से प्रस्तुत करती है कि, काम क्रीड़ा हेतु आसक्त पुरुष न चाहते हुए भी उसकी बातों को मानने के लिए विवश हो जाता है।

आड़ी रासविलास परण में स्वकिया–परकीय दोनों ही नायिकाओं की मनोदशा के भाव देखने को मिलते हैं। स्वकीय वह पतिप्राण स्त्री है जिसने लज्जा को ही अपना आभूषण बना रखा है और जो विनय, सरलता, वाकपटुता आदि गुणों से युक्त होकर घर–गृहस्थी के कामों में लगी रहती है। और जो स्त्री छुप–छुप कर पर पुरुष से प्रेम करे उसे 'परकीय' नायिका कहते हैं।'

'नायिका चाहे कैसी भी हो वह अपने पति अथवा प्रेमी का पूर्ण प्यार पाने हेतु हर सम्भव प्रयत्न करती है। स्वकीय नायिका पतिव्रता स्त्री है, लेकिन पति को सदैव अपने वश में रखने और अपना अधिकार पाने हेतु सभी प्रकार के उपाय करती है। मित्र, बहन, माता और बेटी आदि की भूमिका का निर्वाह सदैव सच्चे मनोभाव से करती है। लेकिन अवसर पड़ने पर अपनी उचित–अनुचित बातों को मनवाने हेतु छल–प्रपंच के साथ–साथ कुटिल भी बन जाती है।'

तात्पर्य यह है कि नायिका अपने पति और घर–गृहस्थी से सम्बन्धित विषयों में अपना पूर्ण अधिकार पाने हेतु हर सम्भव प्रयत्न करती है।

कुछ इसी प्रकार 'परकीय' नायिका की मनोदशा भी होती है। जो अपने पति और प्रेमी दोनों से ही यही अपेक्षा करती है कि वे दोनों ही उसी की प्रेमजाल में फंसे रहें। परकीय नायिका अपने प्रेमी को भी उसकी पत्नी के पास जाने से रोकती है। उसे अनेकों प्रकार के उलाहने देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों ही नायिकाओं की मनोस्थिति की भावाभिव्यक्ति आड़ी रासविलास परण में सहज ही की जाती है। आड़ी रजनीप्रिया की भाँति इस परण में भी नर्तक–नर्तकी अपनी रचना शैली के अनुरूप नृत्य संरचना को साकार रूप दे सकते हैं। यह परण श्रृंगार रस प्रधान है।

''राजा चक्रधर सिह ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनसे उनकी सर्वांगीण विद्वता और कार्य का पता चलता है। नर्तन सर्वस्वम विशेषकर कथक को ध्यान में रखकर हिन्दी में रचा गया विशाल नृत्य ग्रन्थ है 'जिसमें नृत्य सम्बन्धी विस्तृत जानकारी है। लास्य–ताण्डव का विवचेन रस, भाव, गत–भाव आदि सम्बन्धी अनेक रचनाएँ और उनके वर्णन इसमें हैं। राजा साहब के गहन चिन्तन का परिणाम मुरजपर्णपुष्पाकर में उनकी रचनाओं का संकलन है।

आचार्य भरत, ने रस निरुपण के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति बताया है– ''विभानुभाव्यभिचारी–भावसंयोगद्रस निष्पत्तिः

विभाव दो प्रकार के हैं– आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव अर्थात् रस निष्पत्ति का आधारभूत तत्व या कारण। आलम्बन विभाव के कारण स्थाई भाव से उत्पन्न होने वाले रस को पोषित करने वाला अनुकूल परिस्थिति उद्दीपन विभाव है। इस प्रकार के विभावों द्वारा रस की निष्पत्ति को अग्रसर अनेकों विचारों और आंगिक चेष्टाओं रूपी अनुभाव, मोह, चपलता, स्मृति, हर्ष, आवेग, गर्व, उग्रता और मद आदि व्याभिचारी भावों के संयोग से रस में निष्पन्न हो जाता है।

रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में आड़ीरजनीप्रिया और आड़ी–रासविलास परण को इस प्रकार से देख सकते हैं–

आलम्बन विभाव	– नायिका का नाम जैसे– 'आड़ी रजनीप्रिया' और आड़ी रासविलास।
उद्दीपन विभाव	– नायिका का श्रृंगारिक हाव–भाव, नाज–नखरा आदि।
व्याभिचारी विभाव	– मोह, चपलता, स्मृति, हर्ष, गर्व, आवेग, उग्रता मद आदि व्याभिचारी भावों के अनुकूल भावाभिनय करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये दोनों ही परण श्रृंगार रस प्रधान रचनाएँ हैं।

अभिसारिका परण

+	।	0	।
धिन गिन धिन गिन	तक तक धिन गिन	तक धिन गिन धिन	गिन धिन घिड़ा –न
+	।	0	।
तक गिन घिड़ नक	दिगन नगन तक	तक धिन गिन धिन	गिन तक धिन गिन
+	।	0	।
घिड़नक धिन गिन	धागे तिरकिट तूना कता	धिन गिन धिन गिन	धागे तिरकिट तूना कता
+	।	0	।
धिन गिन धागे तिरकिट	तूना कता धिन गिन	धागे तिरकिट धिन घिड़	नक दिग नाना कता
+	।	0	।
दिग नाना कत दिग	नाना कता धागे तिरकिट	धिन गिन तक दिग	तक दिग नाना कता
+	।	0	।
तक दिग नाना कता	तक दिग नाना कता	तक दिग तक दिग	तक दिग नाना कता
+	।	0	।
तक धिलां –ग धा–	घिड़नक धिन गिन	धागे तिरकिट धिन घिड़	नक दिग नाना कता
+	।	0	।
तकिट धा –ग धा–	धिं– घिड़नक घिन	धागे तिरकिट तूना कता	तक घेघे तक धिन
+	।	0	।
धागे तिरकिट तूना कता	घिनक तकिट घिन	धागे तिरकिट तूना कता	धिरधिरकिटतक धा– धिरधिर
+	।	0	।
किटतकधा–धिरधिरकिटतक	धा – धिरधिरकिटतक	धा– धिरधिरकिटतक धा–	धिरधिरकिटतक धा–
+	।	0	।
धिरधिरकिटतक धा–धिरधिर	किटतकधा–धिरधिरकिटतक	धा – – – – – – –	धिन गिन धिन गिन
+	।	0	।
तक तक धिन गिन	तक धिन गिन धिन	गिन धिन घिड़ा –न	तक गिन घिड़ नक
+	।	0	।
दिगन नगन तक	तक धिन गिन धिन	गिन तक धिन गिन	घिड़नक धिन गिन
+	।	0	।
धागे तिरकिट तूना कता	धिन गिन धिन गिन	धागे तिरकिट तूना कता	धिन गिन धागे तिरकिट
+	।	0	।
तूना कता धिन गिन	धागे तिरकिट धिन घिड़	नक दिग नाना कता	दिग नाना कत दिग
+	।	0	।
नाना कता धागे तिरकिट	धिन गिन तक दिग	तक दिग नाना कता	तक दिग नाना कता
+	।	0	।
तक दिग नाना कता	तक दिग तक दिग	तक दिग नाना कता	तक धिलां –ग धा–
+	।	0	।
घिड़नक धिन गिन	धागे तिरकिट धिन घिड़	नक दिग नाना कता	तकिट धा –ग धा–

+	|	0	|
धिं– घिड़नक घिन	धागे तिरकिट तूना कता	तक घेघे तक धिन	धागे तिरकिट तूना कता
+	|	0	|
घिनक तकिट घिन	धागे तिरकिट तूना कता	धिरधिरकिटतक धा–धिरधिर	किटतक धा–धिरधिरकिटतक
+	|	0	|
धा – धिरधिरकिटतक	धा– धिरधिरकिटतक धा–	धिरधिरकिटतक धा–	धिरधिरकिटतक धा– धिरधिर
+	|	0	|
किटतकधा–धिरधिरकिटतक	धा – – – – – – – –	धिन गिन धिन गिन	तक तक धिन गिन
+	|	0	|
तक धिन गिन धिन	गिन धिन घिड़ा –न	तक गिन घिड़ नक	दिगन नगन तक
+	|	0	|
तक धिन गिन धिन	गिन तक धिन गिन	घिड़नक धिन गिन	धागे तिरकिट तूना कता
+	|	0	|
धिन गिन धिन गिन			
	धागे तिरकिट तूना कता	धिन गिन धागे तिरकिट	तूना कता धिन गिन
+	|	0	|
धागे तिरकिट धिन घिड़	नक दिग नाना कता	दिग नाना कत दिग	नाना कता धागे तिरकिट
+	|	0	|
धिन गिन तक दिग			
	तक दिग नाना कता	तक दिग नाना कता	तक दिग नाना कता
+	|	0	|
तक दिग तक दिग	तक दिग नाना कता	तक धिलां –ग धा–	घिड़नक धिन गिन
+	|	0	|
धागे तिरकिट धिन घिड़	नक दिग नाना कता	तकिट धा –ग धा–	धिं– घिड़नक घिन
+	|	0	|
धागे तिरकिट तूना कता	तक घेघे तक धिन	धागे तिरकिट तूना कता	घिनक तकिट घिन
+	|	0	|
धागे तिरकिट तूना कता	धिरधिरकिटतकधा–धिरधिर	किटतकधा–धिरधिरकिटतक	धा – धिरधिरकिटतक
+	|	0	|
धा– धिरधिरकिटतक धा–	धिरधिरकिटतक धा–	धिरधिरकिटतक धा–धिरधिर	किटतकधा–धिरधिरकिटतक
+			
धा0			

यह चतस्र जाति की चक्करदार परण है। शास्त्रों में अष्टनायिका भेदों के अन्तर्गत अभिसारिका नायिका का चरित्र–चित्रण विस्तार पूर्वक देखने को मिलता है। तदनुसार यह नायिका काम के वशीभूत सज–धज कर अपने प्रेमी से मिलने स्वयं जाती है। 'जो स्त्री काम के वशीभूत ही लज्जा त्याग कर संकेत स्थान पर नायक को बुलाती या स्वयं वहॉ जाती है उसे 'अभिसारिका' नायिका कहते है।'

अभिसारिका परण में राजा साहब ने तबले के बोलों का प्रयोग किया है, जो नायिका की भावाभिव्यक्ति हेतु अधि

ाक उपयुक्त हैं। पखावज के बोल भारी खुले एवम् गम्भीर होते हैं; जो अभिसारिका नायिका की मनोदशा के अनुकूल नहीं है। तबले के बोल मधुर और कोमल प्रवृत्ति के होने के कारण अभिसारिका के अनुकूल भावाभिव्यक्ति को साकार रूप प्रदान करते हैं। यही कारण है कि राजा साहब ने इसमें तबले के बोलों का प्रयोग किया है। अभिसारिका परण की रचना में निहित भावों के अनुकूल बोल समूहों का प्रयोग होने के कारण पढ़न्त करते समय चतस्र जाति की इतनी खूबसूरत लय और छन्द बनती है कि पढ़न्त क्रिया से सहृदय श्रोता एवम् दर्शकों को इसके भावों की अनुभूति होने लगती है। इस परण के सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करने से एक और तथ्य उजागर होता है कि यह ताल के 'दशप्राण' के अन्तर्गत 'पिपीलिका' यति भेद से सम्बन्धित परण है।

'पिपीलिका' का अर्थ है चींटी। जिस प्रकार चींटी कभी एकदम दौड़ने लगती है और कभी धीमी गति से चलती है इसी प्रकार 'पिपीलिका' गति के भी अनेक भेद है।'

अभिसारिका नायिका के लक्षण पर ध्यान दें तो वह चोरी–छुपे अभिसार को जाती है। नायिका मार्ग में अनेकों प्रकार की बाधाओं से बचते–बचाते अपनी मंजिल पर पहुँचती है। कभी वह तीव्र गति से चलती है, कभी मन्द गति, कभी रुक–रुक कर और कभी एकदम से दौड़ भी पड़ती है। अभिसारिका परण चतस्र जाति में है जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मध्य लय में निबद्ध है, लेकिन तिहाई में इसकी गति द्रुत लय में है। इससे ऐसा लगता है कि नायिका किसी प्रकार अपनी मंजिल की ओर बढ़ती जाती है और मंजिल दिखते ही सरपट दौड़ पड़ती है।

रस निष्पत्ति की दृष्टिकोण से इसका अध्ययन करें तो पाते हैं कि यह संयोग श्रृंगार से सम्बन्धित रचना है। संयोग श्रृंगार में नायक–नायिका का सुखद मिलन होता है। अभिसारिका परण में संयोग श्रृंगार की सफल प्रस्तुति बड़ी सरलता पूर्वक की जा सकती है। नर्तक–नर्तकी अपनी सूझबूझ से नायिका के चरित्र को साकार कर सकते हैं।

वर्तमान समय में कथक नृत्य में परणों अथवा नृत्य के बोलों में भावभिनय करने की परम्परा चल रही है। पण्डित बिरजू महाराज तो केवल गिनती की तिहाइयों पर विभिन्न पशु–पक्षियों और राधा–.ष्ण आदि के भावों को साकार कर देते हैं। पण्डित लच्छु महाराज ने भी इस दिशा में अनुकरणीय कार्य किया है। लखनऊ के परम्परागत आमद 'धतक थूंगा' में उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साथ–साथ दशों दिशाओं की स्तुति और राधा–.ष्ण की छेड़–छाड़ आदि भावों को साकार किया है। इसी प्रकार के अनेकों नवीन प्रयोग कथक नृत्य में देखने को मिल रहे हैं।

उत्कंठिता परण

+	|	0	|
घिड़नक धिन धागे	तिरकिट धिनाघिड़नक	धिन तक तक धिन	धागे तिरकिट धीनाधिड़
+	|	0	|
नक दीं – नाना कता	ता – घिड़नक धिन	धागे तिरकिट धिना घिड़	नक दीं – नाना कता
+	|	0	|
तक दीं– तक ता–	घिड़नक धिन गिन	धागे तिरकिट धीना घिड़	नक दीं – नाना कता
+	|	0	|
तक दीं– तक ता–	घिड़नक धिन गिन	धागे तिरकिट धिना घिड़	नक दीं – नाना कता
+	|	0	|
धग –त्तकिट धग	तिट घिना– धा–ग	तिट किट घिना –धा	–ग धग तिट घिन
+	|	0	|
धग तिट घिना –ग	धा– धा– धिन गिन	धा– धिन गिन घिना	–ग धग तिट किट
+	|	0	|
नग नग तिरकिट तूना	किड़नक तिट किट	तक तक तिन गिन	तागे तिरकिटतूना कता

+	|	0	|
तिरकिटतूना कतातिरकिट	तूना कता तिन गिन	घड़ –न्न किट तक	नग तिट किट तक
+	|	0	|
धागे तिट घिड़ा –न	धा – धा– तू– ना–	धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–
+	|	0	|
कै– धिरधिरकिटतकता–न	धा–धिनाकिटतकता–न	धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–
+	|	0	|
कै– धिरधिरकिटतकता–न	धा–धिनाकिटतकता–न	धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–
+	|	0	|
कै– धिरधिरकिटतकता–न	धा–धिनाकिटतकता–न	धा––––––––	घिड़नक धिन धागे
+	|	0	|
तिरकिट धिना घिड़नक	धिन तक तक धिन	धागेतिरकिट धीनाधिड़	नक दीं – नाना कता
+	|	0	|
ता – घिड़नक धिन	धागेतिरकिटधिनाधिड़	नक दीं – नाना कता	तक दीं– तक ता–
+	|	0	|
घिड़नक धिन गिन	धागेतिरकिटधीनाधिड़	नक दीं – नाना कता	तक दीं– तक ता–
+	|	0	|
घिड़नक धिन गिन	धागेतिरकिटधिनाधिड़	नक दीं – नाना कता	धग –त्तकिट धग
+	|	0	|
तिट घिना– धा–ग	तिट किट घिना –धा	–ग धग तिट घिन	धग तिट घिना –ग
+	|	0	|
धा– धा– धिन गिन	धा– धिन गिन घिना	–ग धग तिट किट	नग नग तिरकिट तूना
+	|	0	|
किड़नक तिट किट	तक तक तिन गिन	तागे तिरकिटतूना कता	तिरकिटतूनकतातिरकिट
+	|	0	|
तूना कता तिन गिन	घड़ –न्न किट तक	नग तिट किट तक	धागे तिट घिड़ा –न
+	|	0	|
धा – धा– तू– ना–	धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–	कै–धिरधिरकिटतकता–न
+	|	0	|
धा– धिना किटतकता–न	धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–	कै–धिरधिरकिटतकता–न
+	|	0	|
धा– धिना किटतकता–न	धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–	कै–धिरधिरकिटतकता–न
+	|	0	|
धा– धिना किटतकता–न	धा––––––––	घिड़नक धिन धागे	तिरकिट धिना घिड़नक
+	|	0	|
धिन तक तक धिन	धागेतिरकिटधीनाधिड़	नक दीं – नाना कता	ता – घिड़नक धिन
+	|	0	|
धागे तिरकिट धिना घिड़	नक दीं – नानाकता	तक दीं– तक ता–	घिड़नक धिन गिन

+	|	0	|
धागे तिरकिट धीना धिड़	नक दीं – नानाकता	तक दीं– तक ता–	धिड़नक धिन गिन
+	|	0	|
धागे तिरकिट धिना धिड़	नक दीं – नानाकता	धग –त्तकिट धग	तिट धिना– धा–ग
+	|	0	|
तिट किट धिना –धा	–ग धग तिट धिन	धग तिट धिना –ग	धा– धा– धिन गिन
+	|	0	|
धा– धिन गिन धिना	–ग धग तिट किट	नग नग तिरकिट तूना	किड़नक तिट किट
+	|	0	|
तक तक तिन गिन	तागेतिरकिटतूनाकता	तिरकिटतूनाकतातिरकिट	तूना कता तिन गिन
+	|	0	|
घड़ –न्न किट तक	नग तिट किट तक	धागे तिट घिड़ा –न	धा – धा– तू– ना–
+	|	0	|
धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–	कै–धिरधिरकिटतकता–न	धा–धिना किटतकता–न
+	|	0	|
धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–	कै–धिरधिरकिटतकता–न	धा–धिना किटतकता–न
+	|	0	|
धा––– धि– न–	धि– ट– क– त–	कै–धिरधिरकिटतकता–न	धा–धिना किटतकता–न
+			
धा0			

यह चतस्र जाति की चक्करदार परण है। उत्कंठिता नायिका अर्थात् 'जो नायिका संकेत–स्थान में पहुँचने के बाद नायक को वहाँ न पाकर उसके आने की प्रतीक्षा करती हुई चिन्तित होती है। उत्कंठिता को विरहोत्कंठिता भी कहते हैं। राजा साहब द्वारा निर्मित इस परण में प्रयुक्त बोल समूहों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्कंठिता नायिका की मनोदशा का चरित्र–चित्रण बड़ी आसानी से किया जा सकता है। निर्धारित स्थल पर नायिका पहुँचती है, नायक को वहाँ न पाकर व्याकुल हो उठती है। उसके मन में अनेकों प्रकार की विचारधाराएँ आने लगती हैं और उसकी बेचैनी धीरे–धीरे बढ़ने लगती है। इसी उधेड़–बुन में वह कभी क्रोधित हो जाती है और नायक को अनेकों प्रकार से कोसती है। फिर अपनी भावनाओं को शांत करके नायक की परेशानी के बारे में सोचती है। धीरे–धीरे वह उदास होकर कुंठित हो जाती है। कुछ इसी प्रकार की मनोदशा उत्कंठिता नायिका की होती है, जिसकी अभिव्यक्ति इस परण में सहजतापूर्ण ढंग से की जाती है।

'परण में 'धिड़नक' बोल का प्रयोग आठ बार देखने को मिलता है, जो नायिका की उग्रता को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार 'तक तक' और 'तक ती–तक ता' बोलों का प्रयोग इधर–उधर देखने और नायक को ढूँढने के भाव हेतु किया गया है।' इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति इस परण में इस प्रकार से की जा सकती है–

प्रथम पंक्ति में – मिलन स्थान पर नायक को न पाकर, नायिका का बेचैन होना।

द्वितीय पंक्ति में – 'धिन तक' में इधर देखना और 'तक धिन– में उधर देखना। इधर–उधर देखते हुए व्याकुल होना।

तीसरी पंक्ति में – न जाने क्या हो गया अभी तक क्यों नहीं आया आदि सोचते हुए शिथिल होने का भाव करना।

चौथी पंक्ति में – मिलन सूचक आभास होने पर एकदम से हर्षित होना और भ्रम दूर होते ही मायूस

हो जाना।

पांचवीं पंक्ति में – पुनः इधर–उधर उग्रतापूर्ण देखना।

छठवीं पंक्ति में – मन में अनेकों प्रकार के दुश्विचारों का उत्पन्न होना।

सातवीं पंक्ति में – इंतजार करते हुए अपने आप को कोसना कि मैं यहाँ आई ही क्यों।

आठवीं पंक्ति में – उपरोक्त भावों की पुनरावृत्ति भिन्न–भिन्न अन्दाज में।

नवीं पंक्ति में – 'नग नग' में नहीं–नहीं ऐसा नहीं हो सकता मैं व्यर्थ में ऐसा विचार क्यों ला रहीं हूँ।

दसवीं पंक्ति में – मिलन की आस जाग्रत होना और चारों ओर देखना।

तिहाई में मिलन की आस त्यागना और परेशानी तथा चिंता आदि भावों की अभिव्यक्ति करना।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि राजा साहब ने नायिका प्रधान रचनाओं के सृजन में अत्यन्त ही कल्पनाशीलता का प्रयोग कर उन्हें जीवन्त स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया हैं राजा साहब द्वारा प्रणीत इन परणों की प्रस्तुति में नायिका के भाव पूर्णतः अभिव्यक्त होते हैं। यही इन परणों की सफलता भी है। राजा चक्रधर सिंह ने अपनी परणों में अभिनय को प्रमुखता दी है। उनके द्वारा रचित परणों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने ऐसे ही परणों की रचनाएँ की हैं, जिनमें अभिनयात्मक नृत्य की सम्भावनाएँ अधिक हैं। ''राजा साहब का मानना था'' नृत्य के साहित्य में भी वृद्धि की बड़ी गुंजाइश है। नवीनता लाने के लिए नये–नये तोड़े, खूब बन सकते हैं, ... अन्य स्थानों में भी यदि इसी प्रकार नूतन साहित्य का निर्माण होता गया और नृत्य कला कुशल लोग उनके अनुसार नवीनता दिखाते जाएंगे तो यह कला भी अपनी संकुचित सीमा को तोड़कर अधिकाधिक विशाल बनती जाएगी।'' अतः इस प्रकार की इन रचनाओं में राजा साहब द्वारा किया श्रम तो सामने आती है, साथ ही नृत्यभावाभिव्यक्ति के साक्षात् दर्शन होते हैं। आपके द्वारा रचित सभी रचनाएँ कथक नृत्य में नवाचार के ज्वलंत उदाहरण हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. राजा चक्रधर सिंह प्रणीत ग्रन्थ ''मुरजपर्णपुष्पाकर'' की रफ प्रतिलिपि।
2. 'रायगढ़ दरबार' (अंग्रेजी भाषा) – डॉ. पी.डी. आशीर्वादम्।
3. 'रायगढ़ का सांस्कृतिक वैभव' – डॉ. बलदेव।
4. ''कथक घराना रायगढ़' – डॉ. भगवान दास माणिक।
5. कथक नृत्य परम्परा में रायगढ़ दरबार – डॉ. माण्डवी सिंह।
6. कथक नृत्य शिक्षा भाग– दो – डॉ. पुरुदाधिच।
7. नाट्य शास्त्र – पं. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री।

'नटराज भवन' 75, मनोहर इंकलेब,
सिटी सेन्टर, ग्वालियर (म.प्र.)

●●●

कथक नृत्य में ठुमरी प्रदर्शन

मंजरी बख्शी

कथक नृत्य भारत की भाव प्रधान शास्त्रीय नृत्य शैली है। प्रारम्भ से ही कथक लोकरंजन का साधन ही नहीं था अपितु जनसाधारण को पौराणिक कथाओं के माध्यम से कथक वर्ग जागरूक करने का भी कार्य करते थे। चूंकि यह वर्ग विशेष कथक कहे जाते थे अतः इनकी कला कालांतर में अनुकूल परिस्थिति एवं अनेक महान कलाविज्ञों के अथक प्रयास और योगदान से उत्तर भारत के एक सुप्रसिद्ध नृत्य शैली के रूप में विकसित हुई ।

अन्य शास्त्रीय नृत्य शैलियों के समान कथक नृत्य शैली का भी वस्तुक्रम है। इसको मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है , शुद्ध नृत्य व अभिनय । अभिनय के अंतर्गत कथक नृत्य में ठुमरी, भजन, ध्रुपद, होरी, चतुरंग तथा गजल आदि पर भाव प्रदर्शित किया जाता हैं। भजन भक्ति भाव से ओत – प्रोत ईश्वर संबन्धित पद होता है , तो गजल अधिकतर फारसी भाषा में होती है , कुछ गजलों में शेरों – शायरी तो कुछ गजलों की कल्पनाओं में बहुत गंभीरता भी होती है। वहीं हम ध्रुपद शैली की बात करें तो यह और ख्याल दोनों ही गंभीर हैं किन्तु ठुमरी को लास्य प्रधान शैली कहा जाए तो ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। जहाँ ठुमरी में एक ओर भावों में गहराई है तो दूसरी ओर कोमलता भी है। अभिनय के अंतर्गत गतभाव भी शामिल है किन्तु इसमें गीत के ऊपर अर्थों को न बताकर कथानक को एकल अभिनय की तरह प्रस्तुत किया जाता है ।

ठुमरी पर नृत्य करना कथक नृत्य के भाव प्रदर्शन की विशेषता है यह बैठकी भाव के रूप में बैठकर तथा खड़े होकर भी प्रस्तुत किया जाता हैं। ठुमरी गायन के विषय में विद्वानों के बहुत से मत है किन्तु यह गायन विधा के साथ कथक नृत्य में कब समाहित हो गई इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्द्ध नहीं है लेकिन वर्तमान में यह विधा कथक नृत्य की प्रस्तुति में विशेष महत्व रखती है।

ठुमरी शब्द की रचना के बारे में विद्वानों ने बहुत से मत प्रस्तुत किए हैं , इसमें ठुम. री शब्दों का संयोग बताने वालों का बहुमत हैं। ठुम शब्द से ठुमका बना है ठुमका शब्द का प्रयोग नृत्य में होता है । नृत्य में ठुमका लालित्य व शोभा उत्पन्न करता है , विद्वानों का मत हैं कि इस शब्द का निकास बृज के रास नृत्य से हुआ है । जब रास के ठुमके को लोक गायकों ने गायन कि धुन के साथ अपनाया होगा तो ठुमक, ठुमका आदि से ठुम शब्द लेकर उसके पीछे उसे वजनदार करने के लिए ' री ' शब्द जोड़ दिया गया होगा।

"स्वर्गीय चन्द्रशेखर पंत के अनुसार ठुम और री शब्दों के योग से निर्मित ठुमरी में ठुम या ठुमक शब्द 'नृत्य के पद संचालन ' और ठसक भरी गर्वीली चाल ; को व्यक्त करता है । विभक्ति के रूप में 'री' प्रायः की के अर्थ में व्यवहृत होती है , जो कि अधिकार और संबंध कि घोतक है जैसे – 'किसन रुक्मिणी री बेलि' हमरी तुमरी इत्यादि।"[1]

"श्री सुनील कुमार बोस का विचार है ,कि ठुम और री इन दो शब्दों के योग से ठुमरी शब्द बना है , ठुम शब्द ठुमकत चाल अर्थात 'राधा जी कि चाल' और री शब्द 'रिझावत' अर्थात भगवान .ष्ण के मन को रिझाने कि ओर इंगित करता है।"[2]

"आचार्य कैलाश चन्द्र ब्रहस्पति की .ष्टि में ' ठुम' शब्द ठुमकने का घोतक है" 3 तो ' री ' का अर्थ नायिका का अंतरंग सखी को सम्बोधन है।

ठुमरी की उत्पत्ति के बाद यदि हम विकास की बात करे तो इसका विकास बोल प्रधान गायकी के रूप में हुआ

है । ठुमरी में स्वरों के साथ बोलो व बोल विस्तार की भी मुख्य भूमिका होती है।' बोल भाव ही ठुमरी की जीवन व उसकी आत्मा कहलाती हैं , आरंभ से ही ठुमरी में बोल का महत्वपूर्ण स्थान रहा हैं । बोलो में निहित गीत , भाव व लय के आधार पर ठुमरी की दो शैलियाँ मानी गई हैं – बोल बाँट की ठुमरी एवं बोल बनाव की ठुमरी ।

1. पंत ,चन्द्रशेखर 'लिटररी असपेक्ट ऑफ ठुमरी ' कला भारती , ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965)पृ. .. 40
2. शुक्ल , डॉ. शत्रुघन,ठुमरी कि उत्पत्ति विकास और शैलियाँ,पृ. ..5
3. 3. बृहस्पति , आचार्य कैलासचन्द्र देव , "ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व " कला भारती, ठुमरी सम्मेलन पत्रिका (1965) पृ. .. 1

1. बोलबाँट – बाँट शब्द खंड या प्रस्तार का प्रतीक है । बोलबाँट की ठुमरी गति प्रधान होती है। कथक नृत्य में यह ठुमरी मध्य या द्रुत लय में प्रस्तुत की जाती है। नृत्य में चमत्कारिकता पैदा करना बोलबाँट की ठुमरी की विशेषता है । "बोलबाँट कि ठुमरीयों का प्रसार क्षेत्र पश्चिम में स्थित फर्रुखाबाद, बरेली, रामपुर, मथुरा, दिल्ली इत्यादि स्थानों की ओर होने के कारण ही बोल बाँट की ठुमरी को 'पछाही ठुमरी' के नाम से भी पुकारते हैं।"[4]

कथक नृत्य प्रदर्शन में बोलबाँट की ठुमरियों को अधिकांशतः खड़े होकर नृत्य के साथ प्रस्तुत किया जाता हैं ठुमरी के अंत में लड़ी या लग्गी के साथ तिहाई देकर बोलबाँट की ठुमरी की समाप्ति की जाती है ।

2. बोल बनाव की ठुमरी – जो ठुमरियाँ साहित्य प्रधान होती हैं 'बोल बनाव ' की ठुमरी कहलाती हैं । " गीत के शब्दों को भावानुरूप स्वर समूहों से सजाना बोल बनाव की ठुमरियों की विशेषता है ।"[5] कथक नृत्य प्रदर्शन में बोलबनाव की ठुमरीयों को बैठकर भावाभिनय द्वारा प्रदर्शित करने की प्रथा रही हैं । बोल बनाव की ठुमरी में श्रृंगार रस के भेद संयोग व वियोग इन दोनो पक्षों की रचनाएँ देखने को मिलती हैं । शब्दों का चयन भी इस प्रकार किया जाता हैं , कि जिन पर बोल बनाव अच्छा प्रतीत हो । इसके दो भेद जिन्हें पूरब अंग और पंजाब अंग कि संज्ञा दी गई हैं , का संबंध ठुमरियों की प्रादेशिकता से भी हैं ।

4. ठुमरी गायकी और शैलियाँ य संगीत कला विहार य 1991 पृ . .. 11
5. संगीत मासिक पत्रिका जनवरी 2003 य पृ. .. 26

पूरब अंग की दो शैलियाँ हैं – लखनऊ शैली और बनारस शैली । कथक नृत्य में प्रयोग होने वाली ठुमरी जो कि अधिकांशतः लखनऊ घराने के नर्तक द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं ,तथा पं. बिंदादीन महाराज द्वारा रचित हैं संभव हैं इसमें लखनऊ का अधिक प्रभाव हैं ,किन्तु बनारसी प्रभाव से भी यह अछूता नहीं हैं ।

कथक नृत्य और ठुमरी का गहरा संबंध । उत्तर भारत में कथाकाचार्यों द्वारा ठुमरी के साथ नृत्य प्रदर्शन की परंपरा रही हैं जिसे मुगल काल की देन कहा जा सकता हैं । कथक के इतिहास में एक अवसर ऐसा भी था , जब दरबारों का आश्रय खत्म होने के बाद कथक गुरुओं ने कोठों में तवायफों जैसे जौहर बाई और गौहर जान जो प्रसिद्ध गायिका थी को कथक नृत्य के साथ ठुमरी में भाव बताने की भी शिक्षा दी । सुनील कोठारी की पुस्तक " कथक इंडियन क्लासिकल डांस आर्ट " में भी तवायफों के नाम मुन्नी और तश्तरी जान के विषय में उल्लेख किया गया हैं । यह ज्ञातव्य हैं कि कथक नृत्य की उत्पत्ति हिन्दू धर्म से हुई , किन्तु कालांतर में मुगल शासन और नवाब वाजिद अली शाह का कथक नृत्य के प्रति आकर्षण ने विशेषकर लखनऊ घराने के कथक नृत्य को प्रभावित किया , किन्तु तत्कालीन प्रभाव का परिणाम वर्तमान में कथक नृत्य के सभी घरानों की नृत्य शैली में दिखता हैं , क्योंकि वर्तमान में सभी घराने के नर्तक , नर्तकियों व प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा आमद , ठुमरी आदि प्रस्तुत किया जाता हैं।

ठुमरी प्रदर्शन की अभिव्यक्ति के विषय में यदि बात की जाए तो कथक नृत्य के नृत्यांग पक्ष की भी इसमें भूमिका हैं । ठुमरी प्रदर्शन में किसी गीत पर आधारित बोलो की अभिव्यक्ति आंगिक अभिनय अर्थात अंग , प्रत्यंग व उपांग द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । साथ ही भाव प्रदर्शन के आवश्यक अंगों में सात सोपान जैसे – नयन भाव , बोल भाव , अर्थ भाव , सभा भाव , नृत्य भाव , गत अर्थ भाव तथा अंग भाव भी शामिल है जो भाव की अभिव्यक्ति को समझने में सहायक हैं । ठुमरी प्रदर्शन में नायिका भेदों का भी मुख्य स्थान हैं । कई ठुमरियों की रचना भी अष्ट

नायिका को लेकर भी की गई हैं । चूँकि ठुमरी प्रस्तुति व इसके गीत के बोल का मुख्य आधार हम नायिका को कह सकते हैं , जो अपने नायक के साथ घटित घटना का वर्णन करती हैं । नायिका कभी कामकेली के लिए सज – सँवर कर नायक की राह देखती है तो कभी व्यस्त नायक समय पर न लौट पाए इसी कारण से नायिका दुःखी हो जाती हैं । रति कुशलता के कारण प्रिय सदैव नायिका के पास बना रहता है जिस कारण वह अत्यंत हर्ष , सौभाग्य और अभिमान शालिनी रहती हैं । कभी प्रेमी के दूर चले जाने पर वह ईर्ष्या और कलह करती हैं , तो कभी नायक के शरीर पर परस्त्री द्वारा दिये हुए रति चिन्हो को देखकर वह क्रोध और झगड़ा करते हुए दुःखी हो जाती हैं । संकेत स्थल पर किसी कारणवश नायक को न पाकर अपने आप को अपमानित महसूस करती हैं । नायक के परदेश चले जाने के कारण नायिका बिना केश संस्कार के शिथिल हो जाती है , तो कभी संकेत स्थल पर नायक से मिलने के लिए लज्जा का परित्याग कर अभिसरण करती हैं । इस प्रकार अष्ट नायिका की अभिव्यक्ति हमे कथक नृत्य के ठुमरी प्रदर्शन में स्पष्ट रूप से दिखती हैं ।

मुगल काल के दौरान प्रचलित बैठकी भाव का प्रदर्शन भी कथक की ठुमरी अभिव्यक्ति का ही एक खूबसूरत परिणाम हैं । ठुमरी का बैठकी भाव कथक नृत्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता हैं , इसे संजोकर रखना कथक विधा के गुरुओं , कलाकारों ,विद्यार्थियों तथा शिक्षण संस्थानों का दायित्व हैं , क्योंकि भाव बताने की यह विधा प्रायः लुप्त हो रही हैं। विद्वानों द्वारा ऐसा कहा जाता हैं कि गुरु पं. शंभू महाराज "बता दे सखी कौन गली गए श्याम .... "[6] ठुमरी में घंटो व कभी – कभी पूरी रात भाव प्रदर्शन करते थे , भाव बताते – बताते वे ऐसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचते थे कि उनके चेहरे पर एक तरफ खुशी झलकती थी तो दूसरे से अश्रुपात । वह अभिनय बताने में इतने दक्ष थे कि उन्हे अभिनय सम्राट की पदवी भी दी गई थी । ठुमरी एक साहित्य प्रधान रचना है तो इसकी भाषा शैली भी इसके प्रदर्शन की अभिव्यक्ति में एक महत्वपूर्ण तत्व है, ठुमरियों की रचना उसकी प्रादेशिकता और भाषा पर निर्भर करती हैं । अधिकांशतः ठुमरी बृज भाषा पर आधारित है ।

कथक नृत्य में ठुमरी लास्यांग की वह प्रस्तुति है, जिसमें साहित्य के शब्दों ,मुद्रा ,संचारी भाव ठुमरी के शब्दों के साथ गायक व नर्तक का आपसी ताल – मेल , लग्गी में सुमधुर घुँघरू की आवाज के साथ ततकार की लड़ियों का संयोजन है।

6. दाधीच पुरू , कथक नृत्य शिक्षा भाग 2, पृ. .. 109

रायगढ़ के राजा चक्रधर सिंह ने भी कई ठुमरियों की रचना कर कथक जगत में ठुमरी को समृद्ध किया है। राजा साहब द्वारा रचित ठुमरी की यह विशेषता है कि पूरे नवों रसों और अष्ट नायिकाओं को उन्होने एक – एक ठुमरी में वर्णित किया हैं उदाहरण स्वरूप –" गोरी सलोनी तोरे नैना ..... "7 इस ठुमरी पर नवों रसों का वर्णन मिलता है । "भूषण बसन सजाए साहटवा पे गोरी चली ..... " 8 इस ठुमरी पर अष्ट नायिका का वर्णन देखने को मिलता है ।

ईश्वर की आराधना के साथ – साथ दरबार के संरक्षण के दौरान कुछ ऐसी प्रस्तुतियाँ भी समाविष्ट हुई , जिसमें मनोरंजकता की .ष्टि से श्रृंगार का विशेष ध्यान रखा गया , किन्तु ऐसी रचना में भी श्रृंगार को अधिकांशतः अपने ईश अर्थात .ष्ण के साथ अनुभव किया गया , ठुमरी भी कथक नृत्य की एक ऐसी ही रचना है। सुप्रसिद्ध कथक गुरु पं. बिरजू महाराज जी द्वारा अनेकों ठुमरियों की रचना की गई है जो वर्तमान में कथक नृत्य में प्रचलित है।

इस प्रकार कथक नृत्य विधा में 'ठुमरी ' एक महत्वपूर्ण प्रस्तुति है, जिसमें श्रृंगार के दोनों रूप प्रेम व विरह है तो श्री .ष्ण के प्रति अटूट आसक्ति के कारण ईश्वर के प्रति समर्पण भी है । इसमें प्रयुक्त होने वाली छोटी – छोटी कलात्मक आंगिक क्रियायें इसे खूबसूरत बनाती हैं। इसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द सहज , सरल व श्रृंगारिक होते है। इसमें नृत्य प्रदर्शन के लिए दक्षता के साथ अभ्यास तथा अभिनय कि गहराई की आवश्यकता होती है ।

7. माणिक महंत भगवान दास ,कथक घराना रायगढ़ पृ ... 146

8. राम कार्तिक , रायगढ़ में कथक , पृ. .. 110

संदर्भ :

1. कथक नृत्य शिक्षा भाग –1 , भाग – 2 ,डॉ. पुरू दाधीच ।
2. संगीत कला विहार , पं. विजय शंकर मिश्र ठुमरी ।
3. ठुमरी की उत्पत्ति , विकास , शैलियाँ , डॉ. शत्रुघन शुक्ल ।
4. बृहस्पति आचार्य कैलाश चन्द्र देव , " ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व" ।
5. भारतीय संस्ति में कथक परंपरा , डॉ. मांडवी सिंह ।
6. कथक ज्ञानेश्वरी , पं. तीरथ राम आजाद ।
7. नाट्य शास्त्र , बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ।
8. कथक भाव पक्ष के सृजनात्मक आयाम , डॉ. ज्योति बख्शी ।
9. सुनील कोठारी , कथक इंडियन क्लासिकल डांस आर्ट ।
10. ठुमरी परिचय ,लीला कारवाल ।

शोधार्थी
कथक नृत्य विभाग

•••

पौराणिक संदर्भों के आधार पर नृत्य की सामाजिक प्रतिष्ठा का आकलन

प्रो. (डॉ.) नीता गहरवार

अभिनेताओं, नटों, नर्तकों आदि की सामाजिक स्थिति के संबंध में प्राचीन ग्रंथों में अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। कुछ उनकी लोकप्रियता के, कुछ उनकी अवमानना के। प्राचीन भारत में जहाँ राजाओं, सामन्तों और श्रेष्ठों में नटो–अभिनेताओं एवं नट मण्डलियों की लोकप्रियता में कमी नहीं थी, वहीं दूसरी ओर स्मृतियों, विधि ग्रंथों और अर्थशास्त्र आदि में उनकी अवमानना के उल्लेख मिलते हैं।

इससे विदित होता है, कि कला को व्यापारिक रूप देकर उसे जीविकोपार्जन का साधन बनाने वाले नट–नटियों का स्तर समाज में निकृष्ट माना जाता था। उसके अनेक कारण भी थे। नट लोग अपनी कला के साथ–साथ अपनी स्त्रियों का सतित्व भी बेचने में नहीं हिचकते थे। इसलिए उन्हें जायाजीव तथा रूपजीव भी कहा गया।

धर्म सूत्रों और स्मृति ग्रंथों में कुशीलवों और नटों के संबंध में हेय दृष्टि बरती गयी है और नृत्य एवं अभिनय देखने पर प्रतिबंध लगाये गये हैं।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र में कहा गया है, कि किशोरों को सभा–समाजों में जाना और नृत्य देखना वर्जित है।

इसी प्रकार गौतम धर्मसूत्र में भी कहा गया है, कि जो ब्राह्मण नृत्य कला को एवं उनके संरक्षक एवं साधक (नट, शैलूष आदि) को समाज के सभी वर्गों में लोकप्रियता मिली। ललित कलाओं में उनका स्थान ऊँचा रहा और राजदरबारों से लेकर निम्न–मध्य वर्ग के समाज तक में उनका प्रवेश रहा। राजदरबारों में राजकुमारियों की शिक्षा में नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

धार्मिक दृष्टि से भी देव प्रतिमाओं और मंदिरों के समक्ष उनके प्रदर्शन की परम्परा पुरानी है। वे अपने आराध य देव की प्रसन्नता के लिए नृत्य और अभिनय का आयोजन करते थे।

वेद संहिताओं में प्राप्त प्रचुर सामग्री से तत्कालीन समाज की संगीत नृत्य की लोकप्रियता का प्रमाण मिलता है। नृत्य केवल मानव समाज में ही नहीं देवताओं में भी प्रचलित था। ऋग्वेद की ऋचा में सायणाचार्य ने नाचते हुए देवताओं का उल्लेख किया है।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजनेय संहिता के पुरुष सूक्त में कहा गया है, कि शैलूष जाति के लोग व्यावसायिक दृष्टि से नाटकों का आयोजन करते थे। इसमें कहा गया है, कि यज्ञ के विभिन्न अवसरों एवं क्रियाओं पर नृत्त (ताल–लयबद्ध अभिनय) के लिए सूत, को गीत के लिए शैलूष (नट) को (नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषम्) धर्म व्यवस्था के लिए समाचतुर को, मनोरंजन के लिए विनोदशीलों (मसखरों) को, श्रृंगार रचना (साज–सज्जा) के लिए कलाकार (निर्देशकों) को, समयापन के लिए राजकुमारों को और धैर्य युक्त कार्यों के लिए बढ़ई को नियुक्त करना चाहिए।

कौषतिकी बाह्मण से पता चलता है, कि तत्कालीन जीवन में जिन कलाकारों का उल्लेख है, उनमें नृत्य–संगीत का भी नाम है। नृत्य, वाद्य और गीत तीनों को शिल्प के अंतर्गत माना जाता था।

कौषतिकी ब्राह्मण के एक प्रसंग में शिल्प के तीन भेद माने गये– नृत्य, गीत और वाद्य (त्रिविधो शिल्पं गीतं वादित्रं च)।

वैदिक साहित्य के अंतिम अंग षड्वेदांगों के समय समाज में परिवर्तन हुए। शिक्षा, काव्य, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष इनके उन्नायक बहुजीवी एवं विचारक उस समाज में अधिक थे। समाज में इनका प्रभाव लक्षित होता है। कल्पसूत्रों के निर्माणक समाज के कुछ निहित स्वार्थी वर्ग ने समाज में उच्च–नीच के भेदभाव फैलायें।

उन्होंने कलाओं पर भी कुछ प्रतिबंध लगाये। उन्होंने यह व्यवस्था दी कि नृत्य गीत आदि कलाओं में द्विजातियों को सम्मिलित होना वर्जित है। गृहसूत्र के अनुसार समाज में नट, नर्तक और गायक आदि कलाकारों को निम्न श्रेणी में परिगणित किया जाने लगा।

अभिनयदर्पण के अनुसार, वैदिक समाज में नाट्यकला का प्रचार–प्रसार हो चुका था। समाज में कलाओं और कलाकारों की अलग–अलग श्रेणियाँ बन चुकी थीं। तत्कालीन समाज नृत्य–गीत के अंगों से सुपरिचित था।

अभिनयदर्पण में ही वर्णन है, कि उस युग में कलाकारों और कलाओं का समाज में एक निश्चित स्थान बन चुका था। कला को परमार्थ प्राप्ति का साधन माना जाने लगा था। इस प्रकार कला केवल मनोरंजन एवं मनोविनोद तक ही सीमित नहीं थी, अपितु उसे धर्म, आध्यात्म और परमार्थ प्राप्ति का भी माध्यम माना जाता था।

रामायण एवं महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि उस युग के समाज में संगीत और नृत्यादि कलायें सामान्य रुचि का विषय बन चुकी थीं और उनको समाज में प्रचलित करने का कार्य कुशीलवों (नट, नर्तक, गायक) और चारणों ने किया।

रामायण में नारिकयों की सामाजिक स्थितियों का चित्रण मिलता है। उस युग की नारियाँ रूपवती एवं नृत्य कला में प्रवीण होती थीं। वे सामुहिक एवं सामाजिक आयोजनों, जन्मोत्सवों, राज्याभिषेक, विवाहोत्सव और विजयोत्सव के अवसर पर अपनी कला के प्रदर्शन द्वारा समाज का मनोरंजन किया करती थीं।

विभिन्न प्रकार के उत्सवों के समय नृत्य, गान द्वारा हर्षोल्लास मनाने के अनेक प्रसंग रामायण में मिलते हैं। उस युग में इन्द्र ध्वजोत्सव का एक प्रकार का शरत्कालीन कृषि महोत्सव था, जिसका आयोजन नृत्य संगीत के साथ हुआ करता था।

इसी प्रकार श्रीराम के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव और राज्याभिषेक के समय अप्सराबों के नृत्य और गन्धर्वों के गान का उल्लेख है। श्रीराम के जन्मोत्सव के समय राजमार्ग पर नट–नर्तकों की भीड़ लगी हुई थी–"रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तक संकुलाः।"

रामायण के ही अध्ययन से ज्ञात होता है, कि उस युग में संगीत नृत्य नारियों की शिक्षा का एक अंग था। रावण के अंतःपुर की स्त्रियाँ इसमें निपुण थीं। रामायण के ही एक प्रसंग में वर्णन है, कि यज्ञ संस्कार के समय भी नट–नर्तकों की आवश्यकता होती था। रामायण में ही वर्णन है, कि राजकुमारों के विवाहोपलक्ष्य में अप्सराओं द्वारा अद्‌भुत नृत्य किया गया।

रामायण के एक प्रसंग में लिखा है, कि अप्सराएँ नृत्यगान में निपुण हुआ करती थीं और अपनी कला से समाज में वे मनुष्यों का मन मोहने का कार्य करती थीं। इसी प्रकार लंकेश्वर रावण को नृत्य गीत के साथ भगवान शिव की आराधना करते हुए बताया गया है। इसी प्रकार श्रीराम के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने वाले सम्भ्रान्त लोगों में नट नर्तकों का भी नाम आया है। रामायण में ही वर्णन है की श्रीराम मिश्रित भाषाओं के जानकार थे।

रामायण के ही एक प्रसंग में वर्णन है, कि गंधर्वों के साथ अप्सरायें भी सभाओं में जाया करती थीं और अपने नृत्य गीत के द्वारा सबका मनोरंजन करती थी। इसी प्रकार श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ के समय भी नट–नर्तक उपस्थित थे। एक स्थान पर देवी सीता के कहा कि शैलूष लोगों की तरह श्रीराम मुझे दूसरों को सौंप देना चाहते हैं।

रामायण में ही वर्णन है, कि जिस समय भरत अपने ननिहाल में थे, उनके दुःस्वप्न से दुखित मन के मनोरंजन के लिए नाटक का अभिनय किया गया था। उसमें कुछ तो नृत्य कर रहे थे और कुछ मधुर वाद्य बजा रहे थे–"वादयन्ति तथा शांति लास्यन्त्यदि चापरे।"

रामायण में ही लिखा है, कि नटों, नर्तकों और गायकों की कर्ण सुखद वाणियों को जनता बड़ी तन्मयता से सुनती थी–

"नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः सुश्राय जनता ततः।।"

नट, नर्तक तथा गायकों की स्वतंत्रता तथा लोकप्रियता को देखकर तत्कालीन समाज की सुख–समृद्धि और कल्याणकारी शासन का पता चलता है। समाज और शासन की सुव्यवस्था से ही कलाओं और कलाकारों की उन्नति संभव है। महामुनि (वाल्मिकी) ने एक प्रसंग में कहा है कि शासनहीन जनपद में नट–नर्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते–

"नाराजके जनपादि प्रदृष्ट नटनर्तकः।"

रामायण से ज्ञात होता है, कि जब शत्रुघ्न ने मधुपुरी पर अभियान किया था, उस समय उनके साथ नट–नर्तकी भी थे। इसी प्रकार भारद्वाज ऋषि के आश्रम में सैनिकों द्वारा नाचने, हँसने और गाने का उल्लेख मिलता है–"नृत्यन्यश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः।"

रामायण युग में ही संगीत, नृत्य के साथ नाटकों का भी अभिनय होता था। ये नाटक सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में होता था, जिसमें हास्य रस की प्रधानता होती थी। रामायण के विविध प्रसंगों से समाज के सभी वर्गों में कला के प्रति गहन अभिरुचि का परिचय मिलता है। उस युग में नाट्यकला राष्ट्रीयता का एक अंग बन गई थी। रामायण में एक स्थल पर रघुवंश राजकुमारों के विवाहोत्सव का वर्णन है, कि उन चारों भाईयों के विवाह के समय दिव्य दुन्दुभियों की ध्वनि, गीतों के मनोहर शब्द, वाद्यों के मधुर घोष और झुण्ड की झुण्ड अप्सरायें नृत्य करने लगी। गन्धर्व गीत गाने लगी।

इस प्रकार महाभारत में भी देवताओं की पूजा–अर्चना तथा विभिन्न महोत्सवों के समय नृत्य–गान की परम्परा प्रचलित थी। राजदरबारों में कला और कलाकारों का विशेष आदर–सम्मान था। महाभारत युग में समज्जा (समय) नामक उत्सव के समय समाज के सभी वर्गों के पुरुष एकत्र होकर नृत्य, नाट्य, संगीत द्वारा अपनी अभिलाषा एवं विद्ग्धता का परिचय देते थे। महाभारत कालीन समाज में सभी कलाओं का प्रचार–प्रसार था। महाभारत के प्रसंग में वर्णन है, कि उस समय भी समाज के नटों–नर्तकों का सम्मान होता था और उन्हें उपहार स्वरूप रूपये दिये जाते थे।

महाभारत में वर्णन है, कि महादेव की परिचर्या के लिए आयोजित उत्सव में सभी गंधर्व (उर्णायु, हाहा, हूहू, डुम्बर आदि) रूप अप्सरायें (उर्वशी, हेमा, रम्भा, धृताची आदि) नृत्य गीत द्वारा सभी का मनोरंजन करती थी एवं अपनी कला निपुणता का परिचय देती थी।

रामायण, महाभारत की भाँति कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी लिखा है, कि गणिका, दासी, अभिनेत्री और गायिका आदि के लिए 64 प्रकार की जितनी कलायें हैं उनके शिक्षण प्रशिक्षण के लिए राज्य की ओर से संगीत शालाओं, नाट्यशालाओं और चित्र शालाओं की व्यवस्था थी, जिनका संचालन आचार्यों द्वारा होता था। आचार्य कौटिल्य ने नट (अभिनेता), नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, वाग्जीव (कथा, कहानी कहने वाले), प्लवक (कूद–फाँदकर खेल दिखाने वाले), सौमित्र (ऐन्द्राजालिक) चारण आदि को गुप्तचरों की श्रेणी में रखा है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही वर्णन है, कि नर्तकी, गणिकाओं के लिए कलाओं की शिक्षा देने वाले आचार्यों की नियुक्ति होती थी। उनकी आजीविका के लिए आय गाँवों से आती थी। उन्हें सामाजिक सम्मान प्राप्त था। कलाकारों की ये मण्डलियाँ गा–बजा और नृत्य करके जीविकोपार्जन करती थी।

कलाकारों का सर्वथा ह्रास न हो और उनके द्वारा जीवित कला की परम्परा क्षीण न हो, इसके लिए राज्य की ओर से कलाकारों के लिए नियमित वृत्ति या पारितोषिक निर्धारित था।

शास्त्र ग्रंथों की भाँति पुराणों में भी सामाजिक जीवन में होने वाले विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख मिलता है। हरिवंशकार के अनुसार, मथुरा में राजा कंस द्वारा भगवान शंकर की प्रसन्नता के लिए बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। उस उत्सव में देशों के मल्ल तथा नृत्य में कुशल बहुत से नर्तक और गायक आये थे।

हरिवंश पुराण में वर्णन है, कि अनिरुद्ध के विवाह पश्चात् द्वारका लौटने पर नगर की नारियाँ मदमत्त होकर बासजे बजाने लगीं तथा अप्सरायें नृत्य करने लगीं।

वामन पुराण में भगवान शिव के विवाह प्रसंग का वर्णन है, कि शंकर के बारात प्रस्थान के समय गंधर्व, किन्नर,

वाद्यों का वादन करते हुए एवं अप्सरायें नृत्य करती हुई महादेव जी के पीछे–पीछे जा रहे थे। इसी पुराण में एक स्थान पर वर्णन है, कि चित्रांगदा के विवाह अवसर पर गंधर्व अप्सराओं ने गीत नृत्य प्रस्तुत किये।

वामन पुराण में ही भगवान कार्तिकेय के अभिषेक के समय गंधर्व, अप्सराओं द्वारा नृत्य गीत किये जाने का वर्णन है।

इसी प्रकार वराह पुराण में वर्णन है, कि गौरी शंकर के विवाहोत्सव में वनस्थली में पर्वत, नारद दोनों ने गान प्रस्तुत किये, सिद्धों ने नृत्य किया तथा देवांगनाओं ने पुष्पों की वृष्टि की।

इसी प्रकार सूर्य पुराण में शिव विवाह का वर्णन है, कि नारद, तुम्बरू आदि ने हिन्दोल गीत गाया तथा रम्भा आदि अप्सरायें एवं किन्नरों ने नृत्य किया।

शिव पुराण में वर्णन है, कि देवी शिवा का दक्ष के यहाँ पक्षी के रूप में जन्म लेने पर जन्मोत्सव संस्कार का आयोजन हुआ। इस अवसर पर वैदिक अनुष्ठान, ब्राह्मणों को दान एवं यथोचित गीत एवं नृत्य के आयोजन हुए।

शिव पुराण में शिव के विवाी के अवसर पर समस्त देवताओं का आगमन हुआ। शिव के गण सभी दिशाओं में नाचते हुए भारी उत्सव मना रहे थे।

शिव पुराण में ही एक स्थल पर वर्णन है, कि विवाहोत्सव सम्पन्न होने के चौथे दिन आने पर शुद्धता पूर्वक जविधि ा चतुर्थीकार्य होता था, जिसके बिना विवाह यज्ञ अधूरा रहता है, उस उत्सव में सुंदर गान एवं नृत्य प्रस्तुत किया जाता था।

इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण में वर्णन है कि राजकुमार अवीदित और विशाल राजकन्या (तनय नामक गंधर्व की पुत्री) मानिनि के विवाहोत्सव में गंधर्व पुरोहित तुम्बरू ने होम करके सम्पादित कराया। उस अवसर पर देवता गंधर्व गाने, बजाने लगे, अप्सरायें नाचने लगीं। आकाश से पुष्प वर्षा होने लगी, देवगण वाद्य बजाने लगे।

इसी पुराण में एक स्थल पर राजकुमार ऊपीक्षित और मानिनि के पुत्र जन्म होने पर वीणा, मृदंग, पटह आदि वाद्य बजने लगे। गीत गाया जाने लगा। अप्सरायें नृत्य करने लगीं और मेघ फूलों की वर्षा करते हुए मधुर मंद शब्द करने लगे।

भविष्य पुराण में प्रसंग है, कि इन्द्र के पुत्र जयंत के जन्मोत्सव पर एक सौ नर्तकियों के समूह ने नाना प्रकार के रागों से युक्त वहाँ मंगलमय नृत्य प्रस्तुत किया था।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कृष्ण जन्मोत्सव का वर्णन करते हुए पुराणकार कहते हैं, कि उस समय पर मेघ वर्षा कर रहे थे, वायु शीतल बह रही थी, पृथ्वी बहुत प्रसन्न हो रही थी। दसों दिशायें प्रसन्न थीं। ऋषि, मुनि, दक्ष, गंधर्व, किन्नर, देव, देवियाँ सभी आनंदित थे। अप्सरायें नृत्य कर रही थीं।

इसी पुराण में राधा के विवाह अवसर पर पारिजात पुष्पों की आकाश से सृष्टि हुई। गंधर्व प्रवर गायन करने लगे और अप्सरायें मनोरम नृत्य करने लगी थी। पद्मपुराण में राम–लक्ष्मण के अभिषेक के समय मंगलमय सुंदर गीत और नाना प्रकार के मनोहर नृत्त उत्तम आनन्द प्रदान कर रहे थे।

पद्मपुराण में लवकुश के जन्मोत्सव पर पूजा नृत्यमयी के समान हो गयी और शंखों के साथ भेरियों और नगाड़ों के शब्द गूँजने लगे।

श्रीमद्भागवत पुराण में प्रसंग है, कि भगवान श्रीराम के चौदह वर्षों का वनवास काटने के पश्चात् अयोध्या नगर पहुँचने पर समाज प्रजा अत्यन्त आनन्दमयी होकर पुष्पों की वर्षा करती हुई आनन्द से नाचने लगी।

हरिवंशपुराण में ऊषा और अनिरूद्ध के पश्चात् गंधर्व और विद्याधर सुमधुर स्वर में गाने लगे तथ्झा अप्सरायें नृत्य करने लगीं।

लिंगपुराणकार के अनुसार भगवान नंदिकेश्वर के उत्पन्न होने पर सुरेन्द्र और ब्रह्मादि समस्त मुनियों से स्तुति की। चारों ओर वाद्य बजाये गये और अप्सराओं ने नृत्य किया।

इसी प्रकार गणेश पुराण में वर्णन है, कैलाश शिखर स्थित शिव सदन के प्रांगण में पक्षोत्पत्ति की प्रसन्नता में

देवगण, किन्नरगण और अप्सराओं ने नृत्य–गायन आदि आरंभ किये। नारियाँ मंगल गीत गाती हुई उस अद्‌भुत आयोजन में सम्मिलित हुई।

गणेश पुराण में ही वर्णन है, कि उस समय नायिों का समाज होता था पार्वती जी जब नारी समाज में थी, उनके अंग में सुंदर बालक रूप में गणेश जी विद्यमान थे। अनेक सेविकायें उनकी सेवा में तत्पर थीं। सभी तरफ आनन्दोल्लास छाया हुआ था। नृत्य मंडलियाँ नृत्य में तत्पर थी। गंधर्व, किन्नर गायन–वादन कर रहे थे। श्रुतियाँ सुनाने में सारभूत एवं सुखदायक भगवान श्रीहरि के स्तवन में निमग्न थी।

गणेश पुराण में ही गणेश जन्मोत्सव पर शिव शिवा में मंगलोत्सव मनाते हुए ब्राह्मणों को भोजन कराया, वेदपाठ का आयोजन हुआ। अप्सरायें और सुखनिताएँ विविध प्रकार के नाच द्वारा उत्सव को और अधिक शोभायमान बना रही थी। इस प्रकार प्राचीन भारत में शास्त्र ग्रंथों, रामायण, महाभारत एवं पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि उस युग में नृत्य एवं नट, नर्तकों, गायक, वादकों, नृत्य मंडलियों को लोकप्रियता प्राप्त थी। सामान्य जनजीवन में घुलमिल गये थे। इस तरह जनता के सामाजिक जीवन में प्रवेश करके नृत्य ने अपनी सामाजिक उपयोगिता को प्रमाणित कर दिया था।

इस प्रकार नगरों से लेकर गाँवों तक कला का विशेष रूप से नृत्य–अभिनय का प्रचार–प्रसार था। तत्कालीन समाज कला और कलाकारों का आदर और सम्मान करता था।

यद्यपि गायन, वादन और नृत्य से जुड़े हुए कलाजीवियों को यत्र–तत्र हेय दृष्टि से देखा गया है, किंतु यह स्थिति उन व्यवसायी कलाकारों के कारण उत्पन्न हुई, जिन्होंने पवित्र कला को प्राप्त करके भी अपने चरित्र की उपेक्षा की थी। अनेकथ उस समय के नर्तकों के प्रति हेय दृष्टि का प्रमाण मिलता है, किंतु उनकी कला के प्रति समाज की अत्याधिक अनुराग था। अर्थात् चरितवान कला मर्मज्ञ उस समय के समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। यही कारण था कि आनंद के प्रत्येक क्षण नृत्यमय और संगीतमय था। समाज सब कलाकारों के पतित आचरण पर दृष्टिपात करता था तो उसमें स्वभावतः घृणा की भावना उदित होती थी किंतु उनकी ह्रदय को आल्हादित कर देने वाली कला के बिना उसके प्रत्येक आमोद–प्रमोद को अवसर अधूरे माने जाते थे।

वस्तुतः जिन कलाकारों का चरित्र भी पावन हुआ करता था, वे तो समाज की श्रद्धा के प्रमुख पात्र थे।

संदर्भ सूची :–

1. कूर्मपुराण।
2. सूर्यपुराण।
3. वामनपुराण।
4. विष्णुपुराण।
5. वायु पुराण।
6. हरिवंशपुराण।
7. विष्णुधर्मोत्तरपुराण।
8. मत्स्यपुराण।
9. स्कन्धपुराण।
10. श्रीमद्‌भगवतपुराण।
11. शिवपुराण।

अधिष्ठाता– नृत्य संकाय
इं.क.सं.वि.वि., खैरागढ़

●●●

लोक–संगीत का उद्‌भव एवं विकास

डॉ. पूर्णचन्द शर्मा

हिन्दू धर्म के अनुसार शब्द (ध्वनि या संगीत) से ही ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार परमार्थ हैं। धर्म और मोक्ष का संगीत से गहरा नाता है। संगीत की कोई भाषा या धर्म नहीं होता। संगीत आत्मा के सर्वाधिक निकट होता है। वस्तुतः संगीत ध्वनि या नाद का व्यवस्थित रूप है। इसे ध्वनि की लयात्मक अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने तो समस्त सृष्टि की उत्पत्ति नाद से ही मानी है। ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जड़–चेतन में नाद व्याप्त है। इसी कारण इसे 'नाद ब्रह्म' भी कहते हैं।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतवायदक्षरम्।
विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतोयतः।।[1]

अर्थात् नाद रूपी ब्रह्म अनादि, विनाशरहित और अक्षर है तथा उसकी विवर्त्त प्रक्रिया से ही यह जगत भासित होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार अप्रत्यक्ष रूप से संगीतमय है। संगीत एक ईश्वरीय वाणी है। अतः यह ब्रह्म रूप ही है। संगीत आनन्द का आर्विभाव है तथा आनन्द ईश्वर का स्वरूप है। संगीत के माध्यम से ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

योग व ज्ञान के मर्मज्ञ आचार्य याज्ञवल्क्य जी की धारणा है कि संगीत में पारंगत प्राणी सहज ही मोक्ष–मार्ग को प्रशस्त करता है :

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालश्रह्नाप्रभासेन मोक्षमार्ग च गच्छति।।[2]

व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो हम पाएंगे कि अनादिकाल से ही सृष्टि के कण–कण में संगीत का संचार रहा है। झरनों की झर–झर, सरिता की कल–कल, पत्तों की मर–मर, बून्दों की पट–पट, बादलों की गड़–गड़, बिजली की कड़–कड़, भंवरों की मधुर गुंजार, पपीहे की पी–पी, मोरों की प्यकू–प्यकू, कोयल की कुहूँ–कुहूँ, मेढकों की टर्र–टर्र, शेर की दहाड़, हाथी की चिंघाड़, घोड़े की हिनहिनाहट, बकरी की मिमिआहट आदि अनेक ध्वनियों में संगीत के स्वर सहज ही उपलब्ध हैं।

कंठ्य–संगीत को संगति देने के लिए वाद्य–संगीत की आवश्यकता पड़ी तो पाया कि सरल लोकजीवन में वाद्य प्रत्येक स्थान पर विद्यमान रहते हैं। प्रातः काल जब स्त्रियाँ चक्की चलाती हैं, तो उसकी घरघराहट ही उनके स्वर में मिलकर वाद्य का रूप धारण कर लेती है। बच्चा पैदा होने पर माताओं की प्रसन्नता के मूक स्वर को थाली वाद्य द्वारा स्वर मिल जाते हैं। ढेंकली या चड़स चलाने वाले आदमी पानी की सरसराहट और छप–छप की ताल पर ही गाने लगते हैं। गाड़ीवान बैलों की घंटियों और खुरों की आवाज से ही अपना स्वर मिला लेता है। बर्तन मांजने वाली अपनी चूड़ियों की खनक एवं बर्तनों की खनखनाहट को ही अपने गीत का माध्यम बना लेती हैं। दूध बिलौते हुए रई के झरड़के की झगरमगर भी मधुर संगीत उत्पन्न करती है। धुनिए की तांत की 'तक् तक् तैं–तैं' की ध्वनि निश्चय ही लोक–वाद्यों के विकास में सहयोगी रही होगी।

लोक जीवन के श्रमसाध्य क्रिया–कलापों में पद–पद पर लोकवाद्यों के विकास के सूत्र उपलब्ध हैं। इन्हीं लोक–वाद्यों में परिष्कार करके शास्त्रीय वाद्यों को बना लिया गया। वंशी या बांसुरी को पहले चरवहे या गवाले नरकुल या बांस काटकर बना लेते थे। इसी प्रकार किंगीरी से ही सितार सारंगी, इकतारा आदि वाद्यों का विकास

हुआ होगा। किंगीरी या गोल लौकी में एक लकड़ी लगाकर सितार की आकृति बना ली जाती थी, जिसमें तारों के स्थान पर घोड़े की पूँछ के बाल लगा लेते थे और बालों की प्रत्यंचा बनाकर एक धनुषाकार लकड़ी से ही उसे बजाते थे।[3]

कौन नहीं जानता कि लोकसंगीत में लोकवाद्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दो वस्तुओं के परस्पर टकराने से जो ध्वनि निकली उसी से लोकवाद्यों की कल्पना साकार हुई। आदिकाल में मनुष्य को अपने गीत–नृत्यों के साथ जब ताल की आवश्यकता हुई तो उसने मरे हुए पशुओं की खाल को मिट्टी के बर्तनों पर मढ़ कर ताल–वाद्य बना लिया। उसके साथ ही थाली, लकड़ी आदि बजाने का सिलसिला भी शुरु हो गया।ऐसा लगता है कि ये दोनों ही प्रकार के ताल–वाद्य आदि हैं। ढोलक, तबला, नगाड़ा, चंग, ढोल, डफ, डफली आदि वाद्य बाद में विकसित हुए।

जंगल में कटे हुए बांसों में आँधी–तूफानों से जब वायु का संचार हुआ और उससे जो भिन्न–भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकली, उनसे फूंक–वाद्य का आविष्कार हुआ। प्रारम्भ में एक ही छेद से फूंकमार कर स्वर (संगीत) निकाला गया। कालान्तर में इसी प्रक्रिया के आधार पर बांसुरी, अलगोजे तथा नाना प्रकार के अन्य फूंक–वाद्य अस्तित्व में आए।

मृत पशुओं की खाल खींचने में जो तनाव उत्पन्न होता था और उसकी आन्तों का नाना प्रकार की रस्सियों के रूप में प्रयोग किया जाता था, उस समय तनाव में जो तुनतुनाहट पैदा होती थी, उससे नाना प्रकार की ध्वनियों का सृजन हुआ तथा उनसे तन्तु–वाद्यों की कल्पना साकार हुई। इस तन्तु–वादन के परिणामस्वरूप सबसे पहले बना हुआ वाद्य इकतारा है। इसी इकतारे के तार को कुछ अन्तर से दबाकर बजाने से जो विविध स्वर निकले उसी से अन्य तन्तु–वाद्यों का विकास हुआ। पहले इन तन्तु–वाद्यों को उंगली से बजाया जाता था, कालान्तर में गज और मिजराब से बजाए जाने वाले अनेक वाद्यों का निर्माण कर लिया गया।

छायानट पत्रिका के अंक 66 में पृष्ठ 6 पर प्रकाशित अपने लेख 'वाद्य यंत्र एवं संगीत का विकास' में श्री जी. एन. गोस्वामी ने लिखा है कि तंत्र–वाद्यों के आविष्कार में आदि मानव के धनुष को वाद्यों का जन्मदाता कह सकते हैं। संभवत : धनुष की डोरी की टंकार से मनुष्य को वाद्य–यंत्र बनाने की प्रेरणा मिली होगी। जंगली शिकारियों ने प्रथम बार धनुष की ताँत के सहारे वाद्य संगीत को जन्म दिया होगा। स्वर–सम्बन्धी आवश्यक उतार–चढ़ाव धनुष को दबाकर तथा ताँतों के तनाव को बदल कर किया जाता था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कंठ–संगीत को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए ही वाद्य–यंत्रों का निर्माण किया गया। लोकवाद्यों का विकास मूलतः कंठ–संगीत की संगत के लिए ही हुआ। प्रारम्भ में वृन्द–वादन जैसी कोई चीज नहीं थी। कालान्तर में उत्सवों और समारोहों को भव्यतर बनाने के लिए बैंड–बाजे भी बजाए जाने लगे।

श्रीरामप्रसाद मिश्र की मान्यता है कि भारत संगीत की जन्मभूमि है, क्योंकि संसार काप्रथम गान–ग्रंथ 'सामवेद' भारत में ही रचा गया था। 'सामवेद' के अधिकांश मंत्र ऋग्वेदमूलक हैं। ऋग्वेद भी सर्वथा गेय है। भारतीय संगीत के आविष्कर्ता भूतभावन शिव हैं। 'शिव' का अर्थ ही कल्याण या श्रेष्ठ है।

अन्यत्र संगीत का उद्देश्य मनोरंजन मात्र रहा है, पर हमारे यहाँ यह मोक्षदायक अध्यात्म के सर्वोच्च आसन पर सुशोभित है तथा संगीत की देवी माँ सरस्वती इसकी अधिष्ठात्री हैं।[4]

प्राचीन काल में 'संगीत' को 'गान्धर्व' तथा 'संगीतशास्त्र' को 'गान्धर्व–तत्त्व' कहते थे। उसके अन्तर्गत 'गीत' (मौखिक गान) तथा 'वादित्र' (वाद्य–गान) दोनों समाविष्ट थे। उस युग के गायक मार्ग शैली का आश्रय लेकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे।[5]

संगीताचार्यों की मान्यता है कि लय, संगीत और कविता आदि–मानव के श्रम से पैदा हुई। शारीरिक परिश्रम उस दशा में अत्यन्त आसान हो उठता था, जब कार्य एक लय के साथ किया जाता था। हाथ से सामूहिक रूप में काम करते समय, शक्ति का एक संगृहीत रूप उपस्थित करने के लिए उसे एक लय में बांधना जरूरी हो जाता था और इस प्रकार मांसपेशियों के कार्य में जब अधिकतम शक्ति लगने लगती थी तो अपने आप एक स्वर फूट पड़ता

था। इन स्वरों पर आदि मानव ने शब्दों का पर्दा चढ़ा दिया और संगीत बन गया। इसके अतिरिक्त औजारों का धातुओं से टक्कर लगना और उनसे स्वर का निकलना भी उनके लिए प्रेरणा का कारण बना। इसी तरह बहुत से औजार भी वाद्य–यंत्रों में परिणित हो गए।

'लय' संगीत का आधारभूत तत्त्व है और यह सब जगह व्याप्त है। चाहे घड़ी की 'टिक–टिक' हो या सिपाहियों की मार्चिंग हो, या हृदय की धड़कन हो, लय का बहाव सब जगह है। भरत ने लय को इस प्रकार समझा है –

'कला काल कृतो लयः' उसके अनुसार काल, पांच निमिष के बराबर है। एक निमिष लगभग एक सैकिंड के बराबर होता है। ठाकुर जयदेवसिंह के अनुसार, लय मोटे तौर पर देखा जाए तो वह एक नपा हुआ बहाव है। वैदिक काल में 'लय' शब्द को 'वृत्ति' कहा करते थे।[6]

हाथ से ताली बजाकर लय का निर्वाह करते हुए गायन वैदिक युग में प्रचलित रहा है। सामगान में स्त्रियों द्वारा ताली बजाकर नृत्य करने का उल्लेख वेदों में मिलता है।7वेदों में वाद्य यंत्रों के प्रचलन के सूत्र तो समाहित हैं, पर उनके वर्गीकरण का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

वाद्यों का प्राचीनतम वर्गीकरण आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र के वाद्याध्याय में इस प्रकार मिलता है –

ततं चैवावनध्दं च घनं सुषिरमेव च
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्ष्णान्वितम्
ततं तन्त्रीकृतं ज्ञेयमवनध्दं तु पोष्करम्।
घनं तालस्तु विज्ञेयं सुषिरो वंश उच्यते।।[8]

संगीत चूड़ामणि में पंचविध नाद के लिए पंच महाशब्द संज्ञा का प्रयोग किया गया है। इसमें कंठ को भी वाद्य के अन्तर्गत लिया है –

ततं च तन्त्रितं विद्यात् विततं मुखदनम्
घनं च कांस्यतालादि तु सुषिरंवायुपूरितम्।।

भिन्न–भिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत हैं। किसी ने वाद्य पाँच प्रकार के, किसी ने चार प्रकार के तो किसी ने तीन प्रकार के माने हैं –

पंचधा च चतुर्धाच त्रिविधं च मते मते।
कोहलस्य मते ख्यातं पच्चधवाद्यमेव च।।[9]

महर्षि भरत तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने संगीत का उपकरण होने के कारण कण्ठ ध्वनि को वाद्यों के चतुर्विध वर्गीकरण के अन्तर्गत रखकर पंच महाध्वनियों का वर्णन किया है। इन पाँच ध्वनियों की व्युत्पत्ति के विषय में कहा गया है –

एकं ईश्वरनिर्मितं नैसर्गिकं अन्यच्चतुर्विधं
मनुष्यनिर्मितं चेलि पच्च्प्रकाराः महावाद्यानाम्।[10]

वाद्यों के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में अध्ययन से यह निष्कर्ष मिलता है कि प्राचीन ग्रन्थों में हमें वाद्यों का वर्णन किसी न किसी रूप में देवी–देवताओं से सम्बन्धित प्राप्त होता है, किन्तु अवनद्ध वाद्यों का आविर्भाव असुरों के संहार के पश्चात् विजयोत्सव में लय अनुगम हेतु ही अधिकांशतः प्राप्त होता है।

विद्वानों की यह धारणा एकदम युक्तियुक्त है कि वैदिक काल से पूर्व भी संगीत की एक पुष्ट परम्परा तत्कालीन समाज में प्रचलित थी, अन्यथा वैदिक युग में संगीत की सुव्यवस्थित उपस्थिति अचानक कैसे हो गई? पूर्व प्रचलित पद्धति के अनुसार –वेद–मंत्र छन्दों में रचे गए हैं और छन्द गेय होते हैं अर्थात् उनमें संगीत होता है या यों कहें कि वे संगीतात्मक होते हैं।

वैदिक यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है – होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। इनमें उद्गाता का अर्थ है उच्च स्वर से गाने वाला। उसके उपयोग के लिए मंत्रों का संग्रह जिस संहिता में है, उसका नाम सामवेद

है।[11]

सामगान के प्रायः सात भाग होते हैं – हुंकार या हिंकार, प्रस्ताव आदि उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इसके मुख्य गायक को उद्गाता कहते हैं। उद्गाता के दो सहायक गायक होते हैं जिनको प्रस्तोता और प्रतिहर्ता कहते हैं। गान एक हुंकार अथवा हिंकार से आरम्भ होता है, जिसका उच्चार उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता एक साथ करते हैं।

भरत के अनुसार इसको साम इसलिए कहा जाता है कि यह पाप को छिन्न करता रहता है (स्यति पापं नाम)। जैमिनी ने इसका लक्षण बतलाया है – 'गीतिषु सामाख्या इति' अर्थात् जो गीतों में अनुस्यूत है।

तिथ्यादितत्त्व में कहा गया है – 'गीयमानेषु मंत्रेषु सामसंज्ञेत्यर्थः'।[12]

सामवेद ही आदि संगीत का मूल स्रोत माना जाता है। सामगान के लयों के नाम क्रुष्ट, प्रथमा, चतुर्थी, मन्द और अतिस्वार्थ हैं। उनके तीन वाद्य भी थे दुन्दुभि, वीणा और वेणु। सामवेद ही का उपवेद गन्धर्ववेद या गान्धर्व वेद है जिससे सोलह हजार राग–रागनियाँ निकलीं।[13]

इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वैदिक युग में संगीत समाज में अपना स्थान बना चुका था। सबसे प्राचीन ऋग्वेद में आर्यों के आमोद–प्रमोद का मुख्य साधन संगीत को बताया गया है। अनेक वाद्यों का आविष्कार भी ऋग्वेद के समय हो चुका था। यजुर्वेद में संगीत को अनेक लोगों की आजीविका का साधन बताया गया है। यजुर्वेद में 30वें काण्ड के 19वें और 20वें मंत्र में कई वाद्य बजानेवालों का उल्लेख है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक कई प्रकार के वाद्यवादन का व्यवसाय प्रचलित था। फिर गान–प्रधान वेद 'सामवेद' आया जिसे संगीत का मूल ग्रंथ माना गया है। सामवेद में उच्चारण की दृष्टि से तीन और संगीत की दृष्टि से सात प्रकार के स्वरों का उल्लेख है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यह जीवन वस्तुतः सात सुरों का संगम है, जिसे शक्ति–रूपिणी सात अप्सराएँ गा रही हैं। वे सात बहनें हैं या सप्तमातृकाएँ हैं, जो मूलभूत एक देवमाता के सात रूप हैं। ऋग्वेद में इनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है –

सप्त स्वसारो अभिसेनवन्ते। (ऋ 1–164–3)

सात बहनें संवेत–स्वर में स्तुति गीत गा रही हैं। उनका सम्मिलित गान ही जीवन है। वे गाती जाती हैं और यह जीवन रथ चलता जाता है।[14]

सामवेद संगीत का वेद है। इसमें गेय ऋचाओं को संगृहीत किया गया है। इसी के आधार पर भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र लिखा। इसके बाद 'संगीत रत्नाकर' आदि ग्रंथों का प्रणयन हुआ। दुनियाभर के संगीत–ग्रंथ सामवेद से प्रेरित हैं। हमारे ऋषि–मुनियों से बढ़कर संगीत के रहस्यों की जानकारी किसी और को नहीं थी।

लोक संगीत काल और स्थान के अनुरूप प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में स्वाभाविक रूप में विकसित होता रहा। शास्त्रीय संगीत वस्तुतः लोकसंगीत का ही परिष्कृत रूप है, जितनी भी कलाएँ हैं वे सब की सब लोकोद्भूत हैं।

प्रारम्भ में लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत में कोई भेद नहीं था। काल–प्रवाह के साथ लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अन्तर आ जाने के कारण विशिष्ट लोगों ने लोकसंगीत के विशिष्ट तत्त्वों को परिष्कृत करके शास्त्रीय संगीत का आगाज कर लिया। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि जैसे शास्त्रीय संगीत का प्रेरक लोकसंगीत है, वैसे लोकसंगीत का प्रेरक शास्त्रीय संगीत नहीं है। शास्त्रीय संगीत यदि लोक–संगीत की ओर उन्मुख होता है तो उसकी लोकप्रियता बढ़ती है, उसका भावपक्ष सुरम्य एवं सुग्राह्य बनता है, किन्तु यदि लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत की ओर झुके तो वह बोझिल होकर अपनी रसमयता को खो बैठता है।

रामायणकाल तक लोक संगीत एवं शास्त्रीय संगीत परस्पर गलबहियाँ डाले चलते दिखाई पड़ते हैं। तत्कालीन उत्सवों में उनका समन्वित रूप सहज ही देखा जा सकता है। वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड में लिखा है कि

वह महाकाव्य पढ़ने और गाने में भी मधुर, द्रुत, मध्य और विलम्बि–इन तीनों गतियों से अन्वित, षड्ज आदि सातों स्वरों से युक्त, वीणा बजाकर स्वर और ताल के साथ गाने योग्य तथा श्रृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर आदि सभी रसों से अनुप्राणित हैं। दोनों भाई कुश और लव उस महाकाव्य को पढ़कर उसका गान करने लगे। वे दोनों भाई गान्धर्व विद्या (संगीत–शास्त्र) के तत्त्वज्ञ, स्थान और मूर्च्छना के जानकार, मधुर स्वर से सम्पन्न तथा गन्धर्वों के समान मनोहर रूप वाले थे।[15]

महाभारत–काल में 'गान्धर्व–विद्या' के प्रचलन के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। नृत्य, संगीत एवं वाद्य कला में निष्णात अर्जुन द्वारा विराट भूप की कन्या को विधिवत् संगीत सीखाना सर्वविदित है। कौटिल्य या चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में भी संगीत कला के प्रचलन का उल्लेख है। महाकवि बाण के पूर्वज नृत्य, गीत और वादित्र में पारंगत थे। मन्दिरों में देव–प्रतिमाओं के समक्ष नृत्य, गीत और वाद्य का आयोजन करके देवताओं को परितुष्ट करने के लिए यथेष्ट प्रयत्न किए जाते थे।[16]

महाकवि कालिदास का काव्य तो वाद्य–संगीत के प्रसंगों से भरा पड़ा है। मेघदूतं, रघुवंशं, अभिज्ञान शकुन्तलम्, ऋतुसंहारम्, मालविकाग्निमित्रम् आदि उनकी सभी रचनाओं में संगीत की भरपूर चर्चा हुई है। रमणियों की चूड़ियों की मधुर खनखनाहट, वीणा, वेणु, मृदंग, पटह, पुष्कर आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि, उनके काव्य में पदे–पदे सुनाई पड़ती है।

निर्दिष्ट वाद्यों में 'पुष्कर' एक भाण्ड–वाद्य का सूचक है। प्राचीन काल में 'नगाड़े' बर्तनों को मढ़ कर बनाए जाते थे। 'मार्जना' उनके अनुसार 'ग्राम' के साथ चलने वाली 'मृदंग' की लय या ध्वनि को कहते हैं। 'मायूरी मार्जना' को सुनकर मोरों के कूकने का वर्णन 'मालविकाग्निमित्रम्' में हुआ है। इससे सूचित होता है कि उसकी ध्वनि मेघ की ध्वनि के समान ही थी।[17]

भारत के प्राचीन ग्रंथकारों ने संगीत को दैवी सृष्टि माना है। तर्क दिया जाता है कि त्रिपुर नामक दैत्य को मारकर शिव प्रसन्नतापूर्वक नाचने लगे, इसी से नृत्य–कला का आर्विभाव हुआ। ब्रह्मा ने त्रिपुर के रक्त से मिट्टी को सान कर ढोल प्रस्तुत किया, जिसे त्रिपुर के चमड़े से मढा गया तथा शिव के पुत्र गणेश ने इस पर ताल दिया। तब से ताल का सृजन हुआ, कालान्तर में गीत एवं वाद्यों में इसका प्रयोग होने लगा।

ताल की उत्पत्ति नृत्य–विशारद शिवजी के 'ताण्डव एवं पार्वती' के 'लास्य' नृत्य से भी मानी जाती है। विश्वास किया जाता है कि ताण्डव के आद्यक्षर 'ता' और लास्य के आद्यक्षर 'ला' के संयुक्त रूप से 'ताल' का निर्माण हुआ। ताल संगीत और वाद्य दोनों का ही महत्त्वपूर्ण अंग है।

मध्ययुग या भक्तिकाल में भक्तिगीतों, पदों, साखियों आदि का गायन वाद्यों के साथ प्रस्तुत किया जाता था। उस समय वाद्यों का गायन तथा नृत्य के साथ अभिन्न सम्बन्ध था तथा नृत्य उनकी ताल–लय के अनुसार चलता था। उस युग के वाद्य–संगीत में मानव–मन को लीन कर देने की क्षमता एवं सरसता विद्यमान थी। जैसे –

करै पखावज प्रेम का, हृदय बजावै तार।
मनै नचावै मगन ह्वै, तिनका मता अपार।।[18]

वादन से सम्बन्धित अनेक उल्लेखों से उसके जिस उद्देश्य की अभिव्यक्ति हुई है, उसके अनुसार वह मनोरंजन का साधन न होकर आध्यात्मिक उद्देश्य से अनुप्राणित था, जिसे निश्चय ही भारतीय संस्कृति का प्रतिमान कहा जा सकता है। वाद्यों की संगति या साज द्वारा 'आर्केस्ट्रा' के संगीत की उद्भावना के यत्किंचित् संकेत भी सन्तों के गीतों में उपलब्ध हैं। जैसे –

गमां बतीस मोरणां पांचौ, नीका साज बनाया।
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै।।
सब बाजे हिरदे बजैं, प्रेम पखावज तार।
मंदिर ढूंढत को फिरै, मिल्यौ बजावनहार।।

– (मलूकदास, सन्त सुधासार, दूसरा खण्ड पद 195)

लोक–वाद्यों में ऐसे वाद्य आते हैं, जिनका विकास और सार लोकजीवन तक ही सीमित है। उदाहरणार्थ भिखमंगे दो चपटी लकड़ियों को बजाते हैं, जिनका संगीत गायन के स्वरों में सम्मिलित हो जाता है। संभवतः इसी पद्धति पर साधुओं ने लोहे के चिमटों को वाद्य के रूप में प्रयुक्त किया। साधुओं ने संगीत कला के विकास में सर्वाधिक योगदान दिया। बताया जाता है कि तानसेन और बैजू बावरा के गुरु बाबा हरिदास एक साधु ही थे।

संगीत–सम्राट तानसेन संगीत–शास्त्र में पारंगत थे। उनकी दृष्टि से संगीत सामाजिक मनोरंजन का साधन नहीं है, अपितु वह नादब्रह्म की आध्यात्मिक साधना ही है। इतना ही नहीं, इसके द्वारा व्यक्ति उसके चरमसाध्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उन्होंने लिखा है –

पवन अग्नि संयोग ते, प्रगट अनाहद आदि।
तानसेन संगीत मत, कह्यौ सुर ब्रह्मानादि।।
बीन विदित सुरताल में, निपुन पुरुष है जोय।
बिना परिश्रम जात है मोक्ष–पंथ में सोय।।[19]

सन्त–साहित्य में जिन साहित्य–रूपों को अपनाया गया है, वे उसे और भी अधिक लोकभूमि पर ले आते हैं। प्रायः प्रत्येक सन्त ने आरती, हिंडोला, झूला, बारहमासा, होली, जंतसार, चांचर, मंगल, बधावे, गाली, सोहर, सेहरा लिखे हैं। इन गीतों में इन संतों ने केवल लोकप्रचलित राग ही नहीं अपनाए, उनके विषय भी अपनाए हैं।

लोकमानस द्वारा उन्मुक्त भाव से आनन्दपूर्वक गाए जाने वाले साधु–सन्तों के भजन, पद, दोहे, चौपाई, शब्द आदि लोकसंगीत के अन्यतम स्रोत हैं। कबीर, सूर, तुलसी तथा मीरा के सैकड़ों गीत सामाजिक कसौटी पर चढ़कर अपनी अत्यन्त मधुर धुनों के कारण लोकभजन बन गए। इन भजनों की मूल धुनें अत्यन्त ही प्राथमिक और एकांगी होती हैं, परन्तु जनता के कंठों पर चढ़कर उनमें अपूर्व रंगों का निखार आ जाता है, बल्कि यों कहें कि ये भक्तिगीत उक्त प्रक्रिया के अनुसार लोकभजनों का दर्जा प्राप्त नहीं करते तो उनकी आयु कदाचित् इतनी लम्बी नहीं होती।

ये भजन निश्चय ही लोकसंगीत की आनन्दप्रदायिनी श्रेणी में आते हैं तथा जीवन और जगत् के बीच अद्‌भुत सामंजस्य स्थापित करते हैं। इन गीतों में आत्मग्लानि, आत्म–प्रवंचना तथा संसार का कुरूप पक्ष अन्तर्हित नहीं होता। उनमें जीवन का सागर लहलहाता है और संसार का अत्यन्त सृजनात्मक और आनन्दमय पक्ष निहित रहता है। जग और जीवन की अनेक गुत्थियों का अत्यन्त सुन्दर और विश्लेषणात्मक समाधान उनमें अंतर्हित रहता है।

इन भजनों की लोकपक्षी स्वर–रचना के वैविध्य से इन गीतों को चार चाँद लग जाते हैं। ऐसे अनेक गीत जनता के कंठों पर विराजमान हैं, जो रात को इकतारे पर गाँव के चौराहे तथा चौपाल में सार्वजनिक रूप में गाए जाते हैं। ये गीत किसी व्यक्ति, जाति, धर्म तथा समाज–विशेष की धरोहर नहीं होते। उनका दायरा बहुत विस्तृत हो जाता है और अत्यन्त जीवनोपयोगी गीतों का दर्जा प्राप्त कर लेता है।[20]

इन भक्त कवियों को वाद्यों के साथ–साथ प्रचलित रागों की भी अच्छी जानकारी थी। सन्त रज्जब की एक साखी में दीपक राग का उल्लेख इस प्रकार हुआ है –

(क) गुरु अनन्त सिष हू घणें पै सतगुर मेरे भाग।
रजब रागी बहु मिलैं, पै बिरलौ दीपक राग।।

(ख) साचे सतगुर की कथा, जैसा दीपक राग।
(रजब, सरबंगी ग्रंथ, पत्र 45, साखी 31)

भक्ति लहर से सम्बन्धित कवि संगीत में संत कबीर, मीरा, गुरु नानक देव, तुलसीदास, सूरदास, रविदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कबीर ने आदि काव्य बीजक, कबीर ग्रंथावली की रचना से हिंदी भक्ति साहित्य को परिपुष्ट किया। उनके संगीत प्रेम की एक बानगी देखिए :

सबरंग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित।

और न कोई सुणी सकै, कै साईं के चित।।
हो साधे यह तन ठाठ तम्बूरे का।
पाँच तत्त्व का बना तम्बूरा, तार लगा नौ तूरे का।।
एंचत तार मरोड़त खूँटी, निकसत राग हजूरे का।
टूटा तार बिखर गई खूँटी, हो गया धूर मधुरे का।।
या देहि का गर्व न कीजे, उड़ गया हंस तम्बूरे का।
कहे कबीर सुनो भई साधो अगम पंथ इक सूरे का।।

अष्टछापी कृष्ण–भक्त कवियों के संगीत में गायन और वादन का विशद विवेचन हुआ है, जिसमें पाँच प्रकार के वाद्यों, छः रागों, छत्तीस रागनियों एवं सप्त सुरों के स्पष्ट निर्देश आए हैं। संगीत के नाद–पक्ष को ध्यान में रखते हुए इन कवियों ने ग्राम, मूर्च्छना, तान आदि विविध उपकरणों की भी चर्चा की है। सूरदास ने मूलस्वरों–सरगम को साधकर ताल–लय की गति अपनाने के क्रम तथा अतीत और अनागत ताल–भेद को भी स्पष्ट किया है। जैसे –

सरगम सुनि कै साधि, सप्त सुरनि गाई।
अतीत अनागत संगीत, बिच तान मिलाई।
सुरताल अरू नृत्य धाइ, पुनि मृदंग बजाई।
सकल कला गुन प्रवीन, नवल बाल गाई।।

– सूरसागर, पद 1769

नन्ददास ने अपनी पदावली के पद 60 में 'पंचवाद्य' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, किन्तु राधा–कृष्ण के विवाह–प्रसंग में ढोल, दमामा, ताल, मृदंग तथा उपंग इन पाँचों वाद्यों के बजने का उल्लेख अवश्य किया है। वस्तुतः उस युग में मंगल–प्रसंगों पर इन 'पंचवाद्यों' के बजाए जाने की प्रथा रही होगी। इसमें सन्देह नहीं कि जन्म तथा विवाह इत्यादि मंगल–प्रसंगों पर पंचवाद्यों का वादन होता था, जिन्हें 'मंगल–वाद्य' भी कहा जाता था।21

उस समय उत्सवों और विवाह आदि अवसरों पर वाद्यों का बजना मंगल का सूचक समझा जाता था। युद्धों के अवसर पर रण–वाद्यों के बजाने की प्रथा थी। पद्मावत में युद्ध के आरम्भ में नक्कारा बजाने का उल्लेख है। नक्कारों की ही भाँति युद्धारम्भ के धौसों के बजाने का भी प्रचलन था।[22]

मीरा का युग गीतिकाव्य की धारा से परिपूर्ण था। उस समय लोकगीत और लोकसंगीत की हरमन–प्यारी परम्परा प्रचलित थी। उस समय सन्तों के भक्तिगीतों की प्रबल लहर प्रवहमान थी। उनके गायन, वादन, नृत्य एवं भाव–प्रदर्शन बड़े पैमाने पर हो रहे थे। मीरा की संगीतात्मकता भी इस भाव–प्रवण संगीत–सरिता की एक लोकरंजक लोल–लहर थी।

'पग घुँघरु' बाँध मीरा नाची रे' राग पीलू में गाए इस गीत के जादू को भला कौन भूल सकता है। मीरा कृष्ण के अनन्य प्रेम से सरोबोर होकर पैरों में घुँघरू बाँधकर नृत्य–संगीत में मग्न रहती थी। मीरा के गीतों का संगीत हृदय की गहराई से प्रवाहित हुआ था। अतः उनका संगीत आत्मोज का द्योतक है। मीरा के पद गेय और कीर्तन–प्रधान हैं। इसलिए उनमें स्वर, ताल, लय, गति, राग–रागनी आदि संगीतात्मक उपादानों की सिद्धि पाई जाती है। साथ ही उनमें छन्द–विधान की अपेक्षा राग–विधान मुख्य रूप में पाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मीरा के पद भक्तों के कंठहार तो हैं ही, वे संगीतज्ञों के लिए विविध रागों की पावन धरोहर के रूप में भी सुशोभित हैं।

आधुनिक काल में स्वर और लय को व्यक्त करने वाले उपकरण को संगीत में वाद्य और प्राचीन गंधर्व में 'आतेद्य' की संज्ञा दी गई। मानसोल्लास संगीत–ग्रंथ में लिखा है –

वाद्येन बिना न राजते गीतं नृत्यं
वाद्य–वार्जितं तस्माद् वाद्यं प्रधानस्यात।

अर्थात् वाद्य के बिना न गीत सुशोभित होता है और न ही नृत्य। वैसे ही संगीत कला की कोई भी प्रस्तुति बिना

लय के नहीं की जा सकती और लय का प्रतिनिधित्व वाद्य करता है। अतः प्राचीन काल से वर्तमान काल तक वाद्यों के अभाव में गीत–संगीत इतना विकसित नहीं हो पाता।

इसलिए विभिन्न प्रकार के वाद्यों के प्रयोग का विधान आज से नहीं बल्कि सहस्रों वर्षों से संगीत में स्वीकार किया गया है।[23]

चलचित्रों (फिल्मों) के प्रचलन और पाश्चात्य प्रभाव के कारण भारतीय लोकजीवन में आशातीत परिवर्तन आया है। जैसे यहाँ के लोगों के परिधान एवं क्रिया–कलापों में बदलाव हुआ है, वैसे ही यहाँ के संगीत ने भी करवट बदली है। प्राचीन वाद्यों के साथ–साथ अर्वाचीन वाद्यों का प्रवेश भी हमारे संगीतात्मक कार्यक्रमों में होने लगा है। हारमोनियम, क्लारनेट, गिटार, वायलिन, पियानो, बैंजों, बीन बाजा (माउथ ओर्गन) आदि वाद्य–यंत्र अब हमारे परम्परित वाद्यों–शंख, बांसुरी, सारंगी, इकतारा, ढोलक, नगाड़ा आदि से सम्पर्कित हो गए हैं। विभिन्न अवसरों पर आयोजित होने वाले संगीत–समारोहों में इनकी समन्वित प्रस्तुति सहज ही देखी जा सकती है, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को साकार करती है।

सन्दर्भ–सूत्र

1. लक्ष्मीनारायण गर्ग, निबन्ध संगीत (प्र.सं.), पृ. 123।
2. शार्ंगदेव, संगीत रत्नाकर, भाग दो, पृ. 8।
3. सम्मेलन पत्रिका, लोकसंस्कृति अंक, चैत्र–आषाढ़ (सं. 2010), वृ. 374।
4. रामप्रसाद मिश्र, भारत की एकता (1986), पृ. 47।
5. शान्तिकुमार व्यास, रामायणकालीन संस्कृति (1987), पृ. 205।
6. शन्नो खुराना, राजस्थान का लोकसंगीत (1995), पृ. 171।
7. अरुण कुमार सेन, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, पृ. 18।
8. लालमणि मिश्र, भारतीय संगीत वाद्य (प्र.सं.), पृ. 13।
9. रामकृष्ण कवि, भरत–कोष, पृ. 599।
10. लालमणि मिश्र, भारतीय संगीत वाद्य (प्र.सं.) पृ. 34।
11. डॉ. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्म–कोश (1978), पृ. 597।
12. डॉ. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्म–कोश (1978), पृ. 669।
13. रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य (प्रथम संस्करण), पृ. 105।
14. डॉ. सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन (1960), पृ. 10।
15. रामायण, बालकाण्ड, चतुर्थ सर्ग, श्लोक 8–10।
16. रामजी उपाध्याय, भारत की संस्कृति–साधना (1986), पृ. 71।
17. शिवप्रसाद भारद्वाज, कालिदास–दर्पण (1983), पृ. 22।
18. मलूकदास, संत–सुधाकर, दूसरा खण्ड, पृ. 37।
19. डॉ. सरयू प्रसाद अग्रवाल, अकबरी दरबार के हिंदी कवि (प्र.सं.), पृ. 360।
20. देवीलाल सामर, लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ (1968), पृ. 39।
21. डॉ. मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिंदी–काव्य में भारतीय संस्कृति (1968), पृ. 519।
22. जायसी, पद्मावत (सम्पादक डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल), दोहा 512।
23. महारानी शर्मा, संगीत कला विहार (2011), पृ. 14।

म.न. 756/35, जनता कालोनी,
रोहतक–124001

●●●

लोकनाट्य नाचा का जनसंचार स्वरूप

रंजीत कुमार मोहने

छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक रूप से अत्यधिक समृद्ध है। जिसमें लोकगीत, लोकनृत्य, लोकगाथा, चित्रकारी, शिल्पकारी, लोकनाट्य आदि की भूमिका अतुलनीय है। यहॉ की कला लोक जीवन से संस्कार रूप में जुड़कर सिर्फ छत्तीसगढ़ ही नहीं अपितु देश–विदेश में अपनी अनूठी पहचान बनाकर समीक्षकों, शोधकर्ताओं व रसिकों को अपनी ओर निरंतर आकर्षित कर अह्म स्थान पर विराजमान है। छत्तीसगढ़ के विभिन्न लोककला रूपों में एक कला 'लोकनाट्य नाचा' है। लोकनाट्य नाचा सिर्फ रातभर दर्शकों का मनोरंजन कराने का साधन भर नहीं, अपितु जनमानस की विश्वसनीयता की पाठशाला का सशक्त माध्यम है। जिस पर क्षेत्रवासियों का अटूट विश्वास है। लोकनाट्य नाचा में संगीत, नृत्य, क्षेत्र के तीज त्यौहार, संस्कार, रहन–सहन, खान–पान, स्थानीय भाषा आदि का पुट होता है। जिससे जनमानस नाचा में हो रही गतिविधियों को अपना ही प्रतिबिंब मानती है। लोकनाट्य नाचा का प्रदर्शन आडंबरों से दूर चकाचौंध रहित बहुत ही सरल व सादगीयुक्त होता है। इसके प्रदर्शनार्थ किसी निश्चित तथा विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। जहॉ जैसी जगह मिले वहीं नाचा का प्रदर्शन होने लगता है। लोकनाट्य नाचा मौखिक परंपरा पर आधारित होता है अर्थात् नाचा की कोई स्क्रीप्ट नहीं होती। बस मंडली के सदस्य कोई विषय का चयन कर लेते है। जिसकी विषयवस्तु समसमायिक व ज्वलंत विषयों का पुट लिये हुए होती है। इसमें सभी कलाकारों की खुली भागीदारी होती है। साथी कलाकार यदि कोई सुझाव देता है तो उस सुझाव का स्वागत किया जाता है। संगीत व नृत्य के सहयोग के लिये गायक, हार्मोनियम, तबला, ढोलक आदि वाद्य व नर्तक होते है। नाचा मूलरूप से हास्य प्रधान लोकनाट्य विधा है। जिसमें नाचा के कलाकार समाज की तत्कालीन समस्याओं, बुराईयों व विसंगतियों पर अपनी प्रतिभा के माध्यम से कटाक्षपूर्ण टिप्पणियॉ कर खोखलेपन को उजागर करते है। नाचा के कलाकारों में जबरदस्त हास्यवृत्ति पाई जाती है। ये कलाकार जीवन की कटुतम विसंगतियों एवं अनुभवों पर बिना किसी कटुता के सहज ही विनोदपूर्ण टिप्पणी के नाचा प्रस्तुत करते है। विषयांतर्गत ''लोकनाट्य नाचा का जनसंचार स्वरूप'' पर चर्चा करने से पूर्व जनसंचार को संक्षेप में समझना अतिआवश्यक प्रतीत होता है।

जन और संचार ये दो शब्दों के मेल से जनसंचार शब्द बना है। जन का अर्थ है लोक या जनता तथा संचार का अर्थ है फैलाना अर्थात् सूचना को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुॅचाना। ''जनसंचार को अंग्रेजी में मास कम्युनिकेशन कहा जाता है। कम्युनिकेशन शब्द लैटिन के कम्युनिस से बना है। जिसका अर्थ है सामान्य भागीदारीयुक्त सूचना एवं उसका संप्रेषण।''[1] इससे यह कहा जा सकता है कि जन या समूह की सामान्य भागीदारीयुक्त सूचना एवं उसका संप्रेषण ही जनसंचार है। जिसमें दो या दो से अधिक लोगों के बीच विचारों, अनुभवों, तथ्यों और प्रभावों का आदान–प्रदान होता है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें संप्रेषण और संग्राहक के बीच सामंजस्य स्थापित होकर जागरूकता उत्पन्न होती है। जब संचार की प्रक्रिया सामूहिक स्तर पर होती है तब वह जनसंचार कहलाती है। सामान्य बातचीत और पत्राचार से लेकर टेलीफोन, मोबाईल, फोन, रेडियो, टेलीविजन, कम्प्युटर, इंटरनेट, सीडी तक न जाने कितने ही संचार माध्यम है। इन्हें संयुक्त रूप से सूचनात़ंत्र कहा जाता है।

विद्वानों के अनुसार संचार माध्यम मूलतः दो वर्गों में रखे जाते हैं[2]–

1. परंपरागत संचार माध्यमः– परंपरागत संचार माध्यमों में लोकगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य आदि आते हैं।
2. आधुनिक संचार माध्यमः– आधुनिक संचार माध्यमों में टेलीविजन, समाचार पत्र, इंटरनेट, आदि आते हैं।

देखा जाये तो परंपरागत भारतीय समाज में संदेश की प्रक्रिया सहज, अनौपचारिक तथा संस्कृति सापेक्ष युक्त है। इसके द्वारा समूह की सुदृढ़ता एवं एकता का विकास किया गया है। ये साधन समकालीन परिवेश में विकास के संदर्भ में नवीन महत्त्व रखते है। इनके प्रयोग द्वारा जनमानस को प्रभावित किया जाता है। इस कथन को निम्न संदर्भ से और बल मिलता है कि ''ग्रामीण लोक परंपरा ही संप्रेषण का माध्यम है, जो आवाज, स्वर, संगीत, दृश्य कला के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के सामाजिक समूहों के बीच प्रेषित होता रहता है। समाज की अंतरव्यक्ति, अंतर समूह व परंपरागत संचार साधनों के द्वारा सदियों से संचारित है।''[3]

यूनेस्को की रिपोर्ट में परंपरागत संचार माध्यमों को समकालीन मुद्दों के प्रति जागरूक बनाने में सक्षम पाया है।[4]

मैमब्राइड आयोग 1998 का कथन है, ''जनसामान्य के प्रति अपने व्यापक आकर्षण और लाखों निरक्षर लोगों के गहन संवेगों को छुने के अपने गुण की दृष्टि से गीत और नाटक का माध्यम अद्वितीय होता है।[5]

लोकनाट्य नाचा क्षेत्रवासियों के धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक जीवन के अत्यंत निकट होता है। लोकनाट्य नाचा की मौलिकता तथा विश्वसनीयता अटूट है। इसीलिये परंपरागत संचार माध्यमों में लोकनाट्य नाचा महत्त्वपूर्ण स्थान पर आसीन है। इसकी विषयवस्तु जनसामान्य की परंपरा, रीति–रिवाज, उत्सव और दिनचर्याओं से संबंधित बातें होती है। जिनमें रोचकता एवं अपनापन होता है। प्राचीनता के साथ नवीनता का समावेश लोकनाट्य नाचा का एक रेखांकित किये जाने वाला लक्षण है। धार्मिक एवं ऐतिहासिक कथानकों को प्रस्तुति करते हुए लोकनाट्य नाचा समूह के सामाजिक शिक्षण के दायित्त्व को निभाता है। लोकनाट्य नाचा धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक विषयों की शिक्षा देता है। उनके प्रति समाज को जागरूक करता है। समाज में व्याप्त दोहरा जीवन, दोगली मानसिकता, दोहरी नीतियॉ, ढोंग, अंधविश्वास, अंधेरगर्दी, नशा, कुपोषण, दहेज आदि सामाजिक बुराइयों को मिटाने के लिये जागरूक करने में अहम् भूमिका अदा करता है। समाज, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय के व्यापक प्रसार तथा मानव–संघर्ष, प्रगति आदि को दिग्दर्शित करने का सफल व सक्षम माध्यम है। लोकनाट्य नाचा किसी भी संदेश को जनता तक अत्यंत सरल, सुगम एवं सुलभता से पहुॅचाने का कार्य करता है। इसीलिये इसे जनजागृति का प्रभावी संवाहक माना जा सकता है। लोकनाट्य नाचा का कार्य केवल सूचना देने तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि जनता तक अपना संदेश सफलतापूर्वक एवं प्रभावकारी रूप से पहुॅचाने के लिये प्राचीन एवं आधुनिक दोनों पद्धतियों का प्रयोग करता है। इसीलिये नाचा का यह स्वरूप एक ओर तो मनोरंजन के साथ–साथ सांस्कृतिक परंपरा के प्रति आत्मीयता निर्माण करता है, तो दूसरी ओर नैतिक शिक्षा देने का कार्य भी प्रमुखता से करता है। लोकनाट्य नाचा की प्रमुख विशेषता उसकी स्त्रोत से निकटता, स्थानीयता और विश्वासनीयता है। जनसामान्य की भाषा में दैनंदिन जीवन के माहौल में कही गई बातों के कारण संदेश निश्चित रूप से प्रभावकारी होता है। लोकनाट्य नाचा में उपभोक्तावाद का छल–कपट नहीं होने से सहज भाव एवं सरल भाषा में दिया गया संदेश इतना शक्तिशाली होता है कि वह सीधा हृदय को स्पर्श करता है। जिससे व्यक्ति तुरंत प्रभावित हो जाता है। लोकनाट्य नाचा की इसी तीव्र प्रभावकारिता के कारण ही आज सरकार, स्वास्थ्य विभाग, शिक्षा विभाग, बैंकिंग सेक्टर, तथा समाजकल्याण विभाग आदि अपनी कई योजनाओं को लोकनाट्य नाचा के माध्यम से प्रसारित कर रहीं हैं। जिसके सकारात्मक परिणाम भी संबंधित विभाग को मिले हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समाज में प्रचलित अंधविश्वास जैसी कुप्रथाएं हो या अन्य सामाजिक समस्याएॅ जैसे–बालविवाह, जनसंख्या विस्फोट, निरक्षरता, नशा, सांप्रदायिक विद्वेष, कुपोषण, अस्वच्छता, जाति–प्रथा आदि समस्याओं के प्रति सामान्य जन को जागरूक बनाने में जितना लोकनाट्य नाचा ने सशक्त रूप से कार्य किया उतना अन्य माध्यम प्रभावशाली नहीं हुए। लोकनाट्य नाचा में सत्यनारायण कथा, रामायण पाठ, नामकरण संस्कार, मुंडन संस्कार, उपनयन संस्कार इत्यादि का प्रसंग रखने का उद्देश्य धार्मिक महत्त्व व सामाजिक महत्त्व को दर्शाना है। जिससे नाचा के समय उपस्थित समूहों में संप्रेषण की प्रक्रिया होती है। मंदिर के उपासना स्थल, तीर्थों आदि

का स्मरण व आराधना को पद्धति और विश्वासों से जोड़कर सामाज को सांस्कृतिक एकता व अखण्डता के प्रति लोकनाट्य नाचा जागरूक करता है। राजनीतिक दल भी लोकनाट्य नाचा से जनमानस का लगाव व उसके तत्काल प्रभावों को देखकर अपने प्रचार में लोकनाट्य नाचा का सहयोग लेते हैं। लोकनाट्य नाचा की इन्हीं विशेषताओं के कारण लोकनाट्य नाचा जनसंचार के रूप में स्थापित हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मोहन, सुमित. मीडिया लेखन, वाणी प्रकाशन; नई दिल्ली, 2013.।
2. वही।
3. मेहता, डी.एस. हेंड बुक ऑफ पब्लिक रिलेशन इन इंडिया, अलाइड पब्लिशर्स प्रा.लि.; नई दिल्ली, 1980।
4. मिश्र, डॉ.चंद्रप्रकाश. मीडिया लेखनः सिद्धांत और व्यवहार, संजय प्रकाशन दरियागंज; नई दिल्ली, 2013।
5. शर्मा, डॉ. ठाकुर दत्त. हिंदी पत्रकारिता एवं जनसंचार, वाणी प्रकाशन; नई दिल्ली, 2013।

शोधार्थी

नाट्य विभाग, इं.क.सं.वि.वि. खैरागढ़

●●●

DASMAT KAINA –THE FOLK SAGA OF CHHATTISGARH: ORIGIN, EVOLUTION AND HISTORICITY

Dr. Sarita Sahu
Dr. K. K. Agrawal

Geographically, present Chhattisgarh is a part of Dakshin Kosal of the past. This region has been ruled by many dynasties, of which Kalchurian's were prominent ones, who ruled over it for a period of seven hundred and fifty years. Devar community migrated into this region during the Kalchuri period. Devar is basically a nomadic tribe. They lauded their patron rulers like panegyrist1 and entertained the people by singing and dancing and in turn collected the money or food-grains, as their subsistence. Being a land of interface between Aryan and non-Aryans, Chhattisgarh has been rich, both culturally and historically, which is very much the content of the rendering in their folk-songs, being passed on orally by this transmigrated Devar community, generation after generation. Since oral tradition is a folk tradition, precise and factual study of contemporary society is possible through it.[2] The tales of Kalchuri rulers Raja Kalyan Sai, Raja Adali Sai (Pawara of Raisingh) and the boat-woman Bilasa etc. are few historically significant events sung by Devar's that elaborate quite a description of the valour, and the gallantry of the Kalchuri rulers of Ratanpur and the other significant events of the contemporary period. Thus this Devar tribe is passing over the information of these unusual events of the history for generations.

"Dasmat Kaina" is also a significant saga sung by Devars. In fact, it's a tale of bravery and the struggle of a married woman named Dasmat of Od caste (mining community) against the feudal attitude of the then ruler Raja Mahamdeo of Durg. Devars narrate the character of the female protagonist Dasmat, through the traditional rendering of "Dasmat Kaina"(photo 1).There is distinct evidence and description of 'Harna dam' of Durg district and 'Surgi' and 'Odar dam' of Rajnandgaon District. Deobhog of Gariabandh district was also mentioned in it. These sites can be traced even today as physical evidences.[3]

It is essential to know the tale of Dasmat in brief before making any deliberation. As the story goes, Dasmat was the daughter of a Brahmin ruler of Deobhog region. She remonstrates her father Bhogdeo's self proclamations being a god like person. To punish Dasmat, the off ended and ego centric king marries her to an extremely poor Od (miner) youth. Severe drought conditions of the region compel her and her community to migrate to Durg city. Mahamdeo, the ruler of the city got fascinated by the beauty of Dasmat Kaina and tried to elude her by various ways to get her favour in order to make his consort. However, Dasmat, the real embodiment of Hindu values and tradition, does not yield to the advances of the king. At the end, to get hold of Dasmat, king attacks whole of Od (miner) community with his troops and kills everyone including her husband. This devastating act by the king does not bulge Dasmat from her position; upholding the feminine dignity and self respect, Dasmat prefers self demolition, rather than to surrender before the king and thus immolates herself near Odar Dam.The oppressive attitude of Mahamdeo, his enticement and his brutal act could not move her; neither had he succeeded in his ulterior motives. Indian society generally is more demanding from the women in the context of social customs and values; it has been more sensitive towards women's conduct, rather than the men. The tale of Dasmat Kaina rendered by Devars is an example set by a woman under the Indian social context, more so with reference to women of Chhattisgarh. Dasmat Kaina is regarded as an ideal feminine character in folk tale, owing to her adherence to high moral values set by traditional Indian society and is therefore revered greatly in Chhattisgarh and nearby regions.

Raja Bhogdeo has been mentioned as the father of the protagonist of the tale, Dasmat; and was a member of Brahmin community.

Raja Bhog bamahan ke beti, kul bamhaneen ke jaat.
Au apan karam ke karan, paye Odiya bhartar.[4]

(gist: in spite being daughter of a Brahmin ruler Raja Bhog, she gets a miner husband of Od community because of her deeds.)

In the narration, father of Dasmat has been mentioned as Brahmin ruler. There had been few Brahmin rulers in the past in this region. However, there are historical evidences in some inscriptions which articulate the manner in which Brahmins were being settled by donating lands in the form of villages by the rulers. Brahmins enjoyed the highest position in the

contemporary four tiered Indian society and they were granted lands and villages by the rulers on different occasions. The inscriptions usually contain- the details of the Brahmin who receives the grant, name of the donor and his dynasty along with the names of the villages, the occasion on which the inscription was brought in to, administrative units of the state and place etc. In the inscriptions of Vakatak,5 Sharabhapuriya,[6] the rulers of Telghati region Parvat Dwarak dynasty[7] and other rulers of Telghati region (Sonepur-Balangir) Somvanshi dynasty[8], there are references of administrative units such as Bhog, Devibhog and Debhogak. All these administrative units have been identified with Deobhog region.[9] The number of villages considered in a Bhog is not clear. But, it is evident from the inscriptions that the administrative head of a Bhog was known to be Bhogpati or Bhogik.[10] Dasmat's father was referred as Raja Bhog or Bhogdeo in the narrative song. He was probably the administrative head of Deobhog region (Bhog). In thosetimes, the locals had the practice of calling land lords as Rajas and that is how Devars picked it up for Dasmat's father.

The donation of lands to the Brahmins figures in both the above Bronze inscriptions. There is reference of donating land by the Somvanshi ruler Mahabhavgupt, second (Bhimrath) of Yayatinagar to a Brahmin named Ranak Rachho of village Singoa of Deobhog region of Kosal in the Copper inscription of Cuttack.[11]Since the period of Mahabhavgupt second (Bhimrath) period is considered to be from 955 A. D. to 980 A.D., it can be assumed that at that time, Deobhog was a sub region within the Kosal region and the Brahmins were also the inhabitants of this region. The description of Raja in the lyrical narrative by Devars indicates that during the course of time Brahmins might have consolidated their position and acquired few villages and thus were called the Rajas of Deobhog region. Analyzing the above presumption, it can be concluded that Dasmat's father, whom Devars refer him Raja was, infact the land lord of Deobhog region and might have been the descendent of the above Brahmin community.

We come across the use of word merchants or money lender in the tale by which it could be concluded that money lending was prevalent in those times and they involved in commercial activities.

Puchhan lagaya Dasmat Kaina, ka kara thaw tuman kaam
Sudan bihaiyaa kahan laage, sun kainaa mor baat.
Patharaa phod juganu laathan, dethan mahaajan paas,
Daar chaaval mahaajan devaya, chalaya gujaaraa hamaar.[12]

(gist :Dasmat enquires her husband about the work they do. Her husband Sudan tells her that they break the stone and extract a bright element from it and sell it to the merchant and buy the daily needs from him. This is our means of subsistence.)

The mining of diamond stone referred in the tale does point toward the Deobhog region because presently Deobhog is a place where bright diamond stone (Alexendrite) is mined. It is relevant to mention here that the regions adjacent to Mahanadi of Dakshin Kosal was once known for diamond production.[13] (photo 2) Od (mining) community lived here for mining of diamond stone, later they were known as Sagarvanshi, since they engaged in the work of reservoir excavation. During my survey of nearby areas of Odar dam and Durg, it was found that few people of Od community claim themselves to be Sagarvanshi, even today.[14] It is also evident from the poetic tale that women folk worked hand in hand with men in the mining activity.

Arey ghamein ma lehaw anman-janman, ghamein ma lehaw avataar.
Au chitko chhaihaan baith parahu raja, badan jaahi kariyaya..[15]

(gist: I have born in the scorching sunlight and have been brought up in the scorching sunlight. My body becomes black even if I rest in the shadow for a while.)

Conditions evolved due to severe drought and migration towards different directions for livelihood is mentioned in the tale. The region identified as per the tale appears to be Kalahandi area since this region had a long history of severe droughts in the past and prevails even in 20th century. The local idioms do refer about continuous drought for 56 years (chhappan salaar dur bhikshiya). There is also description of drought in folk songs of this region.

Daal khaaire, desaare kaal akaalaa,
Gharaa duwaaraa chhaadi bidese gharaa
Daal khaaire pete kaaje haaraa baaraa.[16]

(gist:There is shadow of death all over in the country.We are dwelling in the foreign land leaving behind our own. We are in great trouble for want of our livelihood.)

It could be concluded from above lines that the question of survival would not have been shear imagination and it is evident that this region ought to be Deobhog adjacent to Kalahandi.

There is reference of Durg in Dasmat's story. The drought conditions forced Od people to leave their place and reach Durg in search of their livelihood.

Aagu ke rahige dhaar nagara bake durug kahaaye,

Dhaar nagar ke champak bhaathaa, deraa paraie nou laakh.[17]

(gist: earlier the place which was called Dhaar is present day's Durg. Nine lakh people have settled here in Champak-bhaatha.)

Situated on the banks of river Shivanath, Durg city is the silent witness of historical events.Durg has been an administrative headquarter of a Garh (fort) among the Chhattisgarh (36forts),18under the Kalchuri rulers. A stone inscription dt.around 8th cent. A.D. has been found from Chhatagarh situated on the bank of river Shivnath, has the description of ruler Shivdeo and also Shivdurg and Shivpur.[19] Being of historical importance this has been preserved in Ghasidas Museum of Raipur. There is every possibility that present Durg is named after Shivdurg. On the basis of archaeological evidences from near Chandi temple in ward no.33 of Durg city, the archaeologists believe that this city came in to existence in 6th cent. B.C.[20] In view of its antiquity and lack of written documents there are numerous tales, myth and stories prevalent in present time.According to Alexander Cunningham's report of his survey of 1881-82, there are local sayings about the ruling of two rulers of Durg city, Raja Mahamdeo and his sons Jag and Raja Jagatpal, recorded in his document of Archaeological Survey of India[21].

There is also the reference of Raja Jagpal or Jagatpal in the stone inscription from Rajim (1145 A.D.)[22].Jagatpal was the Treasury Officer during the regime of ruler Ratnadeo of Ratanpur. He became feudatory of Kalchuri ruler because of his trust worthiness and excellent services. He won many battles with gallant and strategic skills for Prithivideo second and expanded the territory of Ratanpur state. In return, he was awarded 700 villages along with Durg.[23]

The name of Raja Mahamdeo also figures in the folk tale Dasmat Odnin recited by Devars, that the Harna reservoir was excavated by nine lakh Ods during the ruling of Raja Mahamdeo.(photo 3,4) According to the tale, the then ruler of Durg was Mahamdeo and Harna Dam has been constructed by his orders.

Ghar le niklaya Dasmat Odnin, raajaa johaare laa jaaya,
Raajaa joharnin Dasmat Odnin de dhsou rupayaa paaya.
Kaa khanvaabe saagar sarman, kaa bandhavaa ke paar,
Nai khanvaanvava sarman saagar, na bandhavaa ke paar.
Sukkhaa dabari kadam ke lag birchaa, harin baandhaa khanvaanv
Nou laakh Odiyaa, nou laakh Odnin deraa pare he aan,
Padate kaal mein biyaanaa hoi, sab Odiyaa laa lein bisaaya.[24]

(gist:Dasmat, the Od community female marches ahead with her people and greets the ruler and seeks his order to construct a dam. On accepting the offer for the excavation of Harna dam on the place close to Neolamarckia cadamba tree which is originally a dry pond and also a grant of Rs. 150/-, nine Lakh people of Od community settled there.On account of granting shelter and providing job in devastating situation emerged due to drought, a deal is struck with the ruler.)

Petty incidences usually fade out of our memory lane with the passage of time; however,on the other hand,few unforgettable ones, due to their impact on our society and culture draw our attention through some medium or the other, to present day. The episode of ruler Mahamdeo with his feudal attitude and mentally perverted behavior is relevant today, through the medium of popular folk tale of Dasmat Kaina. Due to lack of evidence from historical sources, Mahamdeo happens to be an unknown character; never the less, the folk songs hail him as the ruler of Durg.From all possibilities he might be the successor of ruler Jagpal. In addition to Mahamdeo, there is reference of his son Mohan Singh in the folk song; however, there is no historical evidence regarding him, as well.

It appears from the tale that the feudalistic attitude was prevalent also in Chhattisgarh in the past. Nine lakhs Od people began the work of excavation and the females carried away the excavated mud.The Brahmin ruler monitors the excavation work sitting under the Neolamarckia cadamba tree.He gets infatuated by the sheer beauty of mud carrying Dasmat Kaina. Fascinated ruler Mahamdeo repeatedly tries to draw her attention by throwing pebbles on her.

Sab Odiyaa le najar churaa ke baamahan raajaa mahamdeo
Dasmat Odnin laa goti maaran laag,
Ek goti ke maare le baamahan, bhaiyya mulaajaa jaan,
Du goti ke maare le baamahan,dada mulaajaa jaan
Chitko goti badan ma laage, maaranva kudaari ke ghaava.[25]

Dasmat figures out the intentions of the ruler hovering around her.As a protest against his advances,Dasmat warns the ruler and tells him,"Hey master,the first pebble I have taken as thrown by my brother, second for my father and pardoned you but if any further attempt, it would be answered by my sharp spade." However, the infatuated ruler just smiles and ignores her warnings;on the contrary he offers her the proposal to shun away the spade and the basket and become his consort to embellish his palace chewing the Paan.

Khul-khul, khul-khul baamahan haansaya, deri gaal muskaaya

Chhod de Odnin daali tukaniyaa chhod de Odiya bhataar
Baithaa Odnin mundi mahaali ga chaabav biraa ke paan yaa.[26]

According to Manusmriti (5/162), in ancient time's Indian society, a man could keep any number of wives, but in case of woman she could have only one husband. Again according to Aiteraiya Brahman (3/23),the woman having two husbands in the society deserves to be condemned. Dasmat Kaina, being a learned woman and well conversed with the Indian values and traditions, turns down the proposal of the ruler. As per the folk-tale Dasmat quotes the Ramayana and says:

Ihee tiriyaa ke kaaran sangi mor, lankaa ke hoge vinaas.
Raavana sanke garab toota gay, te manakhe ke koun bisaat,
Agam pachham la jaanale devataa, pher jhan lagabe mor saath jee.[27]

(gist:Woman was behind the fate of Lanka and mighty Ravan's conceit was shattered; then where do you figure ? I warn you from my end that don't you ever try to bother me.)

In medieval period, the rulers used to be the centre of political activities and were having lavish life style.[28] Despite having many queens and consorts they had lust for the beautiful women.Dasmat reminds of various flaws of having several wives to Mahamdeo and make him understand about the problem that would arise due to conflict of interests between them –

Saat jhan raani tor he baamahan, soraa ghareli ke aaya,
Saat ma molaa purobe ta, raat din katkat chaaya.[29]

(gist: Raja ! you already have seven queens, sixteen consorts. There would be hassles all the time if you take me also as another one.)

According to Aap-stambh Dharmasutrait is prohibited to have another wife when there is already a rightful wife, 30 which justifies Dasmat's views.

In fact the Od community could no longer sustain the excesses of the ruler. They run away to Suragi Dih after giving him appropriate punishment.Consequently, they excavate a huge pond near the village Tappa in a single day,the present day Odar Dam. It is worth noting here that Suragi is [28] k.m. south-west of Durg distt. headquarter and village Tappa is 60 k.m. west of it. Presently both the places are located in Rajnandgaon district.31 (photo 5,6) The approach to Suragi and excavation of Odar dam is described as follows :

Nou laakh Odiyaa deraa le reingin, Surahidih chale aaya,
Uhaan suranga laa khode sabbojhan, Odaar baandha pahunchaaya.
Ek din au ek raat maan, Odiyaa din kudaari barasaaya,
Baaraa bail ke bhounaa paani, tariyaa mein chavaaya,
Odaar baandha tariyaa phute le, dharati haa phat jaaya.[32]

(gist: the caravan of nine lakh Od community reached Suragi Dih. They dig the tunnel and reach up to Odar dam. In a single night and day with the series of blows of spades and pick-axe, they excavate deep pond. It appears from the brimful water of the pond and its powerful source as if the earth has cracked.)

Big reservoirs are also called dams in Chhattisgarh. During my physical verification I found that both the reservoirs described in the tale, Odar dam and Harna dam are man made, and not the natural reservoirs. It was the practice of maintaining the official documents during the Maratha and British period for administrative and informative purposes; however there is no reference of excavations of these two dams in these documents, proves that the construction of these dams have taken place earlier than Maratha period.There has been the mention of Temples and reservoirs being constructed during the Kalchuri period in Copper and Stone inscriptions but no evidence of excavation of these two reservoirs in them, either. With this it can be concluded that the construction of Harna dam situated in Durg was carried out by the orders of ruler Mahamdeo and Odar dam was constructed by the Odar community themselves.

Au Raajaa man jab chadhage dadaa,
Jab Raajaa Maham deo ke sainaa jure lagis
Khoon ke dhaar bohaavat he, sangi dekhat naee bani jaaya
Okharpati la ghalo maar deen re bhaai
Au maar ke Dasmat Odanin la bachaa deen.[33]

The story reveals that Raja Mahamdeo brutally killed the unarmed Od community people to win Dasmat forcibly. Her husband also dies in this incident. Dasmat prefers to sacrifice herself on the funeral pyre of her husband instead to be installed as Queen consort and enjoy all the royal comforts of life. There are enough evidences in Chhattisgarh region of having the practice of Sati in the medieval period. Dasmat's tale substantiates it.

Chaaro khoont ma diyaa baardeen.
Au baar ke bhagavaan ke naava lenin.

Chaaro khuraa barage, raam-raam kahike ude lagin,
Ohee samaya Dasmat odnin har, aagee maa leen jhapaaya
Sati hoke Odnin tooree ha paani ma leen thandaaya.34

(gist:lighted the candles all around and prayers offered to the God. Chanting of the word Ram-Ram resounded in the place as the fire was set to the pyre from four corners. At the very moment an Od female named Dasmat jumps on to the fire and immolate herself.)

In the present context practice of Sati is deplorable; however few incidences come into light' even today. According to Hindu religious scriptures like MatsyaPuran (a. 2/210/21), Vishnu Puran(a. 3/18), BhagavatPuran (4/19 and shloka from 23 to 36) and Mahabharat (a. 1/13/57), there are numerous incidences related to Sati custom. In the Medieval periods there are quite a large number of such incidences available in the pages of history where Rajput females sacrificed their lives (Johar). Prevalent hearsays in Chhattisgarh, inscriptions and numerous Sati pillars and Sati platform located at Balod, Deokar, Durg, Ratanpur etc. are the glaring examples of the fact that Sati custom was prevalent in this region, too.

Archaeological remains like stone sculptures, Sati pillar and Sati platform are evident in the vicinity of Odar dam (photo 7,8,9). Archaeological official Sri Shambhunath Yadav has confirmed that these remains belong to 12th/13th cent. A.D.36 In the lyrical saga there is the reference of Kalchurian official posts like Negi and Diwanas which indicates that the incidence happened in Kalchuri period. Each administrative unit of Kalchuri times consisted of 84 villages, and was called 'Garh' and the head of this unit was known as Negi or Diwan.37It shows that the tale of Dasmat belongs to the period of 13th/14th cent. When Durg was under the ruler Mahamadeo.

Existing Sati platform near Odar dam is the place of cultural congregation of Od-Sagarvanshi community.(photo 10) The people of Od and the Sagarvanshi community assemble here on the day of MaghiPurnima every year and remember their clan deity Dasmat Kaina and offer their prayers to her38and laud her as a divine entity.

All the above references and their critical study asserts that the lyrical saga of Dasmat Kaina rendered by Devar community is not merely an imaginary tale but based on the facts;it was the episode that took place in 12th/13th cent. It also narrates the story of conflict between the truthful and virtuous woman Dasmat and a ruler with feudal attitude. Looking into the important information available in the story, critical study is possible to revisit the history of Chhattisgarh.

References:

1. Gupt, Pyarelal, Prachin Chhattisgarh, Pt. R.S. University, Raipur, 1972, p- 213.
2. Guru, Shambhu Dayal, Madhya Pradesh Mein Swadhinata Andolan, Madhya Pradesh Hindi Granth Academy, Bhopal, 2008, p- 27.
3. Self observation.
4. Rekha Devar, village – Kukusada, distt. Mungeli, abstract from the interview dt. 30/05/2015.
5. Nigam, L.S., Dakshin Kosal ka Aitihasik Bhugol, Sharda Publishing House, New Delhi, 1998, p-87.
6. Epigraphia Indica, vol.39, p-263, Epigraphia Indica, vol-24, p-29, Epigraphia Indica, vol-32, p-315.
7. Epigraphia Indica, vol.-30, p-274-78.
8. Epigraphia Indica, vol.-3, p-355.
9. Pipardula Copper plate -3 (Indian History Quarterly, 19, p- 139).
10. Nigam, L.S., ibid, p-89.
11. Epigraphia Indica, vol-3, p-355.
12. Ledga Devar, vill.- Gadadih, distt.-Durg, abstract from the interview.
13. Mishra,P.L., DakshinKosal Ka Prachin Itihas, Raipur, 2003, p-28.
14. Sagarvanshi, Kiran, vill.-Gondpendri, distt. Durg, abstract of the interview dt. 5/07/2016.
15. Ledga Devar, ibid.
16. Mishra, Mahendra Kumar, Drought in Folk-lore of Kalahandi, taken from Net.
17. Ledaga, Devar, ibid.
18. Mr. Chisholm Settlement Report of Bilaspur, 1868, p-24.
19. Hiralal Index, Inscriptions in C.P. and Berar, S.No. 232.
20. Yadav, S.N.,NavAnveshit Krishna Lohit Patra Parampara, Jila Durg Ke Vishesh Sandarbha Mein, Kosal, edition-5, 2012, Directorate of Culture and Archaeology, Govt. of Chhattisgarh, Raipur, p-284.
21. Cunningham, Alexander, Archaeological Survey of India, 1881-82, vol.-17, The Director General, Archaeological Survey of India, New Delhi, 2000, p-3-4.
22. Corpus Inscription umIndicarum, vol-4, p-453-56.
23. Gazetteer, Durg District, 1910, p-164.

24. Ledga Devar, ibid.
25. afore-said.
26. -----do-----
27. ------do-----
28. ------do-----
29. afore-said.
30. Dharm Praja Sampanne Dare NanyaKurvit..Aapstambh..Dharmsutra 2 / 5 / 11 / 12.
31. Shrivastav, Dhanulal, "AshtarajAmbhoj , INTEC, Raipur,1924, p-58.
32. Ledga, Devar, ibid.
33. afore-said.
34. -----do----
35. Mukerjea, Radhakamal, Bharat Ki SanskritiAur Kala, Rajpal and Sons, Kashmiri Gate, Delhi,1959, p- 261-62.
36. Yadav, S.N., Arch. Officer, A.S.I.,Raipur, abstract from the interview, dt. 7/10/2016.
37. Report of C.U.Wills, (Translation), Mishra, Prabhulal, p-23.
38. Sahu, Birbal, vill.-Oda rBandh, abstract from the interview, dt. 14/01/2014.

1. Photo of singer Ledga Dewar

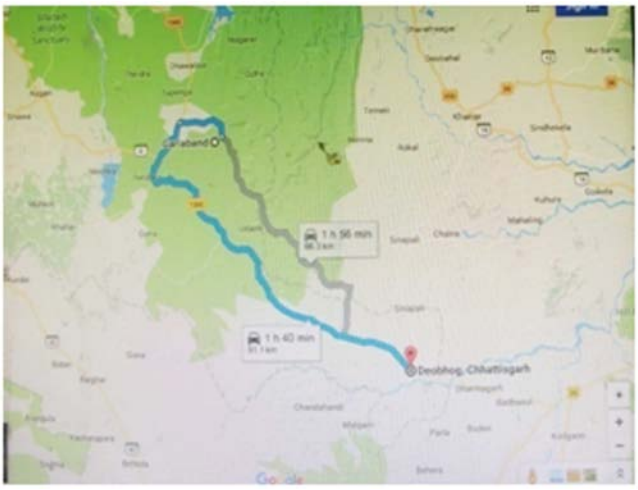

2. Location of Deobhog, Distt Gariyaband(C.G.)

3. A view of HarnaBandha, Durg(C.G.)

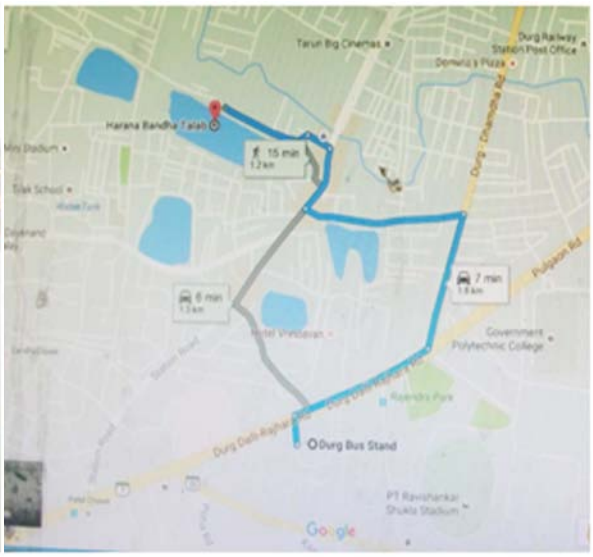

4. Location of HarnaBandha, Durg(C.G.)

5. A view of Odar Dam, Vill- Tappa, Rajnandgaon(C. G.)

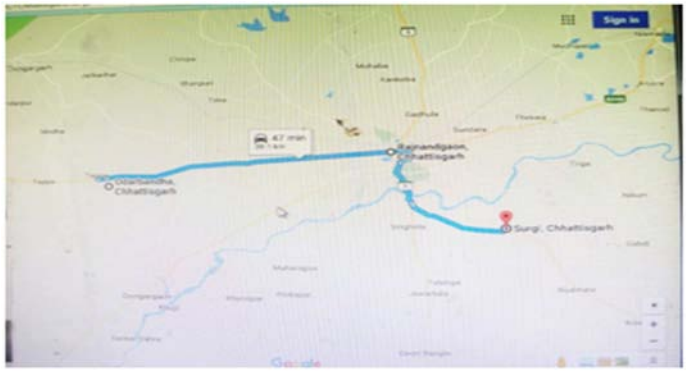

6. Location of Odar Dam Near Rajnandgaon(C.G.)

7. Archeological ruins near Odar Dam

8. Archeological ruins near Odar Dam

9. Piece of Sati pillar near Odar Dam

10. Sati Chabutra near Odar Dam

Govt.M/S,Dhaurabhatha,Patan,Durg
Retired Professor,History
Department Of Higher Education,
Government Of Chhattisgarh

THE MYTH, BELIEF & RELIGIOUS PRACTICES IN THE LANJIA SAORA SOCIETY

Sapan Kumar Dash

Orissa is a land of tribes. Here one can find different types of tribes with their cultural activities and specific religious tradition. For a long year they have been staying in the forest areas from where they learned the beauty of nature & worshiping of natural god & goddess. Till yet, they worshipping different god & goddess and adopt it as the part of their life. In each and every tribe there must be a local deity who has been worshiping as the village deity (Gramadevi). She has the power to save them in the needy condition. In Odisha there are 13 primitive tribal groups (PTGs) .These tribal communities have been identified as primitive tribal groups on the basis of the 4 criteria laid by the government of India. According to this primitive tribal groups (PTGs) has the following characteristics i) pre agricultural technology .2) low level of literacy 3. Stagnant or diminishing population. 4. Backwardness, seclusion & archai mode of livelihood pattern. The Saora tribe with their sub-division group, the Lanjia Saora both is come under two PTGs of Odisha.

The 'Saora' or 'Savara' are a prominent tribal community found in India. They are called by various names such as Savara, Sabara, Saur, Sora etc. They are widely found all over the central India comprising the states of Bihar, Odisha, Andhra Pradesh, Madhya Pradesh , Maharastra & West Bengal. Their language which is called Sora belongs to South Munda branch of Austric language family. The term Saora appears to have two connotations, one derived from the Sagories, the Scythian word for axe, and the other from Saba Roye, the Sanskrit term for carrying a dead body. Both of them fit well with their habit of always carrying an axe over their shoulder & their primitive occupation of hunting are living on the spoils of chase1.

The Saora constitute one of the sixth largest tribal communities in Odisha after Khond, Santal, Gond, Kolhas and Munda. Being one of the most ancient tribe of India, the Saora are found in Hindu Mythology, ancient Classics, epics and various other scripture. Their references are found in the epics of the Puranas & the Mahabharat. The legend of Vishwabasu, a Saora king who worshipped the image of Vishnu in the form of Lord Jagannath is closely associated with the Saora tribes of Odisha. The other legends in the Mahabharat it is described that the name of Jara Sabara who mistook Lord Krishna for a deer & killed him with his arrow2. So it can be said this tribe has closely related with Vaishnavism. More often the Saora find mention in the Sanskrit literature. But basically the Cult of Jagannath is originated from this tribe where trinity is made of Neem wood, which the Saora gods are made from wood.

The Saora constitute one of the major tribes of Odisha. They are found in almost all the district of the State. But their main area lies around mountainous territory part of the Eastern Ghats in Rayagada & Gajapati district of Southern Odisha, which can be called the "Saora country". The Lanjia Saora represent a primitive section of the Saora tribe inhabiting a contiguous mountainous territory stretched across Gunupur sub-division of Rayagada & Parlakhemundi Sub-division of Gajapati district of Southern Odisha where most of their population is concentrated. Basically both the district Rayagada & Gajapati is concentrated with the population of the Lanjia Saora tribes. The Lanjia Saora is also known as "Hill Saora" by some noted ethnographers like Verrier Elwin, constitute an archaic section of the tribe 3.

The Saora society is divided into as many as 25 sub divisions such as, Kapu, Jati, Sudho, Jadu, Jara, Arsi, Duara or Muli , Kindal, Kumbi, Basu, Lanjia, etc . It is based on occupation, food habit social status, customs & traditions. The Lanjia Saora is unique in all other subdivided tribal group of the Saora society. They are famous for their expertise in terrace cultivation, shifting cultivation, unique religious life style, artistic skills for producing

beautiful wall paintings, pictogram popularly known as Icons and their peculiar traditional male dress-style in which the ends of the lion cloth hangs like a tail at the back. Therefore they are called as "Lambo Lanjia" meaning "having a tail"4. The traditional cloth of Saora woman is a waist cloth with gray boarders which hardly reaches the knees. The skirt is about three feet on length and about two feet in breadth. In cold weather they used to cover their upper parts of the body with another piece of cloth .The Lanjia Saora Male is very famous for their unique dress style which distinguish them from other tribes.

The Saora are one of the major scheduled tribes of Odisha. Their population in different Census period is indicated below.

1951- 1,91,401
1961- 3,11,614
1971- 3,42,757
1981- 3,70,061
1991-4,03,510
2001-4,73,233
2011- 5,34,751

The population as per 2011 Census was 5,34,751 accounting for 5.57 percentage of the total tribal population of the state. Their decennial growth rate (2001-2011) was 13.00 percent and sex ratio 1023 females per 1000 male in 2011 showing numerical superiority of their women over men. Educationally, they are backward with only 54.99 percent literacy in 20115. But without the separate Census of the Lanjia Saora we cannot find out their exact population.

The Lanjia Saora by their appearance looks like other pre-Dravidian tribes. They have long heads & flat noses with expanded alae. The hair is wavy and curly. Skin colour generally various from brown to dark brown, though there are quite a number of fair complexioned individuals with yellowish shades6.

The most important factor for ensuring social conformity is the fear of religion. Religion forms an indispensable part of the Lanjia Saora life. The fear of supernatural punishment acts as a powerful deterrent against violation of established customs. In Lanjia Saora society they believed in different myth. Some selected myth has been described about their tribal community.

There is a story behind the creation of man in the Hill Saora known as Lanjia Saora community of Barasingi village of Ganjam district. Balingnabaru Kittung came out of the ground. Uyung Kittung was in the sky. Balingnabaru Kittung was a man & Uyung Kittung a woman. They married. Their first child was a boy and was called Ramma. Later a daughter was born & was called Bimma. Then Uyung Kittung went up to the sky and Balingnabaru Kittung lived on a hill. From Ramma and Bimma all mankind has come7. They also believed on soul & dreams. Behind that there is also a myth about the soul & dreams by the local Lanjia Saora tribe of Kinteda village of Ganjam district. When an unmarried girls dies, her ghost does not go to her parents, but to Dubla Kittung and says, "where shall I live?". The Kittung says, 'At night, wherever unmarried youths sleep. Go to them in their dreams, sleep with them & make love with them'. He gives the ghost fine clothes & sends it to the world & during the night it does its work. To stop these dreams a boy should offer a fowl & liquor. This will keep a ghost quite for five or six months8. Another myth related to wine, bear & spirits. These are the part of their tribal life. They used to offer wine to the gods, goddess thereafter consume it. There is also a myth closely related with wine in the Lanjia Saora community of Potta village of Koraput district. At first the Saoras had no gods & of course no need of priests. When the gods were born among the Saoras, Jungo & his wife Kaiti became the first shamans. They offered sacrifices but in those days they did not know how to get palm wine, and the gods were not satisfied. One day kittung gave Jungo a dream and told him what to do 'Give wine to every god'. Next day Kittung went to a palm and when his pot was full, he called the Kuranmar and gave him some to drink. Kittung said to wife, 'you drink too'; she did and was pleased .After that, they always offered wine to the gods. When the tree dies, the Saoras offer it rice & fish and the sap flows again9.

Saora religion is largely a matter of personal relationship. The Saoras have strong religious beliefs & practices. They call Sum to any god. Elwin has counted as many as 171 Saora Gods. Elwin remarked on their

religion, "The great advantage of Saora religion is that it enables a man to do something about his worries. It personifies them which in itself makes things easier and tells him that there is a way of putting things right"10.

There is no other tribe whose magico- religious domain is as elaborate and complex as that of the Lanjia Saora. Without understanding their magico-religious beliefs and practices one cannot understand any other aspects of their life. In Lanjia Saora society you can find the religious functionaries who cater to the spiritual needs of the people is known as Buyyo, Kudan & kudanboi. The Buyya is a priest who presides over agricultural festivals and offers the sacrifies that are required on this occasion. The kudan is the shaman who combines the functions of priest, prophet & medicine man. His female counterpart is the kudanboi.

They observed a number of festivals round the year connected with their social and economic activities. Their each & every festival celebrated with dancing, drum beating & liquor drinking. A common feast is arranged for all after the end of the ceremony which they served them with either buffalo or goat meat.

They celebrate agriculture related festival during agricultures time & religious festival during all round the year. Except this, they also celebrate birth ceremony, death ceremony etc. Their religious ceremony is the part of their life. They do not worship only gods and goddess but they never forget to worship spirit also. Some of the major festival they celebrated related to agriculture such as Buroy-n-a-Adur, Ganugey-n-a-Adur, Kondem-n-a-Adur, Osa-n-a-Adur & Rogo-n-a-Adur. These are the festivals observed by the village community with great pleasure. They followed a number of god & goddess for their wellbeing.

By the side of the path leading a Lanjia Saora village at some distance from it two deities one male & one female which go by the name of Gusadasum or kittungsum represented by two carved wooden pillars are installed to protect the village from epidemics and machinations of evil spirits. At the entrance of the village another deity which is called Tangarsum is installed on an earthen platform in the form of a wooden pole under a thatched shed. His duty is also to check the onslaught of evil spirits on the village11. The Sonnum or Sunnam is the general name for the Saora deities & spirits. The deities are called in different names such as Labosum, Rudesum & Karunisum. The villages & local areas are supposed to be protected from the spirits other than their own. Saheeb Sum (foreign god) in the form of wooden idol are worshipped to drive away the alien spirit. There are occasions where the 'gramadevi' (village deity), Jhalia (a god for village & individuals welfare), Barusum (hill god), Rusisum (the spirits of rishis supposed to have lived in the hills) and a good number of gods are worshipped to do away with the bad omens12 . The Manduasum is an invisible village deity of the Lanjia Saora. The villagers altogether constructed this shrine outside the village. Also an individual family may construct this shrine inside his village. The wooden peacock decorated at the roof top acts as the shrine watchman. The Saora do believe that the invisible deity inside the shrine protects their habitat and up keep health and well being of the people. The Labosum is earth god is offered rice and wine when a new, home is built. He is explored to keep ants from eating the wood. He is considered the highest god in certain area.

Some of the evil spirits and malevolent deities are also found in Saora society.

1. Kanni Chodana- This is a terrific devil. These devils are supposed to stay around big trees. For pleasing this devil pigs are sacrificed since goat is not useful for this purpose.
2. Sodang , Goshad, Eddana –These deities are supposed to be responsible for fevers, carbuncles. For these spirits goats, toddy & cloths are the offerings.
3. Gadejung, sandra & Bhullu- These are sky devils connected with man & sun. Due to their influence headache & pains occur.
4. Ratuna , Sonum, Pull Bhutham-These devils are responsible for neck, pains & other ailments.
5. Gagir -a- bullu-This devil is responsible for creating ailments at the time of delivery in the case of women.
6. Illasoman- Those pregnant women who desire to avoid abortion should make offerings to this evil spirit.
7. Rogabhojan- This is responsible for small pox & other dreadful diseases13.

The Lanjia Saora believed that spirits guide their destiny. They believed different traditional function which till continue from the time of their ancestors. A small ritual which involves the offering of either a fowl or a goat to the hill god called Barusum, is observed towards the end of August after Kangu is harvested. The next ceremony follows before Jana is threshed and Kandula is harvested. On this occasion fowls are offered to the

hill Gods. Among the Lanjia Saoras there is a belief that if these ceremonies are performed they will get good crop from the swiddens14. The another traditional believe in their community when somebody suffers from any disease, they contact the shamans for treatment. Shamans believe that the disease is caused due to the influence of some evil spirits. So they try to drive out the spirit from the body by sucking. Sometimes they also use some herbal medicine for treatment. They believed in soul after the death of life. So after the death of an individual they prepare a clay model of the deceased with the paste of rice powder and water and worship this model by keeping it on a Sal leaf to satisfy the spirit of the deceased. Thereafter they wash away the model in the reverse direction of a stream.

The concept of supreme God is almost non-existent among the Lanjia Saora. In different parts different Gods are considered Supreme. They followed some ritual like birth ceremony, marriage ceremony and death ceremony .Their ceremonies, rites & festivals organized individually or village as a whole. Among all other festival they celebrate Guar & Karja ceremony in an expensive way. After the death of an individual, in the Lanjia Saora community they followed some local tradition. After the death of the person a year or two, the Guar ceremony is observed. They install a stone in the name of the dead, and sacrifice buffalo in order to satisfy the spirit of the dead. The Shamans of their community is invited to perform the ritual. In these festival rich families would offer one buffalo, while the poor may give one goat or a hen, according to their capacity. This is generally followed by three successive 'Karja' ceremonies in every second or third year to commemorate and to honour the dead of that particular period. This ceremony is generally observed in the months of March or April which is generally treated as off season for agricultural operations15.

The Lanjia Saora society expects everyman to be a Bangsamaran (Good man) rather than a Rankamaran (Bad man)16. They consider it to be good life when they do not evade 'Ukka' (customs in vogue) & commit 'Ersi' (actions causing wrath of the god or the supernatural powers). The Lanjia Saora however in the changing situations, would not go against the 'Ukka' at any cost, although the formal authority inflicting punishment in the breaches of 'Ukka' is weak17.

The Lanjia Saoras are famous for rich variety of their wall paintings based on religious and ceremonial themes. These paintings are locally known as 'IDITAL' . These paintings are drawn by the 'IDITAL MAR' on the inner side of a house. The iditals or Icons are drawn for the various purposes such as (1) to satisfy the deities and ancestral spirits (2) to averting any mishap including illness in the family (3) to harvesting a bumper crop and improve the fertility of the soil (4) to enable easy delivery of child. The Shaman or medicine man draws the icons and perform necessary rites connected with them. The religious functionaries who perform the rites are mainly from the categories of Buyya and Kudan18. So in the Lanjia Saoras society this type of painting played a prominent role in religious purposes.

In Lanjia Saora society the concept of value, ethics, and morality is high. They regarded life as a precious gift of God. In each and every work of their life is related with their culture & tradition. Their attire style is also unique which distinguish them from other society. The God & Goddess played an important role in their life. The most remarkable point is their efficiency in climbing & walking on hills. Every Saora village has a particular boundary. Traditionally the Hill Saora known as the Lanjia Saora distributed on the basis of the Birinda or extended family. Some of the Govt. project is going on for the development of Primitive Tribal Groups (PTGs) tribes of Odisha.

References

1. N. Patnaik, the Saora , SCSTRTI, Bhubaneswar, 1989, P-2.
2. A. Mallik, The Lanjia Saora, Aspects of society, cultures & development, Adivasi, Vol-XXXV, No.1 & 2 ,1995, P-55.
3. A.B. Ota (ED.):- Tribal customs & traditions, STSCRTI, Bhubaneswar,Vol-1,2009 ,P-181.
4. Ibid .,P -181.
5. Tribes of Odisha At a Glance, selected demographic Figures of ST of Odisha (Census figure), 2001 & 2011 by statistical cell SCSTRTI, Bhubaneswar, Odisha.
6. B.B. Mohanty – Development of PTGs in Odisha, A case study of Saora / Lanjia Saora, Adivasi , Vol-47, No-

1&2, 2007, P-80 .
7. Verrier Elwin,Tribal myth of Orissa, Vol-II, Kolkatta, 1954,P-23.
8. Ibid P- 85.
9. Verrier Elwin-Tribal myth of Orissa, vol-1 Kolkata, 1954 ,P-224.
10. A.B Ota & SC Mohanty (Ed.):- Particularly vulnerable Tribal groups (PVTGs) of Odisha, Vol-1, Bhubaneswar, 2015, P-904.
11. N. Patnaik, The Saora, SCSTRTI, Bhubaneswar, 1989, P-10.
12. G. Mohapatra,The Saura view of 'good life' 'Happy life' and of development, Adibasi, Vol-XXIII, No.2, 1983,PP.34-35.
13. N. Patnaik,The Saora, SCSTRTI, Bhubaneswar, 1989, PP.43-44.
14. A.B. Ota (Ed.): –Tribal, Customs & Traditions, SCSTRTI, BBSR, 2009, PP.183-184.
15. A.B. Ota & SC Mohanty(Ed):- Particularly venerable tribal groups (PVTGs) of Odisha, Vol-1,Bhubaneswar, 2015, P-786.
16. S. C. Mohanty,Social control, Tradition and Transition in Lanjia Saora Society, Adivasi Vol.-XXXIV, No.1 & 2,Bhubaneswar, 1994, P-58.
17. G. Mohapatra, The Saora view of 'good life' 'Happy life' and of development, Adibasi, Vol-XXIII, No.2, 1983,P-32.
18. Nityananda Patnai, Primitive Tribes of Odisha & their development strategies, New Delhi, 2005, P-18.

Part Time Resource Person (PTRP)
(TTT)Trade Govt. vocational Junior college
(Kandakhai, Bajrakote, Puri)

●●●

छत्तीसगढ़ में हल्बा जनजाति की संस्कृति एवं सभ्यता – एक विश्लेषण

डॉ. एल.आर सिन्हा
सुरेश कुमार

छत्तीसगढ़ की एक तिहाई जनसंख्या अनुसूचित जनजातियों की है। इन्हें प्रायः आदिवासी,वनवासी,गिरीजन, वन्यजाति,भूमिजन व जनजाति भी कहते है। इतिहासकार इन्हें भारत के प्राचीनतम निवासी मानतें है। ये लोग दुर्गम वन्यक्षेत्रों में निवाासरत् होने के कारण विकासपथ पर अग्रसर नहीं हो पाये और देश की मुख्यधारा से हटकर पिछड़ते ही चले गये। भारतीय सविंधान में इनके लिए विशेष प्रावधान किए गए है। जिनके अंर्तगत शासन द्वारा निरंतर विकास हेतु प्रयासकर जीवनस्तर में सुधार किया जा रहा है।

छत्तीसगढ़ राज्य जनजाति बहुत प्रदेश है। 2011 की जनगणनानुसार राज्य की कुल जनसंख्या 2,55,45,198 है। जहॉ कुल अनुसूचित जनजाति जनसंख्या 78,22,902, राज्य की जनसंख्या का 30.6 प्रतिशत है। जनजाति बाहुल्य होने के कारण छत्तीसगढ़ में कुल 42 जनजातियाँ पाई जाती है । 5 जनजाति को विशेष रूप से अबूझमाड़िया, कमार, पहाड़ी कोरवा, बिरहोर एवं बैगा पिछड़ी जनजाति समूह के रूप में पहचान मिली है । सबसे बड़ी जनजाति गोड़ है । जनजाति में लिंगानुपात 10:20 है । इसकी साक्षरता दर 50.11:है । जहाँ हल्बा जनजाति सर्वाधिक साक्षर और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। भारतीय सभ्यता के उद्भव के समय से ही जनजातियां अस्तित्व में रही है। वन उसके आश्रम एवं जीविकोपार्जन का एकमात्र साधन था एवं आर्थिक जीवन परोक्षतः आश्रित है। जनजातियों और वनों के इस संबंध को सहजीवी संबंध भी कह सकते है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य जनजातीय समुदाय की स्थिति का अवलोकन करना है।

हल्बा जनजाति की उत्पत्ति

इस जनजाति के लोगों में किंवदंति पाई जाती है, कि हल्बा जाति की उत्पत्ति का संबंध महाभारत काल के रूक्मिणी हरण के प्रसंग से हैं। हरण के समय बलराम ने बल और पराक्रम से शत्रुओं को रोक दिया था, बलराम के पराक्रम से प्रभावित होकर हरण में शामिल सिपाहियों ने उनके अस्त्र हल एवं मूसल को अपना लिया । उन्हीं सिपाहियों की संताने कालान्तर में ये हल से धान की खेती करके प्राप्त धान को मूसल से ''बहाना'' में कूट कर ''चिवड़ा'' बनाने लगे। हल, बाहना और मूसल से संलग्न कार्यों के कारण इनकी व्युत्पत्ति से हल+बा =हलबा कहलाये।

इतिहासकारों के अनुसार डोंगर क्षेत्र हल्बाओं का स्वतंत्र राज्य हुआ । इस क्षेत्र को अपनी उपराजधानी बनाकर बस्तर के राजा अपने पुत्रों को यहाँ का गवर्नर नियुक्त करने लगे । सन् 1774 ई. में जब दरियादेव बस्तर का राजा बना तो उसने डोंगर क्षेत्र की अवहेलना की और तत्कालीन गवर्नर अजमेर सिंह पर दबाव डालने लगा । इसी वर्ष यहाँ पर भीषण अकाल पड़ा और दरियादेव ने आक्रमण कर दिया । इस समय डोंगर क्षेत्र की रक्षा के लिए कांकेर की सेना तैनात थी । दरियादेव की हार हुई और विद्रोह को मजबूत देख दरियादेव जैपुर भाग गया और अंग्रेजों, मराठों एवं जैपुर के राजा के साथ अलग–अलग संधि कर 20000 सैनिकों के साथ हमला किया और जगदलपुर में विद्रोहियों को पराजित करने के बाद डोंगर पर हमला कर अजमेर सिंह को मार डाला । इसके बाद बड़े पैमाने पर हल्बा विद्रोहियों की हत्या की जिसमें से एक नरसंहार को आज भी हल्बा लोग ताड़झोकनी के रूप में याद करते

हैं । इसे छत्तीसगढ़ का प्रथम आदिवासी विद्रोह माना जाता है । यह विद्रोह डोंगर क्षेत्र में हल्बा विद्रोह के नाम से 1774–77 ई. में नेतृत्वकर्ता अजमेर सिंह ने उत्तराधिकार हेतु किया । किंतु हार हुई परिणामस्वरूप दरियादेव ने 6 अप्रेल 1778 ई. में कोटपाड़ की संधि पर हस्ताक्षर किया और मराठों के अधीन हो गया । भविष्य में बस्तर क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन हो गया ।

हल्बा जनजाति छत्तीसगढ़ की एक प्रमुख जनजाति है । प्रदेश में इसकी जनसंख्या वर्ष 1981 की जनगणना के अनुसार 2,25,376 थी, जो राज्य की कुल जनजातीय जनसंख्या का 4.86 प्रतिशत थी । हल्बा जनजाति प्रदेश में मुख्यतः कांकेर, बस्तर, दंतेवाड़ा, दुर्ग, धमतरी, राजनांदगांव जिलों में निवासरत है । बस्तर में हल्बा मुख्य रूप से कांकेर जिले के अंतर्गत चारामा, नरहरपुर, कांकेर, भानुप्रतापपुर और गांव–नगरों में बसे हैं । इस जनजाति के कुछ स्थानीय उपविभाजन बस्तरिया, छत्तीसगढ़िया तथा मरेथिया आदि है । हल्बा जनजाति की कई उपशाखाएं है जैसे– नायक, भंडारा, परेत, सुरेत तथा नरेवा आदि । सुरेत हल्बा अधिक प्रगतिशील है । यहाँ हल्बा जनजाति का निवास वर्तमान में पहाड़ों व जंगलों में नहीं है बल्कि वह ग्रामीण स्थानों का अंग बन गई है ।

हल्बा जनजाति की जनसंख्या वितरण

जनगणना 2011 के अनुसार कांकेर जिले की कुल जनसंख्या 7,48,941 है जिसमें पुरूषों की संख्या 3,73,338 और स्त्रियों की संख्या 3,75,603 है । जहाँ जिले में जनजातीय जनसंख्या 4,14,770 है, जिसमें पुरूष संख्या 2,03,934 और महिला संख्या 2,10,836 है । जो कुल जनसंख्या का 55.38 प्रतिशत है और हल्बा जनजाति की जनसंख्या जिले की कुल जनसंख्या में 16,640 है, जहाँ पुरूष संख्या 9,894 व स्त्रियों की संख्या 8,014 है । जो कुल जनसंख्या का 2.221:है और जिले की कुल जनजातीय जनसंख्या का 4.011:है ।

शारीरिक बनावट

इस जनजाति के लोग सामान्य कद–काठी के होते हैं । इनकी त्वचा का रंग सांवला, नाक चौड़ी व दबी हुई, चेहरा चौड़ा होता है । अधिक मेहनती होने के कारण इनका शरीर काफी हृष्ट–पुष्ट दिखता है । इनमें प्रोटोआस्ट्रेलाइड प्रजाति के शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं ।

भौतिक बनावट

हल्बा जनजाति के घर सामान्यतः कच्चे एवं मिट्टी से निर्मित होते हैं, जिनके ऊपर खपरैल या देशी कवेलु लगी होती है । अपने घरों का निर्माण इनके द्वारा स्वयं किया जाता है । इनके गांव कई पारों में बंटे होते हैं । इनके साथ गोंड़, भत्तरा, मुरिया, माड़िया आदि जनजाति के लोग भी निवास करते हैं । घर की स्वच्छता पर हल्बा जनजाति की महिलायें काफी ध्यान देती है । महिलायें अपने हाथ पैरों पर गोदना गुदवाती है, जिसमें कई विभिन्न प्रकार की आकृत्तियां होती हैं, इनमें पुरूष धोती, पटका बंडी, सलुका पहनते हैं, नवयुवक कुर्ता, पैजामा, पैंट व शर्ट भी पहनते हैं । महिलायें साड़ी ब्लाउज पहनती है । पुरूष ''पागा'' बांधते हैं । इनका मुख्य भोजन चावल, कोदो, कुटकी की बासी, मौसमी सब्जी, चटनी आदि है । मांसाहार में मुर्गा, मछली, बकरा, खरगोश आदि खाते हैं । उत्सव, त्यौहार व विभिन्न संस्कारों के अवसरों पर सल्फी, ताड़ी व महुवे की शराब देवी–देवताओं को चढ़ा कर पुरूष बच्चे सभी पीते हैं ।

आर्थिक जीवन

हल्बा जनजाति की आर्थिक संरचना मुख्यतः कृषि व जंगली उपज पर निर्भर है । इस जनजाति की आर्थिक स्थिति अन्य जनजातियों से अच्छी है । अपने खेतों में धान, कोदो, अरहर, उड़द, मूंग, तिल्ली, चना, तिवरा, कुटकी आदि बोते हैं । कृषि व जंगली उपज संग्रह के अतिरिक्त कृषि मजदूरी, चिवड़ा कूटने का कार्य भी करते हैं । वर्तमान में कई नवयुवक–युवतियां शिक्षण प्राप्त कर शासकीय नौकरी में आ रहे हैं ।

सामाजिक संरचना

हल्बा जनजातियों में मुख्यतः दो भाग पाये जाते हैं–

1. बस्तरिया हल्बा मुख्यतः बस्तर, कांकेर, अंतागढ़, बड़े डोंगर, भानुप्रतापपुर, नारायणपुर, दंतेवाड़ा, बीजापुर, नगरी, गरियाबंद देवभोग क्षेत्र में निवासरत है ।
2. छत्तीसगढ़िया हल्बा बालोद, डौण्डी, दल्लीराजहरा, गुण्डरदेही, राजनांदगांव के चौकी, डोंगरगांव के हल्बा छत्तीसगढ़िया हल्बा कहलाते हैं ।

उनके क्रमशः पुरैत व सुरैत दो विभाजन पाया जाता है । पुरैत उच्च माना जाता है । हल्बा जनजाति कई बर्हिविवाही गोत्रों में विभक्त हैं । प्रत्येक गोत्र के टोटम पाये जाते हैं ।

हल्बा जनजातियों का गौत्र

हल्बा जनजातियों के गौत्र के अंर्तगत नायक, मार्गिया , कोरेटिया, राणा, भैसारा, सहारे, रावटे, कोसमा, भोयर, माहला, कछुवाहा, बढ़ाई, भुआर्य, खड़हा, छेहारी, ढाल, कोठरिया, बारामानिया, चुरगईया, समरथ आदि।

सामाजिक–सांस्कृतिक रीतिरीवाज

हल्बा जनजाति में भी अन्य जनजातियों की भाँति अलौकिक शक्ति पर विशेष रूप से विश्वास किया जाता है । ग्राम अवस्था, कृषि हानि, पशु हानि, जन हानि, अपशकुनों जादू–टोना प्रकोप को मानते हैं । इस कारण देवी–देवताओं की संतुष्टि के लिए समय–समय पर उचित रीतिरिवाजों के द्वारा धार्मिक क्रियाएँ की जाती है । किंतु वर्तमान में नगरीकरण के प्रभाव ने इन्हें सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से अधिक विकसित किया । इनमें शिक्षा का प्रतिशत भी अन्य जनजातियों से अधिक है । कांकेर के हल्बा में कुछ टोटम होता है । जो 'बरश' कहलाता है तथा उनके नाम एक थोक के अंतर्गत रहता है । इस क्षेत्र में अनेक हल्बा कबीरपंथी है । इन्होंने मांस–मदिरा छोड़ दी है । दूसरा संप्रदाय सवता है । इनमें दुर्गा पूजा होती है । प्रायः सभी हल्बा कृषि करते हैं । गाँव का पटेल समाज का मुखिया होता है । इनकी गणना सम्पन्न कृषकों में की जाती है । हल्बा शिकार के भी शौकीन है । महिलाएँ जंगल में कंदमूल–फल एकत्र करती है ।

हल्बा जनजातियों में गौत्र व्यवस्था प्रचलित है । एक ही गौत्र में विवाह नहीं होता । विवाह की तिथि निश्चित होने पर घर पर किसी की मृत्यु हो जाये तो विवाह किसी चार अथवा महुआ के वृक्ष के साथ करते हैं पवित्रता बनाने हेतु । तलाक प्रथा, वधू मूल्य भी प्रचलित है । अन्य जाति से विवाह करने पर लड़की जाति से हमेशा के लिए बहिष्कृत कर दी जाती है ।

दशहरा, दीवाली, होली आदि त्योहार मानते हैं । जिदरी एवं नवाखानी भी पूजते हैं । छुआछूत को मानते हैं । मृतक दाह संस्कार करते हैं, बाल मुण्डवाते हैं । स्त्रियां गुदना–गुदवाती है ।

जीवन चक्र

हल्बा जनजाति के जीवन चक्र में जन्म, विवाह तथा मृत्यु संस्कार का विवरण निम्न प्रकार से है–

(अ) जन्म– प्रसव अधिकतर घर पर ही सुइन (दाई) की देखरेख में कराया जाता है । गांव की बुजुर्ग महिलायें प्रसव के समय सुइन की मदद करती हैं, प्रसव हो जाने पर सुइन द्वारा बच्चे का नाल ब्लेड से काट लिया जाता है । प्रसव के दूसरे दिन तेलगुर होता है जिसमें तिल को कूटकर गुड़ व जंगली जड़ी–बूटी मिलाई जाती है, तत्पश्चात् घी में मिलाकर जच्चा तथा तिलगुर में आई महिलाओं को भी दिया जाता है । बच्चे के नाल गिरने पर छट्ठी मनाई जाती है, उस दिन पूरे घर की सफाई की जाती है, पूरे घर के कपड़े साफ किये जाते हैं तथा उसी दिन परिवार या बुजुर्ग रिश्तेदार द्वारा बच्चे का नामकरण भी किया जाता है ।

(ब) विवाह– हल्बा जनजाति में एक ही गोत्र में विवाह नहीं किया जाता है, इनमें विवाह अधिकतर लड़के, लड़कियों के वयस्क होने पर ही किया जाता है । मामा–बुआ के लड़के–लड़कियों के साथ विवाह होता है । इनमें लड़का का पिता लड़की के पिता के घर जाकर शादी की बात तय करता है, बात पक्की होने पर अपने कुछ रिश्तेदारों के साथ जाकर मंगनी की जाती है । वर पक्ष की ओर से वधू पक्ष को ''सूक'' दिया जाता है । विवाह कार्य हल्बा जनजाति के ''भंडारी'' द्वारा संपन्न कराया जाता है ।

(स) मृत्यु संस्कार– हल्बा जनजाति में मृत्यु पश्चात् शव को दफनाते हैं । आजकल दाहसंस्कार भी किया जाता है । पिता का दाहसंस्कार सबसे बड़ा लड़का तथा माता का सबसे छोटा लड़का करने पर अच्छा माना जाता है । छोटे–बच्चों के शव को अधिकांश दफनाया जाता है । स्त्री का मृतक संस्कार सात दिन तथा पुरूष का नौवे दिन किया जाता है । कहीं–कहीं पर तीसरे दिन भी इस रस्म को पूरा कर देते हैं । दाह संस्कार के पश्चात् घर के सभी लोग स्नान करते हैं तथा सातवे या नौवे दिन ''बैगा'' को बुलाकर घर शुद्ध किया जाता है, गांववासियों व रिश्तेदारों को भोज दिया जाता है।

राजनैतिक संगठन

हल्बा जनजाति में सामाजिक न्याय व्यवस्था हेतु परंपरागत राजनैतिक संगठन पाया जाता है । न्याय व्यवस्था का सही संचालन करने के लिए इन्हें अठारह गढ़ में विभाजित किया गया है । जैसे बड़े डोगर, नारायणपुर गढ़, अंतागढ़, कांकेर गढ़, विन्द्रानवा गढ़, बस्तर गढ़, सोनपुर गढ़, कोलर गढ़ आदि प्रमुख है । यहां पर बड़े–बड़े सामाजिक प्रकरण गढ़वार निर्णय किये जाते हैं । इसके अतिरिक्त जाति पंचायत, राज पंचायत या गढ़ पंचायत, गांव पंचायत आदि में छोटे–मोटे सामाजिक झगड़े पर निर्णय लेकर सुलझाया जाता है । इसके निर्णय सभी को मान्य होते हैं ।

धार्मिक जीवन

हल्बा जनजाति के लोग देवी–देवताओं में काफी आस्था रखते हैं । सभी हिंदू धर्म को मानते हैं, हिंदू धर्म के सभी देवी–देवताओं को मानते हैं, इनमें मुख्य देवी–देवता व त्यौहार निम्न है–

1. ग्राम देव–ग्राम देव में दूल्हादेव, करियाधुरवा, माता देवला, शीतला माता, कंकालिन माता, शंकर भगवान, हनुमान आदि है ।
2. कुल देव–हल्बा जनजाति की कुल देव में गुसई, पुसई, कुंवर देव मौलीमाता आदि है । देवपूजा के अलावा पोला, होली, नवाखानी, रक्षाबंधन, दिवाली, होली आदि त्यौहार मानते हैं ।
3. लोक कला–इस जनजाति में कर्मा नृत्य, पड़की, होली नृत्य काफी प्रचलित हैं । लोक गीतों में धनकुल, छेरछेरा, गौरा व सुआ गीत मुख्य हैं ।

भाषा एवं बोली

इस जनजाति की अपनी ''हल्बी'' बोली है, जिसका प्रयोग ये आपस में करते हैं । अन्य लोगों के साथ में छत्तीसगढ़ी बोली बोलते हैं । कर्नल ग्लसफर्ड तथा स्टेन के अनुसार "यह भाषा छत्तीसगढ़ी की ही एक उपबोली है । उच्चारण की दृष्टि से हल्बी की ध्वनियाँ छत्तीसगढ़ी से मिलती जुलती है । हल्बी आर्य भाषा परिवार की एक बोली है ।" यद्यपि इसमें द्रविड़ भाषा परिवार के शब्द बहुतायत से पाए जाते हैं । हल्बा नाम जनजाति से संबंद्ध होने के कारण इसे हल्बी, हल्बानी कहा जाता है । हल्बी में स्वर ध्वनियाँ संख्या में बारह है । शब्दान्त में हस्व स्वरों का प्रायः अभाव है । सानुनासिक स्वर आरंभ तथा मध्य में पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते हैं । अन्त्य में वे बहुत कम प्राप्त होते हैं । शब्द के अन्त में व्यंजन गुच्छ बहुत ही कम मिलते हैं । हल्बी की उपबोलियां निम्नलिखित है ।

– कमारी : कमार जनजाति द्वारा बोली जाती है । इसका प्रयोग मुख्यतः रायपुर में होता है ।
– भुंजिया : भुजियां जनजाति द्वारा रायपुर में बोली जाती है ।
– बस्तरी : बस्तर के उच्च वर्गों द्वारा इसका प्रयोग होता है । जैसे पुराने राजघराने, जमीदार संभ्रांत परिवार में बोली जाती है । वर्गगत आचरण से उत्पन्न हुई है ।
– नाहरी, मिरगानी, महरी, चंडारी तथा राजमुरिया अन्य उपबोलियां है ।

हल्बी भाषा का व्याकरण

हल्बी विकृत छत्तीसगढ़ी, विकृत मराठी, उड़िया, गोंड़ी, गदबा का प्राकृतिक मिश्रण है । बस्तर की सम्पर्क भाषा होने के कारण अनेक भाषा और बोलियों में सम्प्रति है । हल्बी में दो ही लिंग स्त्रीलिंग और पुल्लिंग तथा दो ही

वचन एकवचन और बहुवचन उदाहरण– मन, झन, ठन, प्रत्यय बहुवचन के लिए प्रयोग में आता है । लिंग भेद सजीव वस्तुओं में जबकि निर्जीव वस्तुओं में प्रायः स्त्रीलिंग में होती है । हल्बी में पुरूषवाचक, निश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक, निजवाचक तथा आदरार्थी सर्वनामों का प्रयोग होता है । हल्बी में अपन आदरार्थी सर्वनाम है ।

निष्कर्ष :–

किसी समाज की सपन्नता तथा भविष्य को संवारने के लिए निरंतर समाज का विकास होना अनिवार्य तथ्य है। साथ ही विकास एवं संपन्नता को मापने के लिए उस समाज के सामाजिक–आर्थिक–व्यवसायिक स्तर को एक बेहतर सूचकांक माना जाता हैं । हल्बा जनजाति की आर्थिक संरचना मुख्यतः कृषि व जंगली उपज पर निर्भर है। इस जनजाति की आर्थिक स्थिति अन्य जनजातियों से अच्छी है । कृषि व जंगली उपज संग्रह के अतिरिक्त कृषि मजदूरी, चिवड़ा कूटने का कार्य भी करते हैं । वर्तमान में कई नवयुवक–युवतियां शिक्षण प्राप्त कर शासकीय नौकरी में आ रहे हैं । शिक्षा ही एक ऐसा आधार है जिसे प्राप्त कर विभिन्न कौशल अपनाकर उच्च जीवन–स्तर की कल्पना की जा सकती है। आय ही एक मात्र क्षमता सृजनकारी कारक नहीं है, बल्कि श्रम की सामाजिक भूमिका उसकी क्षमता आर्थिक रूप से भविष्य के निधारिकों को प्रभावित करता है साथ ही कुछ क्षेत्र जैसे–कृषि, धरेलू कार्य में श्रम की आय कम होने के कारण उनकी कार्यक्षमता को आय प्राप्त न होना है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परिवार की अर्थव्यवस्था में पुरूषों के साथ–साथ स्त्रियों की सक्रिय सहभागिता हैं । कृषि क्षेत्र में इनका प्रतिशत अधिक है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी है। समाज की संरचना में जनजातिय स्त्रियों की भागीदारी न केवल परिवार के विकास में उत्तरदायी है। बल्कि वह व्यैक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगौलिक एवं सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से भी अधिक है। इस प्रकार कह सकते है कि छत्तीसगढ़ में हल्बा जनजातीयों में सभ्यता एवं संस्कृति का निरंतर विकास सकरात्मक भूमिका निभाने के सहभागिता के साथ–साथ सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में परिवार व समाज को एक सुदृढ़ दिशा प्रदान करने में सकरात्मक परिणाम दे रही है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

1. मिश्र, जेपी (2003), जनांकिकी, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, पृ.सं.–77।
2. एल्विन वेरियर (1991), द अगारिया, वन्य प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.सं.58–59।
3. ग्रिगसन डब्ल्यूव (1938), द मारिया गोड़ ऑफ बस्तर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन,पृ.सं. 133–193 ।
4. जैन एसपी (1975), डेमोग्राफी–ए स्टेटस स्टडी ऑन पापुलेसन रिसर्च इन इंडिया टाटा मैकग्राहिल,न्यू देहली, पृ सं. 51–137 ।
5. शर्मा डीडी (1990), सामाजिक मानव शास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा, पृ.सं.114–119 ।
6. लाल एसके (1984), सोशियो–इकॉनामिक स्टडी ऑफ द ट्रायवल फार्मर, बुलेटिन ऑफटी. आर.डी. आई. भोपाल, वा. 12 नं., पृ.सं.22–44 ।

भानु प्रताप देव शासकीय
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कांकेर (छ.ग.)

●●●

छत्तीसगढ़ बस्तर संभाग में जनजातीय हस्तशिल्प एवं जीविकोपार्जन

शिव कुमार सिंघल

जनजातीय कलाएं भारत की विचार, धर्म, तत्व–ज्ञान, और संस्कृति का दर्पण है। भारतीय संस्कृति व परम्परा में जनजातियों का विशेष स्थान रहा है। छत्तीसगढ़ के बस्तर संभाग में हल्बा, बैगा, गोंड, मुरिया, माड़िया, भतरा आदि प्रमुख जनजातियां हैं। छत्तीसगढ़ में निवास कर रही जनजातियां जीविकोपार्जन हेतु कृषि के अतिरिक्त विभिन्न परंपरागत हस्तशिल्प का निर्माण कर, निर्माण श्रमिक का कार्य कर, लघु वनोपजों का बाजार में विक्रय कर अर्थोपार्जन करती है व सामान्य (परंपरागत) जीवन जीने में यकीन रखती है। विशाल अर्थ और स्वरूप लिए शिल्प शब्द– मानव सभ्यता और संस्कृति का घोतक है। जनजातीय हस्तशिल्प प्राचीनता का बोध कराता है। बस्तर संभाग के सात जिलों में कई जिलों जैसे– बस्तर, कोण्डागांव, नारायणपुर आदि को शिल्प नगरी के रूप में जाना जाता है। इन जिलों में विभिन्न तरह की हस्तशिल्प कला जैसे– बेल मेटल, लौह शिल्प, मिट्टी शिल्प, काष्ठ शिल्प, पत्थर शिल्प, बांस शिल्प आदि का उत्कृष्ट कार्य किया जाता है। यहां की जनजातीय कलाएं बहुत ही पारंपरिक व साधारण होने के बाद भी इतनी सजीव व प्रभावशाली है कि उनसे देश की जनशिल्प की समृद्धि व विरासत का अनुभव स्वतः ही हो जाता है।

जनजाति कला की भारतीय संस्कृति में विशिष्ट पहचान है। किसी प्रदेश या क्षेत्र की संस्कृति वहां के जीवन कला से ज्ञात की जा सकती है। भारत के हर प्रदेश में कला की अपनी एक विशेष शैली व पद्धति होती है जिसे लोक कला के नाम से जाना जाता है। इसके अलावा परम्परागत कला का भी एक अन्य रूप होता है जो अलग –अलग जनजातियों और ग्रामीण अंचलों में प्रचलित होती है इसे जनजातीय कला के नाम से जाना जाता है। राज्य क्षेत्र की जब बात आती है, तो छत्तीसगढ़ राज्य का बस्तर संभाग जनजातियों की कला एवं संस्कृति के लिए भारत ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त है। बस्तर संभाग के सात जिलों– कोण्डागांव, दंतेवाड़ा, बस्तर, सुकमा, बीजापुर, कांकेर, नारायणपुर की जनसंख्या छत्तीसगढ़ जनगणना 2011 के अनुसार लगभग 30,90,828 है। इस जनसंख्या में जनजातियों की संख्या लगभग 20,69,230 (66.94 प्रतिशत) है। जो दूसरे राज्यों व क्षेत्रों की अपेक्षा सर्वाधिक है। जनजाति बहुल क्षेत्र होने के कारण तथा इनका विभिन्न कलाओं जैसे– काष्ठ कला, कंघी कला, बांस शिल्प, पत्ता कला, घड़वा कला(बैल मेटल), लौह शिल्प, तुम्बा शिल्प आदि में पारंगत होने के कारण, अपनी संस्कृति, परम्परा, रीति–रिवाज, खान–पान, रहन–सहन, मान्यताये इनकी जीवन शैली, इनकी कलाओं (कलाकृतियों) के माध्यम से देखी जा सकती है। देश के कई शहरों जैसे– दिल्ली, गुजरात आदि जगहों पर शबरी एम्पोरियम की स्थापना की गई है। जो इस कला के प्रचार–प्रसार के साथ–साथ ही इसकी विशेषता को बताती है तथा इन स्थानों से इसे खरीदा भी जा सकता है। यह कला जनजातियों के आर्थिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। जहां पहले अधिकांश जनजातियां खाद्य संग्राहक जनजाति हुआ करती थी, शिकार करती थी, वनोपज से अपना जीवन यापन करती थी व इनमें अस्थायी कृषि (पेद्दा) का प्रचलन था, आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वहीं अब अधिकांश जनजातियां स्थायी कृषि करने लगी हैं तथा विभिन्न तरह की कलाओं की ओर इनका रूझान हुआ है। इन कलाओं के माध्यम से इन जनजातियों ने अपने जीवन स्तर में आर्थिक सुधार किया है। जिससे कला को प्रोत्साहन मिला है एवं अधिक से अधिक जनजातियां इन कलाओं को अपना कर अपनी व अपनी आने वाली पीढ़ी को इस कला में पारंगत कर जीवन स्तर में आर्थिक सुधार लाने को अग्रसर है। डॉ. शंकर दयाल शर्मा जी ने जनजातीय हस्तशिल्प

कलाओं के संबंध में कहा है कि "हस्तशिल्प की वस्तुएं हमारी मौन राजदूत है, बिना कुछ कहे यह हमारी जीवन प्रणाली, हमारी संस्कृति, हमारे रीति–रिवाजों व हमारे विचारों के बारे में बहुत कुछ कह देती है।"

आज के मशीनी युग में भी हाथ से बनी कलात्मक वस्तुओं का अपना विशेष महत्व है। इसलिए न केवल भारत में ही इन वस्तुओं का आकर्षण बढ़ा है, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भी भारतीय जनजातियों द्वारा बनाये गए विभिन्न हस्तशिल्प कलाओं ने अपनी एक जगह बना ली है।

जनजातीय हस्तशिल्प एवं आर्थिक स्थिति से संबंधित विषयों पर समय–समय पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार रखे है इनमें से कुछ निम्नानुसार है–

1. साहू, छबिराम (2012). जनजातीय हस्तकलाएंः एक ऐतिहासिक अध्ययन बस्तर संभाग के विशेष संदर्भ में. पीएच.डी. शोध प्रबंध, इतिहास अध्ययनशाला, प. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर छ.ग ने बस्तर संभाग के जनजातियों में प्रचलित हस्तकलाओं का अध्ययन किया एवं पाया कि जनजातीय हस्तशिल्प से बस्तर के आदिवासियों के जीवन में आर्थिक रूप से सकारात्मक परिवर्तन स्पष्ट दिखायी पड़ता है। परन्तु जनजातीय कलाकारों द्वारा निर्मित हस्तशिल्प वस्तुओं के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने तथा विपणन के लिए अभी भी सशक्त कदम उठाये जाने हेतु राज्य शासन को और भी अधिक गंभीर प्रयास करना होगा।

2. सिंह, गीता (2013). जनजातीय श्रमिकों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति बस्तर जिले के शिल्पकला उद्योग में कार्यरत जनजातीय श्रमिकों पर आधारित एक सामाजिक अध्ययन. पीएच.डी. शोध प्रबंध समाजशास्त्र अध्ययन शाला, प. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर, छत्तीसगढ़ ने श्रमिकों पर आधारित एक सामाजिक अध्ययन विषय पर अध्ययन करते हुए पाया कि शिल्पकला उद्योग में जनजातीय श्रमिकों को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पुरूष श्रमिकों की अपेक्षा महिला श्रमिकों की समस्या अधिक है।

3.अंसारी, खुदैजा परवीन (2013). मध्यप्रदेश के हस्तशिल्प उद्योग का एक आर्थिक विश्लेषण सागर जिले के संदर्भ में. शोध प्रबंध अर्थशास्त्र अध्ययन शाला डॉ. हरिशंकर गौर विश्वविद्यालय सागर मध्यप्रदेश ने अपने अध्ययन में पाया कि भारत प्राचीन समय से ही हस्तशिल्प के लिए विख्यात रहा है। भारत की विशिष्ट सांस्कृतिक छवि में हस्तशिल्प की संमृद्ध विरासत का बड़ा योगदान रहा है। हस्तशिल्प उद्योगों के माध्यम से 1.3 करोड़ से भी अधिक शिल्पी व बुनकारों को रोजगार मिला है जिनमें एक बड़ा प्रतिशत समाज के कमजोर वर्ग का है।

4.शर्मा, श्रीमती शीतल (2016). छत्तीसगढ़ जनजातियों के आर्थिक विकास में हस्तशिल्प कला का योगदान बेल मेटल–काष्ठ कला बस्तर संभाग के संदर्भ में. पीएच.डी. शोध प्रबंध, वाणिज्य अध्ययनशाला, प.रविशंकर विश्वविद्यालय रायपुर छत्तीसगढ़, ने छत्तीसगढ़ जनजातियों के आर्थिक विकास मे बेल मेटल एवं काष्ठ कला का अध्ययन करते हुए पाया कि हस्तशिल्प भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। हस्तशिल्प व्यवसाय में मुख्यतः पिछड़ी हुई जनजातियों के कारीगर सम्मिलित है। इस क्षेत्र मे लगभग 25000 कारीगर बस्तर संभाग मे हस्तशिल्प व्यवसाय में संलग्न हैं।

5.गुप्ता, डॉ. नीलिमा (2017). समकालीन लोक कलाओं में झॉकता : प्रागैतिकहासिक कला संसार छत्तीसगढ़ के विशेश संदर्भ मे. आर्टिस्टिक नरेशन पत्रिका (आई.सी.आर.जे.एफ.आई.आर.) वो.–08 नम्बर. 01, पेज न. 61–69, आई.एस.एस.एन (पी) 0976–7444 ने अध्ययन करते हुए पाया कि प्रागैतिकहासिक काल में मनुष्य ने अपनी मूक भावनाओं को पत्थरों पर टेढ़ी–मेंढ़ी रेखाकृतियों के द्वारा अभिव्यक्त किया था। छत्तीसगढ़ में आदिवासियों द्वारा अनेक देवी–दवताओं की मूर्तियां पकी हुई मिट्टी में बनाई जाती है, आज भी यहां की जनजातियां अपने अनुष्ठान, परंपरा, प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि तथा समकालीनता को अपने लोक कला के रूपों में पुनसृर्जित किए हुए है।

छत्तीसगढ़ बस्तर संभाग में जनजातीय संस्कृति में हस्तशिल्प का विशेष महत्व है, यहां की जनजातियां कृषि, मजदूरी के अतिरिक्त विभिन्न परंपरागत हस्तशिल्प कला के माध्यम से जीविकोपार्जन कर रही है जिससे इन जनजातियों के आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है।

अध्ययन क्षेत्र के रूप में छत्तीसगढ़ राज्य, बस्तर संभाग के सात जिलों को लिया गया है। बस्तर संभाग की स्थापना सन् 1981 को हुई। सात जिलों में– कोण्डागांव (स्थापना–2012), नारायणपुर (स्थापना–2007), बस्तर (स्थापना–1948), दंतेवाड़ा (स्थापना–1998), बीजापुर (स्थापना–2007), सुकमा (स्थापना–2012), कांकेर (स्थापना–1998) को एवं इनसे संबंधित ऐसे क्षेत्र जहां जनजातियों के द्वारा हस्तशिल्प से संबंधित कार्य किये जाते है जैसे– मसोरा, चिखलपुटी, भेलवापदर, कुम्हारपारा, करनपुर, परचनपाल, दहिकोंगा, जगदलपुर, लोहण्डीगुडा, बास्तनार, अलवाही आदि विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों को लिया गया है।

छत्तीसगढ़ के बस्तर संभाग में जनजातियों की जनसंख्या एवं कुल जनसंख्या में अनुमानित शिल्पियों की संख्या को निम्न सारणी के माध्यम से देखा जा सकता हैः–

जिले का नाम	कुल जनसंख्या	कुल जनसंख्या में जनजातियों की जनसंख्या	कुल जनसंख्या में अनुमानित शिल्पियों की संख्या'
कोण्डागांव	5,78,824	4,11,023	4800
कांकेर	7,48,941	4,14,764	1800
बस्तर	8,34,375	5,20,817	5700
दन्तेवाड़ा	2,83,479	2,01469	1150
बीजापुर	2,55,230	2,04184	1000
सुकमा	2,50,159	2,08808	950
नारायणपुर	1,39,820	1,08165	2100
कुल	30,90,828	20,69,230	17500

सारणी 2–बस्तर संभाग में जनजातियों की संख्या जनगणना 2011, शोध प्रबंध छबि राम साहू (इतिहास) 2012, श्रीमती शीतल शर्मा (वाणिज्य) 2016, प. रविशंकर विश्वविद्यालय एवं हस्तशिल्प से जुड़े विभिन्न समाज सेवी संस्थाओं/सहकारी समितियों से प्राप्त आकड़ो के आधार पर

आर्थिक विकास को व्यक्ति के जीविकोपार्जन के रूप में देखा जा सकता है। ग्रामीण अंचलों में अधिकांश जनजातियां जीविकोपार्जन हेतु कृषि, मजदूरी, एवं जंगलो (वनों) से प्राप्त होने वाली सामग्री से जीवन यापन करती आ रही हैं। जहां देश के अन्य राज्यों या क्षेत्रों में पायी जाने वाली जनजातियों का आर्थिक ढॉचा या रोजगार कृषि एवं मजदूरी है वहीं छत्तीसगढ़ के बस्तर संभाग में अधिकांश जनजातियां कृषि, मजदूरी के साथ–साथ विभिन्न तरह की कलाओं को भी जीवन स्तर सुधारने का जरिया बना रहीं हैं। बांस कला, काष्ठ कला, घड़वा कला, मिट्टी कला आदि में कई जनजातियां निपुण हो गयी हैं। जनजाति हस्तशिल्प उद्योग बस्तर की समृद्धि, संस्कृति, परम्परा और भारत की समृद्धि, सांस्कृतिक विविधता और विरासत के लिए एक अद्वितीय और विशाल संसाधन प्रदान करता है। साथ ही साथ समाज के कमजोर वर्गों जनजातियों के लोगों को रोजगार के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है।

1. घड़वा कला (बेलमेटल):– बस्तर में धातु शिल्प विद्या विश्व की प्राचीनतम विद्याओं में एक है, जिसे घड़वा कला के नाम से जाना जाता है। बस्तर में धातु शिल्प उद्योग मे घड़वा का शाब्दिक अर्थ "गढ़ना" या सृजन करना होता है। जब घसियों का ध्यान अंचल की लोक संस्कृति से प्रतिबद्ध आकृतियों को गढ़ने की दिशा में प्रतिबद्ध हुआ, तब इन्हे घड़वा कहा जाने लगा। घड़वा कला विश्व प्रसिद्ध कला है। देवो, देवियों, मनुष्य तथा पशु , पक्षियों आदि की घड़वो द्वारा ढाली गयी आकृतियां जगह–जगह सराही जाती है। घड़वा शिल्प घड़वा जाति का परंपरागत शिल्प

हैं, और यही शिल्प इनका व्यवसाय भी है। घड़वा कला में मूर्तियों की ढलाई के लिए जिस विधि का उपयोग किया जाता है उसे "मोम क्षय विधि" कहा जाता है। इसे बनाने के लिए प्रायः कॉसा, पीतल, मोम का प्रयोग किया जाता है।

2. लौह शिल्पः— बस्तर में लोहारों में अधिकांश परंपरागत लोहार हैं। बस्तर अंचल में लोहारों का विशिष्ट सामाजिक महत्व है। आदिवासी समाज में विभिन्न अवसरों पर उपयोग में आने वाली वस्तुओं का निर्माण इनके द्वारा किया जाता रहा है। वर्तमान मे लौह शिल्प उद्योग परम्परागत उद्योग से आधुनिक उद्योग के रूप में परिवर्तित हुआ है। पारम्परिक शिल्प के अलावा नयें रूपाकारों में हिरण, बैल, हाथी ,घोड़ा, चिड़िया आदि बनाये जा रहे हैं। बस्तर की लौह शिल्प की मांग तेजी से भारत के अन्य क्षेत्रों में भी बढ़ती जा रही है।

3. मिट्टी शिल्प (टेराकोटा):— मिट्टी कला बस्तर की प्रसिद्ध कला है। यहां चूल्हे से लेकर मकान तक मिट्टी के बने होते थे। टेराकोटा नाम से इसकी ख्याति दिनों—दिन बढ़ती जा रही है। इस शिल्प के अन्तर्गत देवी, देवताओं, पशु आकृतियां, सज्जा सामग्रियों की वस्तुएं बनायी जा रही है। टेराकोटा अर्थात मिट्टी से बनी कलाकृतियां आज घर—घर सजावट का खास हिस्सा बनती जा रही है। बस्तर संभाग के कोण्डागांव जिले के अन्तर्गत मसोरा ग्राम में टेराकोटा शिल्प का उत्कृष्ट कार्य किया जाता है। टेराकोटा शिल्प कला की मांग ने जनजातीय शिल्पियों के आर्थिक स्तर में सुधार लाया है।

4. काष्ठ कलाः— बस्तर मे काष्ठ कला का प्रचलन आदि काल से है। सम्पूर्ण बस्तर संभाग मे रहने वाले विभिन्न जनजातीय समूह जैसे— मुड़िया, माड़िया, बैगा, भतरा, हल्बा, भैना के लोग विभिन्न तरह के आर्थिक क्रियाकलापों में संलग्न हैं। अधिकांश जनजातियों के जीविकोपार्जन का साधन लकड़ी या लकड़ी से संबंधित हस्तकलाओं पर आधारित है। बस्तर की काष्ठ कला की बनी मूर्तियां, घरों के दरवाजे आदि वस्तुओं मे काष्ठ कला का उत्कृष्ट प्रदर्शन देखा जा सकता है। बस्तर में जगदलपुर नगर काष्ठ कला का केन्द्र बिंदु बन गया है। वर्तमान में लकड़ी के गणेश, माड़िया नर्तक, गीता उपदेश मूर्ति, दशहरा दृश्य, जनजातीय जीवन शैली की आकर्षक कृतियां, फर्नीचर में काष्ठ कला को उकेरने की कला का प्रचलन चल पड़ा है।

5. बांस कलाः— बांस के माध्यम से अनेक प्रकार की कलाकृतियां एवं दैनिक उपयोग की बस्तुएं बनायी जाती हैं। बांस से बनी कलात्मक वस्तुएं सौंदर्य परक और जीवन उपयोगी भी होती हैं। इसलिए बांस शिल्प का महत्व और भी बढ़ जाता है। बस्तर मे बांस के अनेक कलात्मक कलाकार हैं। माड़िया जनजाति अनाज रखने के लिए बांस की टोकरी, टोकना, डोगली का उपयोग करती है। वर्तमान में व्यवसायिक दृष्टि से सजावट की वस्तुए तीर—धनुष, लैंप, टेबल, कुर्सियां, पेन, पत्र रखने की टोकरी आदि बनायी जाती है।

6. पत्ता कलाः— बस्तर में अधिकांश जनजातियां विभिन्न पेड़ों के पत्तों के माध्यम से विभिन्न तरह की दैनिक उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करती हैं जिनमे— दोना पत्तल, पत्ते से बनी कटोरी, थाली प्रमुख है। विवाह, किसी कार्यक्रम में, समारोह में इन वस्तुओं का उपयोग बहुतायत में होता है। मांग भी अधिक होती है इस प्रकार जनजातियों को जीवन यापन हेतु न केवल अधिक आय प्राप्त हो रही है अपितु इनके जीवन स्तर में भी सुधार हो रहा है।

7. तुम्बा शिल्पः— लौकी को सब्जी के रूप में उपयोग करने के साथ—साथ ही इसे पकने के लिए छोड़ दिया जाता है। इन्ही फलो (तुम्बा या तुमा) का उपयोग अलंकृत कर लैंप, पानी की बॉटल, मुखोटा आदि के निर्माण में किया जाता है।

8. भित्ती शिल्पः— यह सज्जा हेतु उपयोग में लाया जाता है, इसका उपयोग घर की खिड़कियों और बरामदे के लिए होता है। इनमें सुन्दर जालियां , शुभ सूचक, दीप, सर्प , पशु—पक्षी, आदि की कलाकृतियां होती हैं।

9. पत्थर शिल्पः— जनजातीय शिल्पकार पत्थर/शिलाओं का उपयोग विभिन्न तरह की कलाकृतियों के निर्माण में करते हैं जैसे— पत्थर की देवी—देवताओं की मूर्तियां, पत्थर के औजार, पत्थर पर नक्काशी वाली कलात्मक

वस्तुएं आदि। पत्थर शिल्प जनजातियों में प्रचलित पुरातन हस्तशिल्प कलाओं में एक है जो बस्तर की इन जनजातियों की जीवन इतिहास, संस्कृति की व्याख्या करती है।

10. गोदना हस्तशिल्प – छत्तीसगढ़ बस्तर संभाग में जनजातीय महिलाओं एवं पुरूषों में गोदना प्राचीन समय से प्रचलित रही है। गोदना को पछेना या अंकन भी कहा जाता है अंग्रेजी में इसे टैटु कहते है जो शरीर पर बनी कलाकृतियां होती है। बस्तर क्षेत्र में जनजातीय महिलाओं में प्रचलित गोदना में अंकित होने वाले चित्र इनकी मनोभावना का परिचालक होते है व आजीवन व्यक्तित्व के साथ जुड़ जाते है।

11. सीसल हस्तशिल्प – सीसल एक प्रकार का पौधा होता है जिसके पत्तों से रेशे निकाले जाते है, यह रेशे सफेद रंग के एवं मजबूत होते है। इसके रेशो से बनी रस्सियों का उपयोग जहाज बाधने के लिए लंगर के रूप में किया जाता रहा है क्योकि इसकी बनी रस्सियां कई दिनों तक पानी में डूबे होने पर भी सड़ती नही है, इन्ही रेशों का उपयोग करके सजावटी कलाकृतियों का निर्माण किया जाता है।

12. जूट हस्तशिल्प – बस्तर क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियां प्राचीन समय से ही प्रकृति प्रदत्त सामग्रियों का उपयोग करती आई है तथा प्रकृति से प्राप्त होने वाले वस्तुओं में अपनी संस्कृति, सभ्यता को कलाकृतियों के माध्यम से व्यक्त करते आए है। जनजातियां बस्तर क्षेत्र में जूट हस्तशिल्प के द्वारा विभिन्न प्रकार की कलाकृतियों जैसे– बैग, स्टेशनरी समान, गहने, फुटवेयर, वॉल हैगिंग, सजावटी समान, खिलौने, चटाईयां आदि का निर्माण कर रही है।

13. कोसा हस्तशिल्प – बस्तर क्षेत्र के साल वनों में प्राकृतिक रूप से जन्म लेने वाले रैली कोसा से उच्च कोटी के धागे प्राप्त किए जाते है, कोसा से धागे निकालने का कार्य बस्तर क्षेत्र के धरमपुरा व कालीपुर में किया जा रहा है। जनजातियों को कोसा के माध्यम से रोजगार प्राप्त हो रहा है, बस्तर क्षेत्र में कोसा के रेशमी धागों के माध्यम से साड़ी, तरह–तरह के वस्त्र एवं सजावटी वस्तुओं में भी कोसा के रेशमी धागों का उपयोग किया जाता है।

14. कशीदाकारी हस्तशिल्प – सुई–धागों की सहायता से कपड़ो पर विभिन्न तरह की कलाकृतियां बनाकर सज्जा करना महिलाओं का एक प्रिय कार्य रहा है। जनजातीय महिलाओं में भी कशीदाकारी प्रिय है, बस्तर क्षेत्र के तैलंगा, बंजारा, हल्बा, गोंड आदि विभिन्न जनजातियों/जातियों के द्वारा कशीदाकारी कार्य किया जाता रहा है।

क्र.	छत्तीसगढ़ के जनजातीय क्षेत्रों में जनजाति समुदाय द्वारा रोजगार व जीविकोपार्जन हेतु किए जाने वाले विभिन्न कार्य	जनजाति प्रतिशत जो इन कार्यो में संलग्न है
01	कृषि	75 प्रतिशत
02	मजदूरी (संगठित एवं असंगठित क्षेत्र के कार्य)	15 प्रतिशत
03	हस्तशिल्प निर्माण संबंधी कार्य	10 प्रतिशत

सारणी–4 – छत्तीसगढ़ के जनजातीय क्षेत्रों में जनजाति समुदाय द्वारा रोजगार व जीविकोपार्जन हेतु किए जाने वाले विभिन्न कार्य

बस्तर संभाग मे जनजातियों की समस्याएंः–

01. शिक्षा व अज्ञानता संबधी समस्या– शिक्षा की कमी व अज्ञानता के कारण जनजातीय लोगों द्वारा एकत्रित एवं उत्पादित सामग्रियों को बिचौलियों द्वारा कम कीमत देकर खरीदा जाता है जिससे ये प्रायः ठगी का शिकार हुआ करती हैं।

02. स्वास्थ्य संबंधी समस्या– सुदूर वन क्षेत्रों मे निवास होने के कारण जनजातियों को बीमारी, दुर्घटना, गर्भावस्था में गांव के ही स्थानीय दाई व स्थानीय उपचार पर निर्भर रहना पड़ता है हालाकि आज हर गांव में स्वास्थ्य केन्द्र

स्थापित किये गए हैं फिर भी कच्ची पथरीली सड़क होने के कारण बेहतर स्वास्थ्य सुविधा ग्रामीण क्षेत्रों से कोसों दूर होती है।

03. शुद्ध पेयजल की समस्या– जनजातीय क्षेत्रों में प्रायः शुद्ध पेय जल नहीं मिल पाता है। सुदूर जनजातीय क्षेत्रों में आज भी लोग पेय जल हेतु प्राकृतिक स्त्रोतों जैसे– तालाबों एवं कुओं पर निर्भर है। तालाबों–कुओं की साफ सफाई नही होने के कारण स्थिर पानी का उपयोग करने से कई तरह की बीमारियां होने का खतरा बना रहता है।

04. सड़क व बिजली की समस्या– ग्रामीण अंचल एवं सघन वन क्षेत्रों में निवास होने के कारण सड़क व बिजली संबंधी समस्या का सामना इन जनजातियों को करना पड़ता है। आज भी कई गांव ऐसे हैं जहां बिजली–सड़क की व्यवस्था नही हो पायी है।

05. नक्सली समस्या– बस्तर संभाग नक्सली समस्या के कारण पूरे भारत वर्ष में जाना जाता है जनजातीय लोगों को इन क्षेत्रों में हर समय नक्सली समस्या का सामना करना पड़ रहा है।

06. बाल विवाह संबंधी समस्या– जनजातीय क्षेत्रों मे अधिकांश जनजाति महिलाओं का विवाह, विभिन्न तरह की कुरीतियां व्याप्त होने के कारण कम उम्र में ही करा दिया जाता है।

07. असमाजिक तत्वों की जाल साजी मे प्रायः फसने संबंधी समस्या– जनजातीय लोग भोले–भाले, सीधे–सादे होने के कारण बाहरी असामाजिक तत्वों के बहकावे में आ जाते हैं ज्यादा पैसे देने का लालच देकर इनके मूल स्थान से दूसरे राज्यों मे मजदूरी के लिए ले जाया जाता है जहां वे प्रायः शोषण का शिकार बनती हैं।

08. योजनाओं की जानकारी का अभाव संबंधी समस्या– सरकारी योजनाओं की जानकारी के अभाव में जनजातियां प्रायः अपने लाभ से वंचित रह जाती हैं।

09. ऋण संबंधी समस्या– स्वरोजगार हेतु इन जनजातियों को ऋण संबंधी समस्या का सामना करना पड़ता है बैंक, साहूकार द्वारा ज्यादा ब्याज दर पर कम ऋण दिया जाता है। हॉलाकि सरकार द्वारा कई योजनाएं संचालित की जा रही है जिसमे इन जनजातियों को सस्ते ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है परन्तु ऋण देने हेतु जो शर्तें सरकार द्वारा रखी जाती है उनसे इन जनजातियों को परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

10. वेतनमान संबंधी समस्या– जनजातीय क्षेत्रों में जनजाति महिलाओं को समान कार्य के लिए पुरूषों से कम वेतन/मजदूरी दी जाती है।

11. पलायन संबंधी समस्या– जनजातीय महिलाएं/पुरूष रोजगार की तलाश में शहरी जीवन शैली से आकृष्ट होकर अपने मूल क्षेत्रों से पलायन कर जाती हैं जो इन जनजातीय क्षेत्रों की एक गंभीर समस्या बनी हुई है।

बस्तर संभाग मे जनजातियों की समस्याओं को दूर करने हेतु उपाय/सुझाव

01. जनजातियों में शिक्षा को बढ़ावा देना होगा जिससे वे शिल्पकला के आर्थिक महत्व को समझकर उनकी कृतियो के बाजार मूल्य का वास्तविक ऑकलन कर सकें।
02. जनजातीय सदस्यो को स्वसहायता समूहों के माध्यम से शिल्पकला के विकास हेतु प्रोत्साहन देना होगा।
03. शिल्पकला हेतु उपयोग में लायी जाने वाली सामग्रियॉ सस्ते व उचित दामों में जनजातीय शिल्पियों को उपलब्ध कराया जाना चाहिए, जिससे उनके समक्ष आर्थिक बाधा उत्पन्न न हो।
04. ग्रामीण व दूरदराज के क्षेत्रों मे सड़को का त्वरित विकास आवश्यक है जिससे कि जनजातीय हस्तशिल्प कला को आसानी से मुख्य बाजार उपलब्ध हो सके।
05. जनजातियों मे मानव संसाधन विकास को प्रोत्साहन देना होगा जिससे वे राष्ट्र विकास में भागीदार बन सके।
06. शासन को शिल्पकला से जुड़े जनजातीय लोगो के लिए आसान ऋण सुविधा भी उपलब्ध करवानी होगी।
07. आज जनजातीय शिल्पकला अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बन चुकी है अतः इसे लघु उद्योग के रूप में स्थापित करने

हेतु शासन को समुचित प्रबंध करना होगा।

08. जनजातीय शिल्पकला के विकास हेतु संबंधित साहित्य के विकास के लिए भी लेखकों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है, जिससे शिल्पकला को व्यापक पहचान मिल सके।
09. नक्सली समस्या का उचित समाधान एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है, जिसके अभाव में जनजातीय लोगो में तीव्र आर्थिक गतिविधियां अवरूद्ध हो रही है।
10. जनजातीय महिलाओं को आर्थिक गतिविधियों में शामिल करने हेतु विशेष प्रोत्साहन देना होगा जिससे महिला सशक्तिकरण की दिशा में आगे बढ़ा जा सके।

संदर्भ सूची –

1. जगदलपुरी, लाला (1994). बस्तर लोक कला संस्कृति. भोपालःमध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पेज न. 76।
2. महावर, निरंजन (2014). बस्तर ब्रान्जेसःट्राइबल रिलेजियन एण्ड आर्ट. नई दिल्लीः अभिनव पब्लिकेशन्स, पेज न. 96।
3. निरगुणे, बंसत (2005). लोक संस्कृति. भोपालःमध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ संख्या 76।
4. शर्मा, ब्रम्हदेव (1980). आदिवासी विकास एक सैद्धांतिक विवेचन. भोपालःमध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ संख्या 110।
5. शुक्ल, हीरालाल (1978). प्राचीन बस्तर. नागपुरःविश्वभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 36।
6. साव, मदनलाल (1983). बस्तर का इतिहास. इलाहबादःशक्ति प्रकाशन मंदिर प्रथम संस्करण, पेज न. 21।
7. साहू, छबिराम (2012). जनजातीय हस्तकलाएंः एक ऐतिहासिक अध्ययन बस्तर संभाग के विशेष संदर्भ में. पीएच. डी. शोध प्रबंध, इतिहास अध्ययनशाला, प. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर छ.ग., भारत।
8. एन.,ए.आर (2002). जनजातीय संस्कृति, भोपालःमध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी पेज न. 36।
9. बेहार, राजकुमार (1974). बस्तर आरण्यक. जगदलपुरःधर्मार पब्लिकेशन, पेज न0 178।
10. बरनार्ड, निकोलस (1993). भारतीय कला और शिल्प, लंदन कॉनरन ऑक्टोपस लिमिटेड, पेज न. 182.183।
11. बेहार, राजकुमार (2003). छत्तीसगढ़ी विभुतियां एवं संस्कृति. रायपुरःछत्तीसगढ़ शोध संस्थान, पेज न. 15।
12. धमीजा, जसलीन (2003). भारत की लोककला और हस्तशिल्प. नई दिल्लीःनेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, पेज न.03।
13. गुप्ता, एम. एल., एवं शर्मा, डी. डी. (2004). समाजशास्त्र. आगराःसाहित्य भवन पब्लिकेशन्स, पेज न0 269।

बस्तर विश्वविद्यालय,
जगदलपुर (छत्तीसगढ़)

●●●

BHUBANESWAR: AN EPITOME OF HETEROGENOUS CULTURAL TRADITIONS

(Archaeological, Cultural & Folk Traditions)

Sibanarayan Bihari
Umakanta Mishra

Bhubaneswar, the present Capital City of Odisha, has been the cradle of cultural developments through many centuries right from the Prehistoric times to contemporary times till today. Bhubaneswar is not only the Capital City of Odisha, but also was a Capital City of major Political Province of the Great Mauryan Empire, 2300 years back (ago).It was the then Capital of major Political Province & its name was then 'Toshali'. Before it became the Capital of Odisha (erstwhile Orissa) in1948, Bhubaneswar had been a Temple Town and an important Hindu Cultural and Religious centre to the followers of Budhism (Baudha Cult), Jainism (Jain Cult), and Shaktism (Shaakta Cult) along with Shaivism (Shaiva Cult) and Vaishnavism (Vaishnava Cult). The presence of so many different religious faiths in fact gave the City its pluralistic character, one of the factors responsible for its eventual selection as the Capital city of the modern State of Odisha. The City bears the imprints of several religious faiths as much as that of the western rationalism. All these combined together formed the very essence of the "Sanaatan Dharma" of the hoary past of the Great "Bhaaratavarsha" of unconquered India. All the different religious faiths or belief system have a perfect blending or synchronization for peaceful cohabitation of all the religious faiths at one place even today. That is the place has been named as "Tribhubaneswar" in ancient times, which etymologically meant the three worlds of the God; Swarga (Heaven), Martya (Earth) & Paataala (Hell), altogether a unique place on the planet.

Bhubaneswar, the present capital city of Odisha, was declared as the World's best smartest city in terms of people's choices in recent times. The name Bhubaneswar itself is formed with the conjoint of two Odia words namely "Bhubana" meant "the World" & Ishwara" meant "God", so Bhubaneshwara etymologically meant "The 3 Dimension of the Land of the God" such as 'Swarga' (Heaven), 'Martya' (Earth) & 'Paataala' (Hell), which were created by God Himself (Paramaatmaa) for the survival of the living organisms in three different dimensions (3D) or aayaams. Through time immemorial Bhubaneswar is known in different names like 'Toshaali', 'Emaamrakshetra', 'Temple City', 'Capital City of Odisha' & now the "Smartest City' of the World with the grace of the Allmighty.

Geography of Bhubaneswar

Bhubaneswar is geologically a reclaimed landmass of the mid-Pleistocene period, which was submerged beneath the sea during 30,000 years ago. With the receding sea level during the mid or late Pleistocene, the landmass gradually exposed. The sea level over the landmass extends up to the Naraaj-formation of the Cuttack-Mahaanadi region.It is mainly covered by rocks of lower Gondwana Group. It consists of mix-matrix of Primary Laterite, limestone, Secondary Laterite and Sandstone. Almost 60 % of the region is bedrock of laterite and at places mixed with limestone formations, 10 % of Sandstone outcrops and 20 % of marshy lands. There are some pockets of exposed water-holes, which are still in flow in spite of the huge alteration of the landmass in the process of modernization. There are few perennial streams like Budhi Nullah in the north &Ganguaa Nullah in the originating from Chandakaa-Deraas region and flowing eastward and finally terminating in Dayaa River near Sisupaalgarh, and other small streams flowing up to Jhaarapadaa area.The locality Jhaarpadaa got its so called nomenclature due to the intersecting point of 3 or 4 streams from three different directions. One of the perennial streams runs through Nicco Park-Satyanagar-Laksmisaagar and confluences at Jharapadaa area.There

are few streams in Dhauli, Badagada, Patiaa, Sailashree Vihaar area, Sikharchandi, Laksmisaagar, Raajbhavan, Khandagiri, areas. There is one heavy perennial stream called 'Malaaguni' or 'Maalini' which flows through Utkal University Campus areafrom a water hole of Rangamaatiaa region to Unit-9 to Science-Park area. Due to the good webbed chain of water network of perennial streams and up level recurrent charged ground water level, the region was well-vegetated with the availability of natural food resource throughout the year. The region comes under moist-deciduous climatic zone, which receives four months of incessant torrential regular rain. For the sustenance of life two basic required necessities are food & shelter. Food is available from the thickly vegetated area and cultivable land surrounding the topographical featured landscape region. For the making of houses plenty of raw materials are available in the form of laterite blocks of stones, bamboo from forested land and straw from wasted paddy cultivation. For such resource full nature the region of Bhubaneswar has attracted folks or populous in large number from all regions around India & Abroad. Thus the region became the cradle of Cultural Confluence Centre for the last 2 and half millennium years till Today.

Culturalism & Archaeological Remains

Bhubaneswar has sparsely found archaeological remains right from the Prehistoric time to late medieval times. The place has a long time range of cultural continuity as evidenced from sparsely distributed or found archaeological or cultural remains. Bhubaneswar has been the cradle of Cultural developments through many centuries right from the Prehistoric times to contemporary times even till today. Cultural imprints of various centuries or ages were found in bits & pieces in many parts of Bhubaneswar and around it.

The first cultural imprints of Prehistoric times can be seen in the form of Rock Art (rock engravings & paintings), in the rock shelter of Udayagiri hill (GPS LOCUS) one or two scholars have done research or researched on it in recent past (Prof.Sadasiv Pradhan, Dr. D.B. Garhnayak). A few specimens of Prehistoric tools (Neolithic Celts of basalt rock or chlorite) were found from the exposed laterite bed of the Utkal University Campus during 2006-08 by an Archaeology student Mr. Pabitra Mohan Pradhan (A lawyer & Businessman, Farmers Leader by Profession, but a Passionate Archaeologist by choice). But, unfortunately those tool were missing from the Department of Ancient Indian History, Culture& Archaeology (most probably kept by Prof Dr. Sadasiv Pradhan (Head of the Department, during the time period) or with Dr. Dibishad Brajasundar Garhnayak (then a PhD. Research Scholar, now Dy. S.A. in Archaeological Survey of India). The Utkal University Campus built completely on the laterite bed by the side of a perennial stream called 'maalini' or 'malaaguni' stream or rivulet, with thick vegetation, &hunt able gamesfor which must be quite hospitable for settlement during the Prehistoric Period. The area also have rock-shelters & caves nearby locality. Those congenial facilities must have propelled for Human settlement in the region of Bhubaneswar must be continuously& hugely populated during the Prehistoric times for the availability of all the necessities of sustenance or survival for a longer Period of time range of history. Culture here shifted to surrounding Khordaa, Puri & Cuttack districts during the Neolithic, later Chalcolithic Periods.

Coming from the Prehistoric Period, we find next traces (imprints) of culture transforms during the Early Historic Period from 5th Century BCE to 4th century CE. The first archeological specimen of the Early Historic Period in Bhubaneswar is the ruins of fortified settlements of Sisupalgarh. The time-bracket of the Cultural scope or landscape at Sisupalgarh stretches or rangesfrom 500 BCE to 200 CE. Such a long time range must not have created the flourishment of just one Cultural Centre but also multiple other Cultural centers or hubs as small catchment areas or settlements. Such sites are Mahaabhoi Shaasan(GPS locus, north-west of north-west corner of Sisupalgarh), Narisho, Taalapadaa, at nearby localities, Raadhaanagar, Laathi, Kalinganagar, at distant areas or landscapes but quite akin to the same Cultural Period and setup with similar artefactual inferences.

Sisupalgarh (GPS locus) is the most important fortified settlement in Eastern India, which fully flourished in and around 200 BCE. India's noted Archaeologist Prof. Dr. B.B. Lal opined that the beginning of the Settlement of the site in 3rd century BCE on the basis of his excavation's Cultural findings of ceramic assemblages like roulette warein Period IIA & B, III, Black-and-Red ware of Megalithic traits in Period II A, a Kushaana Copper Coin of King Huvishka in Period III (Lal 1949:78). Paul Yule*, R.K. Mohanty* & M.L. Smith* (*info as foot note) argued the beginning of Sisupalgarh on the basis of or on lines of availability of earlier dates for roulette

ware, later dates for Black-and-Red wareand given the C14 and other dates available about roulette ware from Arikaamedu, to 250 CE, can be dated to 200-100 BCE (quite similar to B.B.Lal's given date)(Yule 2006, p.45; Mohanty and Smith 2008). The site is rich in its Architecture, Cultural Assemblages, and Proper articulation of Fortification according to the methods laid down in Kautilyas "Arthashaastra". It is one of the best specimen of Fortified Settlement of Early Historic Period in India. Unfortunately neither of the archaeologists in India & Abroad could completely exposed the actual rich Cultural potentiality of the site.

The absence of evidences of any craft activitiesclearly attests to the character of the site as a pure consumption city (Mishra 2020). Excavation by Mr. B.B. Lal in 1948 and recent excavation by Mrs.M.L. Smith of Cotsen Institute of Archeology, California, Los Angeles, U.S.A., and R.K.Mohanty of Deccan College Of Post Graduate Research Institute, Pune, Maharashtra, India (2006-10) and by Archaeological Survey of India, Excavation Branch-IV, Bhubaneswar most recently at Suabarei in Puri District, at Jhariambaa in Talcher District, at Kalahandi-Balangir Districts throws some light about the sites character which had to depend on far distant lands on steady supply of finished goods from the peripheries or outside for their immediate necessities of daily consumption or consumable commodities. It is a site of Political Seat, Cultural Values & religious ethos and became the Centre of perfect synchronization of all these three can be found here, for which it gained much importance during that time. So it is imperative and usual for alt- other sites to provide or supply commodities of daily use necessities to this site.It must be the Political Centre or just like Capital City of all the urbancenters. The fortifications, the tall strong monolithic laterite pilasters, the finding of large amounts of gold ornaments by local people during the 90s robbers trenching activities and also during the digging up of foundation stones of building houses & wells, all attests to the rich politico-cultural-religious hegemony of the site and also about the rich material cultural hoary past of the site for time immemorial.

The religious character of the site can be had from the findings of Yaksha & Yakshi images outside the fortification wall in Sisupalgarh village (Panigrahi 1961) which are now showcased or displayed in Odisha State Museum Architectural &Sculpture Gallery. Apart from that few architectural fragments of an extant Stupa were also recovered from the compound of Bhaaskareshwar Temple. Those are some broken stone railingsof containing suchi & thaba (Panigrahi 1961). Of the stone fencing of some Stupa, which might have existed near the now standing Shirdi Sai Temple, which later on have been razed by some religious fanatics to claim or establish their religious dominance or authoritativeness. The other religious beliefs or faiths of the site has been attested through artefactual inferences. The existence of an early form of Vaishnavism was prevalent among the folks of Sisupalgarh, which is evidenced with the finding of Kushaana coins of King Huvishka (Ancient India, Lal, 1949). Since the Kushaanas are followers of the Bhaagabata Cult of early Vaishnavism, it can be surmised or presumed to believe or come to the conlusion that there was Kushaana influence over Odisha. Even imitation Kushhana coins locally termed as "Puri-Kushaana Coins" were minted in Odisha of which many Coin hoards have been discovered in Coastal & Hinterlands of Odisha in Early Historic Period.

The second phase of Early Historic Period, from 3rd century BCE onwards, saw the mushrooming of a number of settlements around Sisupalgarh. Explorations around Dhauli (GPS locus) has yielded evidences of many Early Historic Settlements, where cultural developments continued up to Early Medieval Period (Brandtner 1991: 39-40). The mud fortified settlement of Mahaabhoi Shaasan, immediately northwest of north-western corner of Sisupalgarh, is a rectangular mud fortified settlement measuring about 400*300 meters in perimeter. But the nature of settlements is unknown (Yule 2006, p.16), which is near or close to the neighborhoods of Bhaaskareswara, Brahmeswara, and Megheswara Temples. A small mound with a deposit of more than three meters in height has been found. The surface findings of the mound yielded ear ornaments, animal figurines iron nails of Early Historic Periods (IAR: 1984-85, p.59). The Saamantraipur burning ghaat on the right bank of river Gandhavati (Ganguaa Nullah) revealed a deposit of seven meters. The exposed laterite blocks walls of laterite on the periphery of the mound revealed a structure from which Early Historic Potteries or Pot-sherds were found (ibid.).

The earliest phase specimen of sculptural Art in Kalinga is the crudely hewn out elephant figure emerging from the sleep, which signifies attainment of enlightenment from the cycle of birth, rebirth & death taking birth

for many hundreds or thousands of years. This marvelous piece of Art is carved of sandstone outcrop in Dhauli region of Bhubaneswar. But the quality of the sandstone is not at par in quality than its counterpart, Grey Chunnar sandstone which is the medium of Mauryan Art in general. This plasticity realism of Mauryan Art imprints is attestedlly or certainly contemporary to the Inscription and reference of it may have been made to an incised figure of an elephant which appears along with the Ashokan Edicts at Kalsi (Dehradun, Uttaraakhand). The existence of the edicts here in Bhubaneswar clearly speaks about the importance of the place as the provincial Capital Kalinga (Odra Desha, Utkala Pradesha, Orissa of Independence India, Present Bhubaneswar of Modern Odisha) of the great Mauryan Empire of the second millennium BCE, and its name was then "Toshaali" (Panigrahi 1961).

Since the province was under the hegemony of Mauryan emperor Ashoka, its subjects or netizens must be the devout followers of Buddhism and practiced it whole-heartedly. The evidence of prior existence of Buddhism or Boudha sect or shaanti faith has been there prior to the Kalinga War of 261 BCE. The Buddhist monk Shree Upagupta was said to have baptized Ashoka the great into the fold of Buddhism. And after Ashoka's adoption of the Buddhist faith, Buddhism became a pan-Indian religion or faith, through proper efforts of the King & widespread propagation by his son Rahul, daughter Sanghamitra, his own kinsmen, and subjects of the whole empire. Not only in Indian sub-continent but also it spread to foreign lands like Sri Lanka, Indonesia, China, Vietnam, Korea, Tibet, Bhutan, Nepal etc.. Buddhism had its far sighted influence over almost all of Asia. Though Buddhism was practiced in Kalinga, but after Mauryanization it became widespread and was practiced by all the subjects of the Maurya Empire, which made thepeople simple & peace loving and refrain them from any violence act or war. Though Buddhism is now almost in an extinct condition, its traces can be found in bits & pieces in people's way of life. In their name and cultural practices of present religious fold. Many people in Khordaa region have Buddhist surnames, people are still worshipping the sacral remainsof the deceased kinsmen in their houses which can be found in most of the houses in regular households in Bhubaneswar, and many more cultural practices of the Buddhist faiths and continues in current religious faiths.

The earliest specimen of sculptural art in Kalinga is the crudely carved figure of the forepart of an elephant carved at the top of the boulder containing Ashoka's Rock Edict XVIII in Dhauli, another same rock edict can be found in Jaugada near Berhampur in Ganjam district of Odisha, within the same time bracket & contents. This elephant figure is certainly contemporary to the Inscriptions and references may be made to an incised figure of an elephant which appears along with the Ashokan Rock Edicts at Kalsi (Dehradun). The existence of the Edicts clearly speaks about the importance of the place as the provincial capital named 'Toshaali'. In contemporary time there are many Apartments, Buildings, Resorts & Hotels named after the name Toshaali. This might be an attempt made by the netizens to revive the old glory of the best Capital City of the World.Since the province was under Ashoka, its subjects or netizens must be the followers of Buddhism as is evidenced from the existence of Buddhism prior to the Kalinga War of 261 BCE. The Buddhist monk Upagupta was said to have baptized Ashoka the great into the fold or faith of Buddhism. And after his adoption of the religion, Ashoka made Buddhism the State or his Empires only religion to be followed by all his country-men without any divisive ideology or blind customs to be followed by his subjects.Efforts were made for proper propagation of the religion through the length & breadth of the Empire. So as many monolith pillars were erected in all the provinces and Stupas were constructed at important crossroads or junctions bearing orders of the Emperor to be followed by his subjects in the form of Rock Edicts throughout the empire. Though Buddhism was practiced in Kalinga, but after it became widespread and being practiced by all the subjects, which made the people simple & peace-loving. Though Buddhismis now gone or not practiced by the peoples of Hindu Sanaatan Dharma or Sanaatanis completely, the traces of it can be found in bits & pieces in peoples way of life, in their names & surnames (shaanti, shaanti kara, kara, vihaari or Bihari, kabaata, Dhavala or Dhala, Dhalabehera, Behera et..), people still worship the sacral remains (bodily remains or ashes) of their beloved deceased kinsmen in their respective houses, which is still found in practice in most of the households in Bhubaneswar, and many more cultural practices of the Buddhist faiths still continues in the current religious faiths. So religion (Dharma) is a way of living, not confined to one particular faith or belief system.

We shall now discuss about the most noteworthy feature or aspects of past religious specimens & their vandalism by some religious fanatics by virtue of their wrong beliefs. The extant remains of an Ashokan Pillar with edict can be found in the form of a colossal Lingam (Phallus) in Bhaaskareswar Temple, the railing pillar remains of a Stupa, the fragmentary lion figure resembling the lion capital (intact in Odisha State Museum, Bhubaneswar); all the cumulative evidences clearly speaks about the existence of a Buddist Stupa with complete Ashokan Pillar (Panigrahi 1961). Prior to the 5th Century CE, before the establishment of the Shaivite Cult of Hinduism or Hindu Dharma of the Great Sanaatan Dharma, due to the religious fanatism and rigorous heartedness, deliberate attempts were made to eliminate all the evidences of a flourishing Buddhist Religion or a new sect of the Sanaatana Religion. It must be discussed here that Buddhism & Jainism are two rebel children of Hinduism, as in the modern societal norm Hinduism is the first religion that formed out of the Sanaatan Dharma or Religion, and other religions of the World followed the suit. As of now or today there are 10 religions with billions of followers and many sectarian groups. The Buddhist religion was at its peak till the 4th CE or CAD, its influence are so effective that most of the Cultural Practices of Buddhism can be seen in the daily ritualistic practices of Hinduism in Bhubaneshwar (Land of God's Three Worlds)& in Khordaa and in other parts of Odisha. Remnants of Buddhist Vihaaras of later periods (8th CAD) were found in Cuttack District also. It seems some Buddhist remains of Vihaaras & Stupas were found in Sisupalgarh Excavations (Lal 1948, Smith & Matney & Mohanty 2006-2010, ASI 2013) too. Proper largescale (Both Horizontal & Vertical Excavations) Excavation can expose many Buddhist Stupas & Vihaaras for sure. In near future with the grace of my parents, family, relatives, teachers, and the persons I know, I with my 7 archaeological team members will try to reveal the complete exposure of the full fortified settlements of Sisupalgarh Cultural sequence through Vertical & Horizontal excavations.

During the phase of 1st Century CE to 4th Century CE, there is a small hiatus in the historicity of the place (both politically & commercially or trade). But there are few artefactual or archaeological remains available to substantiate about the religious faith and belief system of the general public or mass. Many life size Yaksha & Yakshi images were recovered from the Sisupalgarh, Badagada & Kapileswar village areas. Sculpturally these remains were dated to 1st CAD to 4th CAD. From the findings of these images, it can be surmised that people slightly diverted from their usual religious practices and again resort to nature worship. They seem to practice infinite natural powers & try to give them a concrete or definite form or shape. The initial period of image making saw its gradual development through strong religious belief system. People used to worship Naaga (the Serpent God), Tree (Vrikshika), Yaksha (Guardian God of Wealth) & Yakshis (Consort of Yaksha), Sun, Moon, Water, Fire, Star Constellations (such as ORION, NEBULAE, Urshaa Major, Urshaa Minor, Seven Stars chain) of different seasons, Weather Gods, Dasha (Ten) Digapaalas (God of Cardinal & sub-Cardinal Directions of the Blue Planet Earth, Dasha Mahaavidyaas (Ten Commandments or Supreme Knowledges). So the people try to emulate & give a concrete shape or form through images of perishable or non-perishable materials like wood, stone, metal, and of many other materials, and made Temples or Synagogues to place their deity there and worship them whenever required even at their own houses or homes. The forms of the GODS were described along with their attributes in the ancient religious scriptures such as Vedas (4), Vedaangas, Upanishads (7), Puraanas (18). Life size images of Yaksha-Yakshi, Naaga-Naagis, Agni (Fire God), Varuna (God of Water) were built of stone as it is one of the permanent material which survives many thousands or lakhs of years so as their God who lives forever in their memory & immortalized in their life through several generations for posterity. The locally available sandstone became their medium of art. Some images were now showcased or displayed in Odisha State Museum and some were still lying in the villages pond areas.

The last extant art specimens of the Early Historic Period in Bhuaneswar is the "Paandava Gumpha" in the Mahinsha Khaala area of Bhubaneswar. Those were five caves hewn out of the laterite rock bed in the Badagada area, named after the 'Paandavas' of Mahabhaarat. There is a Panchu Paandava square or chowk in Kendrapadaa district leading to Olakanaa village, nearby it is the Olaasuni Caves, which can be related with the Paandavas of Mahabharat time i.e. contemporary with Harappan Period. As we all know the two Epics Ramayana & Mahabharata are ingrained in the memory of every Hindus in Indian Diaspora on a Pan-Indian stage (The

Raama Raajya of Bharata , the Bhaaratavarsha of 1875 CE), wherever in India we go, we can find Cultural specimens or imprints related to the heroes or characters related to these two epics. The Cultural remains were named after Lord Raama, Maataa Sitaa, Laksmana, Bharat, Satrughna, Lava-Kusha, and the number goes on with the 700 Slokas (Verses) of Shreemad Bhagavad Gitaa. These mythical legendary heroes' related story and archaeological specimens or imprints can be found in all the Villages, Districts, and States of India (throughout the length and breadth of India). So how can be the "Ekaamrakshetra" of the anciently famous Kalinga can be devoid of this privilege? Architectonically & Sculpturally the Paandava Caves belongs to 4th CAD. They are located in the Badagada region of Bhubaneswar. The name 'Badagada' sometimes makes us or me to believethat there might be a Fort existed (probably of mud), which leaves no traces now. The name Rasulgarh also gives that impression too with slight traces still existing there in the form of Maa Kochilei Temple (The Goddess of the Fort, the protector of the Fortress). Mancheswar, Rangamaatiaa, Gaadakana, & many other names specifies about the rich heritage story of Bhubaneswar.

The Shaakta Cult was prevalent in the region from an earlier time as evidenced by the existence of many Banadevis (Goddess of Forest), and Goddess Temples like Maa Budheswari, Maa Giridurgaa, Maa Kochilei, Maa Sikharachandi, Maa Daalakhai, & many other Goddesss Temples. The Cult practices & Rituals are continuing till today among people like Baatamangalaa Puja, Baasantika Durga Puja, Budhei Osha, Saarodiya Durga Puja and many more.

Many Occult practices were also prevalent during the entire stretch of Early HistoricPeriod in Khandagiri & Udayagiri cave regions till today (Personal communication with Dr. Soumya Ranjan Sahoo). Other places were of key importance of study in further research.

Hatigumpha Inscription & Other Inscriptions

The Hatigumphaa Inscription is one of the noteworthy Inscription of Indian History. The Inscription is not only famous for its sequential record of a great king Kharavela of Chedi Dynasty, but also well known for its charismatic representation of the king along with his queens. The Inscription has been written in Brahmi Script & Paali Language. It contains 17 lines & starts with Jain symbols and ends very abruptly. It deals with the record of land grants given by King Kharavela's chief queen 'Naganikaa' or 'Nayanikaa' for the construction of caves for Jain monks to reside or take shelter during rainy season& scorching hot summer season or during chilling winters. Many other caves were also constructed or built by the local administrator called Akhadamshas (local municipal officers or workers of local self-governments)& by members of different guilds such as 'Tilakaaraka', 'Paanikara', oil merchants Guilds and many more.

In spite of many differences about people's way of living or faith in diversified belief system, there was peaceful co-existence among the general public or folks. The followers of one faith respected the followers of other faiths or sects, there was sectarian unified societal bonding among the peoples. There was no sectarian differences or mutual jealousy among the followers of different faiths or sects, for which the same (all) cultural systems co-existing till today even with other religious faiths like Islam, Christianity, Sikhism and other Occult practices.

I(first author) would like to thank my loving paternal uncle Late Dr. Suresh Chandra Bihari, who inspired me to do good quality research and blessed me to do write as many articles in my field of research. Last but not the least I would like to thank my two best friends Soumya & Rudra, for their continuous support and cooperation.

References

1. Kalia, Ravi (1995) Bhubaneswar : From a Temple Town to a Capital City, Sothern Illinois University, The City College of the History, University of New York (CUNY).
2. Mathur, S.M. (2015), Physical Geology of India, National Book Trust, New Delhi, India.
3. Pradhan, Sadasiba (2001), Rock Art In Orissa, Aryan Books International.
4. Behera, Anam (2006-07), Personal Communication, Asst. Prof. Utkal University Vanivihar, Bhubaneswar, Odisha.
5. Kumar , Ajit, Rock Art : Recent Researches and New Perspective, Vol.-I, New Bharatiya Book Corporation,

Delhi.
6. Pradhan, Pabitra Mohan, 2007, Personal Communication, Utkal University, Vanivihar, Bhubaneswar, Odisha.
7. Mishra, Umakanta, Sibanarayan Bihari (2019) "Understanding Nature & Attributes of Early Historic Odisha: An Archaeological Perspective: Odisha Historical Research Journal, Vol. LVIII 1& 2, Odisha State Museum, Bhubaneswar, pp.1-33.
8. Sahoo, Daitari (2015a), Rock Art Sites around the Delta Head on the Lower Mahanadi Valley, The Tribal Tribune, Vol.-7, Issue-2 (ISSN: 2249-3433).
9. Lal, B.B. (1949), Ancient India-V, pp-78.
10. Yule, Paul (2006), Early Historic Sites in Orissa, pp-45.
11. Smith, M.L, R.K. Mohanty (2006),Excavations at Sisupalgarh 2005-2006: A Brief Report, Bulletin of the Deccan College Research Institute, Pune.
12. Mohanty, R.K., M.L.Smith,, T. Thakuria (2013) Excavations at Sisupalgarh 2009 : The Northern Gateway and Activity Areas, Man and Environment, Pune.
13. Basa, K.K. and P. Mohanty (eds) (2000), Archaeology of Orissa, Delhi : Pratibha Prakashan.
14. Sahoo, D, K.K. Basa (2013), Neolithic and Chalcolithic Cultures of Orissa: An Overview in K.N. Dixit (eds)
15. Panigrahi, K.C. (1961), Archaeological Remains at Bhubaneswar, Kitab Mahal, College Square, Cuttack, Orissa (Now Odisha).
16. Panigrahi, K.C. (1961), History of Orissa, Kitab Mahal, College Square, Cuttack, Orissa (Now Odisha)
17. Brandtner (1991), pp.-39-40.
18. IAR (1984-85), pp.-45.

Ph.d Research Scholar, Dept.of History,
Ravenshaw University, Cuttack,Odisha
Associate Professor, School of History,
GM University, Sambalpur,Odisha

●●●

लोकनाट्य का सौंदर्यः शिव–शक्ति

धीरज सोनी

आज भारतीय रंगमंच की पहचान उसके अपने परंपराशील नाट्य रूपों के अभिनव स्वरूप से है जो विभिन्न शैलियों में लौकिक और अलौकिक कलेवर में पूरे भारत में निरंतर प्रगतिशील हैं। लोकनाट्यों के अस्तित्व में आने के संदर्भ में जगदीश चंद्र माथुर कहते हैं–''सर्वसाधारण का मनोरंजन और नीति तथा धर्म का उद्देश्य, ये दो लक्षण जो भरत ने पंचम वेद के लिए स्थिर किए थे, संस्कृत की प्रधान नाट्यधारा में प्रतिबिम्बित नही हुए। किंतु, भरतमुनि के सिद्धांत सामान्य अनुभव पर आधारित थे और उनकी अभिव्यक्ति कहीं–न–कहीं होनी ही थी। अतः संस्कृत की प्रधान नाट्यधारा जब क्षीण होने लगी, उससे कुछ पहले ही जनसाधारण के मानस से मनोरंजन और शिक्षा से अनुप्राणित विभिन्न शैलियों का उदय होने लगा।''[1] इस प्रकार 12वीं शताब्दी तक आते–आते आगे वे कहते हैं–''ऐसी परिस्थिति में वही नाट्य– प्रदर्शन पनप सका, जो राजप्रसाद पर कम आश्रित था मन्दिर और धर्म– स्थानों पर अधिक, जो मेलों और उत्सवों में जन–मनोरंजन करके पुष्ट हो सकता था, जो लक्षणकारों द्वारा स्थापित सिद्धांतों की उपेक्षा कर सकता था और जिसमें वस्तुतः विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता था। पंचम वेद से मेरा तात्पर्य इसी नाट्यशैली से है, जो संस्कृत–नाट्यधारा के अवनतिकाल में सारे भारतवर्ष में प्रगतिशील हुई। यह नाट्य आज भी हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय है। आज भी इसका प्रभाव उन नाटकों से कहीं अधिक व्यापक है, जो नगरों के भव्य और उच्च वर्ग के लोगों का मनोरंजन करते हैं अथवा जिन्हें साहित्यिक नाटक कहा जाता है।''[2]

अतः स्पष्ट है कि इतिहासकार और अनेकों रंग विद्वान इस समृद्धशाली नाट्य परंपरा का आदि रूप वेदों में देखते हैं। जिस लक्ष्य को साधकर परमपिता ब्रम्हा ने पंचमवेद की रचना की थी, वह लोकनाट्यों के रूप में ही फलीभूत होती दिखाई देती है। नाट्यशास्त्र को आधार मानकर उस नाट्यपरंपरा का अध्ययन समय–समय पर होता आया है। इसी नाट्यशास्त्र के मंगलाचरण में आचार्य भरत ने कहा है–

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रम्हणा यदुदाहृतम्।।1।।

(नाट्यशास्त्र प्रथम भाग, श्लोक क्र–1)

अपने इस मंगलाचरण में भरत पितामह ब्रम्हा तथा महेश्वर भगवान शंकर को प्रणाम करते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि केवल ब्रम्हा और भगवान शिव ही क्यों ? आगे यह भी स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में नाट्य के उद्गम में भगवान शिव और शक्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मानवसमुदाय के साथ शिव और शक्ति का पुरातन संबंध रहा है। हड़प्पा और मोहनजोदाड़ों में प्राप्त अवशेष इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ऋग्वेद में शिव का उल्लेख आर्य संस्कृति में अनार्यों के देव के रूप में की गई है जो प्रचण्ड हैं और संहारक हैं। उनका शांत स्वभाव ही शिव है। अनुकूल वातावरण ही किसी कला के लिए उचित अवसर प्रदान करता है। कपिला वात्स्यायन कहती हैं–'भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं की चर्चा के साथ ही बहुभुजी दुर्गा की प्रतिमा स्मरण आता है या नटराज–रूप शिव का जो संहारक होने के साथ तांडव नृत्य के नाना रूपों के शाश्वत सृष्टा भी हैं। मूर्त रूप में ये प्रतीक एक स्तर पर बहुविध रूपों में एक साम्य, एक आश्वासन केन्द्र का बोध कराते हैं तो अन्य स्तर पर इन बहुविधि रूपों में शक्ति और लय की अविच्छिन्न धारा का। ये दोनो ही पक्ष एक दूसरे से संबद्ध और एक दूसरे पर आश्रित हैं।'[3]

अमरकोष के अनुसार 'नाट्य' शब्द नृत्य गीत और वाद्य के समुदाय रूप को प्रकट करता है। उन्होंने नृत्य, गीत और वाद्य की समन्वित प्रस्तुति को नाट्य कहा है और उसे 'तौर्यत्रिक' की संज्ञा दी है–

'तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम'। (अमरकोशः1/7/30)

'नाट्यशास्त्र के टीकाकार हर्ष ने तौर्यत्रिक को रंग का पर्याय माना है।'[4] अमरकोषकार अमरसिंह ताण्डव, लास्य, नटन, नर्तन, नृत्य और नृत्त को नाट्य का पर्याय मानते हुए लिखा है–

ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने। (अमरकोशः1/7/10)

सिद्धांतकौमुदी में गात्रविक्षेप मात्र नर्तन को 'नृत्त' और भाव प्रदर्शन के साथ पदार्थाभिनय को 'नृत्य' तथा 'वाक्यार्थाभिनय' को नाट्य कहा है–''नट नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः पूर्व पठितस्य नाट्मर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम। घटादौ तु नृत्यं नृत्तं चार्थः। यत्कारिषु नर्तकव्यपदेशः। पदार्थाभिनयो नृत्यम्। विक्षेपणमात्रं नृत्तम्।''[5] आचार्य भरत ने भी सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करके सहृदय के हृदय में रस का संचार किया जाना ही नाट्य माना है– ''वाक्यार्थाभिनयरसाश्रयं नाट्यम्''[6]। आचार्य नंदिकेश्वर ने प्राचीन कथा पर आश्रित तथा लोकपूजित अभिनय को नाट्य कहा है–'नाट्यं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्'[7]। आचार्य भरत ने नाट्य की प्रकृति का उल्लेख करते हुए वर्णित किया है–

''योघ्यं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः।
सोघ्ङाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।।

(नाट्यशास्त्र 1/122)

इस प्रकार नृत्त, नृत्य व नाट्य के संदर्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नृत्त का संबंध अंगों के ताल लयाश्रित विक्षेप से है जिसमें भाव निषेध होते हैं। नृत्य में भाव प्रदर्शन व पदार्थाभिनय की प्रधानता होती है। नाट्य का संबंध वाक्यार्थाभिनय से है जिसमें लोक स्वभाव के अनुसार सुख दुःख आदि अवस्था का भाव प्रदर्शित होता है। नाट्य के इस स्वरूप में नृत्य, गीत व वाद्य का संयोग होता है जिसे तौर्यत्रिक कहा गया है। यही तौर्यत्रिक रंग है और मंच पर इसी रंग का प्रदर्शन रंगमंच का निर्माण करता है। आचार्य भरत का नाट्यविषयक ग्रंथ नाट्यशास्त्र 'नाट्य' पर विस्तार से प्रकाश डालता है। उन्होंने नाट्य को 'लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्'[8],'भावानुकीर्तनम्'[9], 'लोकवृत्तानुकरण'[10], 'सप्तद्वीपानुकरण'[11], 'वृत्तान्तदर्शकम्'[12] व 'कर्मभावानुदर्शनात्'[13] कहा है जिसका तात्पर्य है–लोक के सभी कर्मों का पथ प्रदर्शक, भावों का अनुकीर्तन, लोकव्यवहार का अनुकरण करने वाला, सातों द्वापों के भावों का अनुकरण, वृत्तांत को प्रदर्शित करने वाला, कर्मों व भावों का दर्शन कराने वाला। ये सभी तत्व लोक की ही कलारूपों में स्पष्ट दिखाई देते हैं जहाँ व्यवहारिक ज्ञान ही प्रमुख है।

लोकनाट्यों के उद्गम– संस्कृत नाट्य में शिव को लेकर अनेको मत प्रस्तुत किये गए जो नाट्य कला से उनका संबंध प्रत्यक्ष रूप से स्वीकारते हैं। शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कारक शिव हैं, ब्रम्हा नहीं। शिव ने नाट्य का सृजन कर तण्डु (नन्दिकेश्वर) को शिक्षा दी थी।[3] भरतार्णव के अनुसार शिव शुद्ध नाट्य के जनक थें।[4] नन्दिकेश्वरकाशिका के अनुसार शिव के डमरू से चौदह सूत्र निकले हैं। इनमें निर्दिष्ट स्वर ही सांगीतिक स्वरों के आधार हैं। इन्हीं परमशिव के प्रसन्नता भरे नृत्यों से नृत्यकला का अविर्भाव हुआ है।[5] शिव ताण्डव नृत्य के जनक माने जाते हैं।[6] इस प्रकार के अनेकों प्रसंग हैं जो नाट्य एवं नृत्य के विकास में शिव को नटराज के रूप में स्थापित करते हैं। नन्दिकेश्वर ने नाट्य को शिव का रूप बताया है–

आंगिकम् भुवनं यस्य, वाचिकम् सर्ववाङ्गमयम।
आहार्यं चंद्र तारादि, तम नुमः सात्विकम् शिवम्।।

(अभिनयदर्पण 1/1)

नन्दिकेश्वर का कथन है कि सभी लोक भगवान शिव का आंगिक अभिनय है, समस्त वाङमय उनका वाचिक अभिनय है। चंद्र, तारा आदि उनके आहार्य अभिनय हैं और शिव स्वयं सात्विक रूप हैं।

भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराजदुहितृरचितायाम्।
नानार्थहस्तमुद्रासुमते बहुधास्ति तत्र सङ्क्षिप्तम्।।

(भरतार्णव 10/636)

शक्ति स्वरूपा भगवती पार्वती को 'लास्य' का आविष्कारक माना गया है। भरतार्णव में उन्हें देशी नाट्य की सर्जिका कहा गया है। उन्होंने लास्य की शिक्षा बाणासुर की पुत्री ऊषा को दी थी। उषा ने द्वारका की स्त्रियों तक पहुचाया तथा से वहाँ से लोक में प्रचलित हुआ। लास्य का संबंध पार्वती की सुकूमार भाव–भंगिमाओं से माना जाता है।

ऐसा माना जाता है कि नंदिकेश्वर शिव के अंतेवासी एवं उनके प्रमुख गण थे और नाट्य, नृत्य, संगीत वाद्य, ताल, दर्शन, योग आदि के विद्वान थें। नंदिकेश्वर की रचनाओं से यह सिद्ध होता है कि तीनो लोकों का अनुकीर्तन जिस नाट्य में होता है उसके आदि स्रोत शिव–शक्ति से होकर ही निकलते हैं। स्पष्ट है कि बिना रस के नाट्य नहीं, बिना सत्व के रस नहीं और बिना शिव के सत्व ही नहीं।

शिव–शक्ति प्रणीत वही नाट्य जब लोकसमृदाय से आकर मिला तो शिवरूपी सात्विकता से प्रेरित और लोक की सकुमार रचनात्मक शक्ति ने लोकनाट्यों की रचना की। संस्कृत भाषा के पतन व बोलियों के उदय के साथ लोकनाटक अस्तित्व में आये। वास्तव में यह समय राजनैतिक व सामाजिक परिवर्तनों का भी समय था। ''ऐसी परिस्थिति में वही नाट्य– प्रदर्शन पनप सका, जो राजप्रसाद पर कम आश्रित था मन्दिर और धर्म– स्थानों पर अधिक, जो मेलों और उत्सवों में जन–मनोरंजन करके पुष्ट हो सकता था, जो लक्षणकारों द्वारा स्थापित सिद्धांतों की उपेक्षा कर सकता था और जिसमें वस्तुतः विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता था। पंचम वेद से मेरा तात्पर्य इसी नाट्यशैली से है, जो संस्कृत–नाट्यधारा के अवनतिकाल में सारे भारतवर्ष में प्रगतिशील हुई। यह नाट्य आज भी हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय है। आज भी इसका प्रभाव उन नाटकों से कहीं अधिक व्यापक है, जो नगरों के भव्य और उच्च वर्ग के लोगों का मनोरंजन करते हैं अथवा जिन्हें साहित्यिक नाटक कहा जाता है।''[7]

आचार्य भरत ने नाट्य में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी संज्ञा का प्रयोग किया है। अतएव इन दोनो ही दृष्टि से शिव–शक्ति रूप पर विचार करने की आवश्यकता है। यदि हम लोकनाटकों में शिव–शक्ति के लौकिक रूप में देखें तो अनेकों लोक नाटकों में इनके दर्शन प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान के गवरी लोकनाट्य को देखिये। जिसमें भील जनजाति 40 दिनों तक लगातार भगवान शिव और भष्मासुर की कथा प्रस्तुत करते हैं। बंगाल के 'जात्रा' नामक लोकनाट्य बंगाल और उड़ीसा के शैव व शाक्त उपासकों द्वारा प्रयोग किये गए।[8] 'लावनी' को आधार बनाकर तुकनिगिरि एवं शाहअली नामक धार्मिक संत द्वारा क्रमशः शिव और शक्ति का गायन करते थें।[9] आदि। वास्तव में लोकनाट्यों का उदय हम भागवत धर्म के आरंभ के साथ पाते हैं। किंतु शैव–शाक्त दर्शन इससे भी पूर्व का है। वेदों से लेकर पाणिनी के अष्टाध्यायी और उसके बाद भी शिव–शक्ति के अनेंकों वर्णन हमें प्राप्त होते हैं। आदि काल से ही संगीतक की जो परंपरा विद्यामान थी उसी परंपरा ने ही लोकनाट्यों को आधार दिया।

लोकनाट्यों में कथावस्तु के लिए भले ही शिव–शक्ति की कथाओं का चयन कम मिले पर लोकनाट्यों की परंपरा को सतत आगे बढ़ने की प्रेरणा शिव–शक्ति का ही परिणाम है। ऐसे में नाट्यधर्मी के आधार पर शिव–शक्ति को देखा जाना चाहिए। शिव–शक्ति क्या है? वस्तुतः शिव–शक्ति का अनूठा संगम ही रचना करता है। नाट्य में शिव सात्विक भावों के स्वामी हैं और शक्ति वह ऊर्जा जो सात्विक भावों को कार्य रूप में परिणित करती हैं। तभी तो अभिनयकर्म संभव हो पाता है। लोकनाट्यों में यह सात्विक भाव स्वतःस्फूर्त होते हैं। उन्हें किसी नियंत्रण या प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं अपितु वे अपने अतश्चेतना में विराजमान शिव का ही अनुसरण करते हैं। यदि इस शिव से शक्ति को विगलित कर दें तो शायद केवल शव ही शेष रह जाएगा। अंतश्चेतना और प्रतिक्रिया के स्तर पर निष्क्रिय व्यक्ति शव समान ही तो है। दूसरा यदि शिव को कठोर भाव और शक्ति को सुकुमार भाव का संकेत

भी मानें तो लोकनाट्य में यहाँ भी उनके दर्शन होते हैं। हँसते–हँसाते, अपने सुकुमार भावों से दर्शक समुदाय को आनंदित करते हुए एक लोकनाट्य का अभिनेता ऐसी कठोर बातें कह जाता है जो अपने आप में गूढ़ अर्थों को समोए होती हैं। प्रतिक्रिया शक्ति, कल्पनाशक्ति, समाज का सतत् निरीक्षण करने की शक्ति, सचेत होने और सचेत कराने की शक्ति ही लोकनाट्यों की सर्जन प्रक्रिया में उपस्थित रहे हैं। शिव तो मात्र इस शक्ति के साथ संपृक्त होता है तभी तो सत्य और विश्वास की चेतना के साथ किया गया अभिनय सात्विकता से पूर्ण होता है और दर्शकों के ह्रदय से रजस, तमस का नाश कर सात्विकता अर्थात शिव की स्थापना करते हैं।

लोकनाट्य– चाहे वह मंदिर आश्रित हों, लीला नाटक हों या फिर सामाजिक नाट्य, उनकी प्रेरणा अंतःस्फूर्त होती है। रचनात्मक षक्ति का उदय उनके अंतःकरण में स्थित रचनाकार भाव के कारण ही हो पाता है। उन्हें मंचसज्जा, आलोकन, रूपसज्जा जैसे बाह्य रंगमंचीय उपादानों पर केन्द्रित नहीं होना पड़ता। लोककलाकार इतने सषक्त होते हैं कि वे बिना किसी आवरण के मानवीय भावों और संवेदनाओं को दर्षकों तक संप्रेशित कर जाते हैं। यही संदेष–संवेदनाएँ षिव के समान दर्षक के व्यक्तित्व और मानसिक जगत का निर्माण करती हैं और उसे सत्कर्म की षक्ति प्रदान करती हैं। यह भी कहा भी गया है–सत्यम् शिवम् सुन्दरम्। सत्य ही शिव है, शिव ही सुन्दर। यदि सत्य ही शिव हैं तो फिर भला लोकनाट्य में सत्यता कहाँ है? अभिनेता के अभिनय कर्म में, उसकी सत्य प्रतीति की चेतना में या फिर दर्शकों द्वारा ग्राह्य सत्य समान भ्रम में। आखिरकार मंच पर चल रही लीला भ्रम ही तो है। फिर भी लीला लोकनाट्य रूपों में सात्विकम् शिवम् की उपस्थिति ही सत्य का भान कराती है कि जो भी घटित हो रहा है, वह कितना सुंदर है, रोचक है, आकर्शक है।

वास्तव में लोकनाट्य में शिवशक्ति को एक ऐसी अमूर्त भावना के रूप में देखा जा सकता है जो रंगमंच को पुर्नस्थापित करने का कार्य करती है, उसे आडंबरों से मुक्त कर मौलिकता की ओर प्रेरित करती है। षिव और षक्ति केवल दैवीय चरित्र ही नहीं हैं अपितु रंगमंच भाशा में एक प्रतीक के रूप में भी उन्हें ग्रहण किया जाना चाहिए। षिव रचनाकार भी हैं और विनाषकर्ता भी, षक्ति उनकी सहायक। इसी प्रकार लोकरंगमंच पर अभिनय का आधार भी अभिनेता के अंतस में स्थित रचनात्मक प्रवृत्ति है जो उसके अभिनय को षक्ति प्रदान करती है। स्वेच्छा के बिना किया गया अभिनय निश्प्राण होगा, षक्तिहीन होगा। लोकरंगमंच की अभिनय प्रक्रिया को देखकर इस अमूर्त षिवषक्ति की उपस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। यही लोकनाट्य का अपना मौलिक सौंदर्य है और यही षिवषक्ति मंच पर एक नई सृश्टि की रचना करती है।

संदर्भ सूची–

1. परम्पराशील नाट्य, जगदीशचंद्र माथुर, पृष्ठ क्र–16।
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ क्र–16–17।
3. पारंपरिक भारतीय रंगमंच, कपिला वात्स्यायन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पृष्ठ क्र–1।
4. अभिनव भारती भाग–1,पृष्ठ क्र–209।
5. सिद्धांतकौमुदी, पृष्ठ क्र.–375–376।
6. Nandikesvara's Abhinayadarpanam: Manmohan Ghosh, Verses No-&15, Page No.-–82।
7. नाट्यशास्त्र प्रथम भाग, बाबूलाल शास्त्री, पृष्ठ क्र.–05।
8. वही, श्लोक क्र.–1/107, पृष्ठ क्र.–26।
9. वही, श्लोक क्र.–1/112, पृष्ठ क्र.–27।
10. वही, श्लोक क्र.–1/119, पृष्ठ क्र.–29।
11. वही, श्लोक क्र.–1/120, पृष्ठ क्र.–29।
12 वही, श्लोक क्र.–4/4, पृष्ठ क्र.–29।

13. नाट्यशास्त्र भाग–1, बाबूलाल शास्त्री, चौखम्भा संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष–2014, पृष्ठ क्र–86–87।
14. भरतार्णव, नंदिकेश्वर, चौखम्भा संस्थान, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष–1978, पृष्ठ क्र–763।
15. नाट्यशास्त्र प्रथम भाग (भूमिका), डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, सं. सं. विश्वविद्यालय, 1992, पृष्ठ क्र–38।
16. नाट्यशास्त्र, गायकवाड़, पृष्ठ क्र–191।
17. परम्पराशील नाट्य, जगदीशचंद्र माथुर, पृष्ठ क्र–16–17।
18. भारतीय लोकनाट्य, डॉ. वशिष्ठ नारायण अग्रवाल, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ क्र–65।
19. पूर्वोक्त, पृष्ठ क्र–94।

अतिथि व्याख्याता
नाट्य विभाग,
इं.क.सं.वि.वि. खैरागढ़ (छ.ग.)

●●●

लोकनाट्य रामलीला में राम और रामकथा

डॉ. योगेन्द्र चौबे

रामकथा को आधार बनाकर दर्शकों के समक्ष उपस्थित होने की कला परंपरा ना केवल भारतवर्ष अपितु एशिया के विभिन्न भागों की मुख्य विशेषता रही है। रामकथा ने भारतीय संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। काष्ठशिल्प हो या स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य, कहानी, कविता सभी रूपों में रामकथा की लोकप्रिय छवि देखी जा सकती है। रामकथा का विस्तार भारत से लेकर अन्य सुदूर एशिया तक फैला है। श्री राम के अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई भी चरित्र दिखायी नहीं देता जिस पर इतने व्यापक स्तर पर लिखा, बोला, कहा और गाया गया हो। विविध कलारूपों व साहित्यिक विधाओं में नाना प्रकार से मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की कथा कही गई है। श्री राम के उत्तम चरित्र ने ही इस कथा को बल दिया है। रामकथा का प्रचलन विभिन्न भूभागों पर किंचित परिवर्तन के साथ प्रचलित है। वैसे तो मूल कथा सभी क्षेत्रों में एक ही है उनमें ज्यादा अंतर नहीं दिखता। जैसे– राम का दशरथपुत्र होना, उनके चार भाई व हनुमान से आत्मीयता, सीता का उनकी पत्नी होना, राम का चौदह वर्ष का वनवास होना, राम–रावण युद्ध और राम विजय में किंचित परिवर्तन के साथ वही है। इन सबके अलावा राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान आदि अपने मिथकीय रूढ़ियों में सुरक्षित हैं। जैसे राम सर्वत्र एक प्रजापालक और आदर्श पुरुष हैं। लक्ष्मण, भरत और हनुमान उनके परम भक्त हैं। सीता श्रेष्ठ पतिव्रता हैं। यह कथा प्रत्येक देशकाल व समय में आदर्श व नैतिकता को बल देती है। रामकथा को चाहे किसी भी भाषा में लिखा गया हो, पढ़ा गया हो अथवा रंगमंच पर अभिनीत किया गया हो किंतु सबका आधार बाल्मीकि कृत 'रामायण' ही है। कहीं–कहीं कथा में भारी अंतर दिखाई देता है तो कहीं शैली में भी किंतु इन सबके बावजूद भी रामकथा को लेकर कोई विवाद नहीं। ऐसा लगता है जैसे लोक ने अपनी–अपनी दृष्टि से रामकथा को स्वीकारा है और देखा है।

'देश के समस्त आधुनिक भाषाओं– असमिया, बांगला, ओड़िया, मैथिली, अवधी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, काश्मीरी, तेलुगु, तमिल, मलयालम और नेपाली में रामायण लिखी गयीं। इन सभी रामायणों का मूल ढाँचा वाल्मीकि –रामायण ही है। आगे चलकर वाल्मीकि के महामानव राम को ब्रह्मा मान लिया गया तो भक्ति–भाव के कारण कई प्रसंग कल्पित किये गए या नूतन दृष्टि से प्रस्तुत किये गए। वाल्मीकि–रामायण में केवट–प्रसंग नहीं था।' भारत में विविध अंचलों में रामकथा लोकगीतों, गाथाओं, कथाओं, नाट्यों में आत्मा की तरह जीवंत हैं। लोकसंस्कृति ने अपनी रूचि अनुसार रामकथा को ग्रहण किया है। राम का शास्त्रीय तथा मर्यादित स्वरूप इनमें गौण हो जाता है। उदाहरणतया– मालवी लोकसंस्कृति की मान्यताओं में लिपटे राम नयनाभिराम रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। कहीं वे हरिमन तोता पालते हैं, तो कहीं हनुमान के द्वारा सीता के पास चिट्ठी भेजते हैं। कहीं सीताहरण किये जाने पर लघु भ्राता लक्ष्मण को बाण मारने से भी नहीं चूकते। कहीं पाई भर कोदरा देकर अपनी माता कौशल्या से अलग हो जाने की धमकी देते हैं। 'हनुमान जी प्रत्येक देश में बाल ब्रह्मचारी नहीं हैं।' ऐसे अनेको संस्करण लोक संस्कृतियों में देखे जा सकते हैं। यह श्रीराम को अपना मानने की एक रीति है। श्रीराम उनके लिए विलग नहीं बल्कि वैसे ही हैं जैसे उस संस्कृति के लोगों का रहन–सहन है, बोली–भाषा, खान–पान है। वास्तव में रामकथा लोक को जीवन जीने की कला सिखाता है, उच्च विचारों को ग्रहण करने व मर्यादित आचरण की प्रेरणा देता है।

लोककलाओं पर रामकथा का गहरा प्रभाव है। लोकनाट्यों के लिए रामकथा से उत्तम कोई कथावस्तु हो ही नहीं सकती। संभवतः इसीलिए लोकनाट्य परंपरा में राम और रामकथा का प्रदर्शन और दर्शन अनवरत् जारी है।

ऐसा नहीं है कि लोकनाट्यों में राम और रामकथा का आगमन एकाएक हुआ बल्कि यह तो शताब्दियों से सांगीतक, कथा गायन परंपरा का सहगामी था। कुशीलव द्वारा कथा गायन का उल्लेख इतिहास में प्राप्त होता है। संभवतः ऐतिहासिक काव्ययुग में ही कुशीलव, चारण, कथक, ग्रंथिक आदि का उद्‌भव हो चुका था जो इतिहास–पुराण की कथाओं का गायन, नटन करते थे और यहीं से नाटक का विस्तार भी माना जाता है।

छत्तीसगढ़ को माता कौषल्या का मायका माना जाता है। श्री राम का ननिहाल छत्तीसगढ़ है इसलिए भगवान श्री राम को छत्तीसगढ़ के लोग भांजा कहते हैं। छत्तीसगढ़ में श्री राम मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में हैं। छत्तीसगढ़ में राम भक्ति की अद्‌भुत परम्परा है। यहाँ महाभारत के साथ–साथ रामायण गाने की की रामायणी परम्परा भी है। साथ ही छत्तीसगढ़ का ऐसा कोई गाँव नहीं जहाँ नवधा रामायण की कोई परम्परा न हो अब तो लगभग हर गाँव में मानस गान की प्रतियोगिता भी होने लगी है जिसमें बड़े रोचक तरीके से श्री राम की छवि को प्रदर्षित किया जाता है। छत्तीसगढ़ में रामभक्ति की एक और अद्‌भुत परम्परा है जो संभवतः और किसी भी समाज में दिखाई नहीं पड़ती। छत्तीसगढ़ के जांजगीर चाँपा जिले के छोटे से गाँव चारपारा में एक दलित युवक परषुराम द्वारा 1890 के आसपास स्थापित रामनामी संप्रदाय की स्थापना की। इसे हम सामाजिक और दलित आंदोलन के रूप में भी देख सकते हैं। रामनामी समाज राम को अपने रोम–रोम में बसाये हुए हैं। रामनामी समाज अपने सिर से पैर तक राम नाम का गोदना गुदवाते हैं और निराकार रूप में श्री राम की उपासना करते हैं। श्री राम के प्रति ऐसी भक्ति विष्व में कहीं और दिखाई नहीं देती।

गाथा गायन का एक रूप जो 'दसकठिया' कहलाता है, ओड़िसा में पाया जाता है। इसके नाम की उत्पत्ति काष्ठ लोलकों से हुई हे जो साथ बजाये जाने वाले एक मात्र संगीत यंत्र होते हैं जिन्हें 'दसकाठी' या 'रामताली कहते हैं। गाथागायन के विषय महाभारत व रामायण से लिये जाते हैं। इसमें किया जाने वाला पाठ उड़िया भाषा के ग्रंथ विचित्र रामायण से लिया जाता है। गाथा गायक रामायण के अन्य ओड़िया रूपांतरों जैसे रामदास द्वारा रचित रामायण तथा दण्डी रामायण का प्रयोग भी करते हैं। सीता की कथा थाईलैण्ड तथा मलेशिया वृतांतों से मिलती जुलती है। जिसमें उसे रावण द्वारा निष्काकसत बताया गया। आंध्र में एक और प्रकार का गाथा गायन प्रचलित है जो 'बुर्रकथा' कहलाता है। यह भी एक ऐसी कथा होती है जिसे एकल अभिनेता या तीन गायकों का समूह प्रस्तुत करता है। इस कथा पाठ की विशेषता है कथा का सशक्त सीधा प्रस्तुतिकरण। रंगमहल में अनिवार्य रूप से रामायण का दृश्य अवश्य शामिल होता है जो इस कथा गायन में तेलुगू रूपांतर होता है जिसे द्विपद रामायण या रंगनाथ रामायण कहते हैं जो 12वीं शदी की रचना है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में एकल अभिनय, गायन व कथावाचन की ऐसी अनेकों परंपराएँ प्रचलित हैं। जो रामकथा की प्रस्तुति पर आधरित हैं।

भारतीय लोकनाट्य का अद्यतन स्वरूप कर्ता और द्रष्टा की आस्था, भावना व सहभागिता से ही पुष्पित और पल्लवित है। आदिम अनुष्ठानों से उद्‌भूत लोकनाट्य की अविरल धारा ने एक बड़े दर्शक समूह को मनोरंजित और शिक्षित किया है। वेदों से सृजित यह नाट्य लगभग दसवीं शताब्दी में लोक की अभिव्यक्ति, आस्था और विश्वास तथा इतिहास–पुराणों के अनुकीर्तन का प्रमुख माध्यम बना। वस्तुतः ये परंपराएं 'संगीतक' का उदाहरण हैं। जगदीशचंद्र माथुर ने संगीतक के पाँच तत्व स्पष्ट किये हैं–'गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला और नट–नटी।' लोकनाट्यों के संदर्भ में 'उनकी धारणा है कि इन परम्पराओं का विकास मध्ययुग में हुआ और पिछले लगभग पाँच सौ वर्षों से यह धारा अपने विभिन्न रूपों में देश के विभिन्न भागों में प्रवाहित होती रही, क्षेत्रीय वर्ण और स्वरों को ग्रहण करते हुए भी इन नाट्य शैलियों में कतिपय सामान्यताएँ हैं।.....मेरा विचार है कि 'संगीतक ही वर्तमान आंचलिक नाट्यशैली का मूल है।' यदि हम भारत में सांगीतक की परंपराओं का अध्ययन करें तो उन पर दो महाकाव्यों का प्रबल प्रभाव रहा है–रामायण और महाभारत। आज प्रचलित लोकनाटक रामलीला का उद्‌गम स्रोत भी इसी रामायण पर आधारित है।

छाया रंगमंच व कठपुतली रंगमंच पर भी रामकथा का प्रभाव देखने को मिलता है। 'कथा, पाठ, गायन, वाद्य, संगीत और प्रस्तुतिकरण के रूप की असंख्य क्षेत्रीय विविधताओं के साथ रामायण या रामकथा भारत के छाया और कठपुतली रंगमंच पर भी छाई रही है।' उड़ीसा में यह छाया रंगमंच 'रावण छाया' कहलाता है। आंध्रप्रदेश की 'बुर्रकथा' में थोलु बोमलट्टम' अर्थात चर्मकठपुतली नृत्य का प्रयोग द्वारा छायाचित्र का निर्माण। कन्नड़ रामायण का दृश्य रूप में एक और प्रस्तुति है। इसमें कठपुतली उतनी बड़ी नहीं होती जितनी कि आंध्रप्रदेश के बोमलट्टम में होती है। कभी–कभी तो केवल एक कठपुतली के जरिये पूरा दृश्य एक स्थिर चित्र प्रस्तुत करता है। स्थिर चित्र और अकेली कठपुतली गतिमान नाटकीय दृश्यों के बीच एक कड़ी के तौर पर इस्तेमाल की जाती है जिससे दृश्यों के बीच आसानी से परिवर्तन संभव हो पाता है।' इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं में रामकथा को नाना तरीकों से रोचक बनाकर प्रस्तुत करने का उद्यम होता रहा है।

महाकाव्यों ने कालांतर में व्यापक रूप ग्रहण कर नाटक को भी महाकाव्यात्मक रूप प्रदान कर दिया। आख्यान की लोकपरंपरा अब किसी अवतार के आसपास घूमने वाले प्रसंगों को प्रस्तुत करने लगी। कालांतर में दशावतार की अवधारणा और जयदेव के प्रयास ने उद्वेलित किया। फलतः उत्तर–पूर्व और पश्चिम में लीला नाट्यों की दो परंपराएँ अस्तित्व में आईं– रामलीला और कृष्णलीला।

रामलीला भले ही लोकनाट्य रूप हो किंतु रामकथा का यह प्रदर्शन एक अनुष्ठानिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। गाँव हो या शहर शरद ऋतु के आते ही फसलों की कटाई होती है और यह अवसर उत्सव का होता है। यह समय श्रीराम के चरित्र दर्शन का अनुकूल अवसर होता है। उत्तर भारत में जगह–जगह रामलीलाओं की अनेकों मंडलियाँ श्रृंखलाबद्ध रूप से कई दिनों तक रामकथा के विभिन्न प्रसंगों का प्रदर्शन करती हैं। इन प्रदर्शनों का समापन रावण दहन के साथ किया जाता है। तुलसी रामायण का स्वर सर्वत्र सुनाई देता है।

रामलीला का कलात्मक उत्कृष्ट रूप वाराणसी में मंचित रामायण में देखा जा सकता है जिसकी षुरूआत स्वयं तुलसीदास जी ने की थी। वाराणसी के रामलीला की यह विषेशता है कि यह ना केवल अन्य रामलीला की तरह श्रृंखलाबद्ध रूप में मंचित होती है बल्कि प्रसंगों के अनुसार स्थल में भी परिवर्तन होता है। इसका अनुष्ठानिक स्वरूप भी इसकी प्रमुख विशेषता है। विद्वान मानते हैं कि रामनगर (वाराणसी) रामलीला का प्रारंभ रामचरितमानस के लेखनकाल में हुआ था। वाराणसी में हिंदू समाज ही समुहिक रूप से रामायण खेलने का प्रयास करते हैं। इसकी तैयारियों में सभी वर्ग जाति के लोग बढ़ चढ़कर हिस्सा लेते हैं किंतु समाज और समुदाय के अलग–अलग वर्गों के लिए अलग–अलग भूमिकाएँ निर्धारित की जाती हैं।

''बनारस के चर्चित रंगकर्मी और रंगचिंतक डॉ. भानुशंकर मेहता रामनगर की रामलीला के समूचे रंग संगठन में अन्तर्निहित आध्यात्मक और दर्शन को महत्वपूर्ण मानते हुए इसे लोकनाट्य की एक विधा मानने से इंकार करते हैं। वे मानते हैं कि यह लीला रामकथा पर आधारित नहीं है। वे इसके आध्यात्मिक और भावात्मक पक्ष पर जोर देते हुए इसे एक धार्मिक अनुष्ठान मानते हैं।'' उनका मानना है कि ''रामलीला का आरंभ मुकुट पूजन से होता है जो भारतीय पूजा पद्धति में दिव्यशक्ति का आह्वाहन है। बाल पात्रों में प्रभु के दिव्यत्व की की स्थापना के बाद ही लीला आरंभ होती है।'' संभवतः उनका तर्क यह भी है कि यदि दर्शकों की आस्था, विश्वास व पूजा भाव इससे ना जुड़ा हो तो शायद वे बार–बार प्रदर्शित की जाने वाली यह प्रस्तुति देखने ना आएँ। इसके आगे डॉ मेहता रामनगर के रामलीला के मंच योजना पर भी प्रकाश डालते हैं। वे इस रामलीला के दर्शकों को भक्त दर्शक कहते हैं।

रामनगर की रामलीला में प्रस्तुति आरंभ करने के पूर्व विशेष प्रकार से पूर्वरंग का विधान किया जाता है। चूँकि यह एक धार्मिक लोकनाट्य है अतएव 'मुकुट पूजन' के माध्यम से अभिनेताओं में दिव्यशक्ति का आहवाहन किया जाता है। अन्य रामलीला आयोजन में यदि मुकुट पूजन नहीं है तो भी पूजन का विधान अवश्य होता है। रामनगर में प्रस्तुति के दौरान एक विशेष प्रकार का अनुशासन सर्वत्र व्याप्त होता है। यह अनुशासन न केवल मंडली में अपितु दर्शकों में भी दिखता है। यह लीला शाम को आरंभ होती है और 9 बजने तक समाप्त हो जाती है। केवल मिलाप

का प्रसंग रात 12 बजे तक चलता है। 'व्यास' सूत्रधार की भूमिका में होता है। जो एक 'स्क्रिप्ट' हाथ में रखता है। प्रस्तुति नियोजित होती है। डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी कहते हैं कि ''प्रेक्षकों तक इनके संवादों का पहुंचना कठिन होता है। यहाँ पर हम प्रेक्षकों को इस लीला के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित प्रेक्षक के रूप में देखते हैं। प्रेक्षक प्रायः हजारों की संख्या में रहते हैं। रंगस्थल पर सूची भेद्य सन्नाटे का निर्वाह करते हुए दोनों कानों के पीछे हथेलियां लगाकर मंच से आए प्रत्येक स्वर को जैसे लोक लेते हैं। इस प्रकार यहां लीला देखने आया नया से नया दर्शक लीला दर्शन के इस विधि विधान को समझ लेता है तथा उस आत्मानुशासन का पालन करता है जो लीला देखने के लिए जरूरी है। रामनगर की रामलीला में प्रेक्षकों की दो कोटियां मान्य हैं–नेमी और प्रेमी। नेमी वे प्रेक्षक हैं जो लीला के नियमित प्रेक्षक हैं। इन्हें पहचानना आसान है। इनके पास 'रामचरित मानस' का एक गुटका, एक टार्च या लालटेन और बैठने के लिए आसनी या कोई अन्य वस्तु होती है। प्रेमी वे प्रेक्षक हैं जो अपने प्रिय कथा प्रंसगों के अवसर पर उपस्थित होते हैं।' यद्यपि अभिनय की बारीकियों के ना होने पर भी दर्शकों को परेशानी नहीं होती क्योंकि वेशभूषा, रूपसज्जा व मंचसज्जा आदि राम, लक्ष्मण, सीता आदि पात्रों को दिव्य रूप में लीला प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

सम्पूर्ण हिंदी प्रदेश में प्रदर्शन की शैलियों में थोड़े परिवर्तन के साथ कुछ इसी तरह मंचित होती रहती हैं। यहाँ इस रंगमंच की पूर्ण सफलता का मुख्य आधार राम व रामकथा हैं, प्रस्तुति शैली तो गौण है। रामकथा के नायक राम जन–जन के लिए पूज्यनीय व आस्था–विश्वास के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। इसलिए बार–बार प्रदर्शन के दर्शन से भी भक्त का जी नहीं भरता। वह बारंबार अपने प्रभु का दर्शन करना चाहता है। वह बाल अभिनेताओं में अपने प्रभु राम की संकोमल छवि के दर्शन कर आनंदित होता है और स्वयं को कृतार्थ मानता है।

नाट्य अपने संगठन में ही दृश्य–श्रव्य होने से अत्यंत प्रभावी माध्यम है। चरित्र को साक्षात देखना एक अविस्मरणीय अनुभव होता है। ऐसे में रामकथा को साक्षात घटित होते हुए देखना किसी यज्ञ से कम नहीं। रंगमंच की यह भी एक विशेषता है कि चाहे कथा पौराणिक हो, ऐतिहासिक हो या फिर कल्पित किंतु जब वह मंच पर दृश्य रूप में प्रस्तुत होती है तो आज की प्रतीत होती है। यही अनुभव रामलीला के बार–बार दर्शन से दर्शक को होती है।

भारत में लोक कलाओं की विस्तृत, वैविध्यपूर्ण और समृद्ध परंपरा रही है। साहित्य, संगीत, गीत, चित्र, नाट्य आदि इसके प्रमुख अवयव रहे हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय संस्कृति में कई कलारूपों के दर्शन होते हैं। यह उन परंपराओं की सार्वभौमिकता और उनकी निजता का ही परिणाम था। अभिजात्य परंपरा का आधार भी यही लोक कलाएँ बनीं। लोक ने अपने नियम स्वयं बनाए और स्वयं आदर्श स्थापित किये। जहाँ एक ओर उसकी अनुभव जन्य शिक्षा का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरण करने का प्रमुख माध्यम लोक कलाएँ बनीं वहीं दूसरी ओर उसके मनोरंजन और उत्सवों की आनंद क्रियाएँ भी। उसकी प्रवृत्ति अनुकरणात्मक रही। वह उत्तम आदर्शों के कर्मों का अनुकरण करता और उनके माध्यम से नैतिक मूल्यों की स्थापना करता। लोक सदैव अभिजात्य से प्रभावित होता रहा है। आभिजात्य ने सदैव लोक से ग्रहण किया और लोक ने आभिजात्य से। लोक की इन्हीं प्रवृत्तियों ने रामकथा को अपने में समा लिया और श्रीराम को अपना आदर्श चरित्र स्वीकार किया।

उपर्युक्त विमर्श से लोकनाट्य की परंपरा की विशिष्टता, रामलीला प्रदर्शन व रामकथा के लोक प्रदर्शन के स्वरूप का स्वतः ही अंदाजा लगाया जा सकता है। लोक नाट्य परंपरा पर रामकथा का असर इतना गहरा दिखाई देता है कि इसने अपनी एक विशिष्ट शैली का ही निर्माण कर लिया जिसके मूल में श्री राम का लोकव्यापी, प्रजापालक, मर्यादापुरुषोत्तम चरित्र का चित्रण है। सदियों से चल रही इस कथा को सुनने व देखने के लिए प्रत्येक क्षण एक भारी जनसमूह उतावला रहता है। श्री राम के जीवन, उनके कर्म व आचरण पर भारतीय मानस सदा से ही मुग्ध रहा है। रामकथा जनमानस को उत्तम चरित्रवान होने की दिशा में प्रेरित करता रहा है। रामलीला सदृश लोकनाट्य रूपों का भी उद्देश्य दर्शक समुदाय का नैतिक परिष्करण ही है। यह एक ऐसा चाक्षुष यज्ञ है जो कर्ता

और द्रष्टा के पूर्ण समर्पण भाव व श्रीराम के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने का अवसर प्रदान करता है।

संदर्भ सूची :–

1. प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल, भारतीय रामकथा साहित्य का स्वरूप–विकास, पृष्ठ क्र–35।
2. चौमासा, सम्पा.– कपिल तिवारी, पृष्ठ क्र.–39 ।
3. भारतीय लोकनाट्य, डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, पृष्ठ क्र–37 ।
4. पारंपरिक भारतीय रंगमंच, कपिला वात्स्यायन, पृष्ठ क्र–92 ।
5. पूर्वोक्त ।
6. परम्पराशील नाट्य, जगदीशचंद्र माथुर, पृष्ठ क्र–25 ।
7. पूवोक्त,पृष्ठ क्र–23 ।
8. पारंपरिक भारतीय रंगमंच, कपिला वात्स्यायन, पृष्ठ क्र–93 ।
9. पूर्वोक्त ।
10. पूर्वोक्त ।
11. पूर्वोक्त ।
12. भारतीय लोकनाट्य, डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, पृष्ठ क्र–42 ।
13. डॉ. भानुशंकर मेहता, सन्मार्ग–भारतीय संस्कृति विशेषांक 1988 में प्रकाशित लेख, पृष्ठ क्र–67 ।
14. भारतीय लोकनाट्य, डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, पृष्ठ क्र–45 ।

●●●

विश्वविद्यालय कुलगीत

सुस्वराः संतु सर्वेऽपि।
प्रतिपल जीवन नवकोणों में,
विकसित होता जाये।
धन्य विश्वविद्यालय पावन,
स्वर्ग धरा पर लाये ।।

कला और संगीत-साधना,
पीठ चिरन्तन ज्ञान-अर्चना,
स्वर-लय-ताल सुधा सम प्रांजल,
जड़ में प्राण जगाये।। धन्य विश्वविद्यालय...

स्वरमय हो जगती का अँगना,
सफल ध्येय हो यही कामना,
सत्यं शिवं सुन्दरं ध्यानम्,
तम प्रकाश बन जाये।। धन्य विश्वविद्यालय...

विभागीय शोध-जर्नल कला-वैभव
(संयुक्तांक 24-25, 25-26) का विमोचन।

छत्तीसगढ़ के पुरातत्त्व एवं संभावनाएं
विषय पर ऑनलाईन विशेष व्याख्यान।